Arutsakthi Nagarajan

24

27

२

श्री

वरिवस्या रहस्यम्

Written by Sri Bhaskararaya Makhi
with meanings.

Detailed Hindi Commentary by
Sri Shyamakanth Dwivedi

1.8.2012

वरिवस्यारहस्यम्

By R.J. Kumar.
1.8.02

Purchased in
Bangalore
on 1-8-02
by R Jaykumar.

Arutsakthi

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

३२१

श्रीभास्कररायमखिना प्रणीतम्

वरिवस्यारहस्यम्

भास्कररायप्रणीत-**प्रकाश**-संस्कृतव्याख्यया

सरोजिनी-हिन्दी-व्याख्यया च संवलितम्

हिन्दी व्याख्याकार

डा० श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

एम.ए., एम.एड्., पी-एच्.डी., डी.लिट्

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

The

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

321

VARIVASYĀRAHASYAM

AND ITS COMMENTARY

PRAKĀŚA

BY

ŚRĪ BHĀSKARARĀYA MAKHIN

WITH **SAROJINĪ** HINDI COMMENTARY

Edited & Translated by

Dr. SHYAMAKANT DWIVEDI 'ANAND'

M.A., M.Ed., Ph.D., D.Lit.

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

Publishers:
© **CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN**
(Oriental Publishers & Distributors)
K. 37 / 117, Gopal Mandir Lane
Post Box No.1129
VARANASI 221001
Telephone : 335263
: 333371

First Edition
2002

Also can be had of
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 3956391

*

Sole Distributors :
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone : 320404

Computer Type-setters :
Malaviya Computers
Varanasi

Printers :
A. K. Lithographers
Delhi

दो शब्द

भारतीय ज्ञानान्तरिक्ष के प्रचण्ड भास्कर, साधना 'नन्दन' के पारिजात, वैदुष्य के बृहस्पति एवं भारती के वरदान आचार्य भास्करराय मखिन् द्वारा प्रणीत यह मन्त्रशास्त्रीय ग्रन्थ "वरिवस्यारहस्यम्" 'प्रकाश' एवं 'सरोजिनी' के साथ विद्वान् पाठकों के अवलोकनार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है।

भारतीय चिन्तन "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" की अचिन्त्य भावभूमि एवं अज्ञेय 'परमपद' की ओर सदा से आकृष्ट रहा है। वह सदा से रहस्योन्मुख रहा है। 'वरिवस्यारहस्यम्' भी रहस्य के धाम की तीर्थ यात्रा है। यह मन्त्र-जगत के रहस्यों का अन्वेषण है।

मानवीय मनीषा, धिषणा, तर्क, प्रज्ञा एवं जिज्ञासा, सम्प्राप्त, संदृष्ट, संश्रुत, सुविज्ञात, अधिगत एवं आगत (वर्तमान) से कभी संतुष्ट नहीं हुई इसीलिए वह अनादिकाल से अप्राप्त, अदृष्ट, अश्रुत, अज्ञात, अनधिगत एवं अनागत के संधान में तल्लीन रही है। वह प्राप्त से अप्राप्त, गम्य से अगम्य, ज्ञात से अज्ञात, चिन्त्य से अचिन्त्य, ग्राह्य से अग्राह्य, दृष्ट से अदृष्ट, श्रुत से अश्रुत एवं अधिगत से अनधिगत को जानने एवं उसका साक्षात्कार करने का सतत प्रयास करती रही है। उसमें अदृश्य, अचिन्त्य, अगम्य, अज्ञेय एवं अतर्क्य परात्पर तत्त्व एवं उसके रहस्यों के प्रति अनन्तकाल से जिज्ञासा रही है। इसी कारण वह सृष्टि की प्रथम रश्मि के समय से ही जानना चाहती रही है कि—

'अविज्ञातं केन विजानीयात् ?' 'कस्मै देवाय हविषा विधेम ?' "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ? यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इन्द्राजा जगतो बभूव। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम। येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्व स्तंभितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम। 'य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥"[1] वह जानना चाहती है कि—'केनेषितं पतति प्रेषितंमनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति

---

१. यजुर्वेद

युक्त: । केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षु: श्रोत्रं क उदेवो युनक्ति ।।'[१] 'किं कारणं ब्रह्म कुत: स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा: । अधिष्ठिता: केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ।।[२] भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ?[३] दर्शनशास्त्र इसी 'जिज्ञासा' (Curiosity) का फल है—निष्पत्ति है—निगमन है । वह 'जिज्ञासा' चाहे 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' के रूप में वेदान्तियों के मन में उठे अथवा 'अथातो शक्ति जिज्ञासा' के रूप में शाक्त दार्शनिकों के हृदय में उठे । वह जिज्ञासा चाहे वेदान्तियों के 'ब्रह्म' की हो चाहे शक्त्योपासकों के 'शक्ति' की हो, चाहे वह मीमांसको के 'कर्म' की हो और चाहे वह भक्तों के 'भक्ति' की हो । 'कार्य' से 'कारण', 'स्थूल से सूक्ष्म', विचार से विचारातीत, मन से मनसातीत, बुद्धि से बुद्ध्यातीत, ज्ञात से अज्ञात, भौतिक से अभौतिक, इहलोक से परलोक, शब्द से शब्दातीत, बाह्य से आभ्यन्तर एवं विज्ञात से रहस्य की ओर जाने की आकांक्षा एवं उसके रहस्यों की जिज्ञासा मानवीय मन की सहज प्रवृत्ति रही है इसीलिए तो वह जगत के असत्, तम एवं मृत्यु से सत्, ज्योति एवं अमृतत्व की ओर जाने की आकांक्षा रखता हुआ कह उठता है—'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय ।।' वह असत् से परे सत् की ओर, तम से परे ज्योति की ओर एवं मृत्यु से परे अमृतत्व की ओर बढ़ना चाहता है । इसी प्रकार आचार्य भास्कर भी विज्ञात 'वरिवस्या' से अविज्ञात 'वरिवस्या रहस्य' की ओर बढ़ना चाहते हैं । आचार्य भास्कर के मन में भी प्रश्न उठता है कि यदि शङ्कर कहते हैं कि "जपात् सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशय:" फिर जप करने से सिद्धि क्यों नहीं होती । 'वरिवस्या' का निष्पादन करने पर भी 'मन्त्र' सिद्ध क्यों नहीं होता ? उपासकों, भक्तों एवं साधकों के मन में भी ये जिज्ञासायें अवश्य उठती होंगी। इसी शंका, तर्क, संशय एवं जिज्ञासा के समाधान के लिए आचार्य भास्करराय ने 'वरिवस्या' नहीं प्रत्युत वरिवस्या के 'रहस्य' पर 'वरिवस्या-रहस्यम्' नामक ग्रन्थ लिखा ।

भास्कर कहते हैं कि 'मन्त्र' चिद्ररश्मिमय हैं—'चिन्मरीचि' हैं—'पूर्णाहन्तानुसंध्यात्मा' हैं इसीलिए कहा गया है—"मन्त्राश्चिन्मरीचय: पूर्णाहन्तानुसंध्यात्मा स्फूर्जन्मननधर्मत: । संसारक्षयकृत्त्राण धर्मतो मन्त्र उच्यते ।।" वैखरी भूमि में चिद्भाव गुप्त है। इसीलिए वैखरी वर्णों की मन्त्रमयता स्वीकार नहीं की जाती। 'मन्त्र' नादात्मा हैं वैखरी वर्णों में नादाभाव है । चूँकि वैखरी में चिदंश एवं

१. केनोपनिषद
२. श्वेताश्वतरोपनिषद
३. प्रश्नोपनिषद

नादांश आच्छन्न है अतः इस स्तर पर मन्त्र का उदय ही नहीं होता। 'मध्यमा भूमि' ही मन्त्रमयी भूमि का प्रथम सोपान है क्योंकि 'मध्यमावाक्' मन्त्ररूप में ही वाक् को प्रकाशित करता है। 'स्मृति-परिशुद्धि' द्वारा साङ्कर्य का परिहार होने पर ही वैखरी से 'मध्यमा भूमि' में प्रवेश होता है—मन्त्रभूमि में पदार्पण होता है। 'पश्यन्ती' दिव्य वाक् है। 'परावाक्' चिन्मय एवं अव्यक्त है। 'मध्यमा' का विस्तार हृदय तक, 'पश्यन्ती' का नाभि तक एवं 'परा' का मूलाधार तक है। शब्द से शब्दातीत की यात्रा ही मन्त्र का लक्ष्य है और यह यात्रा शब्दब्रह्म से प्रारम्भ होकर निःशब्द ('अशब्दम-स्पर्शमरूपमव्ययम्') तक चलती है। इसके मध्य में इसके अनेक पड़ाव हैं। 'वरिवस्यारहस्यम्' में शब्दराज्य से शब्दातीत एवं इन दोनों के मध्य अवस्थित विभिन्न पड़ावों के रहस्यों को उद्घाटित किया गया है और मन्त्र-साधना या वरिवस्या के अगम्य रहस्यों पर प्रकाश डाला गया है। इसीलिए इस ग्रन्थ का नाम "वरिवस्यारहस्यम्" है। 'वरिवस्या' मन्त्र-साधना एवं जप के संदर्भ में आचार्य भास्कर ने अत्यन्त वैज्ञानिक दृष्टि प्रस्तुत की है। उनकी दृष्टि को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) सर्वोच्च साधना—ब्रह्मसद्भाव
(२) मध्यम साधना—ध्यानभाव
(३) अधम साधना—स्तुति जप

"उत्तमो ब्रह्मसद्भाव ध्यान-भावस्तु मध्यमः। स्तुतिर्जपोधमो भावो बाह्यपूजाऽधमाधमा ॥"

(१) उत्तमाअवस्था—सहजावस्था
(२) मध्यमावस्था—ध्यान-धारणा
(३) अधमावस्था—जप-स्तुति
(४) अधमाधमावस्था—होम, पूजा

"उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यान धारणा। जपस्तुतिः स्याद-धमा होमपूजाधमाधमा ॥"

'चिन्ता'

(१) उत्तमा—तत्त्वचिन्ता
(२) मध्यमा—जप-चिन्ता
(३) अधमा—शास्त्र-चिन्ता
(४) अधमाधमा—लोक-चिन्ता

उत्तमा तत्वचिन्तास्याज्जप चिन्ता तु मध्यमा। शास्त्रचिन्ताधमा ज्ञेया लोक चिन्ताधमाधमा ॥'

(१) कोटि पूजा = १ स्तोत्र
(२) कोटि स्तोत्र = १ जप
(३) कोटि जप = १ ध्यान
(४) कोटि ध्यान = १ लय

'पूजा कोटि समं स्तोत्रं स्तोत्र कोटि समो जपः। जपकोटि समं ध्यानं ध्यान कोटि समो लयः ॥'

(१) सर्वोच्च मन्त्र = नाद
(२) सर्वोच्च देव = आत्मा
(३) सर्वोच्च पूजा = परापूजा
(४) परम फल = आत्मतृप्ति

'नहि नादात् परो मन्त्रो न देवः स्वात्मनः परः । नानुसंधेः परापूजा न हि तृप्तेः परं फलम् ।।'

(१) देवालय — देह
(२) जीव — सदाशिव

"देहो देवालयो देवि जीवो देवः सदाशिवः ।।"

भास्कराचार्य ने—

'नार्थज्ञानविहीनं शब्दस्योच्चारणं फलति ।
भस्मनि वह्निविहीने न प्रक्षिप्तं हविर्ज्वलति ।।

'अर्थमजानानां नानाविधशब्दमात्रपाठवताम् ।
उपमेयश्चक्रीवान् मलयजभारस्य वोढैव ।।

'एतामुत्सृज्य जडैः क्रियमाणा बाह्यडम्बरोपास्तिः ।
प्राणविहीनेव तनुर्विगलितसूत्रेव पुत्तलिका ।।'

—कहकर उपर्युक्त साधना-सूत्रों की ही पुष्टि की है । आचार्य भास्कर 'वरिवस्या' के सन्दर्भ में आचार्य शङ्कर के 'परापूजा' के इस आदर्श एवं अनुभूति को ही वरेण्य मानते हैं—

'आत्मा त्वं, गिरिजा मतिः, सहचराः प्राणाः, शरीरं गृहम् ।
पूजा ते विविधोपभोग रचना, निद्रा समाधिस्थितिः ।।'

'सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो ।
यद् यद् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ।।'

क्योंकि—

'पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ।।

और 'ध्यान' भी शरीराङ्ग-कल्पना नही है—

'ध्यानं हिं निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया ।
न तु ध्यानं शरीराक्षि मुख हस्तादि कल्पना ।।'

इसी प्रकार होम भी—

'महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम् ।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतना स्रुचा ।।'

मैं सर्वप्रथम भारतीय मनीषा के अद्भुत चमत्कार, प्रतिभा के मूर्त्तिमान स्वरूप, साधना की निष्पत्ति, ज्ञान के अभ्रंलिह शिखर, सिद्धि के रत्नाकर एवं वीणापाणि भगवती के वरद आत्मज आचार्य भास्करराय के पाद-पद्मों में प्रणिपात करता हुआ उनका सश्रद्ध अभिवादन करता हूँ और अन्त में इस ग्रन्थ के प्रकाशक एवं चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन के सञ्चालक श्रीवल्लभदास जी एवं श्रीनवनीतदासजी गुप्त के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ क्योंकि उन्होंने इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने के दुर्वह दायित्व को स्वीकार करते हुए मुझे अनुगृहीत किया ।

विद्वद्वशंवद्

श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

बैढन (जमुआ) सीधी म०प्र०
संवत् २०५५
९.९.१९९७

—❋—

भूमिका

भारतीय आध्यात्मिक साधना एवं दर्शन के इतिहास में आचार्य शङ्कर के अनन्तर यदि किन्हीं अन्य अनुत्तर, अप्रतिम एवं अद्वितीय विभूतियों का नामोल्लेख किया जा सकता हो तो उनमें आचार्य श्रीभास्करराय मखिन या भासुरानन्दनाथ का नाम सर्वोपरि होगा। वैदुष्य के इतिहास में उनका नाम सदैव स्वर्णाक्षरों से लिखा जाएगा।

आचार्य भास्कर बहुश्रुत, बहुज्ञ, अपरिमेय ज्ञान-शाखाओं के अतुल्य विपश्चित, अद्‌भुत मनीषी एवं ज्ञान-रत्नाकर थे। आचार्य शङ्कर जो कार्य अपूर्ण छोड़कर चले गए उसे उन्होंने पूर्ण किया। आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मद्वैतवाद की तो प्राण-प्रतिष्ठा की और **'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति'**, **'सर्वंखल्विदं ब्रह्म'**, **'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि'** का शङ्खनाद करते हुए इस सत्य सिद्धान्त को बद्धमूल करके उसे पल्लवित, कुसुमित एवं सुरभित भी किया और डिण्डिम नाद करते हुए कहा—

**'श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीव ब्रह्मैव नापरः॥'**

किन्तु अपनी इस अनुभूति को रूपायित नहीं कर पाये कि—

**'सत्यपि भेदापगमेनाथ तवैवाहं न मामकीनस्त्वं।
सामुद्रो वै तरङ्गः न तु तारङ्गो वै समुद्रः॥'**

"शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं"—की अद्वैतानुभूति करते हुए भी वे—**"अहं देवी न चान्योस्मि"** का शङ्खनाद नहीं कर सके। वे शिवोपासक होकर भी यह तो कह गए कि—

**'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥'**[१]

किन्तु फिर भी वे शक्त्याद्वैतवाद की प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर सके। ब्रह्म एवं शिव की महत्ता के गायक आचार्य शङ्कर ब्रह्म एवं शिव में इतने रमे कि वे शक्ति की ब्रह्मरूपता, वेदों में शक्तिवाद एवं शक्ति-साधना की दिशा में, अधिक समय दे ही नहीं पाये। इसी अपूर्ण कार्य को आचार्य भास्करराय ने पूर्ण किया। आचार्य शङ्कर ने 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' को मूल मन्त्र मानकर उसकी साधना की जबकि

---

१. सौन्दर्यलहरी

आचार्य भास्कर ने—"**अथातो शक्ति जिज्ञासा**" को अपना मूल मन्त्र स्वीकार करके इसी दिशा में यावज्जीवन साधना की ।

'वरिवस्यारहस्यम्' नामक प्रस्तुत आचार्यश्री की रचना जो कि मूलत: मन्त्र-शास्त्र की रचना है—मूलत: गायत्री एवं पञ्चदशी मन्त्रों की एकात्मता, उसके पन्द्रह अर्थों के प्रतिपादन, जीव-ब्रह्मैक्यवाद, परिणामवाद, नादोपासना, उद्‌गीथो- पासना, प्रकाश-विमर्शवाद, शब्दशक्तिवाद, सर्वचिन्मयवाद एवं सर्वशक्तिवाद आदि सिद्धान्तों के प्रतिपादन में ही केन्द्रित हैं । यह मन्त्रशास्त्र के साङ्गोपाङ्ग विवेचन की ओर उन्मुख नहीं है ।

"वरिवस्यारहस्यम्" के रचनाकार आचार्य श्रीभास्करराय एवं उनके इस ग्रन्थरत्न का परिचय दिये बिना उनके उक्त ग्रन्थ की व्याख्या एवं उसका रहस्योद्‌घाटन ग्रन्थकार के प्रति अन्याय होगा । इसी दृष्टि से संक्षेप में इन पर प्रकाश डाला जा रहा है ।

१. भास्करराय और उनका आविर्भाव-काल

आचार्य भास्करराय या भासुरानन्दनाथ अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आविर्भूत श्रीविद्या सम्प्रदाय के ऐसे प्रख्यात एवं सिद्ध शाक्त दार्शनिक थे जिनके विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि—"**न भूतो न भविष्यति ॥**"

आचार्य भास्करराय तान्त्रिक होते हुए भी श्रौतमार्गी थे, शाक्त होते हुए भी शैवमार्गी थे, गृहस्थ होते हुए भी सन्यासियों से भी महत्तर थे, निवृत्तिमार्गी होते हुए भी लोकसंग्रही थे, और साधक होते हुए भी सिद्ध थे और रहस्य-जगत् के महान् रहस्य थे । आचार्य भास्कर ने जो 'सौभाग्यभास्कर' एवं 'सेतुबंध' टीकाएँ लिखीं वे तान्त्रिक साधना के विश्वकोष हैं ।

उन्होंने शाक्त मत के रहस्यों का उद्‌घाटन करने के लिए आजीवन उसका प्रचार-प्रसार किया, शास्त्रार्थ किया एवं दर्जनों ग्रन्थों की रचना की । आचार्य भास्करराय का आविर्भाव सत्रहवीं शताब्दी के अवसान एवं अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था । उन्होंने अपनी स्व-रचित रचनाओं में (इन रचनाओं का) रचना-काल भी उल्लिखित किया है । उन्होंने 'ललितासहस्रनाम' पर प्रणीत अपने भाष्य का समापन सम्वत् १७८५ में कालयुक्त की आश्विन-शुक्ल-नवमी को किया था और 'सेतुबन्ध' नामक अपनी रचना का समापन शक संवत् १६५५ (ई० सन् १७३३) के शिवरात्रि को और सप्तशती पर प्रणीत अपनी टीका 'गुप्तावती' की रचना सम्वत् १७८७ के 'प्रमोद' नामक वर्ष में चिदम्बरम में की थी । 'ललिता सहस्रनाम' एवं 'सेतुबन्ध' (ई० सन् की दृष्टि से) क्रमश: १७२८ एवं १७४१ में लिखे गए थे किन्तु 'काल-युक्त' एवं 'प्रमोद' की दृष्टि से इनकी रचना क्रमश: १७३८-३९ एवं १७५०-५१ में हुई थी । दोनों में दस वर्षों का अन्तर है ।

निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित 'ललितासहस्रनाम भाष्य' की भूमिका में कहा गया है कि यद्यपि भास्करराय ज्ञान की समस्त शाखाओं में निष्णात थे किन्तु वे

मूलत: शाक्त दर्शन की वामाचार शाखा से सम्बद्ध थे । वाराणसी के पण्डितों ने उन्हें वामाचारी होने की भूल को स्वीकार करके उनका परित्याग करने हेतु उनके आवास पर जाकर उन्हें समझाने का निर्णय लिया ।

'निर्णयसिन्धु' के प्रणेता कमलाकरभट्ट के पितामह नारायण भट्ट के नेतृत्व में सङ्गठित विरोधियों के दल के उपर्युक्त निर्णय से अवगत होकर भास्करराय ने उन्हें स्वनिष्पाद्य 'महायाग' में शास्त्रार्थ हेतु आमंत्रित किया । नारायण भट्ट प्रभृति विद्वान यज्ञशाला में गए किन्तु भास्करराय की अप्रतिम आध्यात्मिक महानता देखकर प्रतिवाद करने का साहस तो नहीं जुटा सके तथापि उन्होंने उनसे मन्त्रशास्त्र पर अनेक प्रश्न किए । भास्करराय ने सभी प्रश्नों का समुचित उत्तर दिया । इसी समय कुंकुमानन्द नामक संन्यासी ने पण्डितों से कहा कि आप लोग इन्हें शास्त्रार्थ में पराभूत नहीं कर सकते क्योंकि स्वत: श्रीदेवी भास्करराय के मुख से बोल रही हैं । नारायणभट्ट ने इसका प्रमाण माँगा । सन्यासी ने देखा कि भास्करराय के कंधों पर श्रीदेवी समासीन हैं और भास्करराय के मुख से बोल रही हैं । इस विचित्र घटना को देखकर सभी पण्डित निराश और लज्जित होकर घर लौट गए ।

उपर्युक्त घटना को ऐतिहासिक काल-क्रम की दृष्टि से देखने पर इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती है क्योंकि कमलाकरभट्ट ने 'निर्णयसिन्धु' की रचना विक्रम संवत् १६६८ (ई० सन् १६१२) में की । उनके पितामह नारायणभट्ट १६१२ से पचास वर्ष पूर्व रहे होंगे किन्तु भास्करराय द्वारा प्रणीत पुस्तकों की तिथियाँ इससे मेल नहीं खातीं ।

इसके अतिरिक्त, भास्करराय के काल-निर्णय की दिशा में निम्न बिन्दु भी ध्यातव्य हैं—

१. भास्करराय ने अप्पय दीक्षित का नाम ससम्मान उल्लेखित किया है । वे १५५४ से १५९४ ई० सन् तक—के मध्य वर्तमान थे ।

२. भास्करराय ने वरदराज के 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' पर टीका लिखी थी । वरदराज भट्टोजी दीक्षित के एवं भट्टोजी दीक्षित स्वयमेव अप्पयदीक्षित के शिष्य थे ।

३. खण्डदेव की 'भाट्टदीपिका' पर भास्करराय ने टीका लिखी । खण्डदेव के शिष्य शम्भुभट्ट के कथनानुसार खण्डदेव ने बनारस में वि०सं० १७२२ में इह लीला-संवरण किया । वि०सं० १७२२ को ई० सन् की दृष्टि से देखा जाय तो यह १६६६ पड़ता है ।

४. वैयाकरण नागोजी भट्ट ई० सन् १६८८ से १७५० के मध्य स्थित थे । भास्कररायजी ने उनकी पुस्तक 'मञ्जूषा' एवं उनके द्वारा प्रणीत 'दुर्गासप्तशती' की टीका को अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है ।

५. भास्करराय के शिष्य उमानन्दनाथ ने 'नित्योत्सव' की रचना ई० सन् १७७५ में की थी । रामेश्वर सूरि के मतानुसार भास्करराय ने इस रचना

का पुनरीक्षण भी किया था । इन समस्त प्रमाणों से निष्कर्ष निकलता है कि भास्करराय अठारहवीं सदी के प्रारंभ से १७६८ तक विद्यमान रहे ।

श्रीबटुकनाथजी शास्त्री खिस्ते के कथनानुसार भास्करराय सन् १६७० के आस-पास आविर्भूत हुए ।

भास्करराय भारतीय मनीषा के भास्कर थे, भारतीय प्रज्ञा के सुधांशु थे, भारतीय तान्त्रिक-साधना के ध्रुव नक्षत्र थे, वैदुष्य के बृहस्पति थे, सारस्वत-साधना के अप्रतिम साधक थे और सिद्धान्त और साधना की सङ्गमभूमि के ऊपर शङ्कराचार्य थे ।

२. भास्करराय की रचनाएँ

भास्करराय ने चालीस से अधिक पुस्तकें लिखी हैं । उनके शिष्य जगन्नाथ ने 'भास्करविलास' नामक अपने ग्रन्थ में इन पुस्तकों का उल्लेख किया है ।[१] यथा—

१. **ललितानाम साहस्रभाष्यं भाष्यकृतां समः ।**
सौभाग्यभास्कराख्यं सभाग्यलब्धं व्यधात्सुधीः ॥

२. **कौलोपनिषद्भाष्यं कुलजैः सेव्यो जनैश्चकारासौ ।**
त्रैपुरमहोपनिषदं त्रैपुरसिद्धान्तविद्विवव्रे सः ॥ आदि ॥

अनेक विषयों एवं अनेक दर्शनों पर उनकी अनेक पुस्तकें हैं यथा—

१. **वेदान्त**—(१) 'चण्डभास्कर' (२) 'नीलाचल चपेटिका' (इन दोनों पुस्तकों की रचना द्वैतवादी ग्रन्थ 'प्रहस्त' के खण्डन हेतु की गई थी ।)
२. **मीमांसा**—(१) 'वादकौतूहल' (भास्करराय एवं उनके गुरुपुत्र स्वामी शास्त्री के मध्य हुए शास्त्रार्थ पर आधृत ।) (२) 'भाट्टचन्द्रोदय' (खण्डदेव विरचित 'भाट्टदीपिका' की टीका)
३. **व्याकरण**—(१) 'रसिकरंजिनी' (वरदराज के ग्रन्थ 'मध्यसिद्धान्त कौमुदी' पर प्रणीत ग्रन्थ)
४. **न्याय दर्शन**—'न्याय मण्डन'
५. **छन्दशास्त्र**—(१) चण्डभास्कर (छन्दसूत्र पर भाष्य), (२) छन्द कास्तुभ (३) वृत्तचन्द्रोदय (४) वार्तिकराज (५) मृतसञ्जीवनी ।
६. **काव्य**—(१) चन्द्रशाला (२) मधुराम्ल (३) भास्कर सुभाषित ।
७. **स्मृति**—(१) स्मृतितत्त्व (२) सहस्रभोजन खण्ड टीका । (बौधायन के धर्मसूत्रों पर लिखी गई टीका) (३) 'शङ्खचक्रायन प्रायश्चित्त' (४) एकादशी निर्णय (५) प्रदोष निर्णय (६) त्रिक भास्कर (७) कुण्ड भास्कर ।
८. **स्तोत्र**—(१) शिवस्तव (२) देवीस्तव (३) शिव दण्डक (४) शिव स्तोत्र शतनाम स्तोत्र व्याख्या ।

---

१. 'भास्करविलास' (भास्कर के शिष्य उमानन्दनाथ 'जगन्नाथ' द्वारा प्रणीत)

९. **मन्त्रशास्त्र**—(१) खद्योत (गणपति सहस्रनाम की टीका) (२) चन्द्रलाम्बा माहात्म्य टीका (३) नाथनवरत्नमाला मञ्जूषा (अपने दीक्षा गुरु की प्रशंसा में एक स्तोत्र) (४) 'भावनोपनिषद्भाष्य' (शरीर के विभिन्न भागों में श्रीचक्र का पूजन) (५) 'श्रीसूक्तभाष्य' (६) कौलोपनिषद् भाष्य (७) त्रिपुरोपनिषद् भाष्य (८) सौभाग्य भास्कर (ललिता सहस्रनाम पर रचित भाष्य) (९) सौभाग्य चन्द्रोदय (विद्यानन्द नाथ पर प्रणीत 'सौभाग्यरत्नाकर' पर प्रणीत टीका) (१०) वरिवस्यारहस्य ('प्रकाश' नामक टीका) (११) त्रिपुरसुन्दरी बाह्य 'वरिवस्या' (त्रिपुरसुन्दरी की बाह्य पूजा का वर्णन) (१२) रत्नालोक ('परशुरामकल्पसूत्र' की टीका) (१३) गुप्तवती (दुर्गा सप्तशती पर टीका) (१४) शत श्लोकी (सप्तशती में विद्यमान मन्त्रों के विषय में प्रणीत) (१५) सेतुबंध (वामकेश्वरतन्त्र की टीका)।

१०. **कोश**—'वैदिककोश'

भास्कराचार्य ने लिखा है कि मैं 'तन्त्रराज' एवं 'ललितास्तुति' पर टीका लिखूँगा।

३. भास्करराय का जीवन परिचय

आचार्य भास्कर ने स्वयमेव अपना परिचय "सौभाग्यभास्कर" में इस प्रकार दिया है—

"श्रीगंभीर विपश्चितः पितुरभूद्यः कोनमाम्बोदरे
विद्याष्टादशकस्य मर्मभिद्यः श्रीनृसिंहाद् गुरोः।
यश्च श्रीशिवदत्तशुक्लचरणैः पूर्णाभिषिक्तोऽभवत्
स त्रेता त्रिपुरा त्रयीति मनुते तामेव नाथत्रयीम्॥" (सौभाग्यभास्कर)

आचार्य भास्कर का ही परवर्तीनाम भासुरानन्दनाथ भी है—"गुरुचरणासनाथो भासुरानन्दनाथो। विवृतिमति रहस्यां वीरवृन्दैर्नमस्याम्॥ (सौभाग्यभास्कर)

आचार्य भास्करराय शास्त्रोद्धार सत्सम्प्रदायप्रथन एवं तान्त्रिक रहस्यों के उद्घाटन तथा आगम-निगम में समन्वय-स्थापन के देवदूत थे—

'स्वोपासनासिद्धिरहस्यसारसत्सम्प्रदायप्रथनाय नूनम्।
आविर्भवन्ति गुरुभास्कराख्या पायादपायात्परदेवतामाम्॥'

आचार्य भास्कर यथा नाम स्वयं भास्कर थे। वे भास्कर थे—तान्त्रिक साधना के रहस्यों के अज्ञानान्धकार के; वे भास्कर थे रहस्यपथ की कादम्बरी को विध्वस्त करने वाली शक्ति के।

भास्कररायमखिन भारतीय मनीषा के भास्कर थे, भारतीय प्रज्ञा के सुधांशु थे, भारतीय तान्त्रिक साधना के ध्रुव नक्षत्र थे, वैदुष्य के बृहस्पति थे, सारस्वत साधना के अप्रतिम अंशुमाली थे, सिद्धान्त और सिद्ध साधना तथा साधना और सिद्धि के ज्योतिर्मयलोक के द्वितीय शङ्कराचार्य थे।

भास्करराय सत्रहवीं सदी के अन्त में आविर्भूत हुए । इनका जन्मस्थान भागा नगरी (हैदराबाद) है । इनके पिता श्रीगंभीरराय भारती थे जो कि अनेक शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान, आहिताग्नि एवं बीजापुर राज्य के दीवान थे । बीजापुर के यवन राजा ने श्रीगंभीररायजी से महाभारत का आख्यान सुना एवं उनके अनुरोध पर गंभीररायजी ने संपूर्ण महाभारत का फारसी में अनुवाद कर डाला । इसी महनीय कार्य के कारण उनको 'भारती' कहा जाने लगा । श्रीगंभीररायजी ने अपने 'विष्णुनाम प्रसूनाञ्जलि'' नामक ग्रन्थ में अपना वंश-परिचय दिया है । इसके अनुसार वे विश्वामित्र गोत्रीय थे और इनके मूलपुरुष का नाम था—एकनाथ ॥ उनके पुत्र पण्डित तुकदेव एवं पौत्र यमाजि पण्डित थे । यमाजि पण्डित की भार्या चन्द्रमाम्बा से गंभीरराय उत्पन्न हुए । यद्यपि गंभीरराय भागवत संप्रदाय के अनुवर्ती थे तथापि श्रीवत्सगोत्रीय अपने मामा श्रीआगमाचार्य नारायण पण्डित से इन्होंने आगमशास्त्र का सम्यक् अध्ययन करके उनसे दीक्षा ली थी । गंभीरराय बीजापुर में रहा करते थे । वे किसी कार्यवश सपत्नीक हैदराबाद गए । वहीं कोणमाम्बा के गर्भ से भास्करराय का द्वितीय पुत्र के रूप में जन्म हुआ । चूँकि गंभीरराय का प्रथम पुत्र तीव्र बुद्धि का नहीं था अतः कोणमाम्बा ने भगवान भास्कर की तीव्रोपासना की । इसी तपस्या के फलस्वरूप भास्करराय जैसा तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ । गंभीरराय ने भास्कर को बाल्यावस्था में ही 'सारस्वतकल्प' के अनुसार सरस्वतीमन्त्रपूत ब्राह्मीलता का सेवन कराया जिससे उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी हो गई । उनका यज्ञोपवीत संस्कार काशी में हुआ । इसके अनन्तर उन्होंने पाँच वर्षों की अवस्था से ही अपनी ऋक् शाखा का अभ्यास एवं अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया ।[१]

अत्यन्त तेजस्वी एवं मेधावी होने के कारण भास्कर से (बाल्यकाल से ही) जो भी बातें करता वह प्रभावित हो जाता था । इसी मध्य आंध्रप्रदेश के अशेष शास्त्र-निष्णात, मूर्धन्य विद्वान श्रीनृसिंहाध्वरि गंभीरराय के घर पधारे । नृसिंहाध्वरि ने भास्कर की प्रतिभा देखकर उन्हें अध्ययन करने के लिए अपने पास भेजने का परामर्श दिया जिसे कि पिता ने स्वीकार कर लिया । भास्कर ने इनके घर रहकर अशेष विद्याओं का सम्यक् अध्ययन किया । उन्होंने इसका उल्लेख भी किया है—

''विद्याष्टदशकस्य मर्मविदभूद्यः श्रीनृसिंहाद गुरोः ॥''

भास्कर अष्टादश विद्याओं के पारगामी विद्वान हुए । भास्कर ने अन्य आचार्यों से भी अध्ययन किया, यथा—रूक्मण्णा पण्डित से छन्द एवं अलङ्कार शास्त्र एवं गङ्गाधर वाजपेयी से नव्यन्यायशास्त्र का अध्ययन किया । उन्होंने १७-१८ वर्ष की अवस्था तक अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर डाला । यथा—आयुर्वेद, धनुर्वेद एवं गणित आदि का ॥ आचार्य गङ्गाधर बाजपेयी ने उन्हें गौड़ तर्कशास्त्र में निष्णात कर दिया ।

---

१. कृष्णस्वामी शास्त्री—'वरिवस्यारहस्यम्' की भूमिका

गंभीरराय ने भास्कर को राजकार्य में लगाना चाहा किन्तु किसी सिद्ध महात्मा का ओदश मानकर उन्होंने भास्करराय को मनोनुकूल अध्ययन एवं धर्मरक्षा में ही प्रवृत्त रहने की प्रेरणा दी।

जगद्गुरु भगवान् शङ्कराचार्य की सांप्रदायिक परम्परा में द्विविध शिष्य-प्रणाली थी—१. संन्यासी २. गृहस्थ। भास्करराय ने गृहस्थ शिष्य परम्परा में सम्प्रदाय की रक्षा करने का बीड़ा उठाया। चूँकि आचार्य शङ्कर अल्पजीवी थे अत: उनके द्वारा दो कार्य पूर्ण नहीं हो पाये—१. शिवोपासना, एवं २. शक्त्योपासना का दृढ़ता से प्रतिपादन ।। आचार्य भास्कर ने शङ्कर परम्परा एवं शक्ति-दर्शन दोनों को अभूतपूर्व रूप में उपस्थापित किया। शिवोपासना का प्रतिपादन एवं उसकी प्राणप्रतिष्ठा का महनीय कार्य तो श्रीअप्पय दीक्षित ने किया किन्तु शक्त्योपासना की सशक्त प्राणप्रतिष्ठा आचार्य भास्कर ने की।

गुरु नृसिंहाध्वरि के पुत्र महामीमांसक श्रीस्वामी शास्त्री (गुरुबंधु) एवं भास्कर दोनों ने मिलकर, आंध्रप्रदेश के राजा मल्लिकार्जुन की इच्छानुसार 'पूर्व मीमांसावाद कुतूहलम्' नामक ग्रन्थ की रचना की।

भास्कर के गुरु श्रीनृसिंहाध्वरि ने भास्करराय को, तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ श्रीविद्या के उपासक एवं अविच्छिन्न शाङ्कर परम्परा के आचार्य (नागर ब्राह्मण, आहिताग्नि एवं सूरत के निवासी) श्रीशिवदत्तजी शुक्ल के पास श्रीविद्या का अध्ययन करने हेतु भेजा। श्रीशिवदत्तजी उच्चकोटि के साधक एवं तपस्वी थे। भास्करराय उनके पास जाकर उनसे अध्ययन करने लगे। इसी बीच वल्लभ सम्प्रदाय का कोई आचार्य वहाँ आकर शाङ्कर मत के विरुद्ध प्रचार-प्रसार करने लगा। स्थानीय पण्डितों ने उनसे शास्त्रार्थ करने हेतु शुक्लजी को आमंत्रित किया किन्तु वे वृद्ध होने के कारण नहीं जा सके किन्तु भास्कर के निवेदन पर उन्हें आशीर्वाद देकर शास्त्रार्थ करने भेज दिया। भास्कर ने उस आचार्य को पराजित करके शाङ्करमत की विजयपताका फहरायी। इससे अत्यन्त प्रसन्न होकर श्रीशुक्लजी ने भास्कर को सर्वोच्च दीक्षाएँ देकर कृतार्थ किया। यह घटना भास्कर के शिष्य जगन्नाथशुक्ल (उमानन्दनाथ) ने अपने ग्रन्थ—'भाष्करविलास' में इस प्रकार उल्लेखित किया है—

"शिवदत्तशुक्लचरणासादितपूर्णाभिषेकसाम्राज्य: ।
गुर्जरदेशे विदधे जर्जरस्थैर्यं स वल्लभाचार्यम् ।।"

मध्व सम्प्रदाय के एक आचार्य ने भास्करराय को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी। भास्कराचार्य ने एक शर्त रक्खी कि "जो पक्ष हारेगा वह विजयी पक्ष को अपनी कन्या प्रदान करेगा ।।" पराजित होकर मध्व संप्रदाय के उस आचार्य ने अपने भाई की पुत्री के साथ भास्कर का विवाह करा दिया। इस घटना का भी उल्लेख 'भास्कर-विलास' में किया गया है—

"वादेमस्करिणं माध्वं व्याधूयामुष्य बंधुजाम् ।
पार्वतीं व्यवहृत कीर्त्या समं सत्यप्रतिभव: ।।"

वाराणसी के पण्डितों ने भास्कर की परीक्षा ली । उन लोगों ने भास्करराय से चतु:षष्टि योगिनी-चरित्र के विषय में प्रश्न किया । इस प्रश्न का उत्तर भास्कर के समीप किसी देवता ने उपस्थित होकर दिया ।

आचार्य शङ्कर की ही भाँति भास्कर भी भारत का भ्रमण करते रहे । उनके तीन लक्ष्य थे—१. शक्ति की उपासना २. वेद एवं आगमों में समन्वय स्थापना ३. मीमांसादर्शन के अनुसार तन्त्र-ग्रन्थों की व्याख्या करना एवं देवस्थानों का जीर्णोद्धार ।। इन्होंने अनेक वैदिक यज्ञ भी किए । ये श्रौत यज्ञ थे । 'गणेश सहस्रनाम' के खद्योत भाष्य में काशी के त्रिलोचन घाट के निकट भास्कर द्वारा किसी यज्ञ करने या कराने का उल्लेख मिलता है—

गंभीर बुध यज्वनस्तनुभवोऽधि वाराणसीं ।
त्रिलोचन पदानुगः कृतमखोऽग्निचिद्भास्करः ।।

आचार्य भास्कर ने गोवा प्रदेश में 'नित्याषोडशिकार्णव' पर 'सेतुबंध' नामक टीका लिखी । उन्होंने अपनी कुलदेवी 'चन्द्रकला' देवी का श्रीचक्र के आकार का मन्दिर बनवाया । उनकी पत्नी ने तञ्जौर के निकट भास्करपुर नामक अग्रहार (दान मे दिया गया गाँव) में शिव और पार्वती की स्थापना की । इन्हें अन्नभण्डार एवं वैभव की कमी नहीं थी । इसीलिए उनका सत्र-समर्पण, दान आदि सतत् चलता रहता था ।

राजा चन्द्रसेन जाधव (भोंसले राजाओं का सेनापति) भास्कर का शिष्य था । उसके पुत्र के असाध्य रोग को नष्ट करने हेतु सूर्य की आराधना की गई । भास्कर ने इसी प्रसङ्ग में 'तत्वभास्कर' लिखा ।

भास्कराचार्य बहुत ही अध्ययनशील थे इसीलिए उनके ग्रन्थों में सहस्रों ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है । मीमांसा दर्शन उनका प्रधानविषय या तन्त्रग्रन्थों की व्याख्या में भास्कर ने उसी शैली का प्रधानतः उपयोग किया है । इनके शिष्य जगन्नाथशुक्ल तञ्जौर राज्य के सभापण्डित थे । इन्होंने 'भास्कर-विलास' में भास्कर द्वारा विरचित लगभग चालिस ग्रन्थों का उल्लेख किया है । भास्कर ने जैमिन-सूत्र के सङ्कर्षण काण्ड की व्याख्या भी की थी । भास्कर ने वेदान्त के अन्तर्गत—'चण्डभास्कर' । न्यायशास्त्र के अन्तर्गत—'न्याय मण्डन' एवं मीमांसा दर्शन के अन्तर्गत—'भाट्टचन्द्रोदय' आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया । इनके ग्रन्थो में—'सेतुबंध' ('नित्याषोडशिकार्णव' की व्याख्या) एवं 'ललितासहस्रनाम' पर लिखी गई, टीका 'सौभाग्यभास्कर' प्रमुख हैं । अन्य ग्रन्थों में मन्त्रशास्त्र पर उनकी लिखी रचना—'वरिवस्यारहस्यम्' एवं 'प्रकाश' (टीका) है ।

इनकी पत्नी आनन्दी से पाण्डुरङ्ग नामक पुत्र भी उत्पन्न हुआ । उन्होंने अपनी पत्नी को भी दीक्षा दी, (श्रीविद्या की दीक्षा दी) एवं उनको "पदमावत्यम्बिका" नामक नया दीक्षा नाम दिया । उनकी पत्नी का नाम 'पार्वती' आता है । (भास्करविलास)

आचार्य भास्कर ने शिवदत्तशुक्ल से 'पूर्णभिषेक' की दीक्षा ग्रहण किया एवं गुजरात की अपनी यात्रा में वल्लभ संप्रदाय के एक आचार्य को भी पराभूत किया। आचार्य भास्कर ने बनारस में 'सोमयाग' भी किया ।

इन्होंने अपने प्रिय शिष्य चन्द्रसेन की प्रार्थना पर वाराणसी का त्याग करके कृष्णा नदी के तट पर रहना प्रारंभ कर दिया । अन्ततः वे कोल प्रदेश गए । वहीं उनके न्यायशास्त्र के गुरु गङ्गाधरवाजपेयी कावेरी नदी के दक्षिण तट पर स्थित तिरुवालङ्काडु में रहते थे । भास्करराय तञ्जौर के शासक महरथ के द्वारा प्रदत्त एवं कावेरी के उत्तरी तट पर स्थित "भास्करराजपुरम्" में रहने लगे । वे जीवन के अन्त में मध्यार्जुन क्षेत्र में रहने लगे थे । यहीं उनका निर्वाण हुआ ।

भास्करराय एवं उनकी पत्नी ने अनेक मंदिरों का निर्माण कराया एवं अनेक का जीर्णोद्धार कराया । उन्होंने वाराणसी में 'चक्रेश' नामक मंदिर बनवाया एवं इसे पाण्डुरङ्ग को दे दिया । उनहोंने अपनी कुलदेवी चन्द्रलाम्बा का श्रीचक्राकार मंदिर बनवाया । चोलदेश में स्थित 'कहोलेश' मन्दिर के दैनिक, मासिक एवं वार्षिक उत्सवों को सम्पन्न करने के लिए भी भास्कराचार्य ने व्यवस्था की । कावेरी के तट पर स्थित भास्करपुर के भास्करेश्वर मंदिर का जीर्णोद्धार इनकी प्रथम पत्नी ने कराया था ।

आचार्य भास्कर के चमत्कारों के विषय में अनेक किंवदिन्तयाँ प्रचलित हैं। श्रीभास्करराय संध्या के समय अपने घर के बाहरी बरामदे में स्तंभ पर पैर रखकर विश्राम करते हुए शिष्यों को उपदेश दिया करते थे । वेप्पट्टूर का एक सन्यासी संध्या के समय इसी मार्ग से श्रीमहालिङ्ग स्वामिन् के मन्दिर जाया करता था किन्तु भास्करराय उसकी ओर न तो ध्यान देते थे और न तो उसे अभिवादन ही करते थे । एक दिन प्रदोष के समय भास्करराय को महालिङ्गम स्वामिन् के मन्दिर में उसी स्वामी से भेंट हुई । उन सन्यासी ने भास्करराय से ऋण-शोधन के लिए सभी के सामने यह कहकर उनकी भर्त्सना की कि इन्होंने गृहस्थ होकर भी अपने से उच्चतर आश्रम में स्थित मुझ सन्यासी के प्रति शिष्टाचार तक का प्रदर्शन नहीं किया । भास्करराय ने शान्तभाव से कहा कि यदि मैं इनको दण्डवत कर लेता तो इनका जीवन सङ्कट में पड़ जाता । उस सन्यासी ने इसका प्रमाण माँगा तो भास्करराय ने कहा कि आप अपना दण्ड कमण्डल पृथ्वी पर रख दें । सन्यासी द्वारा दण्ड-कमण्डल पृथ्वी पर रख देने पर जैसे ही भास्करराय ने उस दण्ड-कमण्डल को दण्डवत किया वैसे ही वह टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया । उन सन्यासी महोदय ने इसे देखकर भास्करराय से क्षमा-प्रार्थना की ।

शिवाजी के पौत्र (शाहूजी) के सेनापति धनाजीजाधव भास्करराय के प्रिय शिष्य थे । धनाजी के पुत्र चन्द्रसेनजाधव भी भास्करराय के प्रिय पात्र थे ! एक बार चन्द्रसेनजाधव ने भास्करराय के पास सपत्नीक जाकर उनसे पुत्र सन्तान न होने का कष्ट सुनाकर उन्हें पुत्र-प्राप्ति हेतु निवेदन किया । आचार्य भास्करराय ने आशीर्वाद देते हुए कहा—'मेरे आशीर्वाद से तुम्हारे पुत्र सन्तान जन्म लेगी ।''—

यह सुनकर अपनी पत्नी के साथ अपने घर लौट गए । चन्द्रसेन की भार्या ने भी यथासमय गर्भधारण किया । भास्करराय के शिष्य नारायणदेव ने भ्रमराम्बिका देवी को प्रसन्न करके 'भालकी' नामक वाक्सिद्धि प्राप्त कर ली थी । चन्द्रसेन एक बार जब राजधानी आए तो उन्होंने नारायणदेव की कीर्ति सुनी और उनसे पूँछा कि मेरे कौन सन्तान होगी? नारायणदेव ने कहा—'पुत्री होगी ।।' चन्द्रसेन ने नारायणदेव से पूँछा—"आपने यह कैसें कहा कि पुत्री होगी? मेरे गुरु श्रीभास्करराय ने तो कहा था कि 'तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होगा?" नारायणदेव ने भास्कर का नाम सुनते हुए उन्हें अभिवादन करते हुए कहा "मूर्ख! तूने यह क्या किया? मैं भी तो भास्करराय का शिष्य हूँ और उन्हीं की अनुकम्पा से मुझे वाक्सिद्धि प्राप्त हुई है । चूँकि तुमने मेरे कथन के द्वारा गुरु के कथन को मिथ्या एवं व्यर्थ करवा दिया अत: तुमको इस पाप का फल भी भोगना होगा । अब तो गुरु द्वारा 'पुत्र' होने एवं मेरे द्वारा 'पुत्री' होने की इन दोनों की भविष्यवाणियाँ व्यर्थ हो गईं । अत: अब तेरे न पुत्र, न पुत्री बल्कि इन दोनों के स्थान में नपुंसक सन्तान जन्म लेगी ।' इसी कथन का प्रभाव था कि चन्द्रसेन के जो रामचन्द्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ वह नपुंसक हुआ । लज्जित चन्द्रसेन ने अपनी चपलता के दोष को अपना अपराध स्वीकार करते हुए नारायणदेव से ही शाप निवृत्ति का उपाय पूँछा और नारायणदेव के ही द्वारा बताए गए उपाय के आधार पर गुरु भास्करराय की पुन: शरण ग्रहण की । भास्करराय ने कहा कि मेरा वचन अमोघ है । वे रामचन्द्र को लेकर उन्हें पौरुष प्रदान कराने हेतु कृष्णा नदी के तट पर स्थित पुण्य क्षेत्र में रहने लगे ।। उन्होंने कृष्णा नदी के तट पर 'तृचार्घ्यदानानुष्ठान' प्रारंभ किया । चूँकि कृष्णा नदी भास्कर के निवास से अत्यन्त दूर थी इसलिए कृष्णा नदी के तट पर प्रतिदिन पैदल यात्रा के कारण भास्करराय के पैरों में सूजन आ गई । शिष्यों ने कहा 'गुरुदेव! उचित तो यह है कृष्णा नदी के तट पर ही—उसके निकट—आप निवास करें । यह सुनकर आचार्य भास्कर ने कहा—शिष्यों! कृष्णा नदी के प्रवाह को ही मेरे निवास स्थान के निकट लाओ, मैं उसके निकट क्यों जाऊँ?' शिष्यों ने कहा—'गुरुदेव! आप सर्वसमर्थ हैं अत: आपके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है ।' भास्करराय ने शिष्यों का प्रतिवचन सुनकर दूसरे दिन प्रात: वहीं आसन लगाकर सूर्यदेव का आवाहनपूर्वक पूजन किया । और भास्कर से कहा—'भगवन! रामचन्द्रजाधव को पौरुष प्रदान कराने हेतु मेरे द्वारा कृष्णा नदी के जल-प्रवाह में तृचार्घ्य दान करने का अनुष्ठान प्रारंभ किया गया है । चूँकि कृष्णा नदी मेरे निवासस्थान से दूर है अत: कृपया उसके प्रवाह को मेरे निवास के निकट लाने का कष्ट करें । चूँकि आपको प्रसन्न करने के लिए मैंने यह अनुष्ठान प्रारंभ किया है अत: आप मेरी सहायता कीजिए ।।' भगवान सूर्य ने कहा—"क्या आप हिरण्यगर्भ का सङ्कल्प नहीं जानते । उन्होंने सृष्टि के आदि में सभी का मार्ग (अध्वा) निश्चित कर दिया है । अत: उनका मार्ग बदलना संभव नहीं है । आप रामचन्द्र को पौरुष दिलाना चाहते हैं और यह तो मेरे दृक्पात मात्र से हो जाएगा । अत: तृचार्घ्यदानानुष्ठान एवं कृष्णा के प्रवाह को परिवर्तित करना—दोनों अनुष्ठान अनावश्यक है ।' भास्कराचार्य ने

सूर्य से कहा—"सूर्यदेव ! क्या आप मुझे भिखारी समझते हैं? क्या रामचन्द्र को पौरुष प्रदान करना मेरी शक्ति के भीतर नहीं है? यदि आप अपनी उपासना मार्ग को अक्षुब्द रखना चाहते हैं तो आप कृष्णा नदी के प्रवाह को यहाँ लाइए ।' सूर्य ने कहा कि 'ठीक है आपके जीवनपर्यन्त कृष्णा का प्रवाह आपके निवास के निकट ही रहेगा ।' तृचार्घ्यदानानुष्ठान द्वारा रामचन्द्र में पौरुषत्व जाग उठा । आज भी जङ्गल के मध्य प्रवाहित कृष्णापांथ के चिह्न सैकतमार्ग का अवलोकन किया जा सकता है । वह 'ह्रद' नामक ग्राम, जहाँ भास्करराय ने रामचन्द्र के पौरुषजागरण हेतु अनुष्ठान किया था, चन्द्रसेन के द्वारा भास्करराय को प्रदान कर दिया गया । भास्करराय ने तो इस ग्राम को अग्रहार के रूप में ब्राह्मणों के लिए दे दिया किन्तु बाद में यह ग्राम निजाम राज्य के अंतर्गत चला गया ।

भास्करराय के द्वारा निष्पादित इस तृचार्घ्यदान के परिणामस्वरूप रामचन्द्र का पुरुषत्व-हीनता का सारा रोग दूर हो गया—

दशमे दिवसे तस्य रोगाः सर्वे लयङ्गताः ।
इत्थमत्यदभुतं दृष्ट्वा ये प्रत्याख्याता भास्कराः ॥"
भिषजस्ते भैषजानि व्यर्थान्येवेति मेनिरे ॥[१]

इसी प्रसङ्ग में भास्करराय ने 'तृचभास्कर' ग्रन्थ लिखा ॥ भास्करराय ने इसी प्रसङ्ग में सूर्य के साथ होने वाले युद्ध का 'गुरुस्तवारार्तिक' में उल्लेख किया है—

'अहमभवं शिवबुद्धया वेशोत्त्थ षडध्वाः ।
आमर्षत्यक्तकध्द्वा भास्कर सह युद्ध्वा ॥'[२]

आचार्य भास्कर की ऐसी ही अनेक अलौकिक चमत्कारों से परिपूर्ण घटनाओं का सविस्तर वर्णन 'श्रीभास्करचम्पू' (नारायणशास्त्री खिस्तेरचित) ग्रन्थ में द्रष्टव्य हैं।

भास्करराय के समकालीन प्रायः राजा उनके शिष्य हो गए थे । 'यस्याऽदृष्टो नास्ति भूमण्डांशो । यस्याऽदासो विद्यते न क्षितीशः ॥' 'श्रेयोमार्ग निरूपणाय शरणापन्नेषु बद्धादरः । दुर्वार प्रतिवादि चक्रविमर्दीकारप्रकारोत्तराः । साष्टाङ्ग प्रणमन्त-रेन्द्र मुकुटीरत्नप्रभामेदुराः । श्रीमद्भास्करभारती पद नख ज्योत्स्नांकुराः पान्तु नः ॥'

४. आचार्य भास्कर की दार्शनिक दृष्टि—

आचार्य भास्कर ने वेदान्त ('चण्डभास्कर' आदि), मीमांसा ('वाद कौतूहल') व्याकरण ('रसिकमञ्जरी') न्याय ('न्यायमण्डन') स्मृति ('स्मृतितत्त्व' आदि) स्तोत्र (शिवस्तव, देवीस्तव, शिवदण्डक आदि) मन्त्रशास्त्र (वरिवस्यारहस्यम्, खद्योत आदि) उपनिषद् (भावनोपनिषद् भाष्य) वेद (श्रीसूक्तभाष्य) कौलदर्शन (कौलोपनिषद भाष्य, त्रिपुरोपनिषद् भाष्य) शाक्तदर्शन (सौभाग्यभास्कर आदि) वैदिक-साहित्य (वैदिककोश) आदि विभिन्न दर्शनों, सम्प्रदायों, मतमतान्तरों, दार्शनिक दृष्टियों को केन्द्र में रखकर विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन किया । उन्होंने 'ललितासहस्रनाम' के ऊपर लिखे गए

---

१. तृच भास्कर २. गुरुस्तवारार्तिक

अपने भाष्य—"सौभाग्यभास्कर' के प्रारंभ में अष्टादशविद्या, त्रिपुरादेवी, त्रयी (वेदत्रयी) अग्नित्रय आदि में अटूट विश्वास व्यक्त किया है। चूँकि पवित्र अग्नित्रय ही समस्त वैदिक कर्मकाण्ड के आधारभूत माध्यम हैं, वेदों में त्रिपुरादेवी की उपासना प्रतिपादित की गई है और वेदत्रय ही वैदिक सनातन धर्म के प्राणभूत पवित्र ग्रन्थ है—अत: उनमें विश्वास रखने के कारण आचार्य भास्कर सनातन वैदिक धर्म के निष्ठावान् अनुयायी थे। वे ऋग्वेदीय शाखा के थे और ब्राह्मणों की भाँति सोमयागी भी थे। हाँ यह बात अवश्य है कि उन्होंने परात्पर सत्ता के रूप में परब्रह्म के रूप में—भगवान के रूप में महात्रिपुरसुन्दरी की ही आद्योपान्त उपासना की और श्रीविद्या पञ्चदशाक्षरी मन्त्र की ही साधना की। उन्हें श्रीदेवी एवं पञ्चदशाक्षरी मन्त्र की दीक्षा नृसिंहानन्दनाथ से प्राप्त हुई। उनका दीक्षा-नाम 'भासुरानंन्दनाथ' हुआ। 'नित्योत्सव' के प्रणेता उमानन्दनाथ उनके शिष्यों में से एक शिष्य थे।

कृष्णास्वामी शास्त्री के मतानुसार भास्करराय का धार्मिक दर्शन अप्पय दीक्षित के 'रत्नत्रयप्रीक्षा' पर आधृत था। इसके अनुसार एक ही निर्गुण ब्रह्म ने अपनी मायाशक्ति द्वारा एक साथ दो रूप ग्रहण किये—१. धर्म २. धर्मी ॥ 'धर्म' ने अपने को दो रूपों में विभक्त किया—१. 'पुरुष' और २. 'नारी'। जहाँ तक 'धर्मी' तत्त्व की बात है—'धर्मी' स्वयं 'शिव' हैं। 'नारी' स्वयं शिव की अर्द्धांगिनी हैं। 'पुरुष' रूप विष्णु समस्त सृष्टि-रचना का उपादान कारण बना। इन तीन रूपों का ही एकीभाव जब व्यक्त हुआ तो वह देशकालातीत, निरपेक्ष, परमाद्वैत सत्ता कहलायी। अध्यात्मविज्ञान (Metaphysics) की दृष्टि से तो आचार्य भास्कर ने शङ्कराचार्य के केवलाद्वैतवाद का प्रतिपादन एवं अनुवर्तन किया है और इसीलिए उन्होंने 'दुर्गासप्तशती' की अपनी टीका 'गुप्तवती' के प्रारंभ में शङ्कराचार्य के प्रति अपनी प्रगाढ़ भक्ति अभिव्यक्त की है। उन्होंने 'वार्तिक' विवरण' आदि शाङ्कर अद्वैत के मूर्धन्य ग्रन्थों के उद्धरण तो दिये ही हैं साथ ही साथ उन्होंने 'सौभाग्यभास्कर' में असंख्य बार शाङ्कर अद्वैतवाद के प्रति निष्ठा, आस्था एवं विश्वास व्यक्त किया है। यद्यपि यह सत्य है कि वे शाक्ताद्वैतवाद के पोषक होने के कारण द्वयात्मक अद्वैतवाद के अनुवर्ती थे किन्तु चिन्तन की दृष्टि से वे शाङ्कर अद्वैतवाद के ऋणी भी थे। उनके गुरु श्रीविद्या के उपासक थे। उन्होंने 'शांभवानन्दकल्पलता' एवं "परिभाषा श्लोक" जैसे ग्रन्थों का प्रणयन किया था। शाक्त दार्शनिक उमानन्दनाथ उनके शिष्य थे। वे मुख्यत: शाक्त और त्रिपुरभैरवी (भगवती ललिता), (त्रिपुरसुन्दरी) के भक्त एवं उपासक थे।

भास्कर शिव के प्रति भी अटूट श्रद्धा-भक्ति रखते थे इसीलिए वे कहते हैं कि कमल में कमल की उत्पत्ति तो कहीं भी नहीं दिखाई पड़ती किन्तु मैंने तो शम्भु के चरणकमलों में विष्णु के नयन कमल खिलते देखें हैं—

"कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न च दृश्यते।
दृष्टं शंभोः पदाम्भोजे विष्णुलोचन पङ्कजम् ॥"

'विवर्तवाद' और 'परिणामवाद'—

भास्करराय ने 'वरिवस्यारहस्यम्' के तृतीय श्लोक की टीका में लिखा है—"विवर्तवादं वेदान्तिसंमत परिणामवादी तान्त्रिको दूषयति"—इन वाक्यों के आधार पर कतिपय विद्वानों का कथन है कि भास्करराय शाङ्कर विवर्तवाद एवं शाङ्कर वेदान्त के विरोधी थे। किन्तु यह निष्कर्ष सङ्गत नहीं है क्योंकि भास्कर कहते हैं इस वेदान्त संमत विवर्तवाद को परिणामवादी तान्त्रिक दूषित मानते हैं और उसका खण्डन करते हैं न कि मैं भास्करराय।

वेदान्त के एक प्रख्यात ग्रन्थ 'वाक्य शुद्धि' (दृग्दृश्यविवेक) में कहा गया है कि अस्तित्व (सत्) ज्ञान एवं आनन्द तथा नाम एवं रूप ये पाँच तत्त्व ही विश्व के समस्त पदार्थों का निर्माण करते हैं। इनमें प्राथमिक तत्त्वत्रय ब्रह्म का एवं शेष तत्त्व पदार्थों का निर्माण करते हैं। अर्थात् नाम एवं रूप ही भेद के विधायक (कारक) हैं। इस भेद को प्रतिषिद्ध कर देने पर मात्र ब्रह्म ही शेष रह जाता है। यही बात तो भास्करराय ने 'वरिवस्यारहस्यम्' के तृतीय श्लोक की टीका के अन्त में कहीं हैं कि—'पदार्थ' पदार्थ के रूप में तो क्षुण्य है किन्तु ब्रह्म के रूप में नित्य है—"घटादिरूपेण नित्यत्वं ब्रह्मरूपेण नित्यत्वम्" मृतिका एवं घट में अभेद रहने पर भी मृतिका का घटरूप नाशवान् है। किन्तु घट का मृतिका रूप अनश्वर है—'मृद्घटयोरभेदेऽपि घटरूपेण ध्वस्तत्वं मृद्रूपेणाध्वस्तत्वम्॥' इसे ही उन्होंने अपने गुरु के ग्रन्थ 'शांभवानन्दकल्पलता' का सारांश स्वीकार करके अङ्गीकार किया है।

'परिणामवाद' एवं 'विवर्तवाद' में कोई गंभीर विरोध भी दृष्टिगत नहीं होता। शङ्कराचार्य जी ने ब्र०सू० (वे०द०) ११।१।१४ के भाष्य के अन्त में कहा है कि—"कार्यों के संसार को मिथ्या मानकर उसका परित्याग करने के स्थान में सूत्रकार ने 'परिणामवाद' की ओर प्रत्यावर्तित होने का मार्ग इसलिए अङ्गीकृत किया क्योंकि यह सगुण ब्रह्म के ध्यान के लिए उपयोगी है॥"

सर्वज्ञात्मन (शङ्कराचार्य के शिष्य) ने 'संक्षेपशारीरक' में कहा है कि वेदान्त में 'परिणामवाद' का सिद्धान्त अत्यावश्यक है और यह प्रथम सोपान है। यही व्यक्ति को विवर्तवाद के केन्द्रीय सिद्धान्त तक ले जाता है।

परिणामवाद और भास्करराय—

दार्शनिक परम्परा में मुख्यतः निम्नवादों या सिद्धान्तों का आश्रय लिया जाता है—१. विवर्तवाद २. परिणामवाद ३. प्रतिबिम्बवाद या आभासवाद ४. आरम्भवाद ५. सत्कार्यवाद ६. अवच्छेदवाद ७. दृष्टिसृष्टिवाद एवं गौड़पाद का अजातिवाद आदि॥

प्राचीनकाल में दार्शनिकों का इन विशिष्ट वादों के प्रति इतना आग्रह नहीं था जितना कि परवर्ती काल में हो गया। वे विवर्त एवं परिणाम तथा आभास एवं प्रतिबिम्ब को समानार्थी मानकर उन्हें व्यवहृत करते थे। किसी भी पदार्थ के एक

रूप का तिरोभाव होना एवं दूसरे रूप का प्रकट होना (रूपान्तर उत्पन्न होना) ही 'परिणाम' है । 'परिणामे तु रूपान्तरं तिरोभवति । रूपान्तरं च प्रादुर्भवति ।।' (ई० प्रत्यभिज्ञाविवृति वि०अ० १। वि०) किसी भी पदार्थ का असत्य रूप में निर्भास होना ही 'विवर्त' है—'विवर्तो हि असत्यरूप निर्भासम' (अभिनवगुप्त : ई०प्र० वि०वि०) उपादान की समसत्ताक कार्यापत्ति 'परिणाम' है एवं उसकी विषमसत्ताक कार्यापत्ति 'विवर्त' है । "परिणामो नामोपादान समसत्ताक कार्यापत्तिः । विवर्तो नामोपादान विषमसत्ताक कार्यापत्तिः ।।"[१] दोनों ही अन्यथा प्रथाएँ हैं । एक है सद्वस्तु की एवं दूसरी है असद्वस्तु की—"सतत्वतोऽन्यथा प्रथाविकार इत्युदीरितः । अतत्वतोन्यथा प्रथाविवर्त इत्युदीरितः ।"[२] घृत दही का 'परिणाम' है तो रज्जु में सर्पाभास रज्जु का 'विवर्त' है ।

वेदान्ती नैयायिकों की भाँति न तो उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् कहते हैं और न तो सांख्यों की भाँति सत कहते हैं । न तो वे न्याय का असत्कार्यवाद स्वीकार करते हैं और न तो वे सांख्य का 'सत्कार्यवाद' ही स्वीकार करते हैं । वे 'कार्य' को 'अनिर्वचनीयतावाद' की स्थापना करते हैं ।[३] प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुयायी 'स्वातंत्र्यवाद' को स्थापित करते हैं ।

भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में 'परिणाम' एवं 'विवर्त' दोनों शब्दों को समानार्थी मानकर प्रयुक्त किया है । वे कहते हैं कि 'यह विश्व शब्द का ही "परिणाम" है—ऐसी आम्नायवेत्ताओं की दृष्टि है । यह जगत् सर्वप्रथम छन्दों से विवृत हुआ—

> **"शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नाय विदो विदुः ।**
> **छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत ।।"**

स्पष्ट है कि भर्तृहरि जगत् को "परिणाम" एवं "विवर्त" दोनों मानते हुए दोनों शब्दों को समानार्थी स्वीकार करते हैं । आचार्य शान्तरक्षित ने भी—"विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः" की व्याख्या में 'विवर्त' का अनुवाद 'परिणाम' करके विवर्त एवं परिणाम में अभेद स्वीकार किया है । भवभूति भी 'आवर्तबुदबुदतरङ्ग' को जल का विकार एवं विवर्त दोनों कहकर दोनों शब्दों की समानार्थकता इंगित करते हैं ।

योगिराज भास्करराय मखिन भी इसी 'परिणामवाद' (अविकृत परिणामवाद) को कार्य-कारण सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करते हैं । उन्हें आचार्य रामानुज का विकृत परिणामवाद स्वीकार नहीं है प्रत्युत् उन्होंने 'अविकृत परिणामवाद' स्वीकार किया है । जिस प्रकार मृत्तिका एवं उसके परिणाम घट में कोई भेद नहीं है उसी प्रकार ब्रह्म एवं जगत् में भी कोई भेद नहीं है । ब्रह्म सत्य है तो जगत् भी सत्य

---

१. वेदान्त परिभाषा २. वेदान्तसार

३. कार्यकारण भाव से चतुर्धा विप्रतिपत्तियाँ हैं—(क) असत् से सत् उत्पन्न होता है (ख) सत् से असत् उत्पन्न होता है (ग) सत् से विवर्त उत्पन्न होता है (घ) सत् से सत् उत्पन्न होता है ।

है । भेद मात्र मिथ्या है अतः भेदाश्रित आधाराधेयभाव भी मिथ्या ही है—'वस्तुतस्तु जगतो ब्रह्मपरिणामकत्वं स्वीकुर्वतां तान्त्रिकाणां मते जगतः सत्यत्वमेव मृदघटयोरिव ब्रह्मजगतोरत्यन्ताभेदेन ब्रह्मणः सत्यत्वेन जगतोऽपि सत्यत्वावश्यंभावात् भेदमात्रस्य मिथ्यात्वस्वीकारेणाद्वैश्रुतीनामखिलानां निर्वाहः । भेदस्य मिथ्यात्वादेव भेदघटिताधाराधेयभाव संबंधोऽपि मिथ्यैव ॥'[१]

आचार्य रामानुज, वल्लभाचार्य[२], निम्बकाचार्य[३], श्रीपति[४], श्रीकण्ठ[५] आदि सभी आचार्यों ने भी 'परिणामवाद' का ही प्रतिपादन किया है । विवर्तवादी शङ्कराचार्य भी 'सौन्दर्यलहरी' में परिणामवाद की ही पुष्टि करते हैं—

"मनस्त्वं व्योमस्त्वं मरुदसिमरुत्सारथिरसि ।
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां नहि परम् ॥

त्वमेव स्वात्मानं परिणमपितुं विश्ववपुषा ।
चिदानन्दाकारं शिवयुवतिभावेन विभृषे ॥"

'वामकेश्वरतन्त्र' में भी जगत् को शक्ति का 'परिणाम' माना गया है ।[६] भास्कराचार्य ने 'वरिवस्यारहस्यम्' के तृतीय श्लोक की व्याख्या में 'वाचारंभणं विकारः ॥' (छा०उप० ६।१।४)—'आत्मकृतेः परिणामात्' (ब्र०सू० १।४।२६) इत्यादि वाक्यों एवं सूत्रों को उद्धृत करके श्रुति एवं ब्रह्मसूत्रकार को भी 'परिणामवाद' का प्रतिपादक घोषित किया है और कहा है कि इन सभी का 'अभिप्रेत' एवं 'स्वाभिमत' 'परिणामवाद' ही है—'परिणामवाद एवाभिप्रेतः' 'स्वाभिमतः परिणामवाद एव स्फुटीकृतः ।'[७] भास्करराय के मत में—'तान्त्रिक' परिणामवादी ही सुनिश्चित होते हैं ।

काश्मीरी 'शिवाद्वयवादी' आभासवादी एवं प्रतिबिम्बवादी हैं तो अभिनवगुप्त पादाचार्य 'स्वातन्त्र्यवादी' हैं ।

शिवाद्वय शासन में 'आभासवाद' एवं दर्पणविधि का सिद्धान्त बाह्यवाद का प्रतिरोधी बनकर एवं 'स्वातंत्र्यवाद' इसका मूल सिद्धान्त बनकर स्वीकृत हुआ । भास्कराचार्य ने 'अविकृत परिणामवाद' की तान्त्रिकी दृष्टि को अङ्गीकार किया ।

आचार्य भास्कर 'कुण्डलिनीयोग' 'षटचक्रोपासना' का प्रतिपादन करने एवं शाक्ताद्वैतवाद का प्रतिदिन पूजा-विधान में भी प्रयोग करने "अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवास्मि न शोकभाक् । सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्" में विश्वास

---

१. सौभाग्यभास्कर (पृ० १५१) २. अणुभाष्य (१।४।२७)
३. वेदान्त पारिजात (१।४।२६) ४. श्रीकर भाष्य (१।४।२७)
५. श्रीकण्ठ भाष्य (१।४।२७)
६. 'तस्यां परिणतायां तु न कश्चित् इष्यते ।' 'तच्च दृश्यं तत्परिणाम एव तस्यां परिणतायां' इति वामकेश्वरतन्त्रात् ॥ (वरिवस्यारहस्यम्)
७. वरिवस्यारहस्यम्

रखने के कारण तथा—'इत्थं माता विद्याचक्रं स्वगुरुः स्वयं चेति । पञ्चानामपि भेदाभावो मन्त्रस्य कौलिकार्थोऽयम् ॥' (माता, विद्या,. गुरु, चक्र, एवं भक्त—इन पाँचों अभिन्नता की अनुभूति रूप 'कौलिकार्थ') (गुरु-देह एवं देवी के देह में अभिन्नता एवं उन दोनों से शिष्य की अभिन्नता—'देव्या देहो यथा प्रोक्तो गुरुदेहस्तथैव च । तत्प्रसादाच्च शिष्योऽपि तद्रूपः सन् प्रकाशते, का प्रतिपादन करने, 'ब्रह्मणि जगतो जगति च विद्याभेदस्तु संप्रदायार्थः' की पुष्टि करने एवं इसी प्रकार १५ प्रकार के अर्थों की विभावना द्वारा अद्वैतवाद की प्रबल स्थापना करने के कारण (भास्करराय) के अद्वैतवादी ज्ञानी और योगी तो अवश्य सिद्ध होते हैं किन्तु भावना के धरातल पर वे भक्त भी हैं । उनकी भक्ति है—भगवती त्रिपुरा के प्रति ॥ वे 'ब्रह्मपरिणामवादी' हैं—'इयं सृष्टिः परब्रह्मपरिणाम इति पूर्वमुक्तम् ।''[1]

५. 'वरिवस्यारहस्यम्'—एक विहङ्गमावलोकन

'वरिवस्यारहस्यम्' श्रीविद्या पर प्रकाश डालने वाला एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है । इसके प्रणेता भास्कराचार्य हैं । ग्रन्थकार ने प्रारंभिक श्लोकों में 'प्रकाश' एवं 'विमर्श' के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए अर्थमयी, शब्दमयी, चक्रमयी एवं देहमयी सृष्टि के ज्ञान हेतु चौदह विद्याओं के सारभूत वेदों के सारतम गायत्री' मन्त्र पर प्रकाश डालते हुए उसे पञ्चदशी मन्त्र से अभिन्न प्रतिपादित किया है । अगले श्लोकों में 'वाग्भव' 'कामराज' एवं 'शक्तिकूट' एवं उनके सङ्घटक वर्णों पर प्रकाश डाला गया है । इसके बाद—हृल्लेखा के स्वरूप के अन्तर्गत आने वाले—व्योम, अग्नि, वामलोचना, बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना, उन्मनी के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है । अगले श्लोकों में त्रिकूटों के वर्णों में अवस्थापञ्चक की स्थिति पञ्चविषुव, जप के स्वरूप, गायत्री के पंद्रह अर्थ, गायत्री मन्त्र एवं पञ्चदशी मन्त्र में अभिन्नता आदि की मीमांसा की गई है । इसके बाद कूटत्रय के प्रतीकार्थ पर प्रकाश डाला गया है । इसके बाद श्रीविद्या के आन्तरिक एवं बाह्य अङ्गों पर प्रकाश डाला गया है । अन्त में गुरु के महत्व पर प्रकाश डाला गया है । 'वरिवस्यारहस्यम्' पर अद्वैत का प्रभाव है ।

भास्करराय ने आजीवन त्रिपुरा की उपासना की और अपने धार्मिक दर्शन की नींव अप्पय दीक्षित के ''रत्नत्रयपरीक्षा'' पर रक्खा । उन्हें शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद पर पूर्ण विश्वास था । उन्होंने 'पञ्चपादिका', 'वार्तिक', 'विवरण', 'भामती' 'पञ्चदशी' एवं 'शारीरक भाष्यं' आदि वेदान्त-ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए उनके श्लोकों को उद्धृत भी किया है । इन सबके बाद भी भास्करराय ने अद्वैतवाद का त्याग करके तान्त्रिक दर्शन का अनुवर्तन किया ।

चूँकि भास्करराय सरस्वतीदेवी के भी एकनिष्ठ उपासक थे अतः उन्होंने शाक्त दर्शन का प्रतिपादन किया और शाङ्कर वेदान्त के 'विवर्तवाद' का खण्डन भी किया। इसी दृष्टि से उन्होंने 'वरिवस्यारहस्यम्' के प्रारंभ में ही (तीसरे श्लोक में)—'स जयति महान् प्रकाशो यस्मिन् दृष्टे न दृश्यते किमपि । कथमिव तस्मिञ्ज्ञाते सर्वं विज्ञातमुच्यते वेदे'' कहकर 'विवर्तवाद' का खण्डन करते हुए 'परिणामवाद' की

पुष्टि की है—"विवर्तवादं वेदान्तिसंमतं परिणामवादी तान्त्रिको दूषयति ॥' उन्होंने अपने तर्क की पुष्टि में 'प्रकाश' में 'वामकेश्वरतन्त्र' के इस परिणामवादी सिद्धान्त की पुष्टि की है जिसमें कहा गया है—"तस्यां परिणतायां तु न कश्चित् पर इष्यते।" वे यह भी कहते हैं कि—'नेह नानास्ति किञ्चन' वाक्य में भेदांश मात्र का निषेध किया गया है न कि प्रपञ्च का । वे यह भी कहते हैं कि आचार्य शङ्कर जैसे अद्वैतवादी दार्शनिक ने भी 'सौन्दर्यलहरी' में 'त्वयिपरिणातायाम्' कहकर ("परिणामवाद एवाभिप्रेतः, परिणामवाद एव स्फुटीकृतः ॥") परिणामवाद का प्रतिपादन किया ।

तान्त्रिकों की मान्यता है कि—गायत्री के दो स्वरूप हैं—१. सामान्य अनुत्कृष्ट रूप—चौबीस वर्णों की गायत्री २. श्रीविद्या पञ्चदशाक्षरी ॥ श्रीविद्या के इस मन्त्र के प्रत्येक वर्ण का अपना देवता है । और इन सबकी विशिष्ट अर्थवत्ता है । भास्कराचार्य का कथन है कि पञ्चदशाक्षरी विद्या उपनिषदों के 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' एवं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' द्वारा व्यक्त जीव-ब्रह्मैक्य के अद्वैतवाद का प्रतिपादन करती है ।

भास्करराय ने अद्वैतवाद के उस स्वरूप को स्वीकार किया है जो कि शाक्त-दर्शन में स्वीकृत है । उन्होंने 'प्रकाश' में वेदान्त दर्शन के—'आत्मकृतेः परिणामात' सूत्र का उल्लेख करके 'मनस्त्वं व्योमस्त्वं' को उद्धृत करके एवं अन्य तर्क प्रस्तुत करके 'परिणामवाद' की पुष्टि की है । वे यह भी कहते हैं कि—'वाचारंभणं विकारो नामधेयं' जैसे आदि वैदिक वाक्यों एवं वामकेश्वरतन्त्र के—'तस्यां परिणतायां तु न कश्चित् पर इष्यते'—वाक्य में भी अर्थ एवं भाव की दृष्टि से परस्पर विरोध नहीं प्रत्युत् स्वारस्य है ।

उन्होंने इस ग्रन्थ में विभिन्न प्रकार के ऐ क्यों, ऐ कात्म्यों एवं अभिन्न बीजों का भी प्रतिपादन किया है । 'वरिवस्यारहस्यम्' मन्त्र शास्त्र का ग्रन्थ है । 'मन्त्र-साधना' साधना की एक ऐसी आध्यात्मिक प्रक्रिया है जिसको अनुष्ठित किए जाने पर साधक अपने अति तेजस्वी एवं तत्त्वस्वरूप इष्टदेवता का मनन करने से समस्त भय से मुक्त हो जाता है—

'मननात्तत्त्वरूपस्य देवस्यामिततेजसः ।
त्रायते सर्वभयतस्तस्मान्मन्त्र इतीरितः ॥'[1]

मन्त्रशास्त्र तो साधन है—'मन्त्र' साधना का उपकरण है और 'देवता' इस साधना का लक्ष्य या उपलब्धि है । 'देवता' के तात्त्विक स्वरूप पर भी 'वरिवस्यारहस्यम्' में प्रकाश डाला गया है । देवता, त्राण करने वाली एक अचिन्त्य शक्ति है। जो आध्यात्मिक अचिन्त्य शक्ति उपासक के शरीर में स्थित होकर अपने वरदान के द्वारा उपासक के तापत्रय का शमन कर देता है वही देवता है ।

"दे" का अर्थ है = भक्तो का देह । 'व' = देवता का वरदान । 'ता' =

१. भास्कराचार्य—वरि० 'प्रकाश'

तापत्रय से त्राण ।

'देहमास्थाय भक्तानां वरदानाच्च पार्वति ।
तापत्रयादिशमनाद्देवता परिकीर्तिता ॥'[२]

इसी ध्येय तत्त्व को ध्यान एवं साधना का विषय बनाया जाता है । 'मन्त्र' को इसलिए विशेष महत्व दिया जाता है क्योंकि यह यम, भूत आदि सभी भयकारक शक्तियों से साधक का त्राण करता है—

'यमभूतादिसर्वेभ्यो भयेभ्योऽपि कुलेश्वरि ।
त्रायते सततश्चैव तस्मान्मन्त्र इतीरितः ॥'[३]

भास्कराचार्य ने 'मन्त्र' एवं 'देवता' के अतिरिक्त 'यंत्र' के रहस्यात्मक पक्ष पर भी प्रकाश डाला है ।[४] उन्होंने यंत्र को ग्रहरूप, नक्षत्ररूप एवं योगिनीरूप भी स्वीकार किया है—

१. सप्तभिरितरैश्चक्रैश्चक्रे **नक्षत्ररूपत्वम्** ॥ ९३ ॥

२. एवं षड्भिर्योगाच्छ्रीचक्रं **योगिनीरूपम्** ॥ ९४ ॥

३. त्रैलोक्यमोहनाद्यैर्नवभिश्चक्रैर्**ग्रहत्वं च** ॥ ९२ ॥

४. इसके अतिरिक्त भास्कर ने 'श्रीयन्त्र' को राशिरूप भी माना है—'एवं द्वादशसंख्यैर्घटनाच्चक्रस्य राशित्वम् ॥ ९५ ॥'

आचार्य भास्कर यह मानते हैं कि श्रीचक्ररूप यंत्र केवल ज्यामितीय रचना मात्र नहीं हैं—प्रत्युत् यह पञ्चदशी मन्त्र का भी प्रतीक है क्योंकि यह इससे भी अभिन्न है—

"चक्रं विद्याक्षरैरेव जननात् तदभेदवत् ॥"[५]

आचार्य भास्कर की मान्यता है कि—

१. दीक्षा-गुरु एवं परमशिव में अभिन्नता है ।
२. साधक एवं परमशिव में अभिन्नता है ।
(यही 'निगर्भार्थ' भी है (श्लोक ८२))

३. ब्रह्म एवं जगत् में अभिन्नता है ।
४. जगत् एवं विद्या (पञ्चदशी मन्त्र) में अभिन्नता है ।
(यही 'संप्रदायार्थ' भी है (श्लोक ८१))

५. पञ्चदशी मन्त्र एवं गायत्री में भी अभिन्नता है ।[६]

६. साधक की परमाराध्या देवी एवं मन्त्र में भी अभिन्नता है एवं देवी की मातृका एवं पीठ के साथ भी अभिन्नता है—

१-३. कुलार्णव तन्त्र
४. वरिवस्यारहस्यम् (९२-९४)
५. कुलार्णव तन्त्र
६. वरिवस्यारहस्यम् (६०-८०)

'गणेश-ग्रह-नक्षत्र-योगिनी-राशिरूपिणीम् ।
देवीं मंत्रमयीं नौमि मातृकापीठरूपिणीम् ॥'[1]

७. मंत्र के कूटत्रय के साथ ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद की भी अभिन्नता है । (वरि० श्लोक १३४-१३५)।

८. पञ्चदशी मंत्र की उसके अक्षरार्थ से अभिन्नता है । (श्लोक ११०)

९. पञ्चदशाक्षरी मंत्र की देवी एवं कुण्डलिनी से भी अभिन्नता है और यही पञ्चदशाक्षरी मंत्र का 'रहस्यार्थ' है—

''साक्षाद्विद्यैवैषा न ततो भिन्ना जगन्माता ।
अस्याः स्वाभिन्नत्वं श्रीविद्याया रहस्यार्थः ॥''[2] (श्लोक १०७)

वरिवस्यारहस्यम् के अनुसार श्रीविद्या की साधना के अङ्ग—

१. तन्त्रराज तन्त्र

२. वरिवस्यारहस्यम् (१०७)

१. मन्त्रार्थ—भावार्थ आदि १५ अर्थ

२. आन्तरिक अङ्ग—(श्रीविद्या के आन्तरिक अङ्ग) : वर्णसंख्या, उद्धार, मात्रा, उच्चारण, स्थान, प्रयत्न, रूप, विभिन्न स्थितियाँ, आकार आदि

३. श्रीविद्या के बाह्याङ्ग—ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग, बीज, शक्ति, कीलक, न्यास, ध्यान एवं पूजा आदि ।। (वरिवस्यारहस्यम्)

४. गुरु-कृपा　　५. मन्त्र-जप

कीलक - मन्त्राणां कीलकं ज्ञात्वा कुर्यान्मंत्रपुरष्क्रियाम् ।।

मंत्राङ्ग ज्ञान- मन्त्रस्य श्रोत्रास्यनेत्र प्राणान् विज्ञाय यत्नत ।... कुर्यान्मन्त्र-पुरष्क्रियाम् । (शाक्ता०)

१. देवता यस्य यस्य च मंत्रस्य उद्दिष्टा या च देवता । (देवतातत्त्व)
चिन्तयित्वा तदाकारं मनसा जपमाचरेत् ।। ('शाक्ता०')

२. उच्चारण शनैः शनैरविस्पृष्टं न द्रुतं न विलम्बितम् । (उच्चारण)
क्रमेणोच्चारभेद् वर्णानाद्यन्तक्रमयोगतः ।। (शाक्ता०)
अतिह्रस्वो व्याधिहेतु रतिदीर्घो वसुक्षयः ।
अक्षराक्षरसंयुक्तं जपेन्मौलिकहारवत् ।। (भूतशुद्धि) (उच्चारण)

३. मंत्रार्थज्ञान कथ मन्त्राश्च सिध्यन्ति मंत्रार्थाज्ञानिनः प्रिये ।। (रुद्रयामल)

४. ध्यान आदौ ध्यानं ततो मंत्रं ध्यानस्यान्ते मनुं जपेत् ।।
ध्यानमंत्रसमायुक्तः शीघ्रं सिध्यति साधकः ।। (शाक्ता०)

५. जप देवतां चित्तगां कुर्यात् कुर्याच्च हृदयं स्थिरम् । ओष्ठौ सम्पुटौ कृत्वा स्थिरचित्रः स्थिरेन्द्रियः । ध्यायेच्च मनसावर्णान् जिह्वौष्ठौ न विचालयेत न कम्पेच्छिरोग्रीवां दन्तान्नैव प्रकाशयेत । मंत्रोद्धार क्रमेणैव मंत्रं जपति साधकः । तदासिद्धिं विजानीत न सिद्धिश्चान्यथा भवेत् ।। (शाक्तानन्द तरंगिणी) ।।

आचार्य भास्करराय ने यह भी देखा कि—श्रीविद्या के प्रथम कूट में जो हृल्लेखा है उसके अन्तर्गत जो कामकला स्थित है उसमें—'सपरार्धकला' या 'बह्नि कुण्डलिनी' द्वितीय कूट में—'सूर्य कुण्डलिनी' एवं तृतीय कूट में 'सोम कुण्डलिनी' स्थित है । 'नेत्रतन्त्र' (६।६) में ध्यान के तीन प्रकार बताए गए हैं—१. स्थूल २. सूक्ष्म ३. पर । भास्कराचार्य ने इसी प्रकार देवता की तीन रूपों की कल्पना करते हुए उनके स्वरूप की मीमांसा की है ।

आचार्य भास्कर ने मन्त्र-विज्ञान पर शोध करते हुए यह भी देखा कि देवता के तीन रूप होते हैं—१. शरीराङ्गयुक्त (कर, चरण, आदि अवयवों से युक्त रूप) २. मन्त्रात्मक रूप, ३. वासनात्मक रूप ।। सिद्धि प्राप्त करने पर साधक प्रथम रूप को—चक्षुरेन्द्रिय पाणीन्द्रिय योग्य, द्वितीय रूप को—श्रवणेन्द्रिय, वागिन्द्रिय

योग्य एवं तृतीय रूप को—मन के योग्य देखता है । इसी रूप त्रैविध्य के कारण देवी की भावना भी द्विविधात्मिका है—१. सरूपा २. अरूपा ।। प्रथम स्थूल-रूपानुसंधानात्मिका है एवं द्वितीय पररूपानुसंधानात्मिका (चरमा) है । प्रथम स्वरूप बहिर्याग द्वारा एवं दूसरा अन्तर्याग द्वारा साधित है ।

आचार्य भास्करराय ने मन्त्र-विज्ञान पर शोध करते हुए इस निष्पत्ति की स्थापना की कि वेदमात्रा गायत्री के भी दो रूप हैं—१. सामान्य (Exotenic) एवं २. गुप्त (Esotenic) ।। गायत्री का जो समान्य स्वरूप है वह उसका चतुर्विंशत्यात्मक वर्णमाला से एवं पादत्रय से निर्मित है किन्तु उसका एक रहस्यमय या गुप्त स्वरूप भी है और वह है—विद्या पञ्चदशाक्षरी के रूप में स्थित है । श्रीविद्या का प्रत्येक अक्षर किसी न किसी एक स्वतंत्र शक्ति से अधिष्ठित है और प्रत्येक अक्षर का स्वतन्त्र अर्थ है । भास्करराय यह भी स्थापित करते हैं कि श्रीविद्या पञ्चदशाक्षरी ऐसी विद्या है जो कि 'तत्वमसि' का साक्षात्कार कराती है एवं जीवात्मा तथा परमात्मा में स्थित औपनिषदिक सत्य की परमानुभूति का द्वार उद्घाटित करती है ।

आचार्य भास्कर साधक-समाज की बाह्योपासना एवं उसकी निष्फलता या स्वल्प निष्पत्ति से चिरपरिचित थे इसीलिए उन्होंने मन्त्र एवं मन्त्र के देवता के अन्तर्संबंध का अनुसंधान किया और यह स्थापित किया कि वाच्य एवं चावक में अभेद है । चूँकि वाचक मन्त्र है और वाच्य देवता है अतः मन्त्र एवं देवता में भी अभेद है—'वाच्या हिं देवता देवमन्त्रो हिं वाचकः स्मृतः । वाचकेऽपि च विज्ञाते वाच्य एव प्रसीदति ।।' (यामल) इसीलिए उन्होंने 'प्रकाश' एवं 'वरिवस्यारहस्यम्' के दोनों अंशों में वरिवस्या के समस्त अङ्गों, तत्त्वों एवं उपादानों में तथा मन्त्र-मांत्रिक, गुरु, देवता, यन्त्र, पूजाङ्ग, ग्रह, नक्षत्र, राशि, कूटत्रय, भाव, आचार, स्वात्मा, भगवान एवं विश्व सभी में एकात्मता, तद्रूपता एकान्विति एवं अभेद की स्थापना की है । यही वरिवस्या का रहस्य भी है भास्कराचार्य ने श्रीविद्या पर यह प्रथम ग्रन्थ लिखा । उन्होंने इस पर 'प्रकाश' नामक टीका भी लिखी । 'सेतुबंध' नामक जो अन्य मन्त्रशास्त्रीय ग्रन्थ लिखा गया वह भास्कर की परवर्ती रचना है । 'सौभाग्यभास्कर', 'सेतुबंध', 'वरिवस्यारहस्यम्' आदि अधिकांश रचनाएँ श्रीविद्या एवं शाक्त दर्शन से ही सम्बंधित हैं ।

आचार्य भासुरानन्दनाथ (भास्करराय) ने अपने ग्रन्थ का 'वरिवस्यारहस्यम्' नामकरण करके यह द्योतित करने का प्रयास किया है कि वरिवस्या-विधान में कतिपय रहस्य तत्त्व हैं जिन्हें सामान्य जन तो नहीं जानते किन्तु वे रहस्य तत्त्व ही वरिवस्या के प्राण हैं अतः ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में अन्य तत्त्वों को छोड़कर रहस्य तत्त्व पर प्रकाश डालने की ही आङ्क्षा व्यक्त की है । 'वरिवस्या' का अर्थ है पूजा, उपासना या सपर्या—

"पूजा नमस्यापचितिः सपर्यार्चार्हणाः समाः ।
वरिवस्या तु शुश्रूषा परिचर्याप्युपासना ।।" (अमरकोष)

'नमोवरिवस' (३।१।१९) से क्यच् प्रत्यय जोड़ने पर 'वरिवस्या' शब्द निर्मित होता है। 'वरिवस' शब्द पूजार्थक है। आचार्य भास्करराय ने 'वरिवस्यारहस्यम्' में जिस रहस्य का उद्घाटन किया है उसका मूल केन्द्रीय स्वर अद्वैत-स्थापना है। यह ठीक भी है क्योंकि 'मन्त्रार्थं देवतारूपं चिन्तनं परमेश्वरि। वाच्यवाचक भावेन अभेदो मन्त्रदेवयो: ।' (शाक्तानन्द तरंगिणी) ।। आचार्य भास्कर ने 'वरिवस्यारहस्यम्' में विभिन्न प्रकार के ऐक्यों, अभेदों, ऐकात्म्यों एवं अभिन्नताओं का तर्कानुप्राणित प्रतिपादन किया है जो निम्न हैं।

शाक्ता द्वैतवाद का प्रायोगिक पक्ष—

१. मूलाधारादिक चक्रों एवं श्रीचक्र में एकात्मकता

सुषुम्ना के मूल में सस्थित अरुण सहस्रदल कमल में = त्रिपुराधिष्ठित त्रैलोक्यमोहन चक्र, वह्नि के आधार चतुर्दल कमल में = त्रिपुरेशी से अधिष्ठित सर्वाशापरिपूरण चक्र, शाक्त स्वाधिष्ठानस्थित षडदल कमल में = त्रिपुरसुन्दर्य-धिष्ठित सर्वसंक्षोभण चक्र, नाभि में स्थित दशदल कमल में = त्रिपुरवासिनी से अधिष्ठित सर्वसौभाग्यदायक चक्र, अनाहत के द्वादशदल कमल में = त्रिपुरा-श्रीसमधिष्ठित सर्वार्थसाधक चक्र, विशुद्धचक्र के षोडशदलकमल में = त्रिपुरमालिनी से अधिष्ठित सर्वरक्षाकर चक्र, तालुमूल में स्थित लम्बिकाग्र के अष्टदल कमल में = त्रिपुरासिद्धि से अधिष्ठित सर्वरोगहर चक्र, भ्रूमध्य में स्थित द्विदलकमल में = त्रिपुराम्बिका से अधिष्ठित सर्वसिद्धिप्रदचक्र, ललाट में स्थित इन्दु में—बिन्दु में—महात्रिपुरसुन्दरी से अधिष्ठित सर्वानन्दमय चक्र की भावना करनी चाहिए ।।[१] 'योगिनीहृदय' में इसे इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

अकुलादिषु पूर्वोक्तस्थानेषु परिचिन्तयेत् ।
चक्रेश्वरीसमायुक्तं नवचक्रं पुरोदितम् ।।[२]

२. चक्र एवं देवी में एकात्मता—

योगिनीहृदय में इस एकात्मता को इस प्रकार पुष्ट किया गया है—

'यदा सा परमाशक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी ।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः ।।[३]

अर्थात् जब भगवती स्वेच्छावश स्वनिष्ठा स्फुरत्ता को देखती हैं तभी विश्वाभिन्न त्रिकोणादिचक्रों की उत्पत्ति हो जाती है। ('सा देवी स्वेच्छया स्वनिष्ठां स्फुरत्तां यदा पश्यति तदा चक्रस्य विश्वाभिन्नस्य त्रिकोणादिचक्रस्य संभव उत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः ।।'[४]

३. पीठ एवं पञ्चभूतों में एकात्मता—

'पीठ'—क्रमशः सिति-पवन-जल-अग्नि मण्डल रूप है—

१-२. अमृतानन्दनाथ—योगिनीहृदय 'दीपिका' (मन्त्रसंकेत : श्लोक ८,९)
३. योगिनीहृदय (चक्रसंकेत श्लोक ९) ४. भास्कराचार्य—'सेतुबन्ध'

१. भूतत्त्व, चतुरस्र, पीतवर्ण = 'कामरूपपीठ' ।
२. वायुतत्त्व, षड्बिन्दुलांछित, वर्तुल, धूम्रवर्ण = 'पूर्णगिरिपीठ' ।
३. जलतत्त्व, अर्धचन्द्राकार, श्वेत = 'जालन्धरपीठ' ।
४. अग्नितत्त्व, त्रिकोण, रक्त, = 'उड्डीयनपीठ' ।[१]

"पीठाः कन्दे पदे रूपे रूपातीते क्रमात् स्थिताः । चतुरस्त्रं तथा बिन्दु षट्कंयुक्तं च वृत्तकम् । अर्धचन्द्रं त्रिकोणं च रूपाण्येषां क्रमेण तु । पीतो धूम्रस्तथा श्वेतो रक्तो रूपं च कीर्तितम् ॥"[२] चतुरस्त्रं कामरूपपीठः । षड्बिन्दुयुक्तवृत्तरूपः पूर्णगिरिपीठः । जालंधरपीठः अप्तत्त्वमयः । त्रिकोणम् तेजस्तत्वमयः ओड्याणपीठः ।

४. चिदात्माशक्ति एवं विश्व में एकात्मता—

अमृतानन्द योगी ने ठीक ही कहा है—"विश्वाकार प्रथा षटत्रिंशत्तत्वात्मना परिणता विमर्शशक्तिः", 'विश्वाकार प्रथाधार निजरूपशिवाश्रयम् ।'[३] चिद्विमर्शशक्ति आत्मभित्ति में जब आत्मप्रकाशन करती है तो वही प्रकाशन विश्व बन जाता है— 'चिदात्मभित्तौ विश्वस्य प्रकाशामर्शने यदा । करोति स्वेच्छया पूर्णविचिकीर्षा-समन्विता ॥'[४]

५. प्रकाश एवं विमर्श में एकात्मता—

प्रकाश (परमशिव) अपने को विमर्शांश द्वारा विभक्त कर लेता है और पश्यन्ती आदि वाणीचतुष्टय क्रम से प्रश्न भी करता है—वही प्रकाश है वही विमर्श है—"भगवान प्रकाशमूर्तिः परमशिवः स्वात्मानं विमर्शांशेन विभज्य पश्यन्यादि क्रमात् पृच्छति ॥"[५]

६. गायत्री मन्त्र एवं पञ्चदशी मन्त्र में एकात्मता—

(क) **गायत्रीमन्त्र**—'ॐभूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'

(ख) **पञ्चदशीमन्त्र**—क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं ॥

गायत्री मन्त्र एवं पञ्चदशी का 'वाग्भवकूट'—

(१) गायत्रीमन्त्र का 'तत्' = पञ्चदशीमन्त्र का 'क' = 'तत' = ब्रह्म ॥ 'क' = कामेश्वर भगवान् शिव (ब्रह्म, परमात्मा) ॥
(२) गायत्रीमन्त्र का = 'सवितुर्वरेण्यं' = प्रसवित्री, जगन्माता ॥ पञ्चदशीमन्त्र का 'ए' = देवी कामेश्वरी । (सरस्वती देवी)
(३) गायत्रीमन्त्र का = 'भर्गो देवस्य धी' । पञ्चदशी मन्त्र का 'ई' = सर्वान्तर्यामी, सर्वपोषक ।

---

१. भास्कराचार्य—'सेतुबन्ध'
२. योगिनीहृदय
३. दीपिका
४. योगिनीहृदय
५. अमृतानन्द—'योगिनी-दीपिका'

(४) गायत्रीमन्त्र का 'महि' = पञ्चदशीमन्त्र का 'ल' (पृथ्वी) ॥

(५) गायत्रीमन्त्र का चौथा चरण = 'धियो यो नः प्रचोदयात् । पञ्चदशीमन्त्र का = 'ह्रीं' (मायाबीज, लज्जाबीज) ॥ गायत्रीमन्त्र एवं पञ्चदशी के मन्त्राक्षर परस्पर के मन्त्राक्षरों के प्रतिनिधि है—प्रतीक है—प्रतिनिधि हैं—तदर्थक हैं ।

गायत्रीमन्त्र और पञ्चदशी का 'कामराजकूट'—

जिस प्रकार गायत्रीमन्त्र एवं वाग्भवकूट के मन्त्राक्षर परस्पर प्रतीक हैं उसी प्रकार गायत्रीमन्त्र के अक्षर पञ्चदशीमन्त्र के 'कामराजकूट' के अक्षरों के भी प्रतीक हैं—दोनों मन्त्रों के अक्षर एक ही अर्थ सङ्केतित करते हैं—अतः दोनों में साम्य है।

गायत्रीमंत्र के अक्षर	पञ्चदशी मंत्र के अक्षर
१. 'तत् सवितुः वरेण्यम्' (अक्षरत्रय)	'ह' 'स' 'क'—अक्षरत्रय के बोधक
२. 'भर्गो देवस्य धी' (षडक्षर)	'ह' (चौथा वर्ण)
३. 'भर्गो देवस्य धी'	'स' 'क' तृतीयकूट के दो वर्ण (द्वितीय एवं तृतीय कूटों के शेष वर्णों का उद्धार उपर्युक्त रीति से करना चाहिए ।)

कूटत्रय एवं शक्तियों में तादात्म्य

ब्रह्मा-भारती, वामा-इच्छा हरि-क्षिति, ज्येष्ठा-ज्ञाना शिव-अपर्णा, रौद्री-क्रिया	मिथुनत्रय =	१. वाग्भवकूट २. कामराजकूट ३. शक्तिकूट[1]

तीन समष्टियाँ (पुरुष एवं नारी तत्त्व का सङ्घात) = शान्त एव अम्बिका रूप में तीन 'ईकार' ॥ भारती, सकल एवं ब्रह्मा आदि से आरंभ होने वाले त्रिकत्रय = माया (ह्रीं) से रहित कूटत्रय के बोधक ॥ 'माया' (ह्रीङ्कार) का चौथा मिथुन है = जो शिव-शक्ति का बोधक है ।

पञ्चदशीमन्त्र में पन्द्रह वर्ण हैं किन्तु अनेक वर्णों की पुनरुक्ति भी है अतः पुनरुक्ति को छोड़कर गिने तो पञ्चदशी में मात्र सात ही अक्षर प्रयुक्त हुए हैं ।

पञ्चदशी के सात मूलाक्षर = वामा-इच्छा-ज्येष्ठा-ज्ञाना-रौद्री-क्रिया के प्रतीक ॥

'पञ्चदशीमन्त्र' में प्रयुक्त मूलाक्षर—७—(क, ए, ई, ल, ह्रीं, ह, स)

१. वरिवस्यारहस्यम् (६०-६५)

मन्त्र के वर्णों की पुनरुक्ति संख्या	३	१	१	३	३	२	२ = संख्या = १५
वर्ण	क	ए	ई	ल	ह्रीं	ह	स = मन्त्राक्षर = ७ = मूलाक्षर

परदेवता—वामादिक सप्तशक्तियों की समष्टि ॥

परदेवता—षट्त्रिंशत् तत्त्व ॥[२]

'अहं' = 'अ' = शिव । 'ह' = शक्ति । = 'ई' कामकला । वर्ण—गुण । कामकलात्रय—एवं ईकार—स्पर्श चतुष्टय । ३ लकार = लोकत्रय । मन्त्रगत—तीन ककार = 'सकल', 'प्रलयाकल', व्रिज्ञानाकल । पञ्चदशीमन्त्रगत ह्रल्लेखात्रय को छोड़कर अवशिष्ट अक्षरों में स्थित अकार (क, ल; ह स क ह ल; स, क, ल में स्थित दस अकार) = जीव । ग्यारहवाँ स्वर "एकार" = जीव का वाचक एवं विद्या का प्राण । बिन्दुत्रय = रुद्र, ईश्वर एवं सदाशिव । नादत्रय = शान्ति, शक्ति, शंभु । महाविद्या के सैंतिस पद = ३६ तत्त्व एवं सैंतिसहवाँ तत्त्वातीत सैंतिसहवाँ तत्त्व । जन्य-जनक में अभेद = (वाच्य-वाचक में अभेद) = ब्रह्म एवं जगत् तथा जगत् एवं विद्या में अभेद । परमशिव = जागतिक पदार्थ । दीक्षा गुरु एवं परमशिव में अभेद । (श्लोक क्र० २।८२) भगवती परम्बा = (इच्छा, ज्ञान, क्रिया + सतोगुण-रजोगुण-तमोगुण+अग्नि-सोम-सूर्य इन नौ के संयोग से) त्रिनेत्री परम्बा ग्रहरूपा भी है । (२।८४)

७. परम्बा के साथ तादात्म्य—

परम्बा का अन्य तत्त्वों के साथ तादात्म्य—जगन्माता त्रिपुरा जगद्रूपिणी, तत्त्वरूपिणी, चक्ररूपिणी, शक्तिरूपिणी, वर्णरूपिणी, यंत्ररूपिणी, मन्त्ररूपिणी, गुरु-रूपिणी तो हैं ही किन्तु वे साथ ही साथ ग्रहरूपिणी एवं नक्षत्ररूपिणी भी है । दस इन्द्रियों, चार अन्तःकरणों, दस इन्द्रिय-विषयों, प्रकृति, पुरुष एवं गुणतत्त्वों के योग से सत्ताईस अङ्गों से युक्त होने के कारण भगवती भी सत्ताईस नक्षत्रों के साथ तादात्म्य रखती है । भगवती का योगिनियों के साथ भी तादात्म्य है (२।८६)

भगवती का राशियों के साथ भी तादात्म्य है (२।८७) क्योंकि नाग, कूर्म आदि पाँच प्राण, प्राणापानादि पाँच, जीवात्मा एवं परमात्मा दो के द्वादशाङ्गों से समन्वित होने के कारण जगदम्बा राशिस्वरूपा हैं । (२।८७) श्रीविद्या गणेशरूपिणी भी हैं । (२।८८) यह 'श्रीविद्या' बिन्दुत्रय, नादत्रय एवं कूटत्रय के शेषाशों द्वारा घटित होने के कारण ग्रहरूपिणी भी है एवं व्यञ्जनों द्वारा सत्ताईस अक्षरों वाली होने के कारण श्रीविद्या नक्षत्ररूपिणी भी है (२।८९) तीन ह्रीं ह्रल्लेखाओं (ह्री त्रय) एवं उससे भिन्न तीन कूटों के योग से श्रीविद्या योगिनीरूपा भी हैं । तीनों (ह्र वर्णों)

२. वरिवस्यारहस्यम्

हल्लेखाओं एवं 'ल' के योग से घटित होने के कारण श्रीविद्या राशिरूपिणी है (२।९०)। विद्या एवं देवी में सारूप्य होने के कारण विद्या एवं देवी में अभेद है। अतः श्रीविद्या गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी एवं राशि सभी के साथ तादात्म्य रखती है—**देव्या रूपान्तरत्वेन विद्यायास्तदभेदतः। गणेशग्रहनक्षत्र योगिनीराशिपीठता ॥** (२।९१) विद्या एवं देवी के सारूप्य के कारण विद्या एवं देवी में अभेद है। अतः उसका गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी एवं राशिरूप का समीचीन है। रेखाओं, दलों एवं कोणों के गणों द्वारा घटित होने के कारण इसका गणेशत्व एवं त्रैलोक्यमोहन आदि नवचक्रों द्वारा निर्मित होने से इसका ग्रहत्व स्पष्ट है। वृत्तत्रय, तीन भूगृहरेखाओं एवं चौदह कोणों एवं सात अन्य चक्रों की पृथक्-पृथक् गणना द्वारा इसका नक्षत्र रूप स्पष्ट है।

श्रीचक्र के साथ तादात्म्य—

पालन एवं संहार नामक चक्रद्वय, पद्मद्वय एवं अन्य वृत्तद्वय एवं भूगृह आदि के योग से—श्रीचक्र योगिनीरूप है। पाँच शक्ति, चार अग्नि, एक बिन्दु, एक वृत्त एवं एक भूगृह आदि बारह के योग से श्रीचक्र राशिरूप है। विद्या के अक्षरों द्वारा निर्मित होने के कारण चक्र इनसे अभिन्न हैं।

मातृका वर्णों की संख्या = ५१ पीठ ॥ ओडयाण, जालंधर, पूर्णगिरि, कामरूपपीठ, गणप, ग्रह, भ आदि एक, नौ, सत्ताईस, छः, बारह से घटित पचपन पीठ हैं।

८. अपने गुरु, देवता, विद्या एवं चक्र में तादात्म्यभाव—

देवी, विद्या चक्र, स्वगुरु एवं स्वयं—इन पाँचों में भी तादात्म्यभाव है।

९. कुण्डलिनी के साथ तादात्म्य—

कुण्डलिनी का श्रीविद्या एवं देवी के साथ तादात्म्य है। श्रीविद्या का अपने घटक अक्षरों के साथ तादात्म्य है। कल्याणी, एकाक्षरी, ईशित्री, ललिता आदि देवी के तीन सौ नाम मन्त्र के आद्यक्षरों का प्रतीक है। नाम का एकांश समस्त नाम का प्रतीक है। वाग्भवकूट, कामराजकूट एवं शक्तिकूटों के साथ (देवी के) किरीट से कण्ठ, कण्ठ से कटि एवं कटि से पादाग्र में तादात्म्य है। प्रथमकूट के छः वर्गों एवं तीन मिथुनों (ब्रह्मा-भारती, विष्णु-लक्ष्मी एवं रुद्र-पार्वती) का तादात्म्य है। देवताषट्क ईकार के प्रतीक है। अक्षरों के साथ वामा, इच्छा आदि शक्तियों का तादात्म्य है। ब्रह्म ही शिव-शक्ति दोनों का प्रतीक है क्योंकि शिवशक्ति अभिन्न हैं। 'वाग्भवकूट' सूक्ष्म की विराट व्याप्ति एवं 'कामराजकूट' शौर्य, धन, स्त्री एवं कीर्ति के प्रतीक हैं। प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय कूट के प्रतीक ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद हैं। 'ह्रीं' ब्रह्म का वाचक हैं। 'ह स क'—हँसते हुए मुख का, 'ह स'—आनन्द का, 'क'—सूर्य का, 'ह'—चन्द्रमा का, क एव ह—सूर्य-चन्द्रमा का, 'ल'—नेत्र का, क ह ल—सूर्य-चन्द्ररूपी नेत्रवालों का, एवं 'क'—ब्रह्म का प्रतीक है।

तृतीयकूट का प्रतीकार्थ है—

समस्त कलाओं से युक्त ब्रह्म स क ल है । ककार, एकार एवं अकार सृष्टयादि के वाचक हैं । ई एवं ड = तिरोधान एवं अनुग्रह के वाचक हैं । ह स = आनन्द का, 'क' सत्य का, 'ह' अनन्त का एवं 'ल' ज्ञान का प्रतीक है । 'सकल'—जीव का वाचक है । स क ल = जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति का वाचक है । सकल का अर्थ है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ।

मांत्री-साधना के लिए मन्त्र, जप, दीक्षा, शक्तिपात, गुरु, यंत्र, माला, महासेतु, सेतु, भावतत्त्व, साधनाधिकार, सूतकोद्धार, मन्त्र-चैतंन्य, मन्त्रार्थभावना, गुरु का ध्यान, मन्त्र, गुरु एवं मन्त्रेश्वर में एकता का विश्वास, मंत्रशिखा, कुल्लुका, कवच, कीलक, अर्गला, न्यास, निर्वाण, योनिमुद्रा, प्राणायाम, मुखशुद्धि, सूतकद्वय-मोक्षण, मुद्रा (यथा शांभवी मुद्रा), मौन, एकान्त, धैर्य, अटल विश्वास, निर्भयता, गोपनीयता, जापक-जप्य एवं जप में अभेदभावना, अमित उत्साह, दृढ़ सङ्कल्प, प्राणयोग, मनोयोग, मन्त्रेश्वर, मन्त्र एवं गुरु की अचिन्त्य एवं अपार शक्ति में पूर्ण विश्वास एवं मन्त्राधिकारित्व आदि तत्त्व आवश्यक है । भद्रगुप्ताचार्य ने मन्त्र-साधना के लिए सर्वप्रथम मन्त्राधिकारी बनना आवश्यक बताया है । मन्त्राधिकारित्व—"दक्षो जितेन्द्रियो धीमान् कोपानल जलोपमः । सत्यवादी विलोभश्च मायामद-विवर्जितः । मानत्यागी दयायुक्तः परनारी-सहोदरः । जितेन्द्री गुरुभक्तश्च मन्त्रग्राही भवेन्नरः ॥"

इसके अतिरिक्त पञ्चविध देवपूजा भी आवश्यक है जो निम्न है—

१. 'अभिगमन'— देवस्थान को स्वच्छ करना, लीपना, निर्माल्य हटाना ।

२. 'उपादान'— गंधपुष्पादिक पूजाद्रव्यों का संग्रह ।

३. 'योग'— इष्टदेवता की अपनी आत्मा के रूप में भावना करना ।

४. 'स्वाध्याय'— मन्त्रार्थ का अनुसन्धान करते हुए जप, सूक्त-स्तोत्रपाठ, गुणावली-पाठ, लीला एवं धाम का वर्णन एवं वेदान्ताभ्यास ।

मन्त्र-पूजा—

मांत्री-साधना से मन्त्र-पूजा भी आवश्यक है । इस विधान में अभीष्ट मन्त्र को ताम्र पत्र पर अष्टगंध से लिखकर उसे कादि-हादि मन्त्र लिखकर सम्पुटित करना चाहिए । यथा—

(क) कादि विद्या क्रम—क ए ई ल ह्रीं, स क ह ल ह्रीं, ह्रीं सकल ह्रीं ।

(ख) हादि विद्या क्रम—ह स क ह ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं—मन्त्र की षोडशोपचार से पूजा भी करनी चाहिए ।। मन्त्र. में मन्त्रेश्वर के विद्यमान रहने की भावना करनी चाहिए ।।

प्रत्येक वर्ण का सर्वातिशायी महत्व—

१०. ऐसा कोई भी वर्ण नहीं है जो 'मन्त्र' नहीं है—भगवती जगन्माता पचास वर्णों का मूर्तिमान रूप है । इसीलिए कहा गया है—"पञ्चाशन्मातृकां देवी नानाविद्यामयीं सदा । नानाविद्यामयीं देवीं महाविद्यामयीं तथा सर्ववर्णमयीं देवीं सर्व सर्वदेवमयीं पराम् । सर्वदेवमयीं सौम्यां ब्रह्माण्डजननीं पराम् ।।"[१] इन्हीं वर्णों से ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र सभी उत्पन्न होते हैं—'वर्णान्तु जायते ब्रह्मा तथा विष्णुः प्रजायते । रुद्रश्च जायते देवी । जगत्संहारकारकः ।।'[२] भगवती अकारादि सकारात्त सभी वर्णों का विग्रह है । 'अकारादिक्षकारान्ता मातृकाबीजरूपिणी । विसर्गश्च बिन्दुश्च त्रिशक्ति ब्रह्मविग्रहः ।।'[३] वर्ण पञ्चदेवों से समन्वित है । वे शक्तित्रय समन्वित हैं । वे त्रिगुणोपेत, कैवल्यस्वरूप, बिन्दुतत्त्वमय प्रकृतिस्वरूप है—'पञ्चदेवमयं वर्णं शक्तित्रय समन्वितम् । निर्गुणं त्रिगुणोपेतं स्वयं कैवल्यमूर्तिमान । बिन्दुतत्वमयं वर्णं स्वयं प्रकृतिरूपिणी ।।"[४]

(क) **'वर्ण' ब्रह्मा-विष्णु एवं रुद्र स्वरूप हैं**—"ब्रह्मविष्णुमयं वर्णं तथा रुद्रः वयं प्रिये ।"[५]

(ख) **'वर्ण' पञ्चप्राणमय हैं एवं परमकुण्डलीस्वरूप हैं**—"पञ्चप्राणमयं वर्णं स्वयं परमकुण्डली ।"[६]

(ग) **'वर्ण' सदाशिवमय, हरिब्रह्मात्मक एवं परब्रह्मसमन्वित हैं**—'सदाशिवमयं वर्णं परब्रह्म समन्वितं । हरिब्रह्मात्मकं वर्णं गुणत्रय समन्वितं ।।'[७]

(घ) **'वर्ण' पञ्चदेवमय, पञ्चप्राणयुत एवं गुणत्रययुत है**—'पञ्चप्राणमयं वर्णं वर्णं पञ्चदेवमयं सदा । पञ्च प्राणयुतं वर्णं तथा त्रयगुणात्मकं मातृकाएँ (मूलमन्त्र रूप सभी ५० वर्ण) युवतीरूपा एवं मन्त्रविग्रहरूपिणी हैं—'मातृका युवतीरूपा मन्त्रविग्रहरूपिणी ।।'[८]

(ङ) **'वर्ण-युवतीरूप एवं शब्दब्रह्मस्वरूप हैं**—'शब्दब्रह्म यदा याति मन्त्रं तन्त्रं तदा भवेत् । पञ्चाशत् युवती सर्वाशब्दब्रह्मस्वरूपिणी ।' मातृकादेवी सनातनी वेदमाता है—"भजेऽहं मातृकादेवीं[९] वेदमातां सनातनीम् ।।"[१०]

जो भी वर्णरूपमयी कुण्डली परदेवता या परा महाकुण्डली है वह चूँकि वर्णात्मिका है अतः इस शक्तिरूप वर्ण के ज्ञान के बिना किया गया 'जप' व्यर्थ है—"वर्णरूपमयी देवी कुण्डली परदेवता । पञ्चाशद्वर्णतत्त्वं च विद्यामन्त्रं जपेत्तु यः । सर्वं हि विफलं तस्य शववत् तज्जपं भवेत् । चैतन्यरहितं देवि तज्जपं शवमेव तत् ।।"[११]

समस्त वर्ण कुण्डलिनीस्वरूप हैं—"उकारं परमेशानि तारः कुण्डलिनी स्वयं । ऋकारं परमेशानि कुण्डली मूर्तिमान स्वयम् ।।" 'ककार परमेशानि कुण्डलीत्रय संयुतम् ।'[१२]

१-१२. कामधेनु तन्त्र

संसार के समस्त प्राणियों का जन्म ब्रह्मा से होता है। सभी का पालन विष्णु द्वारा एवं संहार रुद्र द्वारा होता है किन्तु ये तीनों भी वर्ण से ही उत्पन्न होते हैं।[1]

मन्त्र की परिभाषा

१. मन्त्र और मन्त्र का स्वरूप—

'मन्त्र' मननत्राणस्वरूप होते हैं। तन्त्रशास्त्र में मन्त्र को 'मनु' भी कहा जाता है। 'मृत्युञ्जयभट्टारक' में कहा गया है कि चूँकि मन्त्र का 'म' शब्द—संसार से उन्मोचन, शिव से योजन, एवं 'त्र' शब्द—मनन करने से त्राण करने का विधायक है अत: इसे 'मन्त्र' कहा गया है—

"मोचयन्ति च संसाराद्योजयन्ति परे शिवे। मननत्राणधर्मित्वात्तेन मन्त्रा इति स्मृता: ॥ (२१।१) 'मन्त्र' को मन्त्र इसलिए कहते हैं क्योंकि यह पूर्णाहन्ता का अनुसंधान करता है, मनन धर्मा है, त्राण-कर्ता है—'पूर्णाहन्तानुसंध्यात्मा स्फूर्जन्मनन धर्मत:। संसारक्षयकृत्त्राणा धर्मतो मन्त्र उच्यते ॥[2]

२. मन्त्र का स्वरूप—

मन्त्र की सामान्य परिभाषा यह है कि जो मनन करने से साधकों का त्राण करे वही 'मन्त्र' है—

'मननात् त्राणधर्माऽसौ मन्त्रोऽयं परिकीर्तित: ॥' (सङ्केत पद्धति)

'मन्त्र' परमात्मा का शब्द-विग्रह है। मन्त्र परमात्मा का शब्दावतार है। मन्त्र का मूलाधिष्ठान 'नाद' है अर्थात् मन्त्र का मूल तत्त्व—'नाद' है अत: तत्त्वत: 'मन्त्र' नादमय हैं। चूँकि 'नाद' बिन्दु के रूप में परिणत होता है अत: सारे मन्त्र—'बिन्दुरूप' भी है। सृष्टि-विधान देखिए—'आसीच्छक्ति:स्ततोनाद: नादाद् बिन्दु समुद्भव: ॥'[3]

सारांश—

(१) मन्त्र नादमय है, मन्त्र बिन्दुमय है।

(२) परब्रह्म का सगुणरूप 'शब्दब्रह्म' है अत: शब्दब्रह्मजन्यमन्त्र भी ब्रह्ममय है

(३) 'मन्त्र' चित् शक्ति की अभिव्यक्ति है—'मन्त्राश्चिन्मरीचय:'—अत: मन्त्र अपने तात्विक स्वरूप में चिन्मय एवं शक्तिमय है।

(४) 'यंत्र' मन्त्रावयवों से सङ्घटित हैं अत: मन्त्र यंत्रस्वरूप भी है।

(५) 'चक्र' मन्त्रोपेत, मन्त्र-घटित एवं मन्त्र की शक्ति से संवलित हैं अत: मन्त्र चक्रस्वरूप भी हैं।

---

१. कामधेनु तन्त्र २. सौभाग्यभास्कर
३. शारदातिलक

(६) चूँकि मन्त्र मातृकाओं से प्रकट होते हैं अतः मन्त्र मातृकास्वरूप भी है ।

(७) चूँकि मन्त्र एवं उसके अर्थस्वरूप देवता में तत्वतः कोई भेद नहीं होता अतः मन्त्र देवतामय भी है ।

(८) चूँकि 'देवता' आत्मा के ही एक विशिष्ट रूप हैं अतः सारे मन्त्र आत्मचैतन्यमय हैं—इसीलिए प्रत्यक् चैतन्य का विकास न होने तक मन्त्र का विकास नहीं होता—मन्त्र का साक्षात्कार नहीं होता, देवता का दर्शन नहीं होता एवं मन्त्र सिद्ध नहीं होते ।

(९) 'मन्त्र'—चित्तत्त्व की रश्मियाँ हैं—'मन्त्राश्चिन्मरीचयः ।।'

(१०) ओंकाररूप मूल मन्त्र से जगत् की सृष्टि होती है—इसी मन्त्र में जगत् स्थित रहता है तथा प्रलय के समय इसी मन्त्रतत्त्व में लीन हो जाता है अतः 'मन्त्र'—सृष्टि-पालन-संहारमय तथा विश्वमय एवं विश्वातीत सभी हैं ।

(११) 'मनन' एवं 'त्राण' इन दो प्रधान धर्मों से संवलित होने के कारण मन्त्र मनन-त्राता भी है—'मननात्त्राण धर्माऽसौ मन्त्रोऽयं परिकीर्तितः ।।'[१] 'मन्त्रसङ्केतकं मननात् त्रायन्तो साधकमिति मन्त्राश्चिन्मरीचयः ।।'[२]

(१२) 'मन्त्र' प्रकाशविमर्शात्मक हैं एवं परमशिव तथा पराशक्ति के प्रकाशक हैं—(प्रकाश विमर्शात्मक परमशिव-पराशक्ति प्रतिपादनपरत्वात्)[३]

(१३) जो मन्त्र के रहस्यों को जान लेता है वह 'परमशिव' हो जाता है—('मन्त्रसङ्केतकस्यवेत्ता ज्ञाता त्रिपुराकारोवेदन संपरिस्फुरत्परमशिवभट्टारको वीरचक्रेश्वरो भवेत् । परमशिव एव भवेत् ।।'[४] मन्त्रसङ्केतकं दिव्यमधुना कथयामि ते ।—यद्वेत्ता त्रिपुराकारो वीरचक्रेश्वरो भवेत् । (योगिनी हृदय)

त्रिकदर्शन की गीता 'शिवसूत्र' में 'शाक्तोपाय' के रूप में मन्त्र को ग्रहण करके कहा गया है—"चित्तं मन्त्रः ।।"

भास्कराचार्य कहते हैं कि मनन-त्राण करने के कारण तुटीयकूट में 'मन्त्रत्व' की स्थिति प्राप्त होती है । तीन कूट हैं—पश्यन्तीं, मध्यमा एवं वैखरी । यह तुरीय मन्त्र है—'परामातृका' ।।[५]

(१४) भगवती पराशक्ति स्वयं मन्त्ररूपिणी हैं—

ज्ञातृज्ञानमयाकार मननान्मन्त्ररूपिणी ।
तेषां समष्टिरूपेण पराशक्तिस्तु मातृका ।।[६]

इस प्रकार 'मन्त्र' एक अचिन्त्य शक्ति का अपर पर्याय है ।

१-४. अमृतानन्दनाथ—'दीपिका' ५. भास्कराचार्य—'सेतुबन्ध'
६. योगिनीहृदय

(१५) 'मन्त्र' भगवान का वर्णावतार है। 'मन्त्र' भगवती का शब्द-विग्रह है।

३. मन्त्रस्वरूप विषयक अन्य दृष्टियाँ—

'मन्त्र' परमात्मा का सार्वकालिक शाश्वत एवं चिन्मय शब्दावतार है। 'मन्त्र' अपने तात्विकस्तर वर्ण या अक्षर नहीं है प्रत्युत् पराशक्ति की नादात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। इसीलिए इन्हें शिवात्मक कहा गया है क्योंकि शक्ति एवं शिव अभिन्न हैं। समस्त मन्त्र वर्णात्मक तो हैं ही किन्तु सारे वर्ण भी शिवात्मक हैं—

'मन्त्रावर्णात्मका सर्वेवर्णाः सर्वेशिवात्मकाः ॥'

परावाक् को परमेष्ठी परमशिव का परमन्त्रात्मक विमर्शस्वरूप 'हृदय' कहा गया है। 'मन्त्र' ही उसका हृदय है। विमर्शशक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई मन्त्र नहीं है और यही मन्त्र परमेष्ठी शिव का हृदय है—"सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकाला विशेषिणी। सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥"[१]

'मन्त्र'-साधना के तीन मुख्य अङ्ग हैं—१. मन्त्र २. मन्त्र-जापक ३. मन्त्र का वाच्य (देवता) ॥ अपने तात्विकस्तर पर मन्त्र वहीं है जहाँ मन्त्र एवं उसका वाच्यदेवता एकात्मता प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि—

"मन्त्रार्थं देवतारूपं चिन्तनं परमेश्वरि।
वाच्यवाचकभावेन अभेदो मन्त्रदेवयोः ॥"[२]

मन्त्र की मूल शक्ति है चित् शक्ति। इसीलिए कहा गया है—"मन्त्राश्चिन्मरीचयः ॥" मन्त्र का बल है निरावरण चितशक्ति का उल्लासन। उसी शक्ति को लेकर 'मन्त्र' सहज नादशक्ति से उद्बोधित होकर प्रदीप्त हो उठते हैं और उनमें सर्वज्ञता आदि का बल आ जाता है। आत्मा के परतत्त्व का अवबोध होने के कारण मन्त्रज्ञ इच्छामात्र द्वारा मन्त्रों का यथेष्ट प्रयोग कर सकता है।[३]

'त्रिकसार' नामक ग्रन्थ में ठीक ही कहा गया है कि वर्णातीत निराकार परम तत्त्व का अवबोध हो जाने पर 'मन्त्र' मन्त्राधिपों के साथ ही मांत्रिक के किङ्कर हो जाते हैं। चिच्छक्ति के बल का संस्पर्श न होने पर वे मन्त्र केवल वर्णमात्र (जड़ अक्षर) मात्र बनकर रह जाते हैं और कुठपुतली के समान निष्फल चेष्टा करते हैं।

'हंसपारमेश्वर'-नामक ग्रन्थ में भी कहा गया है कि "केवल वर्णरूप मन्त्र 'पशुभाव' में स्थित हैं जबकि सुषुम्नामार्ग से उच्चरित होने पर वे पशुपति बन जाते हैं और इस प्रकार मन्त्र की दो अवस्थाएँ हैं—१. 'पशु अवस्था' २. 'पशुपति अवस्था'।

'श्रीवैहायसी'-नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि—"संधिस्थल में नादोर्ध्वध्वनि द्वारा ही बोधित जान करना चाहिए। यथा सूत्र में मणि पिरोये जाते हैं तदवत्

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (अ० ४) २. ब्रह्मानन्द गिरि—शाक्तानन्द तरंगिणी
३. स्पन्द प्रदीपिका

शक्ति के ताने-बाने से विनिर्मित मन्त्राक्षरों का ही ध्यान करना चाहिए । वह शक्ति परम व्योम में निवास करती है और परमामृत से समृद्ध है ।—उक्त पद्धति से जप करने पर मन्त्र अपना स्वस्वरूप उद्घाटित कर देता है और अपने ऊपर से आवरण का उन्मोचन कर देता है ।

'श्रीकालपरा'-नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि—शब्दनादात्मक हैं । उनके साथ प्रत्यय, (संवित) संलग्न रहता है और उनमें वृद्धि करता है । मन्त्रबोध के स्वरूप में स्थित जो संवित् है वह मन्त्र से अभिन्न है अत: वह आत्म-बोध करा देती है ।

'सङ्कर्षणसूत्र'-नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि—चिद्रूपता स्वात्मैकनिष्ठ है । भाव एवं अभाव उसकी दिशाएँ एवं परिष्कार है । वह स्वसंवेदन-संवेद्य है । वह प्रकृति का विषय भी है साथ ही वह प्रकृत्यातीत भी है । यही है मन्त्रों का प्रत्ययात्मक कारण । मन्त्र बाहर एवं भीतर वर्णरूप से प्रकट होते हैं । वे शाश्वत पदरूप मन्त्र मनुष्य के कर-चरण आदि के समान है । वीर्य के योग से प्रत्येक काल में ये मन्त्र-प्रयोग सिद्ध होते हैं ।[१]

शुद्ध बोधात्मक रूप से अन्तर्बाह्य दोनों में उदित मन्त्र का एक बार भी जप किये जाने पर वह लक्ष बार किए गए जप के समान फल वाला हो जाता 'है ।[२]

'जयसंहिता'-नामक ग्रन्थ में इसी तथ्य को प्रमाणित करते हुए कहा गया है कि—जब एक ही मन्त्रनाथ अन्तर एवं बाह्य दोनों में उदित होकर एक हो जाते हैं तब ऐसे जप को लक्षसंख्या से भी अधिक महनीय समझना चाहिए । इन्हीं भावों को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

> ''तदाक्रम्य बलं मन्त्रा सर्वज्ञबलशालिनः ।
> प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनः ॥''[३]

ये मन्त्र-साधक चित्त की प्रवृत्ति-निवृत्ति के निमित्त (साधक की इच्छा होने पर) शक्तिस्वभाव में लीन हो जाते हैं क्योंकि मन्त्र स्वस्वभाव के अनुगामी एवं शक्तिरूप हैं ।[४]

'कालपरा'-नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि—पर अक्षर रूप विटप में अनेक शक्तियाँ विद्यमान हैं । उनके विवर्त शक्तिरूप में वर्णों के माध्यम से प्रकट होते हैं। ये शक्तियाँ कृतकृत्य होने के कारण शान्त एवं निरञ्जन हैं । मन्त्र सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता हैं । मन्त्र शिवधर्मी हैं । आचार्य कल्लट ने 'स्पन्दकारिका' में इसकी पुष्टि करते हुए कहा है—

> ''तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपाः निरञ्जनाः ।
> सहसाधक चित्तेन तेनैते शिवधर्मिणः ॥''[५]

---

१. संकर्षणसूत्र
२. स्पन्द प्रदीपिका
३. स्पन्द कारिका
४. स्पन्द प्रदीपिका
५. स्पन्द कारिका

'साधक के चित्त में मन्त्र लीन हो जाते हैं'—कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा ही शिव है । यह आत्मा सर्वमय, सर्वात्मक एवं विश्वरूप है क्योंकि यह बोद्धा है । संवित् ही मन्त्रात्मा है अतः मन्त्र शिवरूप हैं ।

मन्त्र एवं जप वर्णात्मक होने पर भी मूलतः संविदात्मक हैं आन्तर-विकास की निष्पत्ति हैं—आत्मोल्लास का अपर पर्याय हैं । इसीलिए 'बौद्धायन संहिता' में कहा गया है कि—'चन्द्रमा शान्त हो जाय एवं सूर्य का उदय भी न हो, उस समय समस्त देवों का विलय एवं समस्त मन्त्रों का उदय हुआ करता है ।।'

'मालिनीविजय'-नामक ग्रन्थ में भी इसी तथ्य को पुष्टि करते हुए कहा गया है कि—'जिस अवस्था में जीव अन्य आधारों से विनिर्मुक्त होकर स्वस्वरूप में लीन हो जाता है वही अवस्था मन्त्रों के उद्भव का स्थान है ।'

यह भी कहा गया है कि—"जब पुरुष का चित्त धर्माधर्म के संधि-स्थल में निरुद्ध हो जाता है तब वह जो कुछ भी बोलता है वही 'मन्त्र' हो जाता है । केवल स्वर, वर्ण मातृका से निर्मित मन्त्र ही मन्त्र नहीं होते ।।"

"धर्माधर्मान्तरे चित्तं निरुद्धं यत्तदा तु सः ।
यद्वक्ति स भवेन्मन्त्रः किं पुनर्मातृकोत्थितः ।।"

इसीलिए कहा गया है कि अनिरुद्ध चित्त वाला साधक जिस मन्त्र का जप करता है वे मन्त्र उस स्थिति में पशुभाव में स्थित रहते हैं किन्तु जब उन्हीं मन्त्रों का सुषुम्णा नाड़ी से उच्चारण होने लगता है तब वे ही मन्त्र 'पशुपति' बन जाते हैं[१]—

"पशुभावे स्थिता मन्त्राः केवलः वर्णरूपिणः ।
सौषुम्णेऽध्वन्युच्चरिताः पतित्वं प्राप्नुवन्ति ते ।।"

मन को चेतन करके उठाना होगा । सुषुम्ना का स्रोत ही चैतन्य की धारा है । मन को जगाकर ऊर्ध्वमुखी सुषुम्णा की धारा में डाल देना होगा ।[२]

यह जाग्रत मन ही मन्त्रस्वरूप है । यही प्रबुद्ध कुण्डलिनी की स्फूर्ति है । जाग्रत मन ही मन्त्र है इसीलिए शिवसूत्र में कहा गया है—'चित्तमन्त्रः' हृदयाकाश में मन लीन होने पर पुनः व्युत्थित होकर बहुमुखी दौड़ने लगता है महाकाश में एकीभूत मन उत्थित होने पर एकमुखी होकर दौड़ता है । अतः मन को और ऊपर उठाकर (मन को कम्पनहीन करके) मन को विकल्पहीन करना होगा । यही मन जाग्रत मन "मन्त्र" है—"चित्तं मन्त्रः ।"

---

१. हंस पारमेश्वर

२. शक्तिसम्पन्न शब्दराशि ही मन्त्र है । निरुद्ध, कम्पन-शून्य, हृदयाकाश एवं महाकाश को अतिक्रान्त करके विकल्प-शून्य स्थिति में आरुढ़ एवं सुषुम्णा धारा में लीन मन ही मन्त्र है । इसी से 'चित्तं मन्त्रः' कहा गया है ।

'मननंविश्वविज्ञानं त्राणं संसारसङ्कटात् ।
यतः करोति संसिद्धो मन्त्र इत्युच्यते प्रिये ॥'[१]

आगमों में कहा गया है—'मननात्त्राणधर्माणो मन्त्राः स्युः परिकीर्तिताः ॥' शिवसूत्र में कहा है—'चित्तं मन्त्रः ॥'

'मंत्रिगुप्तभाषणे' (चु०प०से०) से घञ् (३।३।१९,१८) करने पर मन्त्र शब्द निष्पन्न होता है । इसका अर्थ निम्न है—"मन्त्रो वेदविशेषे स्याद्देवादीनां च साधने । गुह्यवादेऽपि च पुमान् ।"[२] "वेदे भेदे गुह्यवादे मन्त्रः"[३] "मन्त्र्यतेऽनेन इति मन्त्रः ॥" मन्त्र = 'मन्त्रणम्' ॥

४. 'शाक्तानन्दतरंगिणी' की दृष्टि—

ब्रह्मानन्दगिरि ने 'शाक्तानन्दतरंगिणी' के नवमोल्लास में कहा है कि—"मन्त्र" सुनिश्चित वर्णों की शाब्दिक पुनरावृत्ति या जिह्वा का वर्णावृत्तिरूप अध्यवसाय नहीं है बल्कि "मन्त्रार्थं देवतारूपं चिन्तनम्" तथा 'मन्त्र' देवता से पृथक् कोई सत्ता नहीं है प्रत्युत मन्त्र वही है जो देवता है अतः मन्त्र एवं देवता में अभेद है—"वाच्यवाचकभावेन अभेदो मन्त्रदेवयोः ॥"[४]

'मन्त्रार्थ' की व्याख्या करते हुए ब्रह्मानन्दगिरि कहते हैं कि—"हे देवी ! मन्त्रार्थ को सावधानी से हृदयङ्गम कीजिए । आधारपद्म में विद्या को गुरुस्फटिक के सदृश कल्पित करें, लिङ्ग स्थान में बंधूक के समान, नाभि में स्फटिक के समान हृदय में मरकत के समान, विशुद्ध चक्र में हरे रङ्ग में, आज्ञाचक्र में 'चतुर्वर्णानुरंजित' रूप में कल्पित करें ।" 'रुद्रयामल' में कहा गया है कि—मन्त्र को गुरु के पास ले जाकर गुरुभक्ति दिखाकर गुरु से—१. मन्त्र का कान २. मन्त्र का मुख ३. मन्त्र का नेत्र, एवं ४. मन्त्र का प्राण—यत्नपूर्वक जानना चाहिए । फिर मन्त्र का 'कीलक' जानकर मन्त्र की पुरुष्क्रिया की जानी चाहिए ।

"मन्त्रंनीत्वा गुरोः पार्श्वे गुरुभक्तिपुरःसरः ।
मन्त्रस्य श्रोत्रास्य नेत्रप्राणान् विज्ञाय यत्नतः ॥"[५]

मन्त्र के श्रोत्रादिक के ज्ञान के बिना मन्त्र-जाप—दारिद्र्य, विपत्ति, नरक ॥[६] उदाहरणार्थ काली मन्त्र लें—

कालीमन्त्र का—१. श्रोत्र—बिन्दु, २. मुख—नाद, ३. हृदय—ककार, ४. नेत्र—वह्नि ५. कीलक—दीर्घीकार,।[७]

१. देवतत्त्व, २. प्राणतत्त्व, ३. बिन्दुतत्त्व, ४. ज्ञानतत्त्व, ५. शक्तितत्त्व, ६. योनितत्त्व आदि नव तत्त्व जानकर ही मन्त्र का जप करना चाहिए, अन्यथा नहीं ।

---

१. माहेश्वर तन्त्र (ज्ञानखण्ड)
२. मेदिनी कोष
३. अमर कोष
४-६. शाक्तानन्दतरंगिणी
७. भूत डामर

"बिन्दुतत्त्वं प्रजप्याथ ज्ञानतत्त्वं च सुन्दरि । प्राणतत्त्वं च चार्वङ्गि देवतत्त्वं तथैव च । जपतत्त्वं मन्त्रतत्वं ध्यानतत्वं सुलोचने ॥"[1]

वैसे तो समस्त 'मन्त्र' वर्णात्मक हैं किन्तु वे मात्र वर्णात्मक नहीं है—शक्त्यात्मक भी हैं—'सर्वेवर्णात्मिका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये । शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका ॥"

'मन्त्र' स्थूल अक्षर से ऊपरी धरातल की वस्तु हैं । इसीलिए कहा गया है—'मन्त्रे चाक्षर बुद्धिस्याद् गुरौ तु मानवः प्रिये । देवतायाः वरारोहे प्रतिबुद्धिस्तु जायते । किं तस्य जप पूजायां सर्वं व्यर्थं कदर्थनम् ॥"[2]

'स्पन्दप्रदीपिका' में मन्त्र के चार तत्त्व बताए गए हैं—१. बीज, २. पिण्ड, ३. पद, ४. नाम । मन्त्र के दो कार्य बताए गए हैं—१. मनन, २. त्राण ॥

'शब्द', 'मन्त्र', 'ओंकार' एवं देवता तत्त्वतः अभिन्न हैं । समस्त मन्त्रों की मूल एवं सर्वोच्च प्रकृति ॐकार है । अर्धमात्रादिक में जो प्रतिफलित चैतन्य है वही 'मन्त्र' है ।

समग्र विश्व की उत्त्पत्ति शब्द द्वारा हुई है । 'समस्त विश्व शब्द में ही विधृत है ।" शब्दातीत परमपद का साक्षात्कार करने हेतु भी शब्द का आश्रय लेना पड़ता है तथा शब्द-राज्य का भेदन करने हेतु भी शब्द का आश्रय लेना पड़ता है । सृष्टि में रहने एवं सृष्टि से बाहर जाने दोनों के लिए शब्द ही एक मात्र आलम्बन है । इसीलिए शब्द को पकड़कर शब्दातीत परब्रह्म पद में जाने का विधान किया गया है । मन्त्रों का मूल उद्भवस्थान (योनि) 'ज्ञानशक्ति' है—

'ज्ञानशक्तिः परासूक्ष्मा मातृकां तां विदुर्बुधाः । सा योनिः सर्वमन्त्राणां सर्वत्रारणिवत्स्थिताः ।' मन्त्रों के अवयवभूत वर्णों की भी आत्मा है—'मातृका' । इसी मातृका से मन्त्र निर्मित होते हैं—

मातृका या महामातृका ही विश्वजननी है । शब्दब्रह्म ही यह परामातृका है । अस्तित्व के तीन स्तर हैं—१. 'दिव्य समरसभूमि' = यहाँ न तरङ्ग है, न स्पंदन, न विमर्शन, न सृष्टि, न संरक्षण, न संहार, न तिरोधान, न अनुग्रह, न शिव-शक्ति, न जीव जगत् । अद्वय परम स्थिति की वह अवस्था जहाँ पूर्ण सत्य अपनी महिमा में पूर्णतः विराजमान है । २. द्वितीयावस्था = यहाँ परब्रह्म भी है और शब्दब्रह्म भी । परावाक् ही शब्दब्रह्म है । यही है युगलभाव की अवस्था—'शिवशक्ति की समरसावस्था' । यह सामरस्य नित्य है । यह 'यामल', 'युगनद्ध', 'युगल' की अवस्था है । सृष्टि के मूल में है—'बिन्दु' । स्वातंत्र्य—स्पन्दन द्वारा 'बिन्दु' का स्पर्श—रेखा रूप में बिन्दु की परिणति—त्रिकोण = (सृष्टि की मूल योनि) ॥

शब्द, अर्थ एवं ज्ञान परस्पर सम्बद्ध हैं । अर्थ ही जगत् है क्योंकि वह

१-२. कामधेनु तन्त्र

पदार्थों की समष्टि है । शब्द का अर्थ से जो सम्बंध है वह है तीन प्रकार का—
१. अभेद सम्बन्ध, २. भेदाभेद सम्बन्ध, ३. भेद सम्बन्ध ।

पश्यन्ती अवस्था = यहाँ शब्दार्थ में अभेद सम्बंध है । यहाँ जो शब्द है वही अर्थ है, जो अर्थ है वही शब्द है ।

मध्यमावस्था = यहाँ शब्दार्थ में भेदाभेद सम्बंध है ।

वैखरीअवस्था = यहाँ शब्द से अर्थ का भेद सम्बंध है । (परावस्था में शब्द, अर्थ, ज्ञान—पृथक्-पृथक् रूप में भासमान नहीं होते ।)

मातृका ही प्रत्यवमर्शनकारिणी शक्ति है । मातृकाशक्ति के जुड़ने पर ही 'प्रकाश' अपने को प्रकाश के रूप में पहचान पाता है अन्यथा नहीं । 'अहं' में भी मातृका की ही क्रीड़ा है । 'पूर्णाहन्ता' (पूर्ण अहं या परमेश्वर के स्वरूप) को भी मातृका द्वारा ही पकड़ा जा सकता है । (पूर्णत्व उन्मनी अवस्था में है ।)

मन्त्र को जो देवता से अभिन्न कहा गया है—उसका अर्थ यही है कि मन्त्राक्षर वैखरीभाव (भेदराज्य) एवं मध्यमाभाव (भेदाभेद राज्य) का त्याग करके पश्यन्तीभाव (अभेद राज्य) तक यात्रा करें जहाँ कि शब्द से उसका अर्थ (वाचक से उसका वाच्य) अभिन्न रूप से दिखाई दे अर्थात् मन्त्र से मन्त्रवाच्य अभिन्न रूप में दर्शन दे, अर्थात् जहाँ मन्त्र एवं उसके वाच्यदेवता में रञ्चमात्र भी भेद दृष्टिगत न हो । जहाँ मन्त्र और उसका देवता दोनों एक हैं वह अवस्था ही मन्त्र का वास्तविक अर्थ है । चूँकि पश्यन्ती की अवस्था में शब्द और अर्थ अभिन्न रूप से स्थित हैं उसी प्रकार वहाँ मन्त्र और उसका अर्थ रूप देवता भी अभिन्न रूप में स्थित हैं अतः मन्त्र वहाँ देवता के रूप में एवं देवता मन्त्र के रूप में एवं दोनों एक दूसरे के रूप में दृष्टिगत होंगे । 'मन्त्र' अपने वास्तविक स्तर पर देवता से अभिन्न रूप में ही स्थित रहते हैं अतः मन्त्र की इसी मूल आदर्श दशा को दिखाने के लिए कहा गया है कि मन्त्र ही देवता है ।

६. ओंकार (प्रणव) और मन्त्र—ओंकार ही महामन्त्र है । वेदों में कहा गया है कि मनोभावों एवं विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए जिस वाणी का उपयोग किया जाता है उसके चार प्रकार हैं । उसे केवल 'मनीषी ब्राह्मण' ही जानते हैं अन्य नहीं । इनमें तीन वाणियाँ गुहा में गुप्तरूप से स्थित हैं । केवल चौथी वाणी ही मनुष्य बोला करते हैं अन्य वाणियाँ नहीं क्योंकि अन्य वाणियों का (गुप्त तीन वाणियों का) ज्ञानमात्र मनीषी ब्राह्मणों को ही है अन्य को नहीं—

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणो ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नङ्गयन्ति, तुरीयो वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

सारांश—

१. परा, पश्यन्ती एवं मध्यमा वाणी (मनुष्यों को अज्ञात । केवल मनीषी ब्राह्मणों को ज्ञात)

२. वैखरी वाणी = तुरीय वाणी । (मनुष्यों द्वारा बोली जाने वाली वाणी ।)

इनमें तीन गुप्त वाणियों में भी गुप्त हैं 'पश्यन्ती' एवं 'पश्यन्ती' से भी अधिक गुप्त है 'परावाणी' । यहीं परावाणी है—ओंकार । ओंकार ही सब कुछ है—उसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, वेद के प्रमाण देखिए—

१. 'ॐ कार एवेदं सर्वम्' (छा०उप०)—यह सब कुछ (समस्त जगत्) ओंकार ही है ।

२. 'ॐ तद्ब्रह्म' (मु०उप०)—ॐ वह अचिन्त्य परात्पर परमात्मा है ।। प्रणव (ओंकार ही पर एवं अपर) ब्रह्म है

३. "प्रणवोऽपरं ब्रह्मप्रणवश्च परः स्मृतः । अपूर्वोऽनन्तरोऽवाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ।।"

४. 'ॐ मित्येत्' (क०उप०)—ओंकार ही यह सब (जगत्) है ।

५. 'ॐमिति ब्रह्म' (तै०उप० १।८।१)—ओंकार ही ब्रह्म है ।

६. 'एतदालम्बनम्' (क०उ० १।२।१७)—यही ओंकार ही आलम्बन है ।

७. 'एतद्वैसत्यकाम' (प्र० ३०५।२)—हे सत्यकाम । यह ओंकार है और यही पर एवं अपर ब्रह्म है ।

८. 'ओमित्यात्मानं युञ्जीत' (मैत्र्यु० ६।३)—आत्मा का ॐ इस प्रकार ध्यान करे ।

९. 'ओंकार एवेदं सर्वम्' (छा० ३०२।२३)—यह सब ओंकार ही है ।

१०. ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं । तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव । यच्चान्यतत्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ।। (माण्डूक्योपनिषदः १।१) —ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है । यह जो कुछ भूत, भविष्यत एवं वर्तमान है—उसी की व्याख्या है । इसलिए यह सब ओंकार ही है । इसके सिवा जो अन्य त्रिकालातीत वस्तु है वह भी ओंकार ही है ।

११. 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्' (माण्डूक्यो० १।२) —यह सब ब्रह्म ही है । यह आत्मा ही ब्रह्म है । वह यह आत्मा चार पादों वाला है ।

१२. सोऽयमात्माध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ।। (माण्ड्क्य० १।८)—वह यह आत्मा अक्षर की दृष्टि से ओंकार है, वह मात्राओं को विषय करके स्थित है । पाद ही मात्रा हैं और मात्रा ही पाद हैं । वे मात्रा अकार, उकार एवं मकार हैं । (क) ओंकार की प्रथममात्रा—'अकार' । (ख) ओंकार की द्वितीय मात्रा—'उकार' । (ग) ओंकार की तृतीय मात्रा—'मकार' ।

(क) जागरित स्थान = 'वैश्वानर' = ॐ की प्रथममात्रा = 'अ' ॥

(ख) स्वप्न स्थान = 'तैजस' = ॐ की द्वितीयमात्रा = 'उ' ॥

(ग) सुषुप्ति स्थान = 'प्राज्ञ' = ॐ की तृतीयमात्रा = 'म' ॥

(घ) तुरीय, तुरीयातीत = आत्मा का तुरीयपाद = तुरीयआत्मा = मात्रा-शून्य ॐ

'अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद ।'—(माण्डू० १।१२) ॥

(ङ) 'प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम् । सर्वव्यापिनमोंकारम् ॥'—(माण्डू० का० २८)—ओंकार हृदयस्थ ईश्वर है ।

यह ओंकार 'अनादिनिधन ब्रह्म' है—'शब्दतत्त्व' है—'अक्षर' है—'जगत्' इसीका 'विवर्त' है—

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥"

यही ओंकार 'शब्दब्रह्म' है एवं इसी 'शब्दब्रह्म' से 'परब्रह्म' की प्राप्ति होती है—'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति ।' ध्वनि का स्थूल शरीर—'आकाश' है। ध्वनि का सूक्ष्म शरीर 'शब्दतन्मात्रा' है । ध्वनि का सूक्ष्मतम कारण शरीर—'परशब्द' है । यही 'परशब्द' ओंकार है ।

यह वही शब्द है जो मानव पिण्ड में 'गगनशिखर' में प्रकाशित होता है—'गगनशिखर महँ शब्द प्रकास्या तहँ बूझै अलखबिनाणी'[१], 'शब्द' (ओंकार) ही ताला है, शब्द ही कुञ्जी है । शब्द ही शब्द को जगाता है । शब्द का शब्द से परिचय होने पर शब्द, शब्द में समा जाता है ॥" (शब्दहिं ताला, शब्दहिं कूची शब्दहिं शब्द समाया । शब्दहिं शब्द से परचा हुवा शब्दहिं शब्द समाया ।[२]) इसीलिए आचार्य रामानन्द ने कहा था—"शब्द को सीख ले, शब्द को बूझ ले, शब्द से शब्द पहिचान भाई ॥"

शब्द—समस्त वर्णमाला, समस्त प्रकृत्यण्ड, मायाण्ड, शाक्ताण्ड, ब्रह्माण्ड, समस्त जीव-जगत् ॥ **पञ्चअवस्थाएँ**—त्रिलोक, तैंतिस कोटि देवता, त्रिदेव, वेदचतुष्टय, समस्तशास्त्र, समस्तमन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर आदि सारे अस्तित्व ॥

मन्त्र का वाच्य है परमात्मा । मन्त्र-साधना का लक्ष्य है परमात्मा, आत्मा एवं ब्रह्म की प्राप्ति । चूँकि ओंकार ही आत्मा है—परमात्मा है, और ब्रह्म है—इसीलिए सारे मन्त्रों के पूर्व ओंकार का प्रयोग किया जाता है यथा—'भुवनेश्वरी का मन्त्र (ॐ ह्रीं ह्रीं ओं ओं) विष्णु का मन्त्र—(सेतु) ॐविष्णवे ॐ । कृष्ण का मन्त्र—(सेतु) ॐ क्लीं ॐ । तारा का मन्त्र—(सेतु) 'ॐ ह्रीं' । समस्त वर्णों के मूल

१-२. गोरखनाथ

में यही ओंकार है—'एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णविभागवान् । 'सोऽनस्तमित-रूपत्वादनाहत इहोदितः ।। (तन्त्रालोक ६ आ०)

मन्त्र का लक्ष्य है 'देवता' किन्तु देवता का मूल है 'बीज' । क्योंकि देवता के शरीर का जन्म इसी बीज से होता है—**"देवतायाः शरीरं तु बीजादुत्पद्यते ध्रुवम् ।।"**[१] मूल बीजों का भी आदिमूल बीज है ओंकार ।। समस्त वर्णों के पीछे एक अनाहत वर्ण है जो कि अनवरत रूप से नादात्मक है । वर्णात्मक मन्त्रों में सर्वदा सतत् उच्चाररूप अनाहत नाद सञ्चरित होता रहता है और वह अनाहत नाद अन्य कोई ओंकार ही है । मन्त्रों में संवित् ही स्पन्दित होती है । मन्त्रों में स्पन्द भी स्फुरित है । यथा अरघट्ट के चक्र में यदि बाल्टी को ठीक कर लिया जाय तो ठीक काम करने लगती है—'यथेष्ट पानी लाती है—तदवत् अनुसंधान-बल से यत्नपूर्वक देवता रूप होने से मन्त्र द्वारा तादात्म्य की प्राप्ति होती है । चूँकि भेद भी स्पन्दाधीन है प्राण भी स्पन्दाधीन है अतः प्राणानुशासन के साथ भेद-निवृत्ति-पूर्वक अभेदात्मक जप के लिए प्राण-साम्य भी आवश्यक है । प्राणों की साम्यावस्था सुषुम्णा में है । 'मानसजप' में प्राणशक्ति के उदय, सङ्गम एवं शान्ति में जप किया जाता है । प्राणशक्ति के उदयस्थान कुण्डलिनी में, हृदयदेश में एवं (जहाँ प्राणशक्ति शान्त होती है उस) ऊर्ध्व देश में जप किया जाता है ।[२] इस जप में ओंकार का ही जप होता है । जप के सात स्थान हैं—उदय-सङ्गम-शान्त के अतिरिक्त प्राणापान के प्रवाह में, अक्ष नाड़ीचक्र सूत्रों में, हृदयदेश के 'हंस' नामक स्थान में, एवं सहस्रार में—सप्त प्रकार का जप है । यही है मानस जाप-अजपा जाप जो कि मूलतः ओंकार से अनुप्राणित है ।[३]

७. प्रणवरूप 'मूलमन्त्र' के अवयव—मूलमन्त्र 'प्रणव' है । इसी कारण प्रत्येक मन्त्र के प्रारंभ में उसको जोड़ा जाता है । इस मूल मन्त्र के द्वादश अवयव हैं जो कि निम्न हैं—

१. अकार, २. उकार, ३. मकार, ४. बिन्दु, ५. अर्धचन्द्र, ६. निरोधिनी, ७. नाद, ८. नादान्त, ९. व्यापिनी, १०. शक्ति, ११. समना, १२. उन्मना—

'अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ।
अर्द्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ॥
कौण्डली व्यापिनी शक्तिः समनाश्चेति सामयाः ।
निष्कलं चात्मतत्त्वं च शक्तिश्चैव तथोन्मना ।।'[४]

"अकारं ब्रह्मणो रूपं उकारं विष्णुरूपवत् । मकारं रुद्ररूपं स्यादर्धमात्रं परात्मकम् । वाचं तत्परमं ब्रह्मवाचकः प्रणवः स्मृतः । वाच्यवाचक सम्बन्धस्तयोः स्यादौपचारिकः ।।"—बृहन्नारदीय

---

१. शाक्तानन्दतरंगिणी, यामल
२-३. अभिनवगुप्त—'तन्त्रालोक' (३१ आ०)
४. नेत्रतन्त्र

१. 'अ'—ब्राह्मी—मनोबीज (= सृष्टि) ॥

२. 'उ'—वैष्णवी—प्राणबीज (= स्थिति) ॥

३. 'म'—माहेश्वरी—अहं बीज (= प्रलय) ॥

(क) सूक्ष्म शब्दशक्ति = 'सृष्टिबीज' = नादशास्त्र की परिभाषा में यही है—'मनोबिन्दु' ॥

(ख) स्थूल शब्दशक्ति = 'प्राणबिन्दु' = सृष्टि का स्थिति बीज ॥

(ग) अतिस्थूल शब्दशक्ति = 'अहंबिन्दु' = सृष्टि का लय बीज ॥

'अ' = मनोबीज के आदिकारण के रूप में निगूढ़ रहने वाली निनादशक्ति ।

'उ' = प्राणबीज के आदिकारण के रूप में निगूढ़ रहने वाली निनादशक्ति ।

'म' = लय बीज के आदिकारण के रूप में निगूढ़ रहने वाली निनादशक्ति ।

स्थूल शब्दशक्ति—में वैष्णवीशक्ति स्थित है । अधिष्ठाता = विष्णुः वैष्णवीशक्ति—प्राणबिन्दु । (प्राणबिन्दु की उत्पत्ति का आदिकारण वैष्णवीशक्ति है ।)

अत्यन्त स्थूल शब्दशक्ति—में अधिष्ठाता = महेश्वर (लयशक्ति का अभिमानी देवता) ॥

(परब्रह्म के ईक्षण के प्रभाव से वृवृच्छक्ति में उत्पन्न अतिस्थूल नाद ही माहेश्वरीशक्ति का प्राण है । यही शक्ति विश्वप्रलय का महाकारण है ।)

सूक्ष्म शब्दशक्ति—इस शब्द में रहने वाली नादशक्ति ब्राह्मीशक्ति है । अधिष्ठाता = ब्रह्मा ॥

प्रकृति की साम्यावस्था में 'संक्षोभ'—

'संक्षोभ'—अकार में से सूक्ष्म शब्द की उत्पत्ति ।
'संक्षोभ'—उकार में से स्थूल शब्द की उत्पत्ति ।
'संक्षोभ'—मकार में से अतिस्थूल शब्द की उत्पत्ति ।

(प्रणव या ओंकार के अ, उ, म—इन तीन अङ्गों से उद्भूत इन महाशक्तियों से क्रमशः 'मनोबीज', 'प्राणबीज' एवं 'अहंबीज' में सृष्टि-स्थिति-प्रलय के कारण बीज प्रकट हुए ।)

ओंकार (प्रणव) के दो प्रकार—१. पर प्रणव २. अपर प्रणव । पराप्रकृति ('परप्रणव') की सन्निधि या सत्तामात्र से 'अपर प्रणव' (अपरा प्रकृति) में सङ्कल्प विवृति का प्रारंभ—अकार-उकार-मकार के रूप में विभाजन । ब्रह्म की तीन शक्तियाँ—

१. ब्राह्मी—सृष्टि ॥ अधिष्ठता—ब्रह्मा ॥ = 'अ' ॥
२. वैष्णवी—स्थिति ॥ अधिष्ठता—विष्णु ॥ = 'उ' ॥
३. महोश्वरी—लय ॥ अधिष्ठता—महेश ॥ = 'म' ॥

प्रकृति का अस्पंदनांश = चिदात्मा का प्रकृति में प्रतिबिम्बन—(यथा सूर्य का दर्पण में)—प्रकृति का दो रूप में विभाजन[१]—स्पंदनांशमय प्रकृति का जड़ अंश (२) अस्पंदनांश चेतन के अंशरूप में—'अपरा प्रकृति' । वाचक = 'अपर प्रणव ॥ वाच्य = 'परप्रणव' । वाच्य + वाचक प्रणव का संयोग—'विवृच्छक्ति'—जगत् की सृष्टि ॥ परब्रह्म की 'ईक्षणशक्ति' ('तदैक्षत बहुस्याम प्रजायेय') = जगत् की सृष्टि का महाकारण । ईक्षण शक्ति—विवृच्छक्ति का उत्प्रेरित होना—सृष्टि-सङ्कल्प । यही सृष्टि-सङ्कल्प है—'पर्यालोचना' (Cosmic Ideation) ॥ ब्रह्म में सिसृक्षा-सङ्कल्प (सङ्कल्प-स्फुरण) ब्रह्म की दो शक्तियों—स्पन्दन + अस्पन्दन—का संयोग—गुणत्रय की साम्यावस्था रूप प्रकृतिरूप महाशक्ति का आविर्भाव—(चिदात्मा का प्रकृति में प्रतिबिम्बन के कारण प्रकृति में संक्षोभ)—

१. स्पंदनांशमय प्रकृति का जडांश	'अ' 'उ' 'म' द्वारा सृष्टि
२. अस्पनंशमय प्रकृति	स्थिति, संहार

८. 'मन्त्र' के अवयव—(ॐकार की एकादश कलाएँ)—

मकार, उकार एवं अकार का वर्ण—परामर्श ही 'मन्त्र' है ।

१. 'अ' 'उ' 'म' = जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ॥
२. बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद = तुरीयावस्था ॥
३. नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना, उन्मना = तुरीयातीतावस्था ॥

'अवस्थातीत' = मात्राहीन या अमात्र शिव । उन्मना से परे कोई अन्य अवस्था नहीं है । अ-उ-म = जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति के वाचक हैं । इन तीनों को मिलाकर एकाकार कर देने पर जो अविभक्त ज्योतिर्मय ज्ञान उदित होता है उसे ही 'बिन्दु' कहा जाता है । यह भ्रूमध्य में प्राप्त होता है ।

१. 'बिन्दु' में ज्ञेयों का भेद विगलित है—अभिन्न ज्ञेयता की स्थिति है । किन्तु इसमें ज्ञानांश का नहीं ज्ञेयांश का प्राधान्य है । 'अर्द्धचन्द्र' में ज्ञानांश का प्राधान्य है ज्ञेयांश गौण है । 'निरोधिका' में ज्ञेयभाव की सर्वथा निवृत्ति है । यहीं से नाद में प्रवेश होता है किन्तु अयोगी का प्रवेश नहीं हो पाता । वांच्यों का अभेद 'बिन्दु' में एवं वाचकों का अभेद नाद नादान्त में रहता है । 'बिन्दु' ईश्वर है। 'नाद' सदाशिव है । 'समना' पर्यन्त शक्ति 'शिवतत्त्व' है । समना-लङ्घन शुद्ध आत्मरूप में प्रतिष्ठा । 'उन्मना' का त्याग नहीं होता—परमशिव भाव की प्राप्ति ही 'उन्मना' का त्याग है । 'उन्मना' परमात्मा का समवायिनी शक्ति है । उन्मना व्यापक एवं समना व्याप्य है । 'व्यापिनी' समना का अपरभाव है । व्यापिनी महाशून्य है । समना भी शून्य है और यह व्यापिनी की परावस्था है । महाशून्य का अतिक्रमण—समना की प्राप्ति ॥ व्यापिनी का अपरभाव ही है 'शक्ति' । यह

आनन्दात्मिका स्पर्शानुभूतियुक्ता है । इसका अतिक्रम—व्यापिनी । स्पर्शरूपा शक्ति का अपर भाव है—नादान्तव्यापी नाद ॥ नाद का अपरभाव है बिन्दुरूपा ज्योति ॥ ज्योति का अपरभाव है 'मन्त्र' ॥ मन्त्र का अपरभाव है ब्रह्मा-विष्णु-महेश । त्रिदेवों का अपरभाव हैं—तत्त्वसमूह ॥

मन्त्र के अवयव सारांशत: निम्न हैं—१. ६ शून्य, २. ५ अवस्थाएँ, ३. ७ विषुव ॥ ५ अवस्थाएँ—जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, तुरीयातीत ॥

'शून्य'—द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश । ५ अवान्तर शून्य (प्रथम ५) ॥ महाशून्य = छठवाँ ॥

परमात्मा के छः प्रकार के स्थूल रूप हैं—उनमें एक 'मन्त्र' भी है यथा—१. भुवन २. विग्रह ३. ज्योति या बिन्दु ४. व्यापिनी या आकाश ५. नाद या शब्द ६. मन्त्र ॥

'सप्तविषुव'—प्राणविषुव, मन्त्रविषुव, नाड़ीविषुव, प्रशान्तविषुव शक्तिविषुव, कालविषुव, तत्त्वविषुव ॥

प्राण, आत्मा एवं मन के परस्पर योग को 'प्राणविषुव', नाद को जापक की आत्मा समझने की भावना करना 'मन्त्रविषुव' मूलाधार से ब्रह्मरंध्रपर्यन्त बीजशिखरवर्ती नाद के उच्चरित होने पर 'नाड़ीविषुव', शक्ति में नादान्तपर्यन्त मन्त्रावयवों की लय-भावना करना 'प्रशान्तविषुव' एवं शक्ति के मध्य आगत नाद के समनापर्यन्त चिन्तन को 'शक्तिविषुव' कहते हैं । कालातीत उन्मनापर्यन्त नाद के चिन्तन को 'कालविषुव' कहते हैं । उन्मनाभेदन करने के साथ ही 'नाद' का अन्त होता है इसके पूर्व नहीं । इस स्थिति में तत्वबोध स्वयमेव हो जाता है । चैतन्य का यह अभिव्यक्ति स्थान ही 'तत्त्वविषुव' कहलाता है । इसकेबाद ही 'परमपद' है।

९. मन्त्र के अङ्ग—प्रत्येक अङ्ग के निम्न अङ्ग होते हैं—

१. आन्तरिक अङ्ग—वर्ण-संख्या, उद्धार, काल (मात्रा), उच्चारण, स्थान, प्रयत्न, रूप, विभिन्न स्थितियाँ, आकार आदि विद्या के आन्तरिक अङ्ग हैं ।

२. बाह्य अङ्ग—ऋषि, छन्दस्, देवता, विनियोग, बीज, शक्ति कीलक, न्यास, ध्यान, नियम एवं पूजा ।

"आन्तरिक अङ्ग प्राय: दुर्लभ हैं । इनका समादर प्राय: अन्तर्मुखी लोगों द्वारा किया जाता है । इन्हीं की सन्तुष्टि के लिए इस रहस्य वरिवस्या का प्रतिपादन किया गया ॥"[१] "इसका परित्याग करके जड़ों द्वारा जो बाह्याडम्बरों की उपासना की जाती है वह प्राणहीन शरीर या सूत्रहीन पुतली की भाँति अग्राह्य है ।"[२]

जो मन्त्र के तत्त्वों को बिना जाने महाविद्या का जप करता है उसके समस्त प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं अत: उसके जप एवं पूजन से क्या लाभ? 'अज्ञात्वा

१-२. भास्कराचार्य—'वरिवस्यारहस्यम्'

मन्त्रतत्वानि महाविद्यां जपेत्तु यः । सर्वं तस्य वृथा देवि । किं तस्य जपपूजनैः । ध्यानावधारणे .चैव तथा योगसमाधिना । वर्णज्ञानं यदा नास्ति किं तस्य जप पूजनैः?'[१]

१०. मन्त्र और मन्त्रयोग—

योग की चार शैलियों में प्रथम शैली है—'मन्त्रयोग' । 'मन्त्रयोग' क्या है? प्राणी का अहर्निश (श्वास-प्रश्वास के द्वारा) 'ह' एवं 'सः' का जप एवं इसे—'सोऽहं' के रूप में परिणतीकरण ।। 'मन्त्रयोग' के निम्न सोलह अङ्ग हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पञ्चाङ्गसेवन, आचार, धारणा, दिव्यदेशसेवन, प्राणक्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, जप, ध्यान और समाधि ।। योग-साधन की चार शैलियों में से प्रथम शैली है मन्त्रयोग ।। मन्त्रयोग का सिद्धान्त यह है कि परमात्मा से भाव, भाव से नामरूप एवं उसका विकार एवं विलासमय यह संसार है । जिस क्रम से सृष्टि हुई उसके विपरीत मार्ग से ही लय होगा । परमात्मा से भाव एवं भाव से नामरूप द्वारा सृष्टि हुई जिससे जीव बंधन में पड़े हुए हैं—यदि इस बंधन से मुक्ति-लाभ करना हो तो प्रथम नाम-रूप का आश्रय लेकर, नाम-रूप से भाव में, और भाव से भावग्राही परमात्मा में चित्तवृत्ति का लय होने पर ही मुक्ति होगी । इसी कारण ऋषियों ने नाम एवं रूप के अवलम्बन से साधन की विधियाँ बतायी हैं—इसी का नाम 'मन्त्रयोग' है ।

> **''नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात् ।**
> **बंधनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः ।।**
> **तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते ।**
> **उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते ।।''**[१]

११. मन्त्रों के पञ्चलक्षण—

साधकों के सामने मन्त्र पञ्चधास्थित हुआ करते हैं—'स्पर्शनं चावलोकश्च संभाषा विन्दुदर्शनम् । स्वयमावेशनं चैव मन्त्राणां पञ्च च लक्षणम् ।।' (उत्तरषट्क)

मन्त्र-सिद्धि के प्रतिबन्धक—नेत्रतन्त्र (८।५९-६२) में निम्न विघ्नों को मन्त्रसिद्धि का प्रतिबन्धक माना है—'भावहीनास्तु ये मन्त्राः शक्तिहीनास्तु कीलिताः । वर्णमात्राविहीनास्तु गुर्वागमविवर्जिताः । भ्रष्टाम्नायविहीना ये आगमोज्झितविघ्निताः । न सिद्ध्यन्ति यदा देवि जप्ता इष्टाः सहस्रशः ।। असिद्धा रिपवो ये च सर्वांशक-विवर्जिताः । आद्यन्तसंपुटेनैव साद्यर्णैन तु रोधिताः ।।'' (८।५९-६२)

१२. मन्त्रों में दोषोत्पादन—

नेत्रतन्त्र (१६।३३-३६) में मन्त्रों के इन दोषों का इस प्रकार वर्णन किया गया है—'कीलनं चैत मन्त्राणां भेदनं मोहनं तथा । संत्रासं ताडनं चैव जृंभनं स्तंभनं तथा । रिपुत्वकरणं चान्यत् प्रत्यंगिरत्वमेव च । सर्वहानिविधायित्वं क्रियते दुष्टमंत्रिभिः । एवं दशप्रकारेण प्रयतन्ते हि हिंसकाः'' ।। आदि ।।

---

१. कामधेनु तन्त्र

१३. मन्त्रों के दशविध-संस्कार—

मन्त्र-सिद्धि के लिए मन्त्रों का संस्कार आवश्यक है । मन्त्रों के संस्कार की दश विधियाँ (दशविध मन्त्र-संस्कार) हैं जो निम्न हैं—१. जनन, २. दीपन, ३. बोधन, ४. ताड़न, ५. अभिषेक, ६. विमलीकरण, ७. जीवन, ८. तर्पण, ९. गोपान, १०. आप्यायन ।।[१]

'उड्डीशतन्त्र' में मन्त्रों के विशुद्धीकरण या मन्त्र-संस्कार के लिए दशविध संस्कारों का विधान किया गया है । भगवान् शिव रावण से कहते हैं—"सम्यगनुष्ठितो मन्त्रो यदि सिद्धो न जायते । पुनस्तेनैव कर्तव्यं ततः सिद्धोभवेत् ध्रुवम् । पुनरनुष्ठितो मन्त्रो यदि सिद्धो न जायते । पुनस्तेनैव कर्तव्यं ततः सिद्धो न संशयः । पुनः सोऽनुष्ठितो मन्त्रो यदि सिद्धो न जायते । उपायास्तत्र कर्तव्याः सप्त रावण प्रेमतः ।।" सारांश यह है कि यदि सम्यक् अनुष्ठानपूर्वक मन्त्र जप करने पर भी मन्त्र सिद्ध नहीं होता तो उसको पुनः जपना चाहिए, यदि फिर भी सिद्ध नहीं होता तो पुनः उसका जप करना चाहिए, किन्तु यदि फिर भी मन्त्र सिद्ध नहीं होता तब उस मन्त्र का संस्कार करना चाहिए । ये संस्कार दस प्रकार के हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है ।

मन्त्रगत दोषों के कारण भी मन्त्र सिद्ध नहीं होते । अतः उनके निराकरण हेतु भी कतिपय उपाय किये जाते हैं जो निम्न हैं—

१. जनन, २. दीपन, ३. बोधन, ४. ताड़न, ५. अभिषेक, ६. विमलीकरण, ७. जीवन, ८. तर्पण, ९. गोपन, १०. आप्यायन ।।[२]

१. **जनन संस्कार**—मातृकायंत्र का निर्माण करके यंत्र को स्वर्णपात्र में कुंकुम, चन्दन या भस्म से अंकित करना चाहिए । अङ्कन-विधि निम्न है—

१. शक्तिमन्त्र का संस्कार—कुंकुम से
२. विष्णुमन्त्र का संस्कार—चन्दन से
३. शिवमन्त्र का संस्कार—भस्म से करना चाहिए ।

इस मातृका-यंत्र से मन्त्रवर्णों का पर्याय-क्रम से उद्धार करना 'जनन' कहलाता है । उद्धृत मन्त्र वर्णों को पंक्ति क्रम से प्रणव द्वारा संपुटित करके एक-एक वर्ण सौ-सौ बार जपना चाहिए ।[३] यह संस्कार कहलाता है—'जनन संस्कार' ।।

भोजपत्र पर गोरोचन, कुंकुम एवं चन्दन प्रभृति से आत्माभिमुख त्रिकोण निर्मित करके उसके तीनों कोनों में ७" ७ समान रेखाएँ खीचिए । ऐसा करने से ४९ कोष्ठ बनेंगे । उनमें ईशानकोण से मातृकावर्ण लिखकर देवता का आह्वान-पूजन करके मन्त्र को एक-एक वर्ण का उद्धार करके भिन्न पत्र पर लिखिए । यही मन्त्र-विधान 'जनन-संस्कार' कहलाता है ।

---

१. 'गौतमीयतन्त्र', 'शाक्तानन्द तरंगिणी' २. 'गौतमीयतन्त्र'
३. विश्वसार तन्त्र

२. **दीपन संस्कार**—"हंसो कृष्णाय नमः सोऽहं' या 'ॐह्रीं', 'ॐश्रीं'—इन तीन मन्त्रों द्वारा देवमन्त्र को पुटित करके १०८ बार जप करने से दीपन संस्कार होता है ।

३. **'बोधन संस्कार'**—मन्त्र की वर्णसंख्यानुसार करवीर कुसुमों से 'रं' मन्त्र के उच्चारणपूर्वक हवन करना ही 'बोधनसंस्कार' कहलाता है । या—'हँ' बीज-सम्पुटित मन्त्र का पाँच हजार बार जप करने से बोधनसंस्कार सम्पन्न होता है यथा—"हूँ कृष्णाय नमः हूँ" ।

४. **ताड़न संस्कार**—मन्त्र को फट् से सम्पुटित करके एक हजार बार जप करने से ताड़न संस्कार सम्पन्न होता है । यथा—'फट् कृष्णाय नमः फट्' मन्त्र से या मन्त्र के सभी वर्णों को पृथक्-पृथक् लिखकर 'यं' मन्त्र का उच्चारण करते हुए चन्दन जल से प्रत्येक को सौ या दस बार ताड़ित करना 'ताड़नसंस्कार' है ।

५. **अभिलेख संस्कार**—भोजपत्र पर मन्त्र लिखकर 'रां हंसः' इस मन्त्र से अभिमंत्रित करते हुए हजार बार जपे हुए जल से अश्वत्थ पत्र आदि से मन्त्र का अभिषेक करना चाहिए । या समस्त मन्त्र-वर्णों को लिखकर वर्णसंख्यक रक्त करवीर पुष्पों द्वारा 'रं' मन्त्र से एक-एक बार समस्त वर्णों को अभिमंत्रित करके अश्वत्थ पत्रों द्वारा मन्त्रोक्त-विधान द्वारा सभी मन्त्र-वर्णों का सिञ्चन करना चाहिए । यही पद्धति—'अभिषेक' है ।

६. **विमलीकरण संस्कार**—'ॐत्रों वषट्'—इन वर्णों से मन्त्र को सम्पुटित करके एक हजार बार जप करने से—'विमलीकरण' संस्कार सम्पन्न होता है यथा—"ॐत्रों वषट् कृष्णाय नमः वषट् त्रों ॐ" । या दूसरे विधान के अनुसार—सुषुम्ना के मूल एवं मध्य भाग में देवमन्त्र का चिन्तन करके ज्योतित मन्त्र—'ॐ हौं' में मल तत्र को दग्ध करना 'विमलीकरण संस्कार' कहलाता है ।

७. **जीवन संस्कार**—'स्वधा', 'वषट्' मूल मन्त्र का एक हजार बार जप करना ही जीवन संस्कार है—यथा—"स्वधा वषट् कृष्णाय नमः वषट् स्वधा" मन्त्र-वर्णों को पंक्ति-क्रम में प्रणव द्वारा संपुटित करके एक-एक वर्ण का दस बार जप करना जीवन-संस्कार कहलाता है ।

८. **तर्पण संस्कार**—दुग्ध, जल, घृत के द्वारा मूल मन्त्र का उच्चारण करते हुए सौ बार तर्पण करना 'तर्पण संस्कार' कहलाता है । अन्य विधि के अनुसार—ज्योति मन्त्र द्वारा देव मन्त्र की वर्ण संख्या के अनुसार जल से तर्पण कराना 'मन्त्र-तर्पण' कहलाता है—१. शक्तिमन्त्र में तर्पण—मधु से २. विष्णुमन्त्र में तर्पण—कपूरयुक्त जल से ३. शिवमन्त्र में तर्पण—दुग्ध-घृत से किया जाता है ।

९. **गोपन संस्कार**—'ह्रीं' बीज से सम्पुटित मन्त्र का एक हजार बार जप

यथा—'ह्रीं कृष्णाय नमः ह्रीं' या मन्त्र को विप्रकट रखने से गुप्ति या गोपन संस्कार संपादित होता है ।

१०. **आप्यायन संस्कार**—'ह्रौं' बीज सम्पुटित मन्त्र का एक हजार बार जप करने से आप्यायन संस्कार निष्पादित होता है यथा—"ह्रौं कृष्णाय नमः ह्रौं" । अन्य विधान के अनुसार—मन्त्र के समस्त वर्णों को कुशोदक या पुष्पोदक द्वारा ज्योतिर्मन्त्र में आप्यायित करने की आख्या ही 'आप्यायन' है । इस पद्धति से सुसंस्कृत मन्त्र आशु सिद्धिप्रद होते हैं ।

मन्त्र का इस प्रकार जप करने पर भी एक सामान्य जप-विधान कथमपि विस्मृत नहीं करना चाहिए कि जप—१. तन्निष्ठ, २. तद्गतप्राण, ३. तच्चित्त, ४. तत्परायण, ५. तत्पदार्थानुसंधान के साथ अनन्यमन से करना चाहिए—'तन्निष्ठ तद्गतप्राण तच्चित्तस्तत्परायणः । तत्पदार्थानुसंधानं कुर्वन्मन्त्रं जपेत् प्रिये ।।"[१]

यह भी आवश्यक है कि जो भी जप किया जाय उसकी गणना भी कर ली जाय क्योंकि—"गणनाहीनो जपो निष्फलः ।।" अक्षत, हाथों के पर्व, धान्य, पुष्प, चन्दन, मृतिका आदि द्वारा कभी मन्त्र की गणना नहीं करनी चाहिए इसीलिए जप के लिए माला-विधान है ।

महासेतु (बीजाक्षर) के बिना भी जपा हुआ मन्त्र भी निष्फल हुआ करता है । आदि में महासेतु फिर सेतु का जप करने के बाद ही मन्त्र का जप करना चाहिए अन्यथा मन्त्र-जप निष्फल होता हैं ।[२]

१४. मन्त्र के संस्कार—

जननं जीवनं पश्चात्ताडनं बोधनं तथा ।
तथाभिषेको विमलीकरणाप्यने मनोः ॥ ७५ ॥
तर्पणं दीपनं गुप्तिर्दशैता मन्त्र संस्क्रियाः ।
मन्त्राणां मातृकामध्यादुद्धारो जननं स्मृतम् ॥ ७६ ॥[३]

नवविध मन्त्रवाद—दीपनं बोधनं चैव ताडनं चाभिषेचनम् । विमलीकरणं चैव तथेन्धननिवेशनम् । संतर्पणं गुप्तिभाव आप्यायो नवमस्तथा । एवं नवप्रकारेण मन्त्रवादमशेषतः । यो जानाति स जानाति मन्त्रसाधनमुत्तमम् ।। ये नौ तत्त्व ही 'मन्त्र-साधन' हैं ।[४]

'दीपन' = मन्त्र के प्रणव द्वारा । 'बोधन' = नमः शब्द द्वारा । 'ताडन' = 'फट्' द्वारा । 'अभिषेचन' = वौषट् द्वारा । 'विमलीकरण' = 'स्वाहा' द्वारा । 'इन्धन-निवेशन' = दाह्यपाशविषादिदहन, हुङ्कार द्वारा विनियोजन । 'तर्पण' = बलवत्ताधान और प्रतिवर्ण लाङ्कार से संपुटीकरण । 'गुप्तिभाव' = रक्षणाम् । नेत्रनाथ का संपुटीकृत अयुत जप द्वारा । 'आप्यायन' = पुनर्जातबल का पुष्टयाधान

१. शा० (९, १७)   २-३. 'शाक्तानन्द तरंगिणी'

४. नेत्रतन्त्र (१८।६-८)

(वाङ्कार द्वारा प्रतिवर्ण संपुटीकरण करने से) ।[1] यहीं है मन्त्रों का दशविध संस्कार । 'शारदातिलक' में शान्ति-वशीकरण-स्तंभन-विद्वेषण-उच्चाटन-मारण अभिचारों में—ग्रथन-विदर्भ-संपुट-रोधन-योग-पल्लव—विन्यासों का उल्लेख किया गया है ।

१५. आराधनीय मन्त्र—

नेत्रतन्त्र (१८।१२-१३) में निम्न मन्त्रों को ही आराधनीय कहा गया है—१. सिद्ध २. सुसिद्ध—"सिद्धं साध्यं सुसिद्धं च तथैवारि त्वमेव च । ज्ञात्वा सर्वमशेषेण मन्त्रन्यासं समाचरेत् ।।" सिद्धादिमन्त्रों के परिज्ञान के उपाय के लिए 'स्वच्छन्दतन्त्र' (८।२४) अवलोकनीय है ।[2]

मन्त्रों का उदयास्त—मन्त्रों का उदयास्त, व्याति, ध्यान, मुद्रा भी जानना आवश्यक है ।[3]

१६. मन्त्रों के नौ तत्त्व—

'कामधेनुतन्त्र' में मन्त्रों के निम्न नौ तत्त्वों का उल्लेख किया गया है—**'देवतत्त्वं प्राणतत्त्वं बिन्दुतत्त्वं च सुन्दरि । ज्ञानतत्त्वं शक्तितत्त्वं योनितत्त्वं तथैव च । नवतत्वमिदं प्रोक्तं कामधेनु मतं प्रिये ।।'**

१७ मन्त्र के स्थान—

मन्त्रों के छः स्थान हैं और वही पर मन्त्र स्थित हैं—और इन्हें 'स्थानस्थ' कहा गया है—(१) सकल (२) निष्कल (३) सूक्ष्म (४) सकल निष्कल (५) कलाभिन्न (६) कलातीत ('षोढामन्त्रं शिवोऽब्रवीत् ।) मन्त्र के ये छः प्रकार है—१. सकल मन्त्र—ब्रह्मरंध्रस्थ २. निष्कल मन्त्रस्थान—ब्रह्मरंध्र के नीचे ३. सूक्ष्म—मानस ४. सकलनिष्कल मन्त्र का स्थान—हृदय ५. कलाभिन्न मन्त्र का स्थान—बिन्दु ६. कलातीत मन्त्र—बिन्दु से ऊपर का स्थान ।।

१८. सर्वथा ग्राह्यमन्त्र—

हंसमन्त्र, अष्टाक्षरमन्त्र, पञ्चाक्षरमन्त्र, एक, दो, तीन आदि बीजरूपमन्त्र—में सिद्धादि शोधन की आवश्यकता नहीं है—"स्वप्नलब्धे स्त्रिया दत्ते मालामन्त्रे च त्र्यक्षरे । वैदिकेषु च सर्वेषु सिद्धादीन्नैव शोधयेत् । हंसस्याष्टक्षरस्यापि तथा पञ्चाक्षरे च। हंस स्याष्टाक्षरस्यापि तथा पञ्चाक्षरस्य च । एकद्वित्र्यादि बीजस्य सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ।।" (स्वप्नप्राप्त, नारीगुरु से प्राप्त, बीस अक्षरों से अधिक अक्षरों वाला मन्त्र, त्र्यक्षरान्त, वैदिक मन्त्रों में—सिद्धादि शोधन की आवश्यकता नहीं है ।)

१९. जप—

हृदयाकाश (अनाहत प्रदेश) में सर्वदा ही भगवती का आनन्दमय स्वरूप नादरूप में परिणत होकर चारों ओर संसर्पित है । मन बाह्यमुखी होने के कारण

---

१. शारदातिलक (२।११२)

२. स्वछन्द तन्त्र (८।२४)

३. नेत्रतन्त्र (१८।१३-१४)

इसे सुन नहीं पाता । मध्यमा-भूमि में जब नाद के सहित मन्त्र स्वभावतः ध्वनित हो उठता है तभी उसे 'आन्तर जप' मानना चाहिए । अपने-अपने विषयों से समस्त इन्द्रियों का सञ्चार निरुद्ध करके आभ्यन्तर नाद का उच्चारण करना ही वास्तविक जप है—

''संयम्येन्द्रियग्रामं प्रोचरेन्नादमान्तरम् ।
एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्य जपो जपः ॥''[१]

शुद्ध विद्या भूमि में स्थित विद्येश्वररूपी श्रीगुरु के मुख से निकली वाणी 'मध्यमावाक्' के रूप में प्रकट होती है । यह वाणी सहस्त्रदल कमल के दलों से हृदयपर्यन्त श्रुतिगोचर होती है ।

'तन्त्रालोक' में अभिनवगुप्त ने 'जप' का निम्न लक्षण बताया है—

''तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावपदच्युतः ॥'' (१।९०)

शिव के परावाक्स्वभाव, अनाहतनादमयस्वरूप का बार-बार परामर्श करना ही 'जप' है ।

'शिवसूत्र' में कहा गया है—'कथाजपः' ॥ (३।३७)

'विज्ञानभैरव' में 'जप' का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

'भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या ।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ॥' (वि०भै०)

'अहमेव परोहंसः शिवः परमकारणम्' (स्व० ४।३९९)—इस प्रकार अहर्निश स्वभावतः प्रवर्तमान अपने प्राणमय अजपास्वरूप का विमर्श (विमर्शना)—इस अनाहतनादरूपी शब्द (सोऽहं हंसः) की निरन्तर भावना ही 'जप' है । जपनीय मन्त्र भी स्वयं नादात्मक ब्रह्म ही है जिसमें कि अपने अकृत्रिम अहमात्मक स्वरूप का सतत् परामर्श होता रहता है ।

'श्रीकण्ठीसंहिता' में ठीक ही कहा गया है कि—मन्त्र और मन्त्री (मन्त्र + मन्त्रजापक) तथा मन्त्राधिष्ठात्री देवता—ये कभी पृथक नहीं माने जाते । भावनात्मक जप यही नादात्मक मन्त्र है ।

ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीकार प्रश्न उठाते हैं कि शब्दावृत्ति से ही तो जप-सिद्धि होती है परावाकस्वभाव अनाहत नाद का जप कैसे किया जा सकता है?—इसका उत्तर देते हुए वे स्वयं कहते हैं कि—स्वात्मस्वरूप एक बार ही प्रकाशित होता है बार-बार उसके प्रकाशित होने की आवश्यकता नहीं होती उसी प्रकार यह जप भी एक बार ही प्रत्यभिज्ञात होता है और अपने प्राणशक्ति के इस स्वाभाविक व्यापार को एक बार पहचान लेने पर फिर बार-बार इसको पहचानने की आवश्यकता नहीं होती ।[२] इसीलिए पूजा भी बाह्य-प्रयास नहीं है प्रत्युत्—

---

१. योगिनीहृदय दीपिका (पृ० १९५) २. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी

'पूजा' नाम न पुष्पाद्यैर्यामतिः क्रियते दृढ़ा ।
निर्विकल्पे परेव्योम्नि सा पूजा ह्यादशल्लयः ॥[१]

मन्त्र, मन्त्री एवं मन्त्रवाच्य देवता तीनों को एक समझकर जप करना ही यथार्थ जप है क्योंकि अन्यथा सिद्धि संभव नहीं—

'पृथङ्मन्त्रः पृथङ्मन्त्री न सिध्यति कदाचन ॥'

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि—महामन्त्रात्मक अकृतकाहंविमर्शारूढ़ जो जो आलापादि हैं उनका स्वात्मदेवता विमर्शानवरतावर्तनात्मा जो जप है वहीं कथा है । यह कथा ही 'जप' है ।

जप—अर्थानुसंधानपूर्वक मन्त्रोच्चारण ही 'जप' है । विद्यानन्द ने जप को आणव-शाक्त-शांभव उपायों से अनुप्राणित कहा है । यद्यपि अर्थानुसंधानरहित मन्त्राक्षरों की पुनरावृत्तिरूप यह साधना भी 'मन्त्र' कही जाती है किन्तु योगसूत्रकार पतञ्जलि ने—'तज्जपस्तदर्थ भावनम्' (१।२८) कहकर जप के साथ अर्थभावन की अनिवार्यता प्रतिपादित की है । इसीलिए 'योगिनीहृदय' में छः प्रकार के एवं 'वरिवस्यारहस्यम्' में पन्द्रह प्रकार के अर्थ बताए गए हैं ।

(क) **त्रैपुरदर्शन में जप-लक्षण**—त्रैपुरदर्शन में जप के निम्न लक्षण बताए गए हैं—१. मन्त्र के वर्णों का उच्चारण २. शून्य ३. विषुव ४. अवस्था ५. चक्र ॥

''एवमवस्थाशून्यविषुवन्ति चक्राणि पञ्चषट्सप्त ।
नव च मनोरर्थाश्च स्मरतोऽर्णोच्चरणं तु जपः ॥ (वरि०)

अर्थात् मन्त्रों के वर्णों का उच्चारण करते हुए पाँच अवस्था । छः शून्य एवं सात विषुवों के साथ नौ चक्रों का स्मरण करना एवं मन्त्र के अर्थ का चिन्तन 'जप' कहलाता है ।[२-३] वामकेश्वरदर्शन में जप के समय तीन निम्न तत्त्वों का विधान किया गया है[२]—१. चक्रभावन २. अवस्थापञ्चक आदि ॥

(ख) **जप के प्रकार**—जप के मुख्य प्रकार निम्न हैं—१. वाचिक वैखरी जप २. उपांशु जप ३. मानस जप ॥ जप के अन्य प्रकार भी है । यथा नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त, भ्रामरी, अजपा ।

(ग) **प्रातःकृत्य-विधान**—ध्यान एवं जप—'तारारहस्य', 'तारागम', 'महानीलतन्त्र', 'तारानिगम', 'तारासार' आदि ग्रन्थों में कहा गया है कि मन्त्रसिद्धि के लिए यह प्रातःकृत्य आवश्यक है क्योंकि इसके बिना सिद्धि संभव नहीं—

---

१. विज्ञान भैरव २. वरिवस्यारहस्यम्

३. 'जपनं जपः', 'जपः स्यादक्षरावृत्ति' (जप मानसे च (भ्वा०प०से०) 'व्यधजपोः' सूत्र से जप निष्पन्न होता है ।) जप का फल—'पठतो नास्ति मूर्खत्वं जपतो नास्ति पातकम् ।'

'प्रात:कृत्यं विना देवि! न सिद्धिर्जायते शिवे'—मन्त्र-साधना में सिद्धि का अन्य विधान इस प्रकार है।

(घ) **जप एवं पूजा का सोपान-बद्ध विधान**—'तारारहस्य' में इसका विधान इस प्रकार दिया गया है—१. (स्नान के पूर्व) ब्रह्ममुहूर्त वेला में उठकर पद्मासन या स्वस्तिकासन में स्थित होकर सिर में द्वादशाक्षरोपेत पद्म के भीतर सहस्रदलपद्म में स्थित श्वेतवर्ण सद्गुरु के वामभाग में स्थित रक्तवर्ण शक्ति का ध्यान करके मानसोपचार से उनका पूजन करके ऐं (वाग्भव मन्त्र) का १०८ बार जप करके एवं जप-समर्पण करते हुए—'अखण्डमण्डलाकारं... नमः।' मन्त्र द्वारा उनका अभिवादन करके, चैतन्य आत्मा का अनुभव करना चाहिए। 'सहस्रारे महापद्मे कर्पूरधवलं गुरुम्। उत्थाय पश्चिमे यामे तच्चैतन्यं समाचरेत्''। इसके बाद स्वस्तिकासनस्थ होकर उन कुण्डलिनी देवी का ध्यान करें जो कि मूलाधार में साढ़े तीन बार वलयान्वित होकर स्वयंभूलिङ्ग को वेष्टित करके स्थित हैं—परब्रह्ममयी हैं—जो अनेक प्रणवों की एकाकृति हैं—उन कुण्डलिनी देवी को चित्रिणी नामक ब्रह्मनाड़ी में प्रविष्ट कराना चाहिए और उन्हें सभी कमलों में घुमाकर हृत्पद्म में लाकर उनका मानसोपचारों से पूजन करना चाहिए। उनके मध्य में रक्तवर्ण आदिशक्ति का ध्यान करना चाहिए। इसके बाद, मूल मन्त्र का जप करना चाहिए तभी सिद्धि मिल सकती है।

(ङ) **जप-क्रम**—आँ ह्रीं क्रौं (कुल्वुका मन्त्र) का जप शीर्षस्थान में १० बार, मुख में 'सेतु' (ह्लौं) का जप ७ बार, हृदय में पुट (ऐं) का जप ॐकार के साथ करने से तारोपासना में मन्त्रसिद्धि होती है—

''कुल्वुकां प्रजपेच्छीर्षे दशधा मन्त्रसिद्धये।
मुखे सेतुं सप्तधा च प्रणवेन पुटं हृदि॥''[१]

'जप' के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों की दृष्टियाँ—

महामन्त्रात्मकाकृतकाहंविमर्शारूढस्य यद्यदालापादि तत्तदस्यस्वात्मदेवता विमर्शानवरतावर्तनात्मा जपो जायते।[२]

'वरदराज' वार्तिक में 'जप' की व्याख्या करते हुए कहते हैं—''महामन्त्रमयं नौमि रूपं ते स्वच्छशीतलम्। अपूर्वामोदसुभगं परामृतरसोल्बणम्। इति श्रीप्रत्यभिज्ञाकृद्दैशिकप्रोक्तया दिशा। अकृत्रिमाहमामर्शमयस्वात्मावमर्शिनः। या या स्वैराभिलापात्मा कथा याथार्थ्यवादिनः। भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या। जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः॥'[३]

प्रत्येक जीव अहर्निश जो 'सोऽहं सोऽहं' या 'हंसः हंसः' का जप किया करता है वही 'जप' है—षट्शतानि दिवारात्रं सहस्रायेक विंशतिः। जपो देव्याः

---

१. 'तारारहस्य'

२. क्षेमराज—'शिवसूत्रविमर्शिनी' (सूत्र २७) ३. शिवसूत्रवार्तिकम्

समुद्दिष्टः सुलभो दुर्लभो जडैः ।।''—इत्युक्तनीत्या. सा सर्वस्वात्मेशामर्शसंपदः । जानिपालन धर्मत्वाज्जप इत्यभिधीयते ।।'' अथेदृग्विधयोगीन्द्रविषं यापि च या कथा । जपः सोऽपि जनस्योक्तो जनिपालनयोगतः ।।''[१] इसी तथ्य को उपनिषदों में भी प्रतिपादित किया गया है—'सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत्पुनः । हंस हंसेत्यतो मन्त्रं जीवो जपति नित्यशः । षट्शतानि दिवरात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः । जपो देव्या विनिर्दिष्टः सुलभो दुर्लभो जडैः ।।''

जप होता है मन्त्र का और 'मन्त्रमयी भूमि' है मध्यमा-भूमि ।। मध्यमावाक् मन्त्ररूप में ही आत्मप्रकाशन करती है । वैखरी भूमि में चिदंश आच्छन्न रहता है । मध्यमा में नादमय चिद्रश्मि नित्य विराजमान है । 'मध्यमा' है—दो प्रान्तों का मध्यवर्ती—१. एक प्रान्त में दिव्य पश्यन्ती २. दूसरे प्रात्त में पाशव वैखरी । मध्यमा दोनों का सेतु है ।

उन्मनापर्यन्त सम्पूर्ण मन्त्रावयवों का १०८१७ बार उच्चारण—नाद का अन्त एवं परमपद की प्राप्ति ।।

२०. जप के साथ मन्त्रार्थ भावना—

''नार्थज्ञानविहीनं शब्दस्योच्चारणं फलति । भस्मनि वह्निविहीने न प्रक्षिप्तं हविर्ज्वलति ।।''[२] भास्कराचार्य ने मन्त्रों के निम्न अर्थ बताए हैं—१. प्रतिपाद्यार्थ २. भावार्थ ३. संप्रदायार्थ ४. निगर्भार्थ ५. कौलिकार्थ ६. रहस्यार्थ ७. महातत्त्वार्थ ८. नामार्थ ९. शब्दरूपार्थ १०. नामैकदेशार्थ ११. शात्तार्थ १२. सामरस्यार्थ १३. समस्तार्थ १४. सगुणार्थ १५. महावाक्यार्थ ।। पञ्चदशीमन्त्र में जितने वर्ण हैं (अर्थात् १५) उतने ही अर्थ हैं ।[३]

'योगिनीहृदय' में भी मन्त्रार्थ के विभिन्न प्रकार समुद्दिष्ट हैं यथा—भावार्थ, संप्रदायार्थ, कौलिकार्थ, निगर्भार्थ, महातत्त्वार्थ, रहस्यार्थ आदि ।।

१. मन्त्र के अवयवभूत अक्षर का अर्थ ही है—'भावार्थ' ।
२. परमात्मा के मुख से या अवतरणक्रम या परम्परागत ज्ञान—'संप्रदायार्थ' है ।
३. परमात्मा, गुरु एवं आत्मा का ऐक्यानुसंधान ही है—'निगर्भार्थ' ।
४. चक्र, देवता, विद्या, गुरु एवं साधक का ऐक्यानुसंधान है—'कौलिकार्थ' ।
५. कुण्डलीरूपा विद्या ही साधक की स्वात्मा है ऐसा ऐक्यानुंधान है—'रहस्यार्थ' ।
६. विश्वातीत एवं विश्वमय निज गुरु के द्वारा प्रबोधित स्वकीय आत्मा का ऐक्यानुप्रवेश ही है—'महातत्त्वार्थ' ।[४]

भास्करराचार्य के मतानुसार—

१. 'प्रतिपाद्यार्थ'—प्रथम अर्थ है । अन्य अर्थ निम्न हैं—

---

१. शिवसूत्रवार्तिकम् २-३. वरिवस्यारहस्यम् (२।५४)
४. गोपीनाथ कविराज—'भा० सं० और साधना'

२. **'भावार्थ'**—देवी, मन्त्र एवं जगत् में अभेद का प्रतिपादन ।

३. **'संप्रदायार्थ**—(कार्यकारण-जन्यजनक वाच्यवाचकवत्) ब्रह्म एवं जगत् तथा जगत् एवं विद्या में अभेदानुसंधान ।।

४. **निगर्भार्थ**—परमशिव में निष्कलता (एकात्मता, अन्य पदार्थों का अभाव), अपने दीक्षा-गुरु एवं परमशिव में अभेद तथा उस गुरु की कृपा के कारण अपने एवं उस परमशिव में अभेद-दर्शन करना ही 'निगर्भार्थ है ।[१]

५. **'कौलिकार्थ'**—देवी, विद्या, श्रीचक्र एवं अन्यचक्र, स्वगुरु एवं स्वयं—अर्थात् इन पाँचों में भेदाभाव का अनुसंधान ही 'कौलिकार्थ' है ।[२]

६. **'रहस्यार्थ'**—कुण्डलिनी देवी पञ्चदशीविद्या एवं देवी से अभिन्न है, इनसे अपने को अभिन्न देखना ही श्रीविद्या का 'रहस्यार्थ' है ।

७. **'महातत्त्वार्थ'**—महत्तम, सूक्ष्मतम, व्योमोपरिस्थित, विश्वाभिन्न चिदानन्द-स्वरूप परब्रह्म में अपने आपको को, अभेद-प्राप्त्यर्थ, लीन करना महातत्त्वार्थ है ।[३]

८-९. **'नामार्थ'-'शब्दरूपार्थ'**—यह विद्या स्वयं अपने घटक अक्षरों द्वारा व्यक्त अर्थ से अभिन्न है । उसका स्वरूप उसका प्रत्येक अक्षर है । श्रीविद्या का यही 'नामार्थ' एवं 'शब्दरूपार्थ' है ।[४]

१०. **'नामैकदेशार्थ'**—भगवती के एक देश (अंश) के ग्रहण द्वारा समस्त नाम ग्रहण का बोध होता है । समस्त नाम का अर्थ नाम के एकांश का अर्थ है। कल्याणी, एकाक्षरी, ईशित्री, ललिता आदि देवी के तीन सौ नामों का तात्पर्य मन्त्र के आदि अक्षरों द्वारा व्यक्त होता है ।

११. **'शाक्तार्थ'**—प्रत्येक अक्षर में शक्ति है एवं अक्षरों तथा वामा, इच्छा एवं अन्य शक्तियों में अभेद है—यही है 'शाक्तार्थ' ।।[५]

१२. **'सामरस्यार्थ'**—क एवं ह तथा ल एवं स का अर्थ है 'शक्ति' । हृल्लेखा (ह्रीं) का अर्थ है—'शिवशक्ति का सामरस्यरूप परब्रह्म । तीनों कूटों में से प्रत्येक का अर्थ है—'शिव एवं शक्ति के सामरस्य के कारण ब्रह्म ही शिव एवं शक्ति दोनों ही हैं ।'' यही विद्या का 'सामरस्यार्थ' है ।[६]

१३. **'समस्तार्थ'**—अनेक पदों एवं गुणों का समास एवं समस्त पुरुषार्थों के साधन का संक्षिप्त सार कथन ही 'समस्तार्थ' है ।[७]

१४. **'सगुणार्थ'**—समस्त कलाओं से युक्त ब्रह्म स क ल हैं—यह तृतीय कूट का अर्थ है । समस्त गुणगण-कथन के द्वारा 'सगुणार्थ' प्रतिपादित होता है ।[८]

१५. **'महावाक्यार्थ'**—('ह' एवं 'स' आनन्द हैं, 'क' सत्य है, 'ह' अनन्त है, 'ल' ज्ञान है । इस प्रकार तटस्थ एवं स्वरूप लक्षणों द्वारा ब्रह्म का निर्णय

१-८. वरिवस्यारहस्यम्

करके यह विद्या तृतीयकूट द्वारा ब्रह्म एवं जीव का तादात्म्य स्थिर करती है । स क ल पद जीव का वाचक है जिसकी जाग्रत् स्वप्न एवं सुषुप्ति नामक तीन कलाएँ हैं । शक्ति ही बीज का वाचक है । उक्त दोनों में समानाधिकरण्य होने के कारण उनके द्वारा लक्षित शुद्ध वस्तुएँ अभिन्न हैं ।)—तृतीयकूट के 'स क ल' पदों का अभिप्राय है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' । इस प्रकार जीव एवं ब्रह्म के स्वरूप का लाक्षणिक वाक्यों द्वारा वर्णन करके उनका अभेद स्थिर किया गया है । यही है—'महावाक्यार्थ' ।।[१] भास्कराचार्य के शब्दों में अर्थ प्रकार निम्न हैं—'अथातः पूर्ण गायत्र्याः प्रतिपाद्योऽर्थ आदिमः । भावार्थः संप्रदायार्थो निगर्भार्थस्तुरीयकः । कौलिकार्थो रहस्यार्थो महातत्वार्थ एव च । नामार्थः शब्दरूपार्थश्चार्थो नामैकदेशगः । शाक्तार्थः सामरस्यार्थः समस्तसगुणार्थकौ । महावाक्यार्थ इत्यर्थाः पञ्चदश्याः स्वसंमिताः ।।'

२१. मन्त्र-चैतन्य—

मन्त्रों का चैतन्यीकरण आवश्यक है क्योंकि उसके बिना मन्त्र शववत रहते हैं। चेतना के जिस धरातल से मन्त्र उठेगा उसी धरातल के अनुसार सिद्धि भी देगा । मन्त्रभूमि तो मध्यमावाक् एवं ऋषित्व की भूमि पश्यन्तीवाक् है । वैखरीवाक् में चेतनांश प्रसुप्त है । मध्यमा, पश्यन्ती एवं परा में क्रमशः जाग्रत, अतिजाग्रत एवं महाजाग्रत है । बिना मन्त्र-चैतन्य के मन्त्र अपनी शक्तिमत्ता व्यक्त नहीं कर पाता—

> **''चैतन्यरहितं मन्त्र यो जपेत् स च पापकृत ।**
> **मन्त्राश्चैतन्यसहिताः सर्वसिद्धिकराः स्मृताः ।।''[२]**

स्थानस्थमन्त्र वरप्रदायक, ध्यानस्थमन्त्र फलप्रद, ध्यान एवं स्थान विनिर्मुक्तमन्त्र सिद्ध होने पर भी शत्रु हैं ।[३] मन्त्र-सिद्धि के स्थानों में मन्त्र में चैतन्य का आधान रहता है ।

शाक्तानन्दतरंगिणी'-प्रोक्त मन्त्र-चैतन्य-प्रक्रिया—सहस्रार शिवपुर है । वहाँ रमणीय कल्पवृक्ष स्थित हैं । वेद ही वृक्ष हैं और उनमें वेदों की चार संख्या ही उनकी चार शाखाएँ हैं । यह वृक्ष नित्य पुष्पों एवं फलों से लदा रहता है । कल्पवृक्ष के नीचे रत्नवेदिका है । उसके ऊपर मनोहर पर्यङ्क हैं । यह स्वर्णमालाओं एवं पुष्पमालाओं से अलंकृत है । उसके ऊपर कुण्डलिनी-संयुक्त महादेव विराजमान हैं । इस प्रकार ध्यान करके मन्त्र-जप करना चाहिए । यहाँ आनन्दाश्रु, रोमाञ्च, देहावेश, गदगदोक्ति अकस्मात् उत्पन्न हो जाती है । यहाँ चैतन्योपेत मन्त्र का एक बार भी किया गया जप सौ, हजार, लाख या करोड़ जाप के समान फल देता है। यही मन्त्रचैतन्य का स्वरूप है ।[४]

२२. मन्त्रार्थ—

'बीज' से देवता का शरीर उत्पन्न होता है—"देवतायाः शरीरं तु बीजादुत्पद्यतेध्रुवम् ।।"[५] 'भूतशुद्धि' में कहा गया है कि ध्यान के द्वारा जो स्वरूप

---

१. वरिवस्यारहस्यम्

२-५. शाक्तानन्द तरंगिणी

साक्षात्कृत होता है वही मन्त्र का अर्थ है—ध्यानेन परमेशानि यद्रूपं समुपस्थितम्। तदेव परमेशानि! मन्त्रार्थंविद्धि पार्वति ॥''[१]

मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य एवं योनिमुद्रा को जो नहीं जानता वह सौ करोड़ जप करने पर भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता—'मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्य योनिमुद्रां न वेत्ति यः। शतकोटिजपेनापि तस्य सिद्धिर्न जायते ॥[२]

२३. योनिमुद्रा—

मन्त्र-साधना में सिद्धि पाने हेतु योनिमुद्रा का आत्मीकरण भी आवश्यक है। इसकी प्रक्रिया निम्नानुसार है। मन्त्रोपासक पूर्वाभिमुखी या उत्तराभिमुखी बैठे॥ उसके बाद चतुर्दलात्मक आधार पद्म, षड्दलात्मक स्वाधिष्ठान, (नाभि में) दशदलात्मक मणिपूरक, हृदय में द्वादशदलात्मक अनाहत पद्म, कण्ठ में षोडश-दलात्मक विशुद्धाख्य पद्म, भ्रूमध्य में द्विदलात्मक आज्ञापद्म एवं महापथ ब्रह्मरंध्र में सहस्रदल पद्म का प्राणायाम के साथ ध्यान करे। आधार कमल में कन्द के मध्य में रमणीय त्रिकोण है। त्रिकोण में रमणीय कामबीज स्थित है। वहाँ कामबीज से उत्पन्न स्वायंभूलिङ्ग स्थित है। उसके ऊपर हंसाश्रित 'चित्कला' है। यहाँ स्वयंभू-लिङ्ग से परिवेष्टित कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए। वह कुण्डली चित्कला से मण्डित है। आधारादिक समस्त षड् पद्मों का भेदन करके वह कुण्डलिनी हंस के साथ ब्रह्मरंध्र में प्रवेश करे—ऐसी साधना की जाय। वह सदाशिव के साथ क्षरणमात्र रमण करते ही अमृत का क्षरण करती है। वह अमृत लाक्षा रसवत है। उस अमृत से परदेवता का तर्पण करना चाहिए। इस अमृत से षटचक्रों के समस्त देवता तृप्त हो जाते हैं। उसी आरोहण मार्ग से उनका अवरोहण कराकर मूलाधार लाना चाहिए। उसके बाद अक्षमाला का ध्यान करना चाहिए। ब्रह्मनाड़ी में विसतन्तुस्वरूपा चित्रिणी नाड़ी स्थित है। उस नाड़ी के द्वारा मध्य भाग में अनुलोम विलोम से मन्त्र-वर्णों द्वारा अक्षमाला ग्रथित की गई है। इस माला के मनके वर्ण हैं। यह माला समस्त मन्त्रों की प्रकाशिका है। चरम वर्ण को मेरु मानकर उसका लङ्घन नहीं करना चाहिए। वर्णों का बिन्दु के साथ उच्चारण करके फिर साधक को मन्त्र का जप करना चाहिए। अकार से लकारान्त क्रम अनुलोम है और लकार से प्रारंभ करके श्रीकण्ठान्त मन्त्र जप विलोम है। वर्गों के आठ वर्णों द्वारा आठ बार जप करना चाहिए। अ-क-च-ट-त-प-य-श ही अष्टवर्ग है। इनके द्वारा १०८ मूलमन्त्र का जप करना चाहिए। यही 'योनिमुद्रा' है।[३]

२४. मन्त्रशिखा—

यह वह क्रिया है जिससे विद्या शीघ्र ही प्रसन्न हो जाती है। मूल कन्द में भुजगाकाररूपिणी देवी है। उसक भ्रमावर्तवात ही प्राणवायु है। वह झिल्ली के समान अव्यक्त एवं मधुर कूजन करती हुई ऊपर उठकर ब्रह्मरंध्र मार्ग से अपने घर जाती है। उसके इस यातायात क्रम में साधक को अपना मनोलय करना चाहिए।

१. भूतशुद्धि २-३. शाक्तानन्द तरंगिणी

इससे मन्त्रशिखा का उद्भव होता है जो कि—'सर्वमन्त्र प्रदीपिका' है । जिस प्रकार तमाच्छन्न घर में कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता उसी प्रकार मन्त्रशिखाहीन मन्त्र की भी स्थिति है अत:—मन्त्रशिखा के बिना मन्त्र-सिद्धि नहीं हो पाती—

"तमः पूर्णे गृहे यदवन्न किञ्चित् प्रतिभासते ।
शिखाहीनास्तथा मन्त्रा न सिध्यन्ति कदाचन ॥"

करोड़ों वर्षों तक भी साधना क्यों न की जाय किन्तु मन्त्रशिखा के बिना मन्त्र-सिद्धि संभव नहीं है—'विना येन न सिद्धिः स्याद् वर्षकोटिशतैरपि ।'[१]

२५. अशौच-भङ्ग—

मन्त्रसिद्धि हेतु अशौच-भङ्ग भी आवश्यक है । १. जप के आदि में 'जात सूतक' एवं २. जप के अन्त में 'मृतसूतक' होता है सूतक संवलित मन्त्र सिद्ध नहीं होता । अत: मन्त्र के आदि (जप के आदि में) एवं जप के अन्त में सात-सात बार ब्रह्मबीज (प्रणव) का जप कर लेने से सूतक मिट जाता है ।[२]

२६. मन्त्रों का उदय-अस्त-लय—

आधार में 'उदय', हृदय में 'लय' एवं ब्रह्मरंध्र में 'विश्राम' । "आधारे उदयो देवि! लयो हृदय उच्यते । विश्रामं ब्रह्मरंध्रे तु त्रिलक्षं परिकीर्तितम् ॥" 'उदये संगमे शान्तौ त्रिलक्षो जप उच्यते ॥ (२९।८३ तन्त्रालोक) यहाँ मन्त्र-जप के प्रसङ्ग में मन्त्र की तीन अवस्थाएँ बताई गई हैं । 'उदये इति प्राणशक्त्युदयस्थाने जन्माधारे । सङ्गमे इति नानानाडि सभेदभाजि हृदये । शान्ताविति प्राणनिरोधाय युगपद्-गाढावधानात्मक इत्यर्थ: ॥" (विवेक) आधारे उदयो देवि लयो हृदय उच्यते । विश्रामं ब्रह्मरंध्रे तु त्रिलक्षं परिकीर्तितम् ॥ श्रीमूलविद्या के वाग्भवबीज का उदय मूलाधार में, मूलाधारादिब्रह्मरंध्रान्त व्याप्ति, जिह्वाग्र में विश्रान्ति ॥ ('अर्थरत्नावली') कामराजबीज का उदय मूलाधार में, भ्रूमध्यान्त में व्याप्ति एवं ब्रह्मरंध्र में विश्रान्ति ॥ ('अर्थरत्नावली') ।

२७. मन्त्रों की शिवशक्त्यात्मकता—

नेत्रतन्त्र में मन्त्रों को वर्ण-समष्टि मात्र न मानकर उन्हें शिव एवं शक्ति का अपर पर्याय घोषित किया गया है—"यत्तेषां सर्ववेदित्वं सर्वशक्तित्वमेव च । तच्छिवत्वं समाख्यातं शक्तित्वं सर्वकर्तृता । सर्वानुग्रहकर्तृत्वं सर्वत्रफलदायकम् । आत्मत्वं तत्स्वरूपं तु त्रिविधं साधनं स्मृतम् । मन्त्रोध्यानं तथा मुद्रा.............. ॥" ('नेत्रतन्त्र' २१।७८-८०)

'मन्त्र' वाचक है और 'देवता' वाच्य है । वाचक एवं वाच्य में अभेद है । वाच्य-वाचक में अभेद होने के कारण मन्त्र एवं देवता में भी अभेद है ।[३]

२८. मन्त्र-चैतन्य एवं उनकी अन्य पद्धतियाँ—

१-२. शाक्तानन्द तरंगिणी ३. यामल

२९. मन्त्र-चैतन्य—मन्त्र-चैतन्य का अर्थ है मन्त्र में चैतन्य का आधान ॥ शास्त्रों में मन्त्र-चैतन्य का अतिशय महत्व बताया गया है 'मन्त्रार्थं मन्त्र चैतन्यं यो न जानाति साधकः । शतलक्ष प्रजप्तोऽपि तस्य मन्त्रो न सिध्यति ॥' मन्त्र, मन्त्रार्थ और उसके देवता (अनुभूति) का एकीकरण "मन्त्र-चैतन्य" कहलाता है । मन्त्र का पुरश्चरण एवं चैतन्य साधित हुए बिना सिद्धिलाभ संभव नहीं । चैतन्यमहाप्रभु नाम और नामी को एक करके मन्त्र का उच्चारण करने का उपदेश देते थे । इसके कारण मन्त्र का देवता स्वयं आने को बाध्य हो जाता है । यदि शुद्धरूप से मन्त्र का उच्चारण किया जाय तो मन्त्र जाग्रत होकर अपने पदार्थ को खींचकर ला सकता है । शब्द जिस स्तर से उच्चारित होता है उसी स्तर तक पहुँचने में समर्थ होता है । देवता का स्वाभाविक नाम ही है 'मन्त्र' । जिस नाम से बुलाने से देवता आविर्भूत होकर भक्त की अभिलाषा पूर्ण करता है—यही देवता के नाम का वास्तविक स्वरूप है । मन्त्र चिच्छक्ति का विशिष्ट प्रकाश है । मन्त्र-चैतन्य की घनीभूत मूर्ति या देवता का आत्मप्रकाश है । मन्त्र और देवता अभिन्न हैं । बीज ही मूलमन्त्र है क्योंकि बीज में ही सारी शक्ति निहित है । शब्द के भीतर अचिन्त्य शक्ति है । मन्त्र की अन्तर्निहित शक्ति, मन्त्रदाता गुरु की सञ्चारित शक्ति एवं मन्त्र-गृहीता साधक की साधन-शक्ति—ये तीनों शक्तियाँ सम्मिलित होकर मन्त्र-सिद्धि की पूर्णता सम्पादित करती हैं । रामप्रसाद कहते हैं—"ए मन गुरु आधारित मन्त्र ताओ हारालाम साधन बिने ॥"

३०. मन्त्र-चैतन्य की प्रक्रियाएँ—

१. मन्त्र के पूर्व 'कामबीज', 'श्रीबीज' और शक्तिबीज' एवं अकार से लेकर क्षकारपर्यन्त समस्त स्वर-वर्णों का उच्चारण करना चाहिए । इसके बाद मन्त्र का उच्चारण करके पीछे भी उन्हीं बीजों एवं अक्षरों का उच्चारण करें । इस प्रकार इस मूल विद्या का १०८ बार जप करना चाहिए । इस प्रयोग से मन्त्र-चैतन्य हो जाता है । उदाहरणार्थ 'ऐं' को लें । इसको चेतन बनाना है तो प्रथम पूर्वोक्त तीनों बीजों का उच्चारण करना चाहिए—'ॐ क्लीं श्रीं ह्रीं' । इसके बाद 'कं खं गं घं ङं चं छं'—इस प्रकार 'क्षं' पर्यन्त उच्चारण करना चाहिए । फिर 'ऐं' मन्त्र एवं उन्हीं बीज एवं अक्षरों का १०८ बार जप करने से मन्त्र-चैतन्य हो जाता है मन्त्र में चैतन्य स्फुरित हो उठता है ।

२. 'वरदातन्त्र' के अनुसार यदि मन्त्र को 'ई' से सम्पुटित करके जप किया जाय तो स्वयं ही मन्त्र-चैतन्य हो जाता है ।

३. अन्तःस्थित या बहिःस्थित द्वादशकलात्मक भास्कर में अपने मन्त्र का चिन्तन करते हुए १०८ मन्त्र का जप करना चाहिए । सूर्यमण्डल में अपने आदि विश्वगुरु शिव एवं ब्रह्मरूपा उनकी शक्ति का ध्यान करना चाहिए । इस प्रकार श्रीगुरुदेव, 'उनकी शक्ति एवं मन्त्र का चिन्तन करते हुए जो साधक १०८ बार अपने मन्त्र का जप करता है उसका मन्त्र-चैतन्य हो जाता है । अर्थात् मन्त्र चेतन हो उठता है ।

४. ऐसी कल्पना करनी चाहिए कि मेरे हृदय में अनाहत चक्र पर मेरे मन्त्र के समस्त वर्ण स्थित हैं। मूलाधार से जाग्रत होकर कुण्डलिनी सुषुम्णा मार्ग से आती है और मेरे मन्त्र को, कण्ठस्थित विशुद्धचक्र का भेदन करके, सहस्रार में ले जा रही है। वहाँ सहस्रकमल की कर्णिका पर नाद-बिन्दु संयुक्त मन्त्र के समस्त अक्षर स्थित हैं एवं चैतन्यरूप मन्त्र शक्ति स्फुरित हो रही है। मन्त्र का प्रत्येक अक्षर चैतन्यशक्ति से ही निर्मित एवं ग्रथित है—ऐसी भावना करके मन्त्राक्षरों को नाभि में स्थित मणिपूरकचक्र पर लाना चाहिए। फिर वहाँ से वे वाणी में आ रहे हैं—ऐसा मानकर चिद्रूप से उनका जप करना चाहिए।

५. पिण्डस्थ षट्चक्रों के प्रत्येक पद्म दल पर वर्ण अंकित हैं। ये कमल एवं उनके दल वर्णरूप ही हैं। ये वर्ण सृष्टि-क्रम के अनुसार समस्त पद्मदल पर आते हैं एवं संहारक्रम से कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा अपने मूलस्थान में विलीन कर दिये जाते हैं। इसके अनन्तर उनकी पुनः दिव्यरूप में सृष्टि होती है। अपने मन्त्र को जो कि चिच्छक्ति या कुण्डलिनी शक्ति से ध्वनित हो रहा है—वर्णाभाव से परे चैतन्य रूप में स्थित अनुभव करना, षटचक्रों का भेदन करके सनातन शब्द रूप में (नाद-बिन्दु संयुक्त) चैतन्य से एक कर देना और पुनः उन्हीं जीवन्त, जाग्रत, दीप्तिमान चेतन वर्णों की समष्टि से निर्मित मन्त्र का साक्षात्कार करना भी मन्त्र-चैतन्य की एक पद्धति है।

३१. मन्त्रार्थ—

मन्त्रार्थ-ज्ञान के बिना मन्त्र-जप करने वाला उस गधे के समान माना जाता है जिसके ऊपर चन्दन लादा गया है किन्तु वह चन्दन की महिमा तो नहीं केवल उसके बोझ को जानता है—

> "अर्थमजानानां नानाविधशब्दमात्रपाठवताम्।
> उपमेयश्चक्रीवान् मलयजभारस्य वोढैव॥"[१]

पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—की कामना करने वाले लोगों को मन्त्र के अर्थों का परिज्ञान आवश्यक है। अर्थों के प्रति अनादर भाव रखने वालों के लिए अर्थ (काम्यपदार्थ) की प्राप्ति तो नहीं किन्तु अनर्थ की प्राप्ति अवश्य होती है—

> "पुरुषार्थानिच्छद्भिः पुरुषैरर्थापरिज्ञेयाः।
> अथानादरभाजां नैवार्थः प्रत्युतानर्थः॥"[२]

आचार्य भास्कर ने तो मन्त्रार्थ के पन्द्रह प्रकारों का प्रतिपादन किया है और उनकी विशद व्याख्या भी की है जो भावार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ, समस्तार्थ, निगर्भार्थ, शाक्तार्थ, सामरस्यार्थ आदि हैं।

मन्त्र सामान्यार्थक वर्ण नहीं हैं। उनमें दिव्यशक्ति निहित है। मन्त्र इष्टदेवता एवं इष्टदेवता के अनुग्रह के अपर पर्याय है। मन्त्र जिस अर्थ को सङ्केतित करता

१-२. भास्कराचार्य—'वरिवस्यारहस्यम्'

है वहीं साधक को ले जाना भी चाहता है—यदि साधक उस गन्तव्य लक्ष्य से अवगत हो जाय तो साधक को अपनी यात्रा में सुविधा हो जाती है ।

योगदर्शन में 'मन्त्रार्थभावना' को ही 'जप' की आख्या दी गई है और इसीलिए कहा गया है—'तज्जपस्तदर्थ भावनम् । 'भावना देना' आयुर्वेद में भी विशेषार्थ में प्रयुक्त है ।

'बीजमन्त्रों' के कतिपय उदाहरण अर्थ सहित नीचे लिखे हैं—

१. 'ह्रौं' = प्रसाद बीज । 'ह' = शिव । औकार = सदाशिव । 'बिन्दु' = दुःख का हरण ।। 'ह्रौं' बीज का अर्थ—"शिव एवं सदाशिव की अनुकम्पा एवं प्रसाद से मेरे समस्त दुःख नष्ट हो जायँ ।।"

२. 'ह्रीं' = 'ह' = शिव । 'र' = प्रकृति । 'ई' = महामाया । 'नाद' = विश्वाम्बा । 'बिन्दु' = दुःखहरण । इस शक्तिबीज या मायाबीज का अर्थ = "शिव समवेत विश्वाम्बा महामाया शक्ति मेरे दुखों का नाश करें ।"

३. 'श्रीं' = श = महालक्ष्मी । र = धन । ई = तुष्टि । नाद = विश्वजननी लक्ष्मीबीज (श्रीबीज) का अर्थ = "धन-वैभव, तुष्टि-पुष्टि की अधिष्ठात्री माता महालक्ष्मी मेरे दुःखों का नाश करें ।।"

४. "क्लीं" = क = कृष्ण या काम । ल = इन्द्र । ई = तुष्टि । बिन्दु = सुखप्रद । इस कृष्णबीज या कामबीज का अर्थ = मन्मथ-मन्मथ श्रीकृष्ण सुख एवं शान्ति दें ।

५. 'हूँ' = ह = शिव । अ = भैरव । नाद = सर्वोत्त्कृष्ट । बिन्दु = दुःखहारी ।। इस वर्मबीज या कूर्चबीज का अर्थ = श्रेष्ठतम असुरों के लिए भयङ्कर भगवान शिव मेरे दुःखों का नाश करें ।

६. 'क्रीं' = क = काली । र = ब्रह्म । ई = महामाया । नाद = विश्वजननी ।। बिन्दु = दुःखहारक ।। इस कालीबीज या कर्पूरबीज का अर्थ = 'ब्रह्मशक्तिस्वरूपिणी महामाया काली माता मेरे दुखों का नाश करें ।।

७. 'दूं' = द = दुर्गा । अ = रक्षा । बिन्दु = करो ।। दुर्गाबीज (दूं) का अर्थ = 'हे माँ दुर्गे ! मेरी रक्षा करो ।।'

८. 'ऐं' = ऐ = सरस्वती । बिन्दु = दुःख का हरण । सरस्वतीबीज = 'देवी सरस्वती मेरे दुःखों का नाश करें'—यही अर्थ है सारस्वत बीज का ।

९. 'ग्लौं' = ग = गणेश । बिन्दु = दुःखहरण । औ = तेज । ल = व्यापक । गणेशबीज का अर्थ—'परमव्यापक ज्योतिर्मय भगवान गणेश मेरे दुःखों का नाश करें ।।'

'स्त्रीं' = स = दुर्गोत्तरण । त = तारक । र = मुक्ति । ई = महामाया । नाद = विश्वमाता । बिन्दु = दुःखहरण । वधूबीज का अर्थ—"दुर्गोत्तारिणी

मुक्तिस्वरूपा, विश्वाम्बा भगवती महामाया मेरी दुखों से रक्षा करें ।।''

'गं' = ग = गणेश । बिन्दु = दुःखहारक । गणेशबीज का अर्थ—''भगवान् गणेश मेरे दुःखों का नाश करें ।।''

'क्ष्रौं' = क्ष = नृसिंह । र = ब्रह्मा । औ = ऊर्ध्वदत्त । बिन्दु = दुःखहारी । इस नृसिंह बीज का अर्थ—''ब्रह्मस्वरूप, ऊर्ध्वदत्त भगवान नृसिंह दुःखों से मेरी रक्षा करें ।।''

'हं' = आकाश । 'यं' = वायु । 'रं' = अग्नि । 'वं' = जल, अमृत । 'लं' = पृथ्वी । 'मं' = चन्द्रमा । (एकाक्षरीकोष से अन्य शब्दार्थों का भी अर्थावगाहन किया जा सकता है ।)[१]

३२. मन्त्रार्थ का वास्तविक स्वरूप एवं साधना-पद्धति[२]—

किसी भी मन्त्र का वास्तविक अर्थ तो केवल वही जान सकता है जिसे मन्त्र एवं उस मन्त्र के देवता का साक्षात्कार हो चुका हो । 'सरस्वतीतन्त्र' में मन्त्रार्थ का अवबोध एवं साक्षात्कार-प्राप्ति की निम्न पद्धति बताई गई है ।

१. साधक को चाहिए कि वह 'मूलाधारचक्र' में शुद्ध स्फटिक सङ्काश निर्मल इष्टदेवता एवं मन्त्ररूप इष्ट विद्या का चिन्तन करें ।

२. अर्द्धमुहूर्तपर्यन्त ध्यान करके फिर 'नाभिचक्र' में इष्टदेवता एवं इष्टमन्त्र का चिन्तन करे । यहाँ इष्टदेवता एवं इष्टमन्त्र का रङ्ग लाल रहेगा ।

३. इसके बाद दोनों का ध्यान मरकत मणि के स्वरूप में (हृदय में) करना चाहिए । फिर इसी क्रम से विशुद्धादि चक्रों में ध्यान करते हुए सहस्रार में जाकर दोनों तत्त्वों के एकीकृत होने का ध्यान करना चाहिए ।

४. जब साधक ध्यान करते-करते इतना तन्मय हो जाय कि स्वयं मन्त्रदेवतात्मक ब्रह्म से पृथक न रह जाय तभी उसे मन्त्र के वास्तविक अर्थ का ज्ञान प्राप्त हो पायेगा ।। इसीलिए भगवान् शङ्कर कहते हैं—

> ''ध्यानेन परमेशानि यद्रूपं समुपस्थितम् ।
> तदेव परमेशानि मन्त्रार्थं विद्धि पार्वति ।।''[३]

३३. मन्त्रों का कुल्लुका—

मन्त्रों के जप के पूर्व उनकी कुल्लुका का ज्ञान भी आवश्यक है । जप के पूर्व उस मन्त्र की कुल्लुका का मूर्द्धा में न्यास कर लेना चाहिए । कतिपय मन्त्रों की कुल्लुकाएँ अगले पृष्ठ पर तालिका में दर्शायी गयी हैं—

अन्य देवों के अपने-अपने मन्त्र ही 'कुल्लुका' है ।

---

१. एकाक्षरी कोष
२. साधना तन्त्र
३. सरस्वती तन्त्र

देवता	मंत्र की कुल्लुका	देवता/मंत्र की कुल्लुका
तारा	ॐ ह्रीं स्त्रीं हूं ।	काली ॐ क्रीं हूं स्त्रीं ह्रीं फट ।
छिन्नमस्ता	श्रीं ह्रीं ह्रीं ऐं ह्रीं ह्रीं स्वाहा	वज्रवैरोचिनी ॐ श्रीं ह्रीं ह्रीं ऐं ह्रीं ह्रीं स्वाहा हूँ ।
भैरवी	ह स रैं	त्रिपुरसुन्दरी—ॐ ऐं क्लीं ह्रीं त्रिपुरे भगवति स्वाहा अथवा क्लीं ।
मञ्जुघोषा	ॐ अ र व च ल धीं	भुवनेश्वरी—ॐ ह्रीं ।
विष्णु	ॐ नमो नारायणाय	मातङ्गी—ॐ ॐ ॥
धूमावती	ॐ ह्रीं	षोडशी—ॐ स्त्रीं ॥
लक्ष्मी	ॐ श्रीं	सरस्वती—ॐ ऐं ॥
अन्नपूर्णा	ॐ क्रीं	शिव—ॐ हौं ॥

३४. मन्त्रसेतु—

मन्त्रों का सेतु—१. ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के लिए—प्रणव २. वैश्यों के लिए—'फट्' ३. शूद्रों के लिए—ह्रीं । जपारम्भ के पूर्व इसका हृदय में जप आवश्यक है ।

३५. महासेतु—

जपारम्भ के पूर्व महासेतु का भी जप करना चाहिए । इसे करने से जापक को सभी समय एवं सभी कालों में जप करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है । इनका जप 'विशुद्धचक्र' (कण्ठस्थान) में करना चाहिए—त्रिपुरसुन्दरी का महासेतु—'ह्रीं', काली का 'क्रीं', एवं तारा का 'हूँ' है । अन्य सभी देवताओं का महासेतु 'स्त्रीं' है ।

३६. निर्वाण—

इस पद्धति में साधक पहले प्रणव एवं इसके उपरान्त 'अ' आदि समस्त स्वर वर्णों का उच्चारण करके तब अपना मन्त्र पढ़े । तदुपरान्त 'ऐं' एवं समस्त स्वर वर्णों का और अन्त में प्रणव का जप करें । इस तरह सम्पुट करके इसका जप 'मणिपूरक' चक्र में करना चाहिए ।

३७. मुख-शोधन—

मन्त्र जप के पूर्व मुख-शोधन भी अपरिहार्य है क्योंकि अशुद्ध जिह्वा से किया गया जप हानि पहुँचाता है । जिह्वा पर स्थित मल—१. भोजन का मल २. मिथ्या भाषण का मल ३. कलह का मलशोधन के पूर्व जिह्वा मन्त्रोच्चारण की

अधिकारिणी नहीं । मन्त्र जप के पूर्व दस बार मुख शोधन सम्बंधी मन्त्र-जप करना चाहिए ।

३८. देवता एवं उनके मुखशोधन मन्त्र—

देवता	मुखशोधन मंत्र	देवता	मुखशोधन मंत्र
त्रिपुरसुन्दरी	— श्रीं ॐ श्रीं ॐ श्रीं ॐ	श्यामा	— क्रीं क्रीं क्रीं ॐ ॐ ॐ क्रीं क्रीं क्रीं ।
तारा	— ह्रीं हूं ह्रीं ।	दुर्गा	— ऐं ऐं ऐं ।
बगलामुखी	— ऐं ह्रीं ऐं ।	मातङ्गी	— ॐ ऐं ॐ ।
लक्ष्मी	— श्रीं ।	धूमावती	— ॐ ।
धनदा	— ॐ धूं ॐ ।	गणेश	— ॐ गं ।
विष्णु	— ॐ हं ।		

अन्य देवताओं मात्र ॐ ही मुखशोधन का मन्त्र है । इसे मन्त्र जप के पूर्व दस बार जप लेना चाहिए ।

३९. प्राणयोग—

यथा निष्प्राण शरीर निश्चेष्ट रहता है तदवत प्राणहीन मन्त्र भी निश्चेष्ट रहता है। माया बीज (ह्रीं) से संपुटित करके अपने मन्त्र का सात बार जप करना ही प्राणयोग है ।

४०. दीपनी—

यथा दीपक का प्रकाश अंधकार दूर करके घर में रक्खी समस्त अंधकारावृत वस्तुओं को प्रकाशित कर देती है उसी प्रकार दीपनी क्रिया से मन्त्र प्रकाश में आ जाता है । जपारंभ के पूर्व स्वमन्त्र को प्रणव से सम्पुटित करके उसका सात बार जप कर लेना चाहिए ।

४१. मन्त्रसिद्धि के अन्य उपाय—

श्रद्धा-विश्वास के साथ मन्त्रानुष्ठान करने पर भी मन्त्रसिद्धि न हो तो उसका पुनः पुनः अनुष्ठान करना चाहिए तीन बार के अनुष्ठान से भी मन्त्र सिद्ध न हो तो निम्न सात उपायों का अवलम्बन लेना चाहिए किन्तु एक साथ सातों क्रियाओं का प्रयोग आवश्यक नहीं । एक करने पर मन्त्र सिद्ध न हो तो दूसरे का, दूसरे से भी सिद्ध न हो तो तीसरे से, और इसी प्रकार चौथे, पाँचवें, छठवें एवं अन्त में सातवें से ।

४२. मन्त्रसिद्ध के उपायों का नाम एवं साधन-प्रक्रिया—

इन उपायों का नाम है—१. भ्रामण, २. रोधन, ३. वश्य, ४. पीडन, ५. पोषण, ६. शोषण, ७. दाहन ॥

१. **'भ्रामण'**—वायुमन्त्र 'यं' द्वारा मन्त्र को ग्रथित करना चाहिए । यंत्र के ऊपर एक वायुबीज एवं एक मन्त्राक्षर—इस क्रम से मन्त्र के समस्त अक्षरों को सम्पुटित करके उसे शिलारस, कर्पूर, कुंकुम, खस एवं चन्दन मिलाकर उसी से यन्त्र पर पूरा मन्त्र लिखना चाहिए । लिखित मन्त्र को दूध, घी, मधु एवं जल में छोड़कर पूजा, जप एवं हवन करना चाहिए—मन्त्र शीघ्र सिद्ध होगा ।।

२. **रोधन**—वाग् बीज 'ऐं' द्वारा मन्त्र को सम्पुटित करके यथासाध्य जप करने से रोधनक्रिया निष्पादित होती है ।

३. **वशीकरण**—अलक्तक, रक्तचन्दन, कुट, धतूरे का बीज एवं मैनसिल—को एक में मिलाकर इसके द्वारा ही भोजपत्र पर अपना मन्त्र लिखकर गले में धारण कर लेना चाहिए । यही है वशीकरण ।।

४. **पीडन**—अधरोत्तर योग से मन्त्र का जप करते हुए अधरोत्तर स्वरूपिणी देवता की पूजा करनी चाहिए । फिर अकवन के दूध से मन्त्र लिखकर पैर से दबाकर हवन करना चाहिए । यही है पीडन क्रिया ।

५. **पोषण**—मन्त्र के आदि एवं अन्त में 'स्त्रीं' मन्त्र जोड़कर जप करना चाहिए एवं गाय के दूध से मन्त्र लिखकर हाथ में इसे पहनना चाहिए । इसी का नाम है पोषण-क्रिया ।

६. **शोषण**—वायुबीज 'यं' के द्वारा मन्त्र को संपुटित करके जप करना एवं यज्ञीय भस्म से भोजपत्र पर लिखकर गले में इसे धारण करना चाहिए । यही है शोषण-क्रिया ।

७. **दाहन**—मन्त्र के प्रत्येक स्वर वर्ण के साथ अग्निबीज 'रं' जोड़कर जप करना चाहिए एवं पलास बीज के तेल से मन्त्र लिखकर कंधे पर धारण करना चाहिए । इसी क्रिया का नाम है—'दाहन' ।।

सातों प्रयोग एक साथ करना आवश्यक नहीं । एक करने से मन्त्र-सिद्धि न होने पर ही अन्य साधन का उपयोग करना चाहिए ।।

'मन्त्र' का अर्थ है—'गुप्त परामर्श' ।। 'मन्त्र' दिव्य परामर्श है ।

४३. गोपनीयता—

मन्त्र का अभिधेयार्थ ही है गुप्त परामर्श अतः मनन करने से वह त्राण करने के अपने शब्दार्थ को तभी सिद्ध कर पायेगा जब उसे गोपनीय रक्खा जाय ।। भगवान् शिव कहते हैं कि मन्त्र-जप से सिद्धि तो अवश्य मिलेगी किन्तु गोपनीयता रखने पर ही—

(क) जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः ।। किन्तु—

(ख) गोपनीयं गोगपनीयं गोपनीयं मातृजारवत् ।। (अरब के साधकों ने इसे ही 'खिल्वतदर अञ्जुमन' कहा है ।।)

(ग) 'मन्त्र कुरहिं जब करउ दुराऊ' (तुलसीदास)

(घ) 'तस्मात मन्त्रं महासेन रहस्यं न प्रकाशय ।' (वातुल० तन्त्र)

४४. सूतकोद्धार—

मन्त्र में सूतक—१. जातसूतक २. भृतसूतक । इन दोनों अपवित्रताओं का दूरीकरण से ही मन्त्र-सिद्धि की संभावना हैं अन्यथा नहीं ।

सूतकोद्धार हेतु—जपारंभ के समय सबसे पूर्व १०८ बार (या कम से कम) सात बार प्रणव से संपुटित करके अपने इष्ट मन्त्र का जप कर लेना चाहिए । योनिमुद्रा का अनुष्ठान भी कर लेना चाहिए ।

इसके विकल्प में 'भूतलिपि' का प्रयोग है । उसके द्वारा अनुलोम विलोम संपुटित करके मन्त्र जप करने से भी मन्त्र शीघ्र सिद्ध होता है ।

४५. भूतलिपि का क्रम—

'अ इ उ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ ह य र व ल ङ क ख घ ग ञ च छ झ ज ण ट ठ ढ ड न त थ ध द म प फ भ ब श ष स'—इनको पढ़कर फिर इष्टमन्त्र एवं फिर—स ष श ब भ फ प म द ध थ त न ड ढ ठ ट ण ज झ छ च ञ ग घ ख क ङ ल व र य ह औ ओ ऐ ए ऌ ऋ उ, इ अ ॥''—इसका एक मास तक जप करना चाहिए । ऐसा करने से—मन्त्रजागरण । इसको करने से पूर्व एवं इसके पश्चात् ३-३ प्राणायाम कर लेना चाहिए ॥ चार मन्त्रों से पूरक, सोलह मन्त्रों से कुंभक एवं आठ मन्त्रों से रेचक किया जाना चाहिए । जप पूरा होने पर उसे ज्योतिस्वरूप में कल्पित करके इष्टदेव के दाहिने हाथ में जप समर्पण कर देना चाहिए । देवीमन्त्र हो तो उस जप को बाएँ हाँथ में समर्पित करना चाहिए । अनुष्ठान के अन्त में प्रतिदिन जप का दशांश हवन, हवन का दशांश तर्पण, तर्पण का दशांश अभिषेक एवं यथाशक्ति ब्राह्मणभोजन कराना चाहिए । होम, तर्पण आदि में से जो अङ्ग पूरा न किया जा सके उसके लिए भी जप कर लेना चाहिए । होम न कर सकने पर—(ब्राह्मण)—होम की संख्या से चौगुना, (क्षत्रिय) छ गुना, (वैश्य) अठगुना जप करें । नारी भी वैश्यवत अठगुना जप करें । (शूद्र) होम की संख्या से दसगुना (किन्तु यदि अन्य वर्ण के आश्रित हो तो उस आश्रयदाता के लिए निर्दिष्ट संख्यानुसार) जप करणीय है । (अर्थात् एक लाख का अनुष्ठान हो तो होम हेतु भी एक लाख जप करना होगा ।)

('योगिनीहृदय' के अनुसार—ब्राह्मण हेतु—होमसंख्या का दुगुना, क्षत्रियों के लिए—तिगुना, वैश्यों के लिए चौगुना एवं शूद्रों के लिए पंचगुना जप उचित है ।)

४६. अनुष्ठान के पाँच अङ्ग हैं—१. जप, २. होम, ३. तर्पण, ४. अभिषेक, ५. ब्राह्मण भोजन । होम, तर्पण, अभिषेक न कर सकने पर केवल ब्राह्मणों के आशीर्वाद से भी काम चल सकता है । नारियों के लिए तो ब्राह्मण भोजन उतना आवश्यक भी नहीं । उन्हें न्यास, ध्यान, और पूजा की छूट है ।

जपमात्र से ही उनके मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं । अनुष्ठान में दीक्षित ब्राह्मणों को खिलाना चाहिए । अनुष्ठान के पूरा होने पर गुरु, गुरुपुत्र, गुरुपत्नी या उनके वंशजों को दक्षिण देनी चाहिए ॥

४७. गुरुतत्त्व—

साधना-जगत् में सिद्धि प्राप्त करने हेतु गुरु परमावश्यक है क्योंकि—'गुरु की जै गहिला, निगुरा न रहिला गुरु बिन ज्ञान न पारलारे भाइला ॥''[१] 'गुरु' मन्त्र, देवता, यन्त्र, मन्त्राक्षर, त्रिदेव एवं सभी मांत्री शक्तियों से तादात्म्य रखता है । उसकी कृपा से ही मन्त्र अपने को प्रकट करते हैं । इसीलिए कहा गया है कि—'मन्त्रे चाक्षरबुद्धिस्याद गुरौ तु मानवः प्रिये । देवतायाः वरारोहे प्रतिमा बुद्धिस्तु जायते। किं तस्य जपपूजायां सर्वं व्यर्थं कदर्थनम् ॥'[२] 'ताररहस्य' में कहा गया है कि सर्वप्रथम ब्राह्ममुहूर्त बेला में उठकर 'योषादर्शन' (ज्योतिदर्शन) करके स्वस्तिकासनस्थ उत्तराभिमुखी बैठकर अपने शिर में द्वादशार्णसरसीरुहोदरसहस्रदल-कमलावस्थित श्वेतवर्ण, नानालङ्काराभूषित सद्गुरु को अपने वाम भाग में आसीन रक्तवर्ण शक्ति से सुशोभित रूप में देखते हुए मानस पूजा करके 'ऐं' (वाग्भव मन्त्र) का १०८ बार जप करके एवं जप समर्पित करते हुए निम्न मन्त्र कहे—"ॐ अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् । तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥" 'नाभिस्थल पर हाथ रखकर सहस्रार में शक्ति समन्वित सद्गुरु शिव का ध्यान करना चाहिए—'स्वनाभौ दक्षिणे हस्ते वामहस्तं प्रदापयेत् । भावयेच्च सहस्रारे श्रीगुरुं शक्तियुक्तकम् ॥'

'गुरु' सिद्धिप्रद, पाप-दाहक, शंभुस्वरूप एवं त्रितयात्मा है इसीलिए 'गुरु' कहलाता है । 'शाक्तानन्दतरंगिणी' में कहा गया है—'गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः । उकारः शंभुरित्युक्त स्त्रितयात्मा गुरुः स्मृतः ॥ 'शाक्तानन्द तरंगिणी' में ब्रह्मानन्द गिरि पुनः कहते हैं कि "गुरुः सर्वसुराधीशो" अर्थात् गुरु समस्त देवताओं का स्वामी है अतः तीनों संध्याओं में गुरु का ध्यान, गुरु का पूजन एवं गुरु का भावन, किया जाना चाहिए—

"त्रिसंध्यं श्रीगुरोर्ध्यानं त्रिसंध्यं पूंजनं गुरोः ।
त्रिसंध्यं भावयेन्नित्यं गुरुं परमकारणम् ॥" (शाक्तानन्दतरंगिणी)

४८. भावतत्त्व—

शास्त्रों में भावत्रय का वर्णन किया गया है जो निम्न है—१. 'पशुभाव', २. 'वीरभाव', ३. 'दिव्यभाव' ॥ 'भाव' का द्वितीय अर्थ है—प्रेम, भक्ति एवं निष्ठा-सङ्कलित एकनिष्ठ आराधना (उपासना) ॥ बिना भाव के पूजा एवं मन्त्रजप व्यर्थ है क्योंकि—'न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे च पार्वति । भावेषु विद्यते देवि ! भावो मोक्षस्वरूपकम्। दिव्यभावो वीरभावः सदैव सहसा भवेत्। अन्यथा पंचलपांगि पशुभावमयः सदा ॥ स्वभावेन विनादेवि ! कथं सिद्धिर्भवेत् प्रिये ॥'[३] बिनाभाव का

१. गोरक्षनाथ
२-३. कामधेनु तन्त्र

जप कोटि बार भी क्यों न अनुष्ठित किया जाय किन्तु वह सिद्ध नहीं होता प्रत्युत् नरक ले जाता है—'भावतत्त्वं विनादेवि प्रजपेद यदि कोटिधा। सर्वतस्य वृथा देवि ! नरकं च पदे पदे ।।'' भाव-शून्य गुरु भी पशु है—''स कथं चञ्चलापांगि दिव्यवीरगुरुर्भवेत् । पशुवत सर्वदा देवि स एव पशु गुरुः प्रिये ।''[१] भावों में आद्यभाव (दिव्यभाव) सर्वसिद्धिप्रद है—किन्तु 'वीरभाव' मध्यम एवं 'पशुभाव' अतिनिन्दित है । यदि भाव न हुआ तो न्यास विस्तार, भूत शुद्धिप्रस्तार एवं पूजनादि सभी व्यर्थ हैं । इन साधनाओं का कोई फल नहीं मिलता ।।[२]

४९. वर्णों की शक्त्यात्मकता एवं देव्यात्मकता—

मन्त्रशास्त्र यह मानता है कि वर्ण अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न हैं—ये मूलतः कुण्डलिनी शक्ति की ध्वन्यात्मकाभिव्यक्तियाँ हैं—शक्ति के नादात्मक स्वरूप का प्रकाशन हैं । मन्त्र त्रिपुरसुन्दरी का मूर्तिमान वर्णविग्रह हैं—१. भगवत्याः स्वरूपं तु पञ्चाशद्वर्णात्मिका मातृकैव । सेयं पञ्चाशद्वर्णात्मिका मातृकाऽष्ट वर्गात्मिका भवति । एवमष्ट वर्गात्मिका भगवती मातृका त्रिपुरसुन्दरी ।।'' (लक्ष्मीधर) ।।

५०. मन्त्र-साधना के लिए उपयुक्त स्थान—

सिद्धपीठ, पुण्यक्षेत्र, नदीतट, गुहा, पर्वतशिखर, तीर्थ, सङ्गम, पवित्र जङ्गल, एकान्तोद्यान, बिल्ववृक्ष, उपत्यका, तुलसीकानन, गोशाला, देवालय, अश्वत्थ वृक्ष, आमलक वृक्ष के नीचे, पानी में मन्त्रानुष्ठान अधिक प्रशस्त है । सूर्य, अग्नि, गुरु, चन्द्रमा, दीपक, जल, ब्राह्मण एवं गौओं के सामने बैठकर जप करना प्रशस्त है । श्रेष्ठतम स्थान वही है जहाँ बैठकर जप करने से चित्त की एकाग्रता बढ़ सके । स्थान की दृष्टि से—दस गुना गोष्ठ, सौ गुना जङ्गल, हजारगुना तालाब, लाख गुना नदीतट, कोटिगुना पर्वत, अरबों गुना शिवालय, एवं अनन्त गुना गुरु का सन्निधान श्रेष्ठतर है । यह भी सही है कि—

'जिह्वादग्धा परान्नेन मनोदग्धं परस्त्रिभिः ।'

५१. मन्त्र जप के समय निषिद्ध-कार्य—

आलस्य, जँभाई, निद्रा, छींक, थूकना, डरना, अपवित्र अङ्ग का स्पर्श, क्रोध, मध्य में बातें करना, जप में जल्दीबाजी करना, विलम्बपूर्वक जप, गाकर जप, सिर हिलाना, लिखित मन्त्र पढ़ना, मन्त्र का अर्थ न जानना, बीच-बीच में मन्त्र भूल जाना, इष्ट-देवता-मन्त्र एवं गुरु को पृथक्-पृथक् मानना निषिद्ध कार्य है ।

५२. मन्त्र-जप के समय आवश्यक नियम—

भूमिशयन, ब्रह्मचर्य, मौन, गुरुसेवन, त्रिकालस्नान, पापकर्म परित्याग, नित्य पूजा, नित्यदान, देवता की स्तुति एवं कीर्तन, नैमित्तिक पूजा, इष्टदेव एवं गुरु में विश्वास, जपनिष्ठा ।

---

१. कामधेनु तन्त्र

२. ज्ञानानन्द परमहंस—'कौलावली निर्णय'

५३. मन्त्र-जप के समय त्याज्य कर्म—

व्रात्य, नास्तिक, पतित आदि से संभाषण, उच्छिष्ट मुख से वार्तालाप, असत्यभाषण, कुटिलभाषण, अनुष्ठान के समय-शपथ लेना, पहनने का वस्त्र ओढ़कर जप करना, बिना आसन के जप करना, बिना माला ढके या सिर ढककर जप करना, चलते या खाते समय जप करना, जूता पहनकर, पैर फैलाकर जप करना आदि निषिद्ध कार्य हैं। शास्त्रकारों ने अन्त में यह निर्णय किया कि—"अशुचिर्वा शुचिर्वा गच्छंस्तिष्ठन स्वपन्नपि। मन्त्रैकशरणो विद्वान् मनसैव सदाभ्यसेत्। न दोषो मानसे जाप्ये सर्वदेशेऽपि सर्वदा ॥

५४. जप की श्रेष्ठता का तारतम्य—

पद्मपुराण एवं नारदपुराण में कहा गया है कि—समस्त यज्ञ वाचिक जप की तुलना में सोलहवें हिस्से के बराबर हैं। वाचिक जप से सौ गुना उपांशु एवं सहस्रगुना मानस जप श्रेष्ठतर है। 'मानस जप' = जिसमें अर्थ-चिन्तन करते हुए मन से ही मन्त्र के वर्ण, स्वर एवं पदों की बार-बार आवृत्ति की जाती है। तीनों जपों में इष्ट का चिन्तन आवश्यक है। स्तोत्र का मानसिक पाठ, या जोर-जोर से मन्त्र-जप दोनो निषिद्ध हैं। गौतमीयतन्त्र में कहा गया है—केवल वर्णों के रूप में मन्त्र की स्थिति उसकी जड़ता एवं पशुता है। सुषुम्णा द्वारा उच्चारित होने पर उसमें शक्ति-सञ्चार होता है। प्रथम भावना यह करनी चाहिए कि मन्त्र का एक-एक अक्षर चिच्छक्ति से ओत-प्रोत है एवं परम् अमृतरूप चिदाकाश में उसकी स्थिति है। इस भावना के साथ किया गया जप, होम आदि के बिना ही सिद्ध हो जाते हैं। प्राणबुद्धि से सुषुम्णा के मूलदेश में स्थित जीवरूप से मन्त्र का चिन्तन करके मन्त्रार्थ एव मन्त्र-चैतन्य के साथ जप करना चाहिए ॥ 'कुलार्णवतन्त्र' में कहा गया है कि—मन एक स्थान पर, शिव दूसरे स्थान पर, शक्ति तीसरे स्थान पर, एवं प्राण चौथे स्थान पर होने पर भला मन्त्रसिद्धि कैसे हो?

५५. मांत्री-दीक्षा एवं मन्त्राधिकार—

कौन सा मन्त्र किस साधक के अनुकूल है तथा साधक किस मन्त्र को ग्रहण करने का अधिकारी है इस सम्बंध में निम्न कसौटियाँ हैं—१. कुलाकुल चक्र, २. राशिचक्र, ३. नक्षत्र चक्र, ४. अकडम चक्र, ५. अकथह चक्र, ६. ऋणि-धनि चक्र। (स्थानाभाव के कारण इन पर विस्तार से प्रकाश डालना संभव नहीं है ॥)

५६. जप के प्रकार—

जप के अनेक प्रकार हैं यथा—१. 'वाचिक', २. 'उपांशु', ३. 'मानस'। आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—'आत्मा न शृणुते यं स मानसो जप उच्यते। आत्मना शृणुते यस्य तमुपांशु विजानते ॥" (तन्त्रालोक)। नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित, भ्रामरी आदि अनेक जप होते हैं। 'वज्रजप' = प्राणवायु के शासन के द्वारा, वायु को मध्यममार्ग में प्रविष्टकर चक्रों का भेदन किया जाता है और

'उष्णीश चक्र' में वायु पहुँचाकर योगी 'खसमावस्था' को प्राप्त होता है । प्राणवायु के इस शासन को ही 'वज्रजप' कहा गया है । मात्र शब्दों का उच्चारण जप नहीं है । प्राणवायु के अनुशासन की क्रिया के साथ-साथ जो जप किया जाता है । वही फलप्रद जप है । यही है तान्त्रिक बौद्ध दृष्टि ।। बौद्ध तान्त्रिक मन्त्रों के प्रकारों में—ग्रथनमन्त्र, विदर्भमन्त्र, सम्पुटमन्त्र, रोधनमन्त्र, योग एवं पल्लवमन्त्र 'अभिचार' से सम्बध रखते हैं । क्रिया के तीन रूप हैं—१. वर्ण, २. मन्त्र, ३. पद ।

'मन्त्र' साक्षात् पराशक्तिस्वरूप हैं । पराशक्ति वाणी के रूप में स्फुरित होती है अत: मन्त्रों के द्वारा सूक्ष्मा, सर्वातीता सत्ता या परावाक् (ओंकार) ही व्यक्त होता है इसीलिए मन्त्रों में अचिन्त्यशक्ति मानी जाती है—'मन्त्राणामचिन्त्यशक्तिता ।' ('परशुरामकल्पसूत्र' सूत्र ८) । 'मन्त्र' किसी वर्ण का उच्चारण मात्र नहीं है प्रत्युत् यह एक ऐसी पद्धति है जिसमें गुरु, मन्त्र, देवता, मन आत्मा एवं प्राणवायु की एकता स्थापित की जाती है । इस ऐक्य की अवस्था में ही मन्त्रोच्चारण होता है अत: मन्त्र के साथ 'ध्यान' मिला रहता है । यह एकता 'भावना' से सिद्ध होती है । भावना-शून्य मन्त्र जप निष्फल होता है । 'मन्त्र' नादात्मक होता है । इस नाद का अनुसंधान ही शाक्त-साधना का लक्ष्य है । 'यौवनोल्लास' में अजपाजप, 'प्रौढ़ोल्लास' में मानसजप एवं 'तदन्तोल्लास' में वाराहीमन्त्र का जप किया जाता है। मन्त्र के दो भेद हैं—१. 'बीज' २. 'पिण्डात्मक' । प्रत्येक श्वास के साथ सहजगति से सोऽहं-सोऽहं का जप ही 'सहजजप' है । यही है—'कालध्वा' या 'प्राणध्वा' । यंत्र एवं यंत्रोपासना भी मन्त्र-साधना का एक अङ्ग है । इसके बिना मन्त्र का आराध्य देवता प्रसन्न नहीं होता—'विना यंत्रेण पूजायां देवता न प्रसीदति ।'[१]

५७. 'यंत्र'—

'यंत्र' मन्त्र एवं देवता का रेखात्मक चित्रण है । यह ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है । 'यंत्र' मन्त्र की बाह्य अभिव्यक्ति है । 'यंत्र' देवता का विग्रह है । 'यंत्र' देवता का आसन है । 'यंत्र' समस्त विश्व का एक ज्यामितीय रेखाचित्र है । 'यंत्र' देवता का शरीर है । इसी कारण यंत्र को माध्यम बनाकर उसके द्वारा मन्त्र के वाच्य(देवता) को व्यक्त करने की साधना की जाती है । इसीलिए कहा है— 'विना यंत्रेण पूजायां देवता न प्रसीदति । सर्वेषामपि देवानां यंत्रे पूजा प्रशस्यते ।।'[२]

५८. 'ध्यान'—

मन्त्र-साधना का एक अपरिहार्य अङ्ग 'ध्यान' है क्योंकि मन्त्र-साधना का लक्ष्य है देवता का साक्षात्कार । यह देवता ही मन्त्र का अर्थ है । "तज्जपस्तदर्थभावनम्" कहकर योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने भी इसकी पुष्टि की है । इसीलिए ब्रह्मानन्द गिरि कहते हैं—

> **"आदौध्यानं ततो मन्त्रं ध्यानस्यान्ते मनुं जपेत् ।**
> **ध्यान मन्त्र समायुक्तः शीघ्रं सिध्यति साधकः ।।"**[३]

१-३. शाक्तानन्द तरंगिणी

जिस मन्त्र का जो देवता है उसके आकार का स्मरण करते हुए—अर्थात् देवाकार का ध्यान करते हुए—मन से जप करना चाहिए—

'यस्य यस्य च मन्त्रस्य उद्दिष्टा या च देवता ।
चिन्तयित्वा तदाकारं मनसा जपमाचरेत् ॥'[१]

५९. देवता—

प्रत्येक 'मन्त्र' वाचक है और वाच्य है 'देवता' । 'देवता' मन्त्र का अर्थ है । 'तज्जपस्तर्थ भावनम्' (यो०सूत्र) के दो अर्थ हैं—

(क) अभीष्ट देवता के मन्त्र का अर्थ-भावन ।

(ख) अभीष्ट मन्त्र के अर्थ (अर्थात् मन्त्र के देवता) का भावन ।

'वरिवस्यारहस्यम्' एवं भास्करराय का देवता भगवती त्रिपुरसुन्दरी हैं और उनका 'यंत्र' श्रीचक्र है । 'त्रिपुरसुन्दरी' कौन हैं?

सहस्रदल कमल के मध्य स्थित जो चन्द्रमण्डल या वैन्दवस्थान है उसकी चिन्मयी एवं आनन्दरूपा कला ही आत्मा कही जाती है और उसे ही 'त्रिपुरसुन्दरी' कहते हैं । इस चन्द्रमा की प्रथमाकला प्रतिपदा है । यह प्रतिपदा की कला ही त्रिपुरसुन्दरी कला है ।

'सुन्दरी' की उपासना की दो पद्धतियाँ हैं—१. 'बहिर्याग', २. 'अन्तर्याग'। आचार्य भास्कर ने वरिवस्यारहस्यम् में मन्त्रजप को श्रेष्ठतम माना है । भगवती त्रिपुरा के तीन रूप हैं—१. 'स्थूल', २. 'सूक्ष्म', ३. 'पर' । 'अन्तर्याग' भी त्रिविध है—१. 'सकल' २. 'सकल निष्कल', ३. 'निष्कल' । ('सेतुबंध' पृ० ५) मन्त्र-जप को भास्कर ने श्रेष्ठतम साधना स्वीकार किया है । 'याग' द्विविध हैं । ये दोनों साधना-पद्धतियाँ हैं । 'बहिर्याग'—'बहिर्यागः पात्रासनादि शान्तिस्तवान्तः कर्मसमूहः । 'अन्तर्याग'—अन्तर्यागो नामाधाराद्राजदन्तान्तं तेनस्तन्तोर्विभावनम् । मानसी देवपूजा वा । ('सौभाग्यभास्कर' पृ० ५)

नादात्मक मन्त्र-साधना—श्वास-प्रश्वास अन्तर्मुख होकर 'नाद' में परिणत हो जाते हैं । नाद के साथ प्राणायाम करने से इष्टमन्त्रोच्चार द्वारा मन्त्र क्रमशः नादमय हो जाता है । प्राणवायु का नाद के आकार में परिणत होकर क्रमशः बिन्दु में स्थिति-लाभ करने से मन्त्रसिद्धि होती है । नादमय मन्त्र ही जाग्रत मन्त्र है । जप का मन्त्र नादात्मक है । ब्रह्म के दो रूप हैं—१. 'शब्द', २. 'ज्योति' । 'नाद'—इष्टमन्त्र का स्फुरण । 'ज्योति'—इष्टमूर्ति का आविर्भाव ।

त्रिपुरसुन्दरी का स्वरूप—देवी मूलमन्त्र, कूटत्रय एवं कुलामृत हैं । वे मूलाधारैकनिलया, ब्रह्मग्रंथिविभेदिनी, मणिपूरान्तरुदिता, विष्णुग्रन्थविभेदिनी, आज्ञाचक्रान्तरालस्था, रुद्रग्रंथिविभेदिनी सहस्राम्बुजारुढा एवं सुधासाराभिवर्षिणी हैं—'मूलाधारैकनिलया ब्रह्मग्रंथिविभेदिनी । मणिपूरान्तरुदिता विष्णुग्रंथिविभेदिनी । आज्ञा-

---

१. शाक्तानन्द तरंगिणी

चक्रान्त रालस्था रूद्रग्रंथिविभेदिनी । सहस्राम्बुजारूढा सुधारसाराभिवर्षिणी ॥' वे 'षटचक्रों परिसंस्थिता महाशक्ति कुण्डलिनी' भी है । वे जगन्माता हैं । वे जगदात्मा हैं । भास्करराय इन्हीं ललिताम्बिका राजराजेश्वरी महात्रिपुरसुन्दरी के उपासक थे । वे कहते हैं—'दयतां देशिकात्मा मे देवि श्रीललिताम्बिका । भगवती ललिता विश्वविग्रहा, सर्वदेवात्मिका, सर्ववर्णात्मिका एवं मन्त्रात्मिका हैं ।

६०. यन्त्र—

'श्रीचक्र'—'श्रीचक्र' नवयोन्यात्मक है । इसकी ९ योनियाँ, निम्न हैं—१. 'मध्यत्रिकोण', २. 'अष्टार', ३. 'अन्तर्दशार', ४. 'बहिर्दशार', ५. 'चतुर्दशार', ६. 'अष्टदलपद्म', ७. 'षोडशदलपद्म', ८. 'वृत्तत्रय', ९. 'भूपुर' ॥ इनमें अधोमुख ५ त्रिकोण 'शक्तित्रिकोण' एवं ४ त्रिकोण ऊर्ध्वमुख एवं 'शिवत्रिकोण' कहलाते हैं । 'संहारक्रम' में 'शक्तित्रिकोण', 'ऊर्ध्वमुख' एवं 'शिवत्रिकोण' अधोमुख हो जाते हैं तथा 'सृष्टिक्रम' में इसके विपरीत रहते हैं । उपर्युक्त त्रिकोणों में प्रथम ५ त्रिकोण 'शक्तिचक्र' एवं अन्तिम चार चक्र 'शिवचक्र' कहलाते हैं ।

'षोडशदल पद्म'—चन्द्रमा की षोडशकलाएँ एवं मध्य त्रिकोण 'मूलाधार' हैं, अष्टार 'स्वाधिष्ठानं हैं, अन्तर्दशार 'मणिपूर' है एवं बहिर्दशार 'अनाहतचक्र' है । 'विशुद्धचक्र'—अन्तर्दशार का प्रतिनिधि है । 'आज्ञाचक्र' शिव का स्थान (शिवचक्र) 'बैन्दवगृह' है । 'सूर्यखण्ड', 'सोमखण्ड' एवं 'अग्निखण्ड' के साथ पिण्डगत षटचक्रों एवं यंत्र के नौ चक्रों के साथ अभेद है । भूपुर 'सहस्रार' है एवं वृत्तत्रय 'बैन्दवस्थान' (सहस्रारस्थ चन्द्र-स्थान) हैं ।

६१. भोजन—

चन्द्रसूर्याग्निरूपिणी कुण्डलिनी को मूलाधार से आजिह्वान्त विभावित करके शोधित भोज्य पदार्थों को जीभ के समक्ष देवी को प्रतिग्रास समर्पित करे । इससे मन्त्र-सिद्धि होती है—क्योंकि 'भुज्यते कुण्डलीदेवी इति चिन्तापरोहि यः । मन्त्रसिद्धिर्भवेत्तस्य ज्ञानसिद्धिर्नचान्यथा ॥' ('मातृकाभेद तन्त्र') ॥

६२. 'अहंपरामर्श'—

अभिनवगुप्ताचार्य 'तन्त्रालोक' में कहते हैं कि, 'अ' एवं 'ह' ('अहं') अहंपरामर्शात्मक हैं । इन दोनों से रहित और इनकी रहस्यात्मकता के ज्ञान से रहित कोई भी मन्त्र सिद्ध नहीं होता प्रत्युत् व्यर्थ हो जाता है यथा शरद ऋतु का बादल—'आदिमान्त्यविहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत्'

"आदिमोऽनुत्तरः, अन्त्योहकारः, तेन मन्त्रा अपि अहंपरामर्शरूपा भ्यामादिमान्त्याभ्यां विहीनाः तद्रूपत्वेनापरिज्ञायमानाः शरदभ्रवत् स्युः अकिंत्करा एवेत्यर्थः ॥"

कहा भी गया है—'आदिमान्त्यविहीनास्तु मूलयोनिमजा नतः । न ते सिद्धिकरा मन्त्रा निष्फलाः शरदभ्रवत् । खपुष्पं निष्फलं यद्वच्छशकस्य विषाणकम् । वन्ध्यायाः

प्रसवो देवि क्लीबस्य द्रवमेव च । अग्निमुक्ता यदा विप्रास्तदा एते तु निष्फलाः । आदिमान्त्य विहीनानि मन्त्राणि च तथैव च । निष्फलानि भवन्त्येवं पिबतो मृगतृष्णिकाम् ।[१]

अहं परामर्शात्मक मन्त्र सभी लक्ष्यों की पूर्ति करने में समर्थ होते है—आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—"एतद्रूप परामर्शकृत्रिम मनाविलम् । अहमित्याहुरेषैव प्रकाशस्य प्रकाशता । एतद्वीर्यं हि सर्वेषां मन्त्राणां हृदयात्मकम् । विनानेन जडास्ते स्युर्जीवा इव बिना हृदा । अकृत्रिमै तद्धृदया रूढो यत्किंचिदाचरेत् । प्राण्याद्वा विमृशेद्वापि स सर्वोऽस्य जपो मतः ।।"[२]

वही गुरु भी है जो अहमात्मक परामर्श का ज्ञाता हो—

"गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं च वेदयेत् ।
पूज्यः सोऽहमिव ज्ञानी भैरवोदेवतात्मकः ।।"[३]

६२. 'मन्त्र' और कुण्डलिनी—

सारे मन्त्रों का मूल भगवती कुण्डलिनी है । वे परममन्त्र (मन्त्राधिराज) या मूलमन्त्र ओंकार का स्वस्वरूप हैं । सारे वर्ण, सारे मन्त्रों के नाद, सारे मन्त्र, सारे देवता, सारे पीठ, सारी वाणियाँ कुण्डलिनी के शरीर में ही स्थित हैं । 'मूलमन्त्र' भगवती कुण्डलिनी अपने 'परावाक्' या 'शब्दब्रह्म' का स्वस्वरूप है । वे ही जगज्जननी भी हैं और मातृका भी, वे ही नाद भी है और मन्त्र भी । वे ही (मन्त्ररूप) वाचक भी है और वाच्य भी ।

१. 'विवेक' में उद्धृत
२. तन्त्रालोक (४।१९२-१९४)
३. तन्त्रालोक
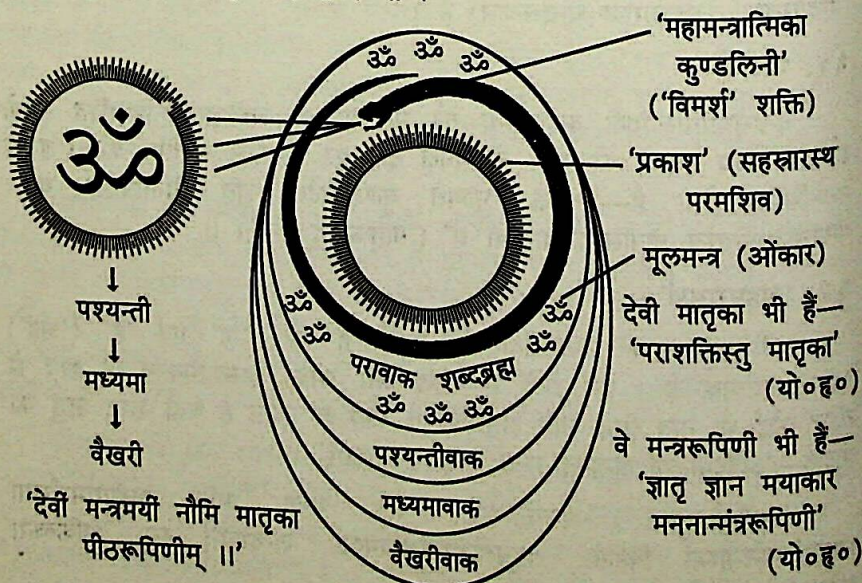
६३. वर्णात्मक 'मन्त्र' एवं ध्वन्यात्मक 'मन्त्र'—

'मन्त्र' के दो रूप हैं—१. वर्णात्मक, २. ध्वन्यात्मक ॥ वर्णात्मक नाम (मन्त्र) वे हैं जो बोले जा सकते हैं, सुने जा सकते हैं, जपे जा सकते हैं और लिखे जा सकते हैं । 'ध्वन्यात्मकमन्त्र' वे हैं जिसका न तो जीभ से जप किया जा सकता है, न उन्हें लिखा जा सकता है, न उन्हें बोला जा सकता है और न उन्हें सुना ही जा सकता है। यह वह ध्वनिमूलक एवं शक्तिपुञ्ज अक्षरसमष्टि है जो हृदय, नाभि, मूलाधार आदि चेतन-केन्द्रों से स्वतः आविर्भूत होता है । यह नादात्मक है और स्वयंभू है । 'मध्यमा', 'पश्यन्ती' एवं 'परावाक्' के केन्द्रों से इनका आविर्भाव होता है । 'मन्त्र' जप करने की वस्तु नहीं है प्रत्युत् होने की वस्तु है ।

६४. 'मन्त्र' और देवता-पारस्परिक अन्तर्सबन्ध—

मन्त्र और देवता में तत्त्वतः अभिन्नता है । जो मन्त्र है वही देवता है और जो देवता है वही मन्त्र है । दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । अन्तर केवल यह है कि एक 'नाम' है और दूसरा 'नामी', एक वाचक है और दूसरा वाच्य । 'देवता' वाच्य है—नामी है और 'मन्त्र' वाचक है—नाम है । 'वातुलशुद्धाख्यतन्त्र' में कहा गया है कि 'मन्त्र देवतारूप है । और यह जगत् मन्त्ररूप है'—"मन्त्रस्तु देवता रूपं मन्त्ररूपमिदं जगत् ॥"[१]

६५. 'मन्त्र' और उसका महत्व—

'मन्त्र' से ही जगत् की उत्पत्ति होती है, मन्त्र से ही जगत् का पालन होता है और मन्त्र से ही जगत् का विनाश होता है । 'मन्त्र' ही जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं संहार तीनों का अधिष्ठान है । 'मन्त्र' से ही ३३ कोटि देवता, तीनों लोक, चौदहों भुवन, चौदहों विद्याएँ, समस्त अण्ड (शाक्ताण्ड, मायाण्ड, प्रकृत्यण्ड, ब्रह्माण्ड) देवत्रय, सप्तलोक (तल, अतल, रसातल आदि), समस्त वर्णमाला, समस्त विद्याएँ एवं समस्त सत्ताएँ अस्तित्व में आती हैं ।

मारण, मोहन, उच्चाटन, विद्वेषण, स्तंभन, आकर्षण आदि समस्त क्रियाएँ मन्त्र द्वारा ही संपादित हैं—'कर्षणादि क्रियाः सर्वामन्त्रेणैव प्रकीर्तिताः ॥'[२]

बिना 'मन्त्र' के कोई क्रिया संभव ही नहीं है—

'तस्मान्मन्त्र क्रियार्थत्वाद्बिना मन्त्रं क्रिया न च ॥'[३]

'मन्त्र' के द्वारा ही देवों की स्थापना होती हैं, मन्त्रों के द्वारा ही यज्ञ आदि क्रियाओं का निष्पादन होता है, मन्त्र द्वारा ही स्नान, आहुति, तर्पण, प्रायश्चित्त, दीक्षा आदि क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं तथा मन्त्र द्वारा अणिमादिक सिद्धियाँ एवं सालोक्य आदि मुक्तियाँ प्राप्त की जाती हैं—मन्त्रों द्वारा ही सारे पापों से मुक्ति प्राप्त की जाती है ।

१-२. वातुल शुद्धाख्य तन्त्र

'मन्त्रेण देवता स्थाप्या मन्त्रेण यजनादयः । स्नानं मन्त्रेण कर्तव्यं मन्त्रेणाहुतितर्पणम् । प्रायश्चित्तं तु मन्त्रेण दीक्षामन्त्रेण चैव हि । अणिमादीनि मन्त्रेण सालोक्यादि पदं तथा । मन्त्रेण पातकादीनि मुच्यन्ते सर्वजन्मिनाम् । सर्वमन्त्रक्रियाश्चैव मन्त्र शृणु षडानन ।'[१]

'मन्त्र' मननधर्मा हैं । 'मन्त्र' त्राण का केन्द्र है । 'मनन' एवं 'त्राण'—इन दोनों धर्मों के निष्पादन के कारण ही इन्हें 'मन्त्र' कहा जाता है—'मननं सर्वपेक्षेषु त्राणं संसार सागरात् मननत्राणधर्म धर्मत्वात् मन्त्र इत्यभिधीयते ।।'[२]

६६. 'मन्त्र' और 'उपाय' तत्त्व—प्रत्यभिज्ञाशास्त्र (त्रिक् दर्शन) में मुक्ति के साधनों को 'उपाय' कहा गया है । आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने मुक्ति के साधनभूत इन उपायों के निम्न प्रकारों का उल्लेख किया है—

(१) 'अनुपाय' = 'आनन्दोपाय' = शांभवोपाय का चरमरूप
(२) 'शांभवोपाय' = शांभवसमावेश = शांभवमार्ग = 'इच्छोपाय'
(३) 'शाक्तोपाय' = शाक्तसमावेश = 'ज्ञानोपाय'
(४) 'आणवोपाय' = 'क्रियोपाय' = 'क्रियोपाय'—'ज्ञानोपाय'

(क) 'शांभवोपाय' = अभेदोपाय । (ख) 'शाक्तोपाय' = भेदाभेदात्मक । (ग) 'आणवोपाय' = भेदोपाय ।	'अभेदोपायमंत्रोक्तं शांभवं शाक्त मुच्यते । भेदाभेदात्मकोपायं भेदोपायं तदाणवम् ।।'[३]
(क) 'आणवोपाय' = ज्ञानोपाय (ख) ज्ञानोपाय = इच्छोपाय (ग) इच्छोपाय = शांभवोपाय	'आणव' 'मायीय' एवं 'कार्य' मलों के ध्वंस के साधन ।।

'आणवमल'—'कार्ममल'—'मायीयमल' । 'मल' ही संसारांकुर है । संकुचित ज्ञान ही 'मल' है—प्रच्छन्नज्ञानरूपता ही 'मल' है । यह पूर्णज्ञान की अख्याति है—'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुर कारणम् ।।'

'शिवसूत्र' में 'मन्त्र' को द्वितीयोन्मेष अर्थात् 'शाक्तोपाय के रूप में स्वीकार करते हुए मन्त्र की निम्न परिभाषा दी गई है—'चित्तं मन्त्रः' (२।१) इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य क्षेमराज ने 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में कहा है—'चेत्यते विमृश्यते अनेन परंतत्त्वम् इति चित्तं, पूर्णस्फुरत्ता सतत्वप्रासाद प्रणवादिविमर्शरूपं संवेदनम्, तदेव मंत्र्यते गुप्तम्, अन्तर अभेदेन विमृश्यते परमेश्वररूपम् अनेन, इति कृत्वा मन्त्रः । अतएव च पर स्फुरत्तात्मकमननधर्मात्मता, भेदमयसंसारप्रशमनात्मक त्राण-धर्मता च अस्य निरूच्यते । अथ च मन्त्रदेवता विमर्शपरत्वेन प्राप्ततत्सामरस्यम्' आराधक चित्तमेव मन्त्रः न तु विचित्रवर्णसङ्घट्टमामात्रकम् ।।'[४]

१-२. वातुल शुद्धाख्य तन्त्र
३. अभिनवगुप्त—'तन्त्रालोक' (प्र.आ.)
४. क्षेमराज—'शिवसूत्रविमर्शिनी'

कहा भी कहा गया है—

"उच्चार्यमाणा ये मन्त्रा न मन्त्राश्चापि तान्विदुः ।
मोहिता देवगंधर्वा मिथ्याज्ञानेन गर्विताः ॥"[१]

तात्पर्य यह है कि वर्णसङ्घट्टमात्र मन्त्र नहीं है प्रत्युत् "मन्त्रदेवताविमर्श परत्वेन प्राप्तसामरस्य आराधकचित्त" ही 'मन्त्र' है, इसी तथ्य को वरदराज ने भी शिवसूत्रवार्तिक में इस प्रकार स्वीकार किया है—'चेत्यतेऽनेन परमं स्वात्मतत्त्वं विमृश्यते । इति चित्तं स्फुरत्तात्मप्रासादादिविमर्शनम् । तदेव मंत्र्यते गुप्तमभेदेन विमृश्यते । स्वस्वरूपमनेनेति मन्त्रस्तेनास्यदैशिकैः । पूर्णाहन्तानुसंध्यात्मस्फूर्जन्मनन-धर्मता । संसारक्षय कृत्त्राणधर्मता च निरुच्यते । तन्मन्त्रदेवतामर्श प्राप्त तत्साम-रस्यकम् । आराधकस्य चित्तं च मन्त्रस्तद्धर्ययोगतः । अस्य चोक्तस्य मन्त्रस्य मननत्राणधर्मिणः ॥"[२]

यदि साधक एवं मन्त्र पृथक्-पृथक् रहेंगे तो मन्त्रसिद्धि संभव नहीं है इसीलिए साधक के चित्त को ही मन्त्रात्मक होने की अपेक्षा व्यक्त की गई है । ठीक भी है—

"पृथङ्मन्त्र, पृथङ्मन्त्री न सिध्यति कदाचन ।
ज्ञानमूलमिदं सर्वमन्यथा नैव सिद्धयति ॥"[३]

मन्त्र की इस जीवभूत शक्ति से रहित मन्त्र निष्फल है—

'मन्त्राणां जीवभूतां तु या स्मृताशक्तिव्यया ।
तयाहीना वरारोहे निष्फलाः शरदभ्रवत् ॥'[४]

६७. 'मन्त्र' के मुख्य तत्त्व—

उत्पलाचार्य ने 'स्पन्दप्रदीपिका' ('स्पन्दकारिका' की टीका) में मन्त्र में चार प्रधान तत्त्व स्वीकार किए हैं जो निम्न हैं—१. 'बीज', २. 'पिण्ड', ३. 'पद', ४. 'नाम' ।

(क) मन्त्र का धर्म है—१. मनन, २. त्राण ।
(ख) मन्त्र का बल है—निरावणा चित् शक्ति का उल्लास ।

अर्थात् 'पराशक्ति' । उसी शक्ति को लेकर 'मन्त्र' सहज नादशक्ति से उद्बोधित होकर प्रदीप्त होते हैं । उनमें सर्वज्ञता आदि का बल आ जाता है । जब सिद्ध व्यक्ति उनका प्रयोग करता है तब वे 'अनुग्रह' एवं 'निग्रह' करने में सक्षम हो जाते हैं ।

'त्रिकसार' में कहा गया है कि—"वर्णातीत निराकार परमतत्त्व का बोध हो जाने पर 'मन्त्र' मन्त्राधिपों के किङ्कर हो जाते हैं (वशीभूत हो जाते हैं ।) यदि ऐसा

---

१. श्रीमत्ज्ञानोत्तर
२. वरदराज—'शिवसूत्र वार्तिक'
३. श्रीकण्ठी संहिता
४. तन्त्रसद्भाव

नहीं हुआ तो कठोर अध्यवसाय करने पर भी वे कठपुतली के समान निष्फलचेष्ट ही रहते हैं क्योंकि चिच्छक्ति के बल के स्पर्श न होने पर वे केवल वर्णमात्रा अर्थात् जड़ अक्षरमात्र रह जाते हैं ।।''

'हंसपारमेश्वर' में क़हा गया है कि—''केवल वर्णरूप मन्त्र 'पशुभाव' में स्थित है । सुषुम्णामार्ग से उच्चारण करने पर वे 'पशुपति' हो जाते हैं ।

'तत्त्वरक्षाविधान' में कहा गया है कि—''आत्मसंवित् या परमपद में मन्त्र का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि वह शक्ति एवं क्रियाशून्य है । शक्ति के विषय में ही मन्त्र का प्रयोग करना चाहिए । वहीं जप सफल होता है ।''

'श्रीवैहायसी' में कहा गया है कि नादोर्ध्वध्वनि से बोधित जप करना चाहिए। शक्ति के ताने-बाने से हुए मन्त्राक्षरों का ध्यान करना चाहिए । उक्त रीति से जप करने पर 'मन्त्र' अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है ।

उत्पलाचार्य कहते हैं कि साधक के चित्त में मन्त्र लीन हो जाते हैं । जब शुद्ध बोधात्मक रूप से अन्तर्बाह्य दोनों में उदित मन्त्र का एक बार भी जप किया जाता है तो वह लक्ष बार किए गए जप के समान हो जाता है ।

'स्पन्दकारिका' में कहा गया है—

''तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः ।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनः ।।''

'मालिनीविजय' का मत है कि—जिस अवस्था में जीत अन्याधार—विनिर्मुक्त होकर स्वरूप में लीन होता है वही सम्पूर्ण मन्त्रों की उत्पत्ति का क्षेत्र है ।

'चित्तं मन्त्रः', 'कथा जपः'—कहकर 'शिवसूत्र' में 'मन्त्र' एवं 'जप' की अवधारणा को अत्यधिक वैज्ञानिक, यथार्थपरक, व्यावहारिक एवं बाह्याडम्बर तथा बाह्याचार-विनिर्मुक्त करने का प्रयास किया गया है । भास्करराय ने भी यही प्रयास किया है । 'कुलार्णवतन्त्र' में भी इसी दृष्टि को उपन्यस्त करते हुए साधकों से प्रश्न किया गया है कि—

जिह्वादग्धा परान्नेन हस्तौ दग्धौ प्रतिग्रहात् ।
मनोदग्धं परस्त्रीभिः कार्यसिद्धिं कथं भवेत् ?।।

अर्थात् इन विपरीत परिस्थितियों में—'मन्त्रसिद्धिं कथं भवेत् ?'

विषयानुक्रमणिका

द्वितीयोंऽशः

—✻—

॥ श्रीः ॥

श्रीभास्कररायमखिना प्रणीतं

वरिवस्यारहस्यम्

'प्रकाश'-संस्कृतव्याख्यानम् 'सरोजिनी'-
हिन्दीव्याख्यया च सहितम्

प्रथमोऽशः

विद्यानां च मनूनां मनुसंख्यानां च विद्यानाम् ।
उपदेष्टा जयतितरां नरसिंहानन्दनाथगुरुः ॥ १ ॥
वरिवस्यारहस्याख्यो ग्रन्थो यः स्वेन[1] निर्मितः ।
तत्र दुर्घटशब्दानामर्थः संक्षिप्य कथ्यते ॥ २ ॥

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्', 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादिश्रुत्या गुरूपसदनस्य तत्त्वज्ञानजनकत्वात् प्रथमं सकलमन्त्राधिष्ठातृदेवतापररूपं गुरुं श्लेषेण तद्दैवतं नरसिंहं च विघ्नविघाताय स्तुवन् सम्प्रदायं तदाज्ञयैव प्रवर्तयति—

प्रह्लादाभीष्टदाने विबुधसमुदयस्तूयमानापदाने-
ऽशेषक्षोणीभृदन्तः प्रविलसितपदाहोबलक्षेत्रगर्भात् ।
प्रादुर्भूते हिरण्यद्विरदमतिमदध्वान्ततन्त्रं निहन्तुं
धीरे सच्छास्त्रयोनौ मम भुवनगुरावस्तु भक्तिर्नृसिंहे ॥ १ ॥

(भगवान् नृसिंह से उनकी भक्ति की प्राप्ति हेतु निवेदन)

प्रह्लाद को स्वेच्छित पदार्थों का दान देने वाले, देव-समूह द्वारा संस्तुत विक्रम वाले, समस्त नृपतियों के मध्य सुशोभित चरणों वाले, अहोबल संज्ञक क्षेत्र के मध्य अहोवल की पत्नी के गर्भ से समुत्पन्न हिरण्यकशिपुरूपी मदान्ध हाथी की हत्या करने में धैर्यवान, श्रेष्ठ एवं शुभ शास्त्रों के मूल केन्द्र एवं समस्त भुवनों के गुरु नृसिंह में मेरी भक्ति (सुदृढ़) हो ॥ १ ॥

१. यस्तेन (?)

*** प्रकाश ***

प्रह्लादाख्यो दैत्यः, तदभीष्टानां दानं यस्मात्; पक्षे प्रकृष्टो ह्लादो ब्रह्मानन्दः, तस्य, अभीष्टानां धर्मार्थकामानां च दानं यस्मात्; तस्मिन् । विबुधानां देवानां पण्डितानां च समुदयेन समुदायेन स्तूयमानमपदानं पूर्वचरित्रं यस्य तस्मिन् । 'अपदानं कर्म वृत्तम्' इत्यमरः । हिरण्याख्यो योग्यतया हिरण्यकशिपुः, नामैकदेशे नामग्रहणात्; स एव द्विरदः, सिंहवध्यत्वात्; तम् । कीदृशं तम्? अतिशयितमद एवाज्ञानपरिणामत्वाद् ध्वान्तम्, तत्तन्त्रं तदधीनम्, मदपरवशमिति यावत्; पक्षे हिरण्यं धनोपलक्षणम्, द्विरदाः सेनाङ्गोपलक्षणम्, मतिरसच्छास्त्रज्ञानम्, तत्सम्बन्धी मदो येषां तेषां ध्वान्तानां ध्वकारोऽन्ते येषां नाम्नि तेषां माध्वानां तन्त्रं शास्त्रं निहन्तुं शेषक्षोणीभृतः शेषाचलस्यान्तः प्रविलसितं शोभमानं पदं स्थानं यस्याहोबलाख्यक्षेत्रस्य, तस्य गर्भान् मध्यात्, पक्षे, अशेषाणां समस्तानां क्षोणीभृतां राज्ञां मध्ये प्रविलसिते पदे चरणौ यस्य अहोबलाख्यस्य पुरुषधौरेयस्य, तस्य क्षेत्रं पत्नी, तस्या गर्भात्, प्रादुर्भूते; धीरे धैर्यशालिनि, पक्षे धियं रातीति धीरः पण्डितस्तस्मिन्; सतां शास्त्राणां योनिः कारणम्, 'यस्य निःश्वसितं वेदाः', 'छन्दासि जज्ञिरे तस्मात्' इत्यादि श्रवणात्; सच्छास्त्राण्येव योनिर्ज्ञापकहेतुर्यस्येति वा, 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रवणात्, शास्त्रयोनित्वाधिकरणे द्वेधापि व्याख्यानात्; पक्षे सच्छास्त्राणां योनिः कर्ता, ग्रन्थकर्तेति यावत्; तस्मिन् भुवनगुरौ नृसिंहे नरकेसरिणि, नृसिंहनामके च मम भक्तिरस्त्विति प्रार्थना । अत्रोपमेयोपमाया उपमाया अभेदस्य वा ध्वनिः । श्लेषोऽलङ्कारः । सोऽपि च प्रकृतोभयविषयकः सभङ्गोऽभङ्गश्च । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ १ ॥

> आ प्राचः कामरूपाद् द्रुहिणसुतनदप्लाविताद प्रतीचो,
> गान्धारात्[१] सिन्धुसान्द्राद्रघुवरचरितादा च सेतोरवाचः ।
> आ केदारादुदीचस्तुहिनगहनतः सन्ति विद्वत्समाजा,
> ये ये तानेष यत्नः सुखयतु समजान् कश्चमत्कर्तुमीष्टे ॥ २ ॥

(ग्रन्थकार का विद्योपासक विद्वत्समाज के प्रति आत्म निवेदन)

प्राची दिशा में ब्रह्मपुत्र (नामक) नंद से आप्लावित कामरूप तक, पश्चिम दिशा में सिन्धु नदी से आप्लावित गान्धार देश तक, दक्षिण दिशा में भगवान् राघवेन्द्र के द्वारा (यात्रा के समय) भ्रमणीकृत सेतुबंध रामेश्वरम् धाम तक एवं उत्तर दिशा, में हिमाच्छादित केदारनाथ धाम तक (फैले हुए) विद्वानों (विद्योपासकों) के जो-जो समाज विद्यमान हैं उन्हें मेरा यह ('वरिवस्यारहस्यम्' नामक ग्रन्थ-प्रणयन रूप) अध्यवसाय आह्लादित करे । भला पशु-गण को कौन व्यक्ति चमत्कृत करने की इच्छा करेगा? ॥ २ ॥

*** प्रकाश ***

कामरूपगान्धारौ देशौ । सेतुकेदारौ क्षेत्रे । द्रुहिणसुतब्रह्मपुत्र नदविशेषौ । विदुषां विद्योपासकानां समाजाः, 'न शिल्पादिज्ञानयुक्ते विद्वच्छब्दः प्रयुज्यते' इत्यादिना

१. सिन्धुसान्द्राद्रघु०

विद्वच्छब्दस्योपासकपरतायास्त्रिशत्यां प्रदर्शनात् । समजाः पशुगणाः । 'पशूनां समजो ऽन्येषां समाजः इत्यमरः ॥ २ ॥

*** सरोजिनी ***

आ प्राचः = पूर्व दिशा तक । **कामरूप** = कामरूप (आसाम) नामक पूर्वोत्तर प्रदेश । **द्रुहिणसुतनद** = ब्रह्मपुत्र नामक नद । **आप्लावित** = बाढ़ के जल से डूबा हुआ । (आप्लाव = जल की बाढ़) (आप्लव = आ + प्लु + अप् + । आप्लवन = आ + प्लु + ल्युट्) = डुबकी, गोता, स्नान, चारों ओर पानी का छिड़काव ।) **प्रतीचो** = पश्चिम ।

गान्धार = भारत के पश्चिम दिशा का एक प्रदेश जो पहले भारत का एक प्रदेश था । **सिन्धु** = सिन्धु नदी । **केदार** = हिमालयस्थ केदारनाथ नामक शिवधाम । **रघुवर** = रघुनन्दन । **चरित** = भ्रमण किया हुआ, यात्रा किया हुआ । **आसेतो** = सेतुबन्ध रामेश्वरम् तक । **अवाचः** = दक्षिण दिशा। **उदीची** = उत्तर दिशा । **तुहिनगहनत** = हिमाच्छादित । **विद्वत्समाजा** = विद्वानों का समुदाय ।

(भास्कर के मतानुसार—श्रीविद्योपासकों का समुदाय । "विदुषां विद्योपासकानां समाजाः न 'शिल्पादिज्ञानयुक्ते विद्वञ्छब्दः प्रयुज्यते'—इत्यादिना विद्वच्छब्दस्योपासक-परतायास्त्रिंशत्यां प्रदर्शनात्"—आचार्य भास्करराय ।)[१]

आचार्य भास्करराय का कथन है कि त्रिशती में इस बात की पुष्टि की गई है कि 'विद्वान' शब्द का अर्थ शिल्पादिक विज्ञान में निष्णात व्यक्ति नहीं है प्रत्युत् 'विद्वान' शब्द का अर्थ है—'श्रीविद्या के उपासक' । 'श्रीविद्या' का क्या अर्थ है? 'श्रीबीजात्मिका विद्या श्रीविद्येति रहस्यम्' ।[२]

समजाः = पशुगण । 'पशूनां समजोऽन्येषां समाजः' । (अमरकोश) आचार्य भास्करराय ने 'विद्वत्समाज' शब्द का 'विद्योपासक समाज' के अर्थ में प्रयोग करके समस्त वैदुष्य को श्रीविद्या की उपासना का पर्याय स्वीकार कर लिया है ।

स्पष्ट है कि आचार्य भास्करराय श्रीविद्योपासना को ही जीवन का परम पुरुषार्थ एवं वास्तविक ज्ञानोपासना स्वीकार करते हुए उसे सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं ।

स जयति महान् प्रकाशो यस्मिन् दृष्टे न दृश्यते किमपि ।
कथमिव तस्मिञ्ज्ञाते सर्वं विज्ञातमुच्यते वेदे ॥ ३ ॥

(प्रकाशस्वरूप परमशिव की महत्ता)

उस महिमामय प्रकाश (परमशिव) की जय हो जिसके दृष्टिगत होने पर अन्य कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता । लेकिन फिर वेद में ऐसा क्यों कहा जाता है कि—'उसके ज्ञात होने पर सब कुछ परिज्ञात हो जाता है ?'॥ ३ ॥

---

१. भास्करराय-'प्रकाश' २. 'लक्ष्मीधरा' (सौ०ल०टीका)

* प्रकाश *

स सर्वेषामात्मत्वेन प्रसिद्धः, महान् देशकालाद्यनवच्छिन्नः पराप्रकाश्यः; प्रकाशः सर्वदा अनावृतात्मस्वरूपज्योतिः, 'स्वरूपज्योतिरेवान्तः' इति रहस्यागमात्, 'न तत्र सूर्यो भाति' इत्यादिश्रवणाच्च । जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । यस्मिन्नधिष्ठाने दृष्टे निर्विकल्पात्मकचरमवृत्तिविषयीकृते सति किमपि दृश्यं न दृश्यते, अधिष्ठानज्ञाननाश्यत्वात् । अत एवैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं श्रुतावुक्तं कथं सङ्गच्छत इति साश्चर्यमाह—कथमिवेति । अथ वा, विवर्तवादं वेदान्तिसंमतं परिणामवादी तान्त्रिको दूषयति—कथमिवेति । तन्मते मृद्घटादिदृष्टान्तानुपपत्तिरित्यर्थः । अत्रेयं तान्त्रिकप्रक्रिया —'इच्छामि', 'जानामि' इत्यादावुत्तमपुरुषान्तर्भासमानं स्फुरणान्वयि ज्ञानमेव प्रकाशाभिधं ब्रह्म । तच्चा सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वकर्तृत्वपूर्णत्वव्यापकत्वादिशक्तिसंवलितम् । तस्य चानन्दरूपांश एव स्फुरणं परा अहंता, विमर्शः, परा ललिता भट्टारिका, त्रिपुरसुन्दरीत्यादिपदैर्व्यवह्रियते । उक्तं च विरूपाक्षपञ्चाशिकायां विश्वशरीरस्कन्धे—

'ईश्वरता कर्तृत्वं स्वतन्त्रता चित्स्वरूपता चेति ।
एते[1] ऽहंतायाः किल पर्यायाः सद्भिरुच्यन्ते ॥'

इति । पराहंतामन्तरेणेदंताया असंस्फुरणादहमिदमोः ससंबन्धिकत्वादिदंपदगम्यस्य दृश्यस्याहंतारूपशक्त्या तद्विशिष्टब्रह्मणा वा जन्यत्वम् । तच्च दृश्यं तत्परिणाम एव, 'तस्यां परिणतायां तु न कश्चित् पर इष्यते' इति वामकेश्वरतन्त्रात्, 'वाचारम्भणं विकारः' इत्यादिश्रुतीनां तत्रैव स्वारस्याच्च । शक्तिशक्तिमतोरुपादानोपादेययोरत्यन्तमभेदः, न पुनरौपनिषदादिवद्भेदाभेदौ । अत एव 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति सामानाधिकरण्यमभेदे, न पुनर्बाधायाम् । अद्वैतश्रुतयः सर्वा अप्येतदभिप्रायिका एवाविरुद्धाः । सर्वप्रमाणमूर्धन्यया श्रुत्या तदनुसारितन्त्रैश्चाद्वैते कथिते, तद्विरुद्धत्वेन भासमानः कार्यकारणयोर्भेदांश एव कल्पित आस्तां न पुनः सर्वोऽपि प्रपञ्चः । 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादिश्रुतिष्वपि भेदांशस्यैव निषेधो न प्रपञ्चस्य । 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादौ श्रूयमाणो भेदवत्प्रपञ्चाभावोऽपि विशेषणाभावप्रयुक्त एव । अत एव भामत्यां हाटकमकुटग्रन्थे भेदस्यैव हाटकन्यूनसत्ताकत्वं न मकुटस्योक्तम्, परिणामस्य परिणामिसमानसत्ताकत्वावश्यिकत्वात् । 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' इत्यत्रापि द्वैतशब्देन भेदस्यैव मिथ्यात्वमुच्यते, न पुनर्भेदवतः; तथात्वे तु प्रतियोगितासम्बन्धेन जगत् इवानुयोगितासम्बन्धेन ब्रह्मणोऽपि भेदवत्त्वस्य सत्त्वात् सदसद्भ्यामभावो निरूप्यत इति न्यायसिद्धत्वाविशेषान्मिथ्यात्वापत्तेः । ततश्च श्रुतेरपि परिणामवाद एव संमतः सिध्यति । भगवता व्यासेनापि 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इत्यस्मिन्नधिकरण एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञां मृद्घटनखनिकृन्तनादिदृष्टान्तम् 'बहु स्यां प्रजायेय' इत्यभिध्योपदेशादिकं चानुसंदधानेन परिणामवाद एवाभिप्रेतः, कण्ठरवेणोक्तश्च 'आत्मकृतेः परिणामात्' इति सूत्रे । भाष्यकारैरपि तत्र विवर्तवादानुसारेण व्याचक्षाणैरपि सौन्दर्यलहर्याम्, 'मनस्त्वं व्योम त्वम्—' इति श्लोके 'त्वयि परिणतायाम्' इति स्वाभिमतः परिणामवाद एव स्फुटीकृतः । अस्मिन् पक्षे रहस्यनामसहस्रे 'मिथ्याजगतदधिष्ठाना' इत्यादौ श्रूयमाणं मिथ्यात्वं तु स्वानतिरिक्तरूपत्वम्, घटादिरूपेणानित्यत्वं ब्रह्मरूपेण

नित्यत्वम्, मृद्धटयोरभेदेऽपि घटरूपेण ध्वस्तत्वं मृद्रूपेणाध्वस्तत्वं चेत्यादिवद्विरुद्ध-धर्मनिरासादिकमूह्यमित्यादिकः शाम्भवानन्दकल्पलतायां विस्तरः ॥ ३ ॥

*** सरोजिनी ***

स = वह । समस्त प्राणियों की आत्मा के रूप में विद्यमान तथा निखिल विश्व की अन्तरात्मा के रूप में परिज्ञात तथा प्रख्यात वे भगवान् परमशिव। **जयति** = जय हो । सर्वोत्कर्षपूर्वक विद्यमान है (सवोत्कर्षेण वर्तते) । **महान** = महनीय । महिमामय । 'विशङ्कटं पृथु बृहद्विशालं पृथुलं महत्' (अमर कोश) । महपूजायाम् (भ्वा०प०से०) । मह उत्सव तेजसोः (मेदिनी कोश) । **प्रकाश** = प्रकाश स्वरूप, स्वप्रकाश, पराप्रकाश्य । सर्वदा अनावृतात्मस्वरूप ज्योति—'स्वरूपज्योतिरे वान्तः' (आगम) 'न तत्र सूर्यो भाति' आदि (उपनिषद्) । **यस्मिन्** = जिस अधिष्ठान में । **दृष्टे** = दृष्टिगत होने पर । निर्विकल्पात्मक चरमवृत्ति के विषय बनने पर । **न दृश्यते किमपि** = कुछ भी दिखाई नहीं देता। द्रष्टा के लिए कोई दृश्य रह ही नहीं जाता । 'कथमिव उच्यते वेदे ?'—फिर वेद में ऐसा क्यों कहा जाता है? 'एक के जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है'—ऐसा वेदों में क्यों कहा गया है ? इस आत्मविरोधी कथन की सङ्गति कैसे बैठेगी ?

आचार्य भास्करराय का कथन है कि इस 'कथमिव उच्यते?' वाक्यांश को प्रस्तुत करने का उद्देश्य शाङ्कर विवर्तवाद का खण्डन करके परिणामवाद की स्थापना करना है—'विवर्तवादं वेदान्तिसम्मतं परिणामवादी दूषयति ॥'

आचार्य भास्कर कहते हैं[१]—'इच्छा करता हूँ', 'जानता हूँ', इत्यादि वाक्यों में उत्तम पुरुषान्तर्भासमान स्फुरणान्वयि ज्ञान ही 'प्रकाश' नामक ब्रह्म है । वह सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वकर्तृत्व, पूर्णत्व, व्यापकत्व आदि शक्तियों से संवलित है । उसका आनन्दरूपांश स्फुरण ही 'परा अहंता' 'विमर्श', परालिता भट्टारिका, त्रिपुरसुन्दरी आदि कहा जाता है । विरूपाक्षपञ्चाशिका के विश्वशरीर स्कन्ध में कहा गया है कि 'ईश्वरता कर्तृत्वं स्वतन्त्रता चित्स्वरूपता चेति ।'

'एतेऽहंतायाः किल पर्यायः सद्भिरुच्यन्ते ॥'—अर्थात् पराहंता के ये पर्यायवाची शब्द हैं ।

पराहंता के मध्य इदन्ता अस्फुरित है । 'अहं' एवं 'इदम्' के मध्य स्थित जो पारस्परिक सम्बन्ध है उसमें अहं जनक है और 'इदम्' जन्य है—अहं द्रष्टा है और इदं दृश्य है—अहं स्रष्टा है और इदं सृष्टि है ।[२] अहंता रूपशक्ति से विशिष्ट ब्रह्म ही इस 'इदं' का सृजन करता है । यह दृश्य विवर्त, नहीं परिणाम है ।[३]

यह दृश्य उसी परासत्ता का परिणाम है—'तच्च दृश्यं तत्परिणाम एव'

१-२. 'प्रकाश' नामक टीका

३. प्रकाश । 'शिवादिक्षित्यन्तरूपेण परिणामत इत्यर्थः । यथा क्षीरं दध्याकारेण परिणमते तथा चिच्छक्तिरेव सर्वाकारेण परिणमते ।' ('दीपिका' अमृतानन्द)

क्योंकि शास्त्रों में इसकी पुष्टि भी की गई है—'तस्यां परिणतायां तु न कश्चित् पर इष्यते ।।'[1] श्रुतियों के साथ भी इस कथन का स्वारस्य है—'वाचारंभणं विकारः ।।' शक्ति एवं शक्तिमान् या उपादान एवं उपादेय दोनों में अत्यन्त अभेद है । यहाँ उपनिषदादि की भाँति भेदाभेद नहीं है । अतः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' वाक्य में समानाधिकरण्य दिखाकर 'इदं' एवं 'ब्रह्म' में अभेद प्रतिपादित किया गया है । 'इदं' को 'विवर्त', नहीं कहा गया है । समस्त अद्वैतपरक श्रुतियाँ इसी दृष्टि की अभिप्रायिका हैं । समस्त मूर्धन्य श्रुतियों एवं तन्त्रों द्वारा अद्वैत का ही प्रतिपादन किया गया है । जो द्वैतभाव भासमान होता है वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि उन स्थलों में कार्यकारण में भेदांश की कल्पना की गई है ।

'नेह नानास्ति किञ्चन' वाक्य की उक्ति में भी केवल भेदांश का निषेध किया गया है न कि प्रपञ्च का । 'एकमेवाद्वितीयम्' वाक्य में जिस 'द्वितीय' का निषेध किया गया है वहाँ भी भेदवत्प्रपञ्चाभाव भी विशेषणाभाव प्रयुक्त मात्र ही है, इसीलिए 'भामती' में, 'हाटकमकुट' ग्रन्थ में भेद का ही हाटकन्यूनसत्ताकत्वं कहा गया है न कि मकुट का, क्योंकि परिणाम में परिणामी का समानसत्ताकत्व विद्यमान है । 'मायामात्रमिंद द्वैतम्' कहकर उपनिषदों में द्वैत या भेद का मिथ्यात्व प्रतिपादित किया गया है । न कि अभेदवान का । इस प्रकार की अनेक युक्तियों द्वारा आचार्य भास्करराय 'परिणामवाद' की स्थापना करते हैं और कहते हैं कि स्वयं वेद भी 'परिणामवाद' का ही प्रतिपादन करता है 'ततश्च श्रुतेरपि परिणामवाद एव संमतः सिध्यति ।।'[2]

भास्करराय कहते हैं कि भगवान् व्यासदेव ने भी 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' सूत्र में तथा 'आत्मकृते परिणामात्' सूत्रों में भी परिणामवाद का ही प्रतिपादन किया है ।[3] वेदान्तभाष्यकार भगवान् शङ्कराचार्य ने भी अपने शारीरक भाष्य एवं उपनिषद-गीता-भाष्यों में विवर्तवाद का समर्थन करते हुए भी 'सौन्दर्यलहरी' में 'परिणामवाद' का ही समर्थन किया है—'मनस्त्वं व्योमस्त्वं' श्लोक में 'त्वयि परिणतायाम्' कथन द्वारा आचार्य शङ्कर ने स्वाभिमत के रूप में 'परिणामवाद' की ही स्थापना की है 'परिणामवाद एवं स्फुटीकृतः ।।'[4]

रहस्यनामसहस्त्र में 'मिथ्याजगदधिष्ठाना' वाक्य द्वारा जो जगन्मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया हुआ दिखाई पड़ता है वह मिथ्यात्व-प्रतिपादन नहीं है प्रत्युत वह स्वानतिरिक्तरूपत्व का कथन मात्र है । 'जगत'—घटादिरूपेण अनित्य है किन्तु ब्रह्मरूपेण नित्य है । मृत्तिका एवं घट में अभेद तो है किन्तु मृत्तिका में घटरूपेण ध्वस्तत्व है किन्तु घट की मृत्तिका के रूप में अपनी सत्ता अध्वस्त है ।[5]

प्रकाश—'परमशिव' प्रकाश है और 'विमर्श' उसका स्वस्वभाव है । वह प्रकाशात्म है इसीलिए 'प्रकाश' है । अनावृतात्मस्वरूप ज्योति ही 'प्रकाश' है ।

---

१. वामकेश्वर तन्त्र
२-४. प्रकाश
५. शाम्भवानन्दकल्पलता (प्रकाश में उद्धृत)

'प्रकाशः सर्वदा अनावृतात्मस्वरूप ज्योतिः' स्वस्वभावरूप चिदात्मा महेश्वर ही 'प्रकाश' कहे गये हैं ।[१]

'प्रकाश' शब्द का प्रयोग अन्तस्थ सत्ता के उस स्वरूप के लिए किया जाता है जो इसके आभास-जाल के अधिष्ठाता का कार्य करता है । ठीक उसी प्रकार यथा बुद्धि किसी व्यक्ति के कल्पना-काल में उसकी कल्पनाओं का आधार बनती है ।

वस्तुतः अखण्ड आत्मज्ञान ही 'प्रकाश' है जो कि स्वरूपतः ब्रह्म है— 'ज्ञानमेव प्रकाशाभिधं ब्रह्म ॥'[२] अमृतानन्द ने ठीक ही कहा है कि—भूमि से लेकर शिवपर्यन्त स्थित विश्व के अस्फुट आमर्शन का स्फुटीकार 'प्रकाश' है—तथा उस विश्व का 'इदं' के रूप में अङ्गीभाव रूप आमर्शन 'विमर्श' है—"विश्वस्य शिवादेर्भूम्यन्तस्य प्रकाशामर्शने अस्फुटस्य स्फुटीकारः 'प्रकाशः' इदन्तया हृदयङ्गमीभावो विमर्श एवामर्शनम् ॥" (दीपिका) ॥

यह प्रकाशस्वरूप 'परमशिव' विमर्शाख्य अनन्योन्मुख स्वातंत्र्य स्वभाव से अपनी 'पूर्णहन्ता' के आनन्द में अहर्निश स्पन्दमान रहता है । उसके आनन्दस्वभाव की अभिव्यक्ति ही उसकी शक्ति का स्फार है—

'सर्व एवायं विश्वप्रपञ्च आनन्द शक्ति स्फारः ॥' (तन्त्रालोक) ॥

वही परमेश्वर अपनी माया शक्तिरूपिणी 'स्वातंत्र्यशक्ति' के द्वारा अपने को अपने द्वारा सङ्कुचित सा अवभासित करता हुआ—१. 'विज्ञानाकल' २. 'प्रलयाकल' एवं ३. 'सकल' बन जाता है (तदेवम् असौ भगवान् स्वमाया शक्त्याख्येन अव्यभिचरित स्वातंत्र्य शक्तिमहिम्ना स्वात्मनैव आत्मानं सङ्कुचितमिव अवभासयन् विज्ञानाकलः प्रलयाकलः सकलश्च संपद्यते ।)[३] परमशिव ही प्रकाश है—

'तस्मात् प्रकाश एवासौ गीतो यः परमः शिवः ॥' (मा०वि०)

उसकी प्रकाशरूपता ही 'चिच्छक्ति' है, उसका स्वातन्त्र्य ही 'आनन्दशक्ति' है, उसका चमत्कार ही 'इच्छाशक्ति' है, उसकी आमशत्मिकता ही 'ज्ञानशक्ति' है, और उसका सर्वाकारयोगित्व ही क्रियाशक्ति है । १. तस्य प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः । २. स्वातंत्र्यं आनन्दशक्तिः । ३. तच्चमत्कारः इच्छाशक्तिः ४. आमशत्मिकता ज्ञानशक्तिः। ५. सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः इति ।[४]

प्रकाशरूप परमेश्वर समस्त जगत् की आत्मा है । वह एक ओर तो सर्वमय है तो दूसरी ओर सर्वोत्तीर्ण भी है । वह अनवच्छिन्न चिदानन्द विश्रान्त, सर्वशक्तिरवचित महेश्वर संविदात्मा है—"इह खलु निखिल जगदात्मा सर्वोत्तीर्णाश्च सर्वमयश्च विकल्पा सङ्कुचित संवित्प्रकाशरूपः अनवच्छिन्नचिदानन्दविश्रान्तः प्रसरद-

---

१. (क) परात्रिंशिका तत्वसंदोह, (ख) प्र०हृदय, (ग) तन्त्रालोक, (घ) वरिवस्या०

२. वरिवस्यारहस्यम्

३-४. 'जन्ममरणविचार'

विरलविचित्रपञ्चवाहवाहवाहिनीमहोदधि:, निरतिशय स्वातंत्र्य सीमनि प्रगल्भमान: सर्वशक्तिखचित एक एव आस्ति संविदात्मामहेश्वर: ।[१]

प्रकाश एवं विमर्श—शैवशाक्तागम में शिव को **प्रकाश** एवं शक्ति को **विमर्श** की आख्या प्रदान की गई है—**उत्पलदेवाचार्यः** (सम्बन्धसिद्धि)

१. 'भावभेदादि सम्बन्धमयेन वपुषोन्मिषन् ।
जयत्येकोऽपि विश्वत्मा **प्रकाशः** परमेश्वर: ॥'[२]

२. "स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वर: ।
'विमर्श' एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यत: ॥" (प्र०का० १। ८८)

३. 'आत्म**विमर्श**रूपा अनादिनिधना प्रभो: स्वभावभूता ।' (प्र०का० २।२)

४. 'स परमात्मा चिद्रूपो **विमर्शा**ख्येनैव मुख्यस्वभावेन ।' (प्र०का० १।८८)

५. 'स्वभावमवभासस्य **विमर्शं** विदुरन्यथा ।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपम: ॥ (प्र०का० १।४२)

६. **प्रकाशात्मा** प्रकाश्योऽर्थो ना प्रकाशश्च सिद्ध्यति । (प्र०का० १।३४)

७. न च प्रकाशोभिन्न: स्यादात्यार्थस्य प्रकाशता: । (प्र०का० १।३३)

८. **प्रकाशस्यात्म** विश्रान्तिरहंभावोहि कीर्तिंत: । (अजउ० २२)

९. इदमित्यस्य विच्छिन्न **विमर्शस्य** कृतार्थता ।
या स्वस्वरूपे विश्रान्ति **विमर्शः** सोऽहमित्ययम् ॥ (अजउ० १५)

१०. मुक्त्वान्यस्य **प्रकाशस्य विमर्श**रहितात्मन: । (अजउ० १४)

११. एवमात्मन्यसत्कल्पा: **प्रकाशस्यैव** सन्त्यमी ।
जडा: **प्रकाश** एवास्ति स्वात्मन: स्वपरात्मभि: ॥ (अजउ० १३)

१२. इत्थं स संविदघन एक एव शिव: स विश्वस्य **परप्रकाशः** । (पू०त्र्य०)

१३. अकार: सर्ववर्णाग्र्य: **प्रकाशः** परमेश्वर: ।[३]

१४. सकल भुवनोदय स्थिति लय मय लीला विनोदनो द्युक्त: ।
अन्तर्लीन **विमर्शः** पातु महेश: **प्रकाशमात्रतनुः** ॥[४]

१५. परशिवरविकरनिकरे प्रतिफलति **विमर्शदर्पणे** विशदे ।[५]

---

१. ज०म०वि०(भट्ट वामदेवाचार्य)
२. 'स्फुरणान्वयि ज्ञानमेव **प्रकाशाभिधं** ब्रह्म ।' तस्य चानन्दरूपांश एवस्फुरणां पराहन्ता **विमर्शः** परालतिताभट्टारिका त्रिपुरसुन्दरीत्यादिपदै: व्यवह्रियते । (वरिवस्यारहस्य—भास्कराचार्य)
३. नान्दिकेश्वर काशिका
४-५. कामकलाविलास (पुण्यानन्दनाथ)

१६. भावि चराचर बीजं शिवरूप**विमर्शनीर्मला**दर्शः ।[1]

१७. तस्यादि ददौ स्वशक्त्यै कामेश्वर्यै **विमर्शरूपिण्य** ।[2]

१८. स्वाभाविकी सफुरत्ता **विमर्शवपुरस्य** विद्यते शक्तिः ।[3]

१९. इह खलु भगवान् **प्रकाशमूर्तिः** परमशिवः स्वात्मानं विमर्शांशेन विभज्य· देवः प्रकाशकः महादेवो महाऽप्रकाशात्मा ।[5] शिवस्य प्रकाशात्मनो दीपस्य शक्तिर्विमर्शाख्यैव प्रभा ।।[6]

२०. तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः ।
विमर्शः परमाशक्तिः सर्वज्ञ ज्ञानशालिनी ।।[7]

२१. स जयति महान् **प्रकाशो** यस्मिन् दृष्टे न दृश्यते किमपि ।[8]

२२. नैसर्गिकीस्फुरत्ता **विमर्शरूपास्य** वर्तते शक्तिः । तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति ।[9]

नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरुपास्य वर्तते शक्तिः ।
तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति ।। ४ ।।
सावश्यं विज्ञेया यत्परिणामादभूदेषा ।
अर्थमयी शब्दमयी चक्रमयी देहमथ्यापि च सृष्टिः ।। ५ ।। (वरिवस्या०)
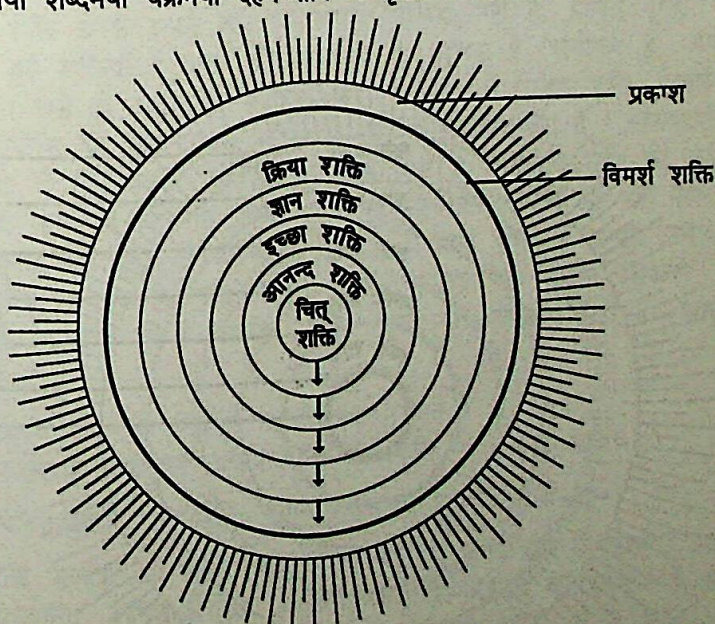
१-२. कामकला०
४-६. दीपिका (अमृतानन्द योगी)
८-९. वरिवस्यारहस्य
३. सौभाग्यसुधोदय (अमृतानन्द योगी)
७. 'कालिकाक्रम'

'प्रकाश' द्वारा
आत्मनिष्ठ 'विमर्श' का
दर्शन
शब्दमयी सृष्टि
चक्रमयी सृष्टि
देहमयी सृष्टि
अर्थमयी सृष्टि
क्रिया शक्ति
ज्ञान शक्ति
इच्छा शक्ति
आनन्द शक्ति
चित् शक्ति
परमशिव
क्रियाशक्ति
ज्ञानशक्ति
इच्छाशक्ति
आनन्दशक्ति
चित्शक्ति
अव्यक्तजगत
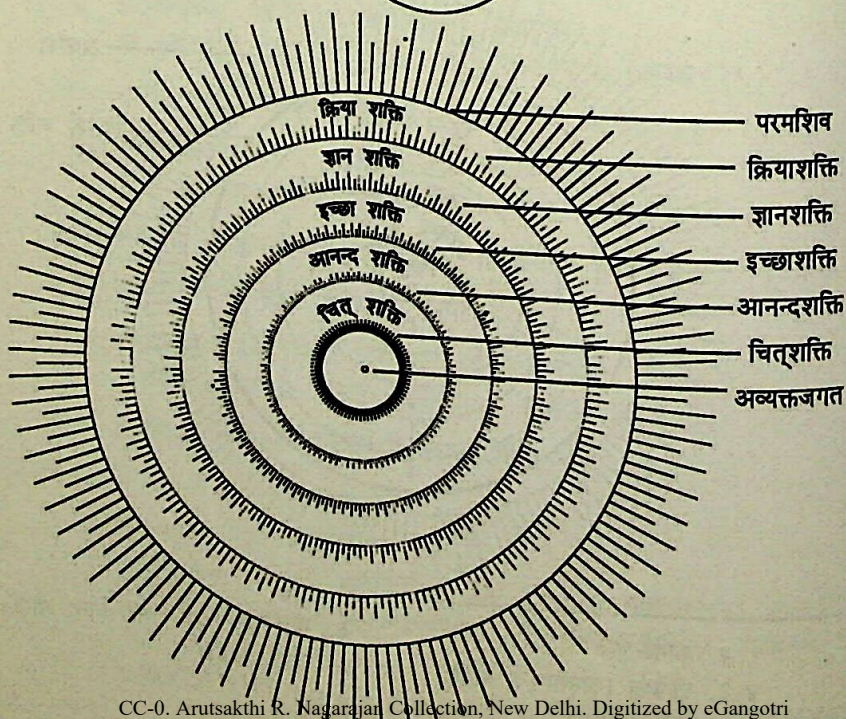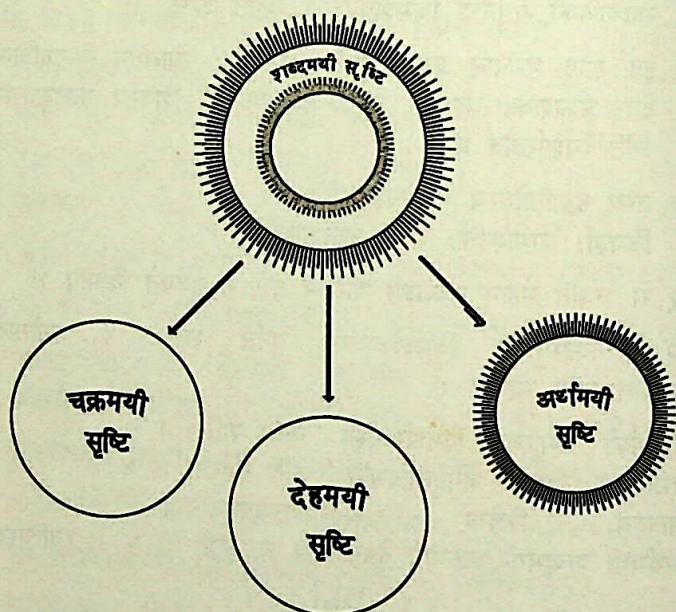
इममेवार्थं श्लोकद्वयेनाह—

नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपास्य वर्तते शक्तिः ।
तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति ॥ ४ ॥

(विमर्श शक्ति और उसकी महत्ता)

इसकी (परमशिव रूप **'प्रकाश'** की) शक्ति स्वाभाविक, स्फुरणात्मिका एवं विमर्शरूपा है । उसके योग से ही शिव जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार किया करता है ॥ ४ ॥

*** प्रकाश ***

इहोत्पादनादि त्रयं तिरोधानानुग्रहयोरुपलक्षणम् ॥ ४ ॥

*** सरोजिनी ***

'नैसर्गिकी' = स्वाभाविक, निसर्गजन्य, अकृत्रिम, सहज शक्ति के दो प्रमुख भेद हैं—(१) नैसर्गिक (२) अनैसर्गिक । दाहकता अग्नि का, गन्ध पृथ्वी का रस जल का, शब्द आकाश का, स्पर्श वायु का नैसर्गिक गुण है किन्तु अग्नि-संपर्क से, प्रज्वलित लौहखण्ड में जलाने की शक्ति, मुखावयवों से निकलती ध्वनि या शब्द की शक्ति उनके अपने गुण या अपनी शक्तियाँ नहीं हैं, प्रत्युत् दूसरों से उधार ली हुई शक्तियाँ हैं अतः परिस्थितिजन्य हैं, क्षणिक हैं, संयोगज हैं, अतः कृत्रिम हैं । इन्हें ही अनैसर्गिक शक्तियाँ कहेंगे । शिव में निहित शक्ति नैसर्गिक शक्ति है क्योंकि वह परमशिव से अभिन्न है और उससे अविच्छेद्य है । सांख्यदर्शन की मान्यता है कि 'प्रकृति' (शक्ति) पुरुष से भिन्न है । यद्यपि सृष्टि का कार्य 'प्रकृति' ही करती है और वह बिना पुरुष की सहायता के कर भी नहीं सकती 'प्रकृति' ही करती है और वह बिना पुरुष की सहायता के कर भी नहीं सकती क्योंकि प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से ही सृष्टि हो पाना संभव है अन्यथा नहीं— 'पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः' तथापि सांख्य की 'प्रकृति' प्रकाश के 'विमर्श' के समरूप नहीं हैं क्योंकि 'प्रकृति' पुरुष से अविच्छेद्य नहीं है—प्रत्युत् विच्छेद्य है—

'रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात ।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः ॥' (सां०का०५९)

'विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके ।' (सां०सू०)

जबकि 'प्रकाश' की शक्ति (प्रकाश' की नैसर्गिक शक्ति होने के कारण) उससे 'चन्द्रचन्द्रिकयोरिव' अभिन्न है अतः उसका निसर्ग है—प्रकाश का स्वभाव हैं और उसकी अन्तःशक्ति है—'विचित्रजगन्निर्माणादि सामर्थ्यरूपा शक्तिः । न भिन्ना... । कल्पित भेदाभेदनिर्वचनीयतादात्म्यसम्बन्धः ।[१] ओं ह्रीं ब्रह्माभिन्ना शक्तिः ॥

१. हयग्रीव— शाक्तदर्शनम्' (प्र०अ०। पृ०१।२)

(८।३।१५)[१] यह स्वाभाविकी है—'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बालक्रिया च ॥'

'स्फुरत्ता' = स्फुरणात्मिका । स्फुरणरूपा । शक्ति स्फुरणात्मिका है । 'यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी । स्फुरत्तात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः ॥'[२] 'स्फुरत्ता' का क्या अर्थ है? शक्ति सृष्टिरूपा है अतः पराशक्ति का विश्वसर्जन व्यापार ही 'स्फुरत्ता' कहलाता है—'विश्वसर्जनमेव पराशक्तिः स्फुरत्ता, तस्याः सृष्टिरूपत्वात ॥'[३] 'सेयं स्फुरत्तारूपा सृष्टिरेव क्रिया कृतिः यत्नः ।'[४] शक्ति में यह स्फुरत्ता भी नैसर्गिक होती है क्योंकि वह स्वनिष्ठा होती है—'आत्मनिष्ठां स्फुरत्ताम्'[५], 'सा देवी स्वेच्छयास्वनिष्ठां स्फुरत्तां यदा पश्यति ।'[६] स्फुरत्ता भगवती का अभिधान भी है—'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा, परावाक् स्वरसोदिता । स्वातंत्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मानः । सा स्फुरत्ता महासन्ता देशकालाविशेषिणी ॥'[७]

'विमर्श'— स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः ।
विमर्श एव देवस्य शुद्धेज्ञान क्रिये यतः ॥ (प्र०का० १।८८)

'पूर्णता प्रत्यभिज्ञा' में परमशिव की स्वातन्त्र्यलक्षणा, नैसर्गिकी, स्फुरत्तात्मा पराशक्ति को ही 'विमर्श' कहा गया है—

'नैसर्गिकी स्फुरत्तात्मा विमर्शाख्या परा प्रभोः ।
अक्रमा क्रमरूपेण शक्तिः स्वातन्त्र्यलक्षणा ॥'[८]

विमर्शमयी होने के कारण ही पराशक्ति को विमर्श भी कहा जाता है, इसीलिए आचार्य क्षेमराज ने 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में चिति शक्ति को भगवती स्वतन्त्रा, पराशक्ति, शिवभट्टारिका के साथ ही साथ उन्हें 'अनुत्तरविमर्शमयी' भी कहा है—

पराशक्तिरूपा चितिः एव भगवती स्वतन्त्रा, अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारिका-भिन्ना ॥'[९] परास्वात्मसंवित्ति में ही विमर्शत्व निहित है । 'परायाः स्वात्मसंवित्तेर्विमर्शत्वं न्यरूपयत् ॥'[१०]

१. 'विमर्श' भगवान् का मुख्य स्वभाव है—

'स परमात्मा चिद्रूपो विमर्शाख्ये नैव मुख्यस्वभावेन ।'[११]

२. 'विमर्श' प्रकाश की अन्तर्लीन, वह अनुत्तरा अभिन्न शक्ति है जो कि समस्त संसार की सृष्टि, स्थिति एवं संहार का मूलाधार है—सकलभुवनोदय स्थितिलयमयलीला विनोदनोद्युक्तः। अन्तर्लीन विमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्रतनुः ॥[१२]

---

१. शाक्तदर्शनम् (८।३।१५)
२. योगिनीहृदय (९)
३. दीपिका (अमृतानन्दनाथ)
४-६. सेतुबन्ध (भास्करराय मखिन्)
७. प्रत्यभिज्ञाकारिका
८. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा
९. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (क्षेमराज)
१०. परात्रिंशिका तात्पर्य दीपिका
११. प्र०का० (१।८८)
१२. कामकलाविलास

३. यह शिव की वह स्फुरणात्मिका एवं नैसर्गिक शक्ति है जिसकी सहायता से भगवान् शिव जगत् की उत्पत्ति करते हैं, उसका पालन करते हैं एवं उसका संहार करते हैं—

नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपास्य वर्तते शक्तिः ।
तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति ॥[१]

४. भगवान् परमशिव 'प्रकाश' ही का अपना स्वेच्छा, विभक्तस्वरूप ही विमर्श है—'इह खलु भगवान् प्रकाशमूर्ति परमशिवः स्वात्मानं विमर्शांशेन विभज्य ।'[२]

५. 'विमर्श' दीपकस्वरूप प्रकाशात्मा शिव की विमर्शाख्या नामक प्रभा है— 'शिवस्य प्रकाशात्मनो दीपस्य शक्तिर्विमर्शाख्यैव प्रभा ।'[३]

६. परमात्मा का आनन्दरूपांश ही 'स्फुरत्ता' 'परा' 'अहंता' परालतिता भट्टारिका, त्रिपुर सुन्दरी, एवं विमर्श है ।[४]

७. सृष्टि अवस्था में विश्वाकार होने से, स्थिति की अवस्था में विश्व का प्रकाशन करने से एवं संहार की अवस्था में समस्त प्रपञ्च को आत्मसात करने से शिव में जो अकृत्रिम अहंभाव है उसे ही 'विमर्श शक्ति' कहते हैं[५]—

'विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वाप्रकाशेन विश्वसंहारेण च अकृत्रिमाहम इति विस्फुरणम् ॥' (पराप्रावेशिका)

८. विमर्श एक दर्पण है जिसमें पर शिवरूप प्रतिबिम्बित हुआ करता है 'पर शिव रविकरनिकरे प्रतिफलति विमर्शदर्पणे विशदे ॥[६]

९. अवभासों का स्वभाव ही 'विमर्श' है—

'स्वभावमवभासस्य विमर्श विदुरन्यथा'

१०. जो 'सोऽहं' इत्याकारक आत्मस्वरूपविश्रान्ति है वही 'विमर्श' है—'या स्वस्वरूपेर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्' (अजड०२२ । प्रत्यभिज्ञाकारिका) ॥ 'विमर्श' परमशिव का पूर्ण अहं (पूर्णाहन्ता) है ।

११. परमात्मा परमशिव की स्वनिगूढा, स्वातंत्र्यस्वरूपा, कामेश्वरीरूपा, त्रिपुरसुन्दरीस्वरूपा, ललिताख्या पराशक्ति है वही विमर्श कहलाती है ।

१२. 'प्रकाश' और 'विमर्श' परस्पर सर्वथा अभिन्न है । एक के अभाव में भी दूसरे की कल्पना असंभव है । इनमें अभिन्नाभाव सम्बन्ध है—'प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात् । स च प्रकाशो न पृथक् विमर्शात् ॥'[७]

---

१. वरिवस्यारहस्यम्
२. दीपिका (अमृतानन्द)
३. अमृतानन्द—'दीपिका'
४. वरिवस्यारहस्यम्
५. कामकलाविलास
६. प्र०का० (१।४२)
७. विज्ञान भैरव विवृति (पृ० १२२)

१३. यह 'विमर्श' ही उसकी अपने महेश्वरता की पूर्ण प्रतीति है—'स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः ।।'[१]

१४. प्रकाश एवं विमर्श अभिन्न होते हुए भी 'प्रकाश' शिवरूप है एवं 'विमर्श' शक्तिरूपा है । शिव एवं शक्ति का यह नित्य सामरस्य ही 'परमशिव' है ।

१५. शिव के बिना शक्ति का अपना कोई अस्तित्व नहीं और शक्ति के बिना शिव स्कटिक आदि की भाँति जड़ हो जाएगा क्योंकि स्फटिक एवं मणि आदि प्रकाशरूप होते हुए भी अपनी सत्ता का विमर्शन (प्रतीति) नहीं कर सकते । इसीलिए कहा गया है—

'न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी । शिवशक्तस्तथाभावानिच्छया कर्तुमीहते । शक्तिशक्तिर्मतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ।।'[२] शक्तिस्वभाव से शक्त होने पर ही शिव कर्ता बन पाता है अन्यथा नहीं ।

१६. शक्ति ही आत्मारूप परमशिव का 'विमर्श' है । इसी 'विमर्श' के बल पर शिव 'कर्तुं' 'अकर्तुं' एवं अन्यथाकर्तुं में समर्थ हैं क्योंकि 'विमर्शोहि सर्वसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति, उभयम् एकीकरोति एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः ।।'[३]

१७. शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त ३६ तत्त्वों में अभेदरूप से स्फुरित आत्मा का इच्छाप्रसार ही उस विश्वोत्तीर्ण परम शिव का विश्वात्मक रूप है । इसे, शैव तन्त्रों में 'विमर्श' कहा गया है । 'विमर्श' विश्वात्मक है । विमर्श परमशिव की शक्ति है । विमर्श (शक्ति) का स्फार ही यह समस्त प्रपञ्च है—क्रियाशक्तिरेऽव (स्वातंत्र्यामर्श-रूपायाः) अयं सर्वोविस्फारः ।।'[४]

१८. 'विमर्श' चिदात्मा के प्रकाश स्वरूप की प्रतीति है । यह 'विमर्श' ही उसका 'स्वातंत्र्य' है । इसके द्वारा परमशिव परनिरपेक्ष होकर स्वात्ममात्र की पूर्णता में विश्रान्त रहता है उसकी पर-निरपेक्ष आत्मपूर्णता की प्रतीति ही उसका आनन्द है.... 'स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्दरूपो' क्योंकि 'अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थतः आनन्दः'[५] चित्अंश शिवभाव है और आनन्दांश शक्तिभाव है अतः परमशिव का जो आनन्द है उसका भी अधिष्ठान 'विमर्श' है । एक ही शिव प्रकाशस्वरूप के प्राधान्य की दृष्टि से 'विश्वोत्तीर्ण' है और विमर्शस्वरूप के प्राधान्य से विश्वमय है अतः परमशिव की विश्वमयता का आधार भी 'विमर्श' ही है । विमर्श ही उसकी स्वातंत्र्य शक्ति है ।

१९. परमेश्वर प्रकाशात्मा है और प्रकाश विमर्शस्वभाव है—'परमेश्वरः प्रकाशात्मा प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः ।।'[६]

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (१-१।८।११) २. शिवदृष्टि (३।२-३)
३-४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग-२, पृ० ५, ४२)
५. ई०विम० (भाग-१, पृ० २०७) ६. पराप्रावेशिका

'विमर्श'—प्रकाशात्म शिवरूपी दीपक की प्रभा ही 'विमर्श शक्ति' कही गई है—'शिवस्य प्रकाशात्मनो दीपस्य शक्तिर्विमर्शाख्यैव प्रभा ।'[१]

'विमर्श' उस नित्य शक्ति को कहते हैं जो शिव के भीतर पूर्वस्थित पदार्थों के अवभासन में सहायता करती है । परमात्मा का आनन्दरूपांश ही 'स्फुरत्ता' 'पराअहंता', 'पराललिता भट्टारिका' 'त्रिपुरसुन्दरी' एवं 'विमर्श' आदि पदों द्वारा अभिहित किया जाता है—'तस्य चानन्दरूपांश एवं स्फुरणं परा अहंता, विमर्शः, पराललिता भट्टारिका, त्रिपुरसुन्दरी, इत्यादि पदैः व्यवह्रियते ।'[२] 'विमर्श' शिव का स्वभाव है । तत्त्व प्रकाशात्मा है और विमर्श ही उसका स्वभाव है । 'सृष्टि' अवस्था में विश्वाकार होने से, 'स्थिति' अवस्था में विश्व को प्रकाशन द्वारा तथा 'संहार' अवस्था में आत्मसात् करने से शिव में पूर्ण जो अकृत्रिम अहंभाव है उसी को 'विमर्श' शक्ति कहते हैं ।[३] यदि शिव में 'विमर्श' शक्ति न होती तो वे अनीश्वर एवं जड़ हो जाएंगे । चित, चैतन्य, परावाक, परमात्मा का ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता आदि 'विमर्श' के ही पर्यायवाची शब्द हैं ।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'विमर्श' शब्द 'वि' उपसर्ग सहित 'मृश' धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है और उसका अर्थ है—किसी तथ्य का अनुसंधान, किसी विषय का विवेचन या समीक्षा । दार्शनिक दृष्टि से 'विमर्शतत्त्व' इस अर्थ से पृथक् एक पारिभाषिक पद के रूप में व्यवहृत होकर परम शिव की समवायिनी पराशक्ति के अर्थ में व्यवहृत होता है ।

परमेश्वर के हृदय में सिसृक्षा उत्पन्न होते ही उनके जो दो रूप हो जाते हैं उनमें से शिवरूप 'प्रकाश' है एवं शक्तिरूप 'विमर्श' है । 'विमर्श' का अर्थ है अकृत्रिम एवं पूर्णतम अहं की स्फूर्ति । विमर्शस्वरूपा स्फूर्ति सृष्टिकाल में विश्वाकार में रूपायित होने एवं प्रलयकाल में विश्वसंहरण (विश्व को अन्तर्विलीन करने) के रूप में प्रस्तुत होती है । 'विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरेण च अकृत्रिमाहमिति स्फुरणम्' ।।[४] विमर्श के द्वारा प्रकाश का अनुभव होता है और प्रकाश की स्थिति में विमर्श की कल्पना सङ्गत होती है । जिस प्रकार दर्पण के बिना मुख का प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं हो पाता उसी प्रकार विमर्श के बिना प्रकाश का स्वरूप पूर्ण नहीं हो पाता । जिस प्रकार शर्करा में माधुर्य एवं सुरा में मादकता होते हुए भी उन्हें इनका ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार शक्ति के बिना शिव को अपने प्रकाशस्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता। शिव में अपने चैतन्य का ज्ञान 'शक्ति' के माध्यम से होता है । यदि शक्ति नहीं तो शिव मात्र शव रह जाता है—

> 'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं ।
> न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।।'[५]

---

१. दीपिका (अमृतानन्द) २. भास्करराय (व०र०)

३-४. पराप्रावेशिका (पृ० १-२)

५. शङ्कराचार्य 'सौन्दर्यलहरी' । 'तस्य देवादिदेवस्य परबोध स्वरूपिणः । विमर्शः परमा शक्तिः सर्वज्ञा ज्ञानशालिनी' ।। (श्री कालीकुल)

'पराशक्तिरूपा चितिः एव भगवती स्वतन्त्रा अनुत्तर विमर्शमयी शिव भट्टारिकाभिन्ना ॥'[१]

शिवस्य प्रकाशमयस्य प्रथा विमर्शशक्तिः ॥ (अमृतानन्द योगी) शिवस्य प्रकाशात्मनो दीपस्य शक्तिर्विमर्शाख्यैव प्रभा, सा निर्विकल्पात्मना विश्वाकारा मेयमातृप्रमाप्रमाणभेदैः सङ्कुचद्रूपा ॥'[२] विश्वाकारप्रथा षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मना परिणता विमर्शशक्तिः ॥[३]

'विश्वस्य शिवादेर्भूम्यन्तस्य प्रकाशामर्शने प्रस्फुटस्य स्फुटीकारः प्रकाशः । इदन्तया हृदयङ्गमीभावो विमर्श एवामर्शनम् ॥'[४] 'प्रकाश' परमशिव एवं 'विमर्श' पराशक्ति का वाचक है—'दिव्यं प्रकाशविमर्शात्मक परमशिवपराशक्तिप्रतिपादनं ।'[५]

अमृतानन्द योगी ने कहा है कि विश्वगुरु की शक्ति का नाम 'विमर्श' है जो कि एक होते हुए भी अनेक भावार्थ रूप में व्यक्त होती है—'विमर्शरूपिणी शक्तिरस्य विश्वगुरोः सदा । परिस्फुरति सैकापि नाना भावार्थरूपिणी ॥'

प्रकाशात्मक परशिव 'अहमेव' के अनुसंधान के साथ परापश्यन्ती मध्यमा-वैखरी के क्रम से विमर्शांश के द्वारा प्रकट हुआ करते हैं—'प्रकाशात्मकः परशिवोऽहमेव विश्वानुग्रहपरः परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीक्रमेण व्यापृत्य विमर्शांशेन प्रकटो भूत्वा प्रकाशेन प्रतिवचनदातापि सन् तन्त्रं समवतारयामि ।'[६]

'परम तत्व' क्या है? 'प्रकाश' उसका रूप है—उसका स्वभाव है अर्थात् वह महाप्रकाशस्वरूप है । वह निराकाङ्क्ष है । स्फटिक मणि, दर्पण आदि पदार्थ निराकाङ्क्ष होने पर भी जड़ है किन्तु परमतत्व निराकाङ्क्ष होकर भी महाचेतन है और स्वात्मविश्रान्ति के कारण 'महानन्द' कहा गया है । स्वात्मा (स्वभाव) अखण्ड अहंता चमत्कार के रस में विश्राम करने के कारण परमशिव परमनिर्वृति एवं महानन्दस्वरूप है । स्फटिकादिक प्रकाश ग्रहण करने में समर्थ तो हैं किन्तु केवल प्रकाश्य हैं किन्तु परमात्मा स्वप्रकाश है—प्रकाशात्म—प्रकाशक एवं प्रकाशस्वरूप है। 'अहं' विमर्श में 'अ' प्रकाशात्मक परमशिव रूप परमतत्व है तथा 'ह' पराशक्ति विमर्श ।[७]

प्रकाशस्वरूप परमेश्वर का स्वभाव ही 'विमर्श' है । जो विश्वाकार, विश्वप्रकाश, विश्वसंहार रूप से अकृत्रिम अहमाकार का स्फुरण है वही 'विमर्श' है। यदि वह प्रकाश निर्विमर्श हो जाय तो वह अनीश्वर और जड़ हो जाएगा । वह विमर्श विश्वाकार से सृष्टि में और विश्व प्रकाश से स्थिति में और स्वात्मसाक्षात्कार रूप के द्वारा संहरण से संहार में पूर्णाहन्ता चमत्कारस्वरूप है । इसी 'विमर्श' को चित, चैतन्य, स्वाभाविक रूप से प्रकाशित होने वाली 'परावाक्', स्वातन्त्र्य,

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
२-५. दीपिका (अमृतानन्दनाथ)
६. अमृतानन्द
७. 'अ' प्रकाशस्वरूप परमशिव है तथा 'ह' शक्तिस्वरूप 'विमर्श' ।

परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द इत्यादि शब्दों द्वारा आगमों में कहा गया है । संवित्प्रकाश रूप का विमर्श-प्राधान्य ही शैव शासन में प्रतिपादित है । चैतन्य विमर्श ही आत्मा का मुख्य स्वभाव है ।[१] इस विमर्श शक्ति के विभिन्न नामान्तर हैं—

'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातंत्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥'

शक्तिः—'शक्ति' शब्द शक् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर बनता है । शक्ति का अर्थ है सामर्थ्य या क्षमता । शिव की विश्वसिसृक्षा शक्ति ही 'शक्तितत्त्व' के नाम से प्रसिद्ध है—शिवस्य विश्वसिसृक्षा शक्तिः शक्तित्वमिति नाम्ना ख्याता ॥'[२] रामेश्वर ने 'परशुरामकल्प सूत्रटीका' में कहा है कि निर्गुण शिव ही 'बहुस्यां प्रजायेय'—इस इच्छाशक्ति से युक्त होकर तथा सृष्टयुन्मुख हो कर 'शक्तितत्व' कहलाने लगता है । शिव की सिसृक्षा ही 'शक्ति' है ।

त्रिकसिद्धान्त मत के अनुसार परमशिव परमेश्वर के हृदय में सिसृक्षाविर्भाव मात्र से ही उनके दो रूप हो जाते हैं—(१) शिवरूप (२) शक्तिरूप । शिव प्रकाशरूपी है और शक्ति विमर्शरूपिणी ।

प्रपञ्च-वासना की दृष्टि से शिव एवं शक्ति में निम्न भेद हैं—

'प्रपञ्चवासनारूपा शक्तिरित्यभिधीयते ।
निष्प्रपञ्चचिदेकात्मा शिवतत्त्वं समीरितम् ॥'[३]

'शक्ति' का 'श' अक्षर ऐश्वर्य का एवं 'क्ति' अक्षर पराक्रम का वाचक है अतः 'शक्ति' शब्द ऐश्वर्य एवं पराक्रम प्रदान करने वाली देवी का वाचक है ।[४] 'या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता' कहकर दुर्गासप्तशती में भगवती के उस स्वरूप को, जो समस्त प्राणियों में शक्ति के रूप में स्थित रहता है, नमस्कार किया गया है और उसे शक्तिस्वरूप कहा गया है । 'शक्ति' शब्दकोशीय दृष्टि से निम्न अर्थों का वाचक है—(१) कासूसामर्थ्ययोश्शक्तिः (२) शक्तिः पराक्रमः प्राणौ (३) षड्गुणाश्शक्तयस्तिस्रः ।[५]

'शक्लृ शक्तौ' धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाने पर 'शक्ति' शब्द निष्पन्न होता है। उत्साह, गौरी, बल एवं पराक्रम के अर्थ में ही 'शक्ति' शब्द व्यवहार में अधिक प्रयुक्त होता है—

'शक्तिरस्त्रान्तरे गौर्यामुत्साहादौ बलेस्त्रियाम् ॥'[६]

---

१. 'षट्त्रिंशत् तत्व संदोह'
२-३. शाक्तदर्शनम् (पृ० ९०)
४. देवीभागवत पुराण
५. अमरकोश
६. मेदिनीकोश

शक्ति को प्रकार त्रयात्मक बताया गया है—शक्तयस्तिस्त्रः प्रभावोत्साह-मन्त्रजाः ।।' (शक्यते जेतुमनया । 'स्त्रियां क्तिन्' ३।३।९४) हैमकोश के अनुसार 'शक्ति' शब्द का अर्थ निम्नानुसार है—'शक्तिरायुधभेदे स्यादुत्साहादौ बले-स्त्रियाम् ।।'[१] विश्वकोश के अनुसार—'शक्ति' शब्द निम्न अर्थों का वाचक है—'कासूर्विकलवाचि स्यात्कासूः शक्त्यायुधेऽपि च ।।'[२]

विमर्श शक्ति तत्त्व—शिव प्रकाशरूप है तो शक्ति विमर्शरूपिणी । 'विमर्श' का अर्थ है—'मैं पूर्ण हूँ, मैं अकृत्रिम हूँ'—इसकी स्फूर्ति । यह स्फूर्ति (या स्फुरत्ता) (१) सृष्टिकाल में—विश्वाकारा (२) स्थितिकाल में—विश्वप्रकाशा एवं (३) प्रलयकाल में—विश्वसंहरणरूपा बन जाती है । अतः 'विमर्शो नाम विश्वाकारेण, विश्वप्रकाशेन, विश्वसंहारेण चाकृत्रिममाहमिति स्फुरणम् ।'[३] 'विमर्शशक्ति' के अन्य पर्याय निम्न हैं—चित, चैतन्य, संवित, स्वरमोदिता, परावाक्, स्वातन्त्र्यामुख्यैश्वर्या, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सारा एवं स्पन्द आदि ।

'प्रभा' के दो रूप है—(१) 'अहमंश' (२) 'इदमंश' । अहमंशग्राहक, तो शिव या 'प्रकाश' हैं, तथा इदमंशग्राहक शक्ति या 'विमर्श' है । 'विमर्श' के द्वारा ही 'प्रकाश' का स्वानुभव हो पाता है । प्रकाश की सत्ता के बिना 'विमर्श' की कल्पना भी नहीं की जा सकती । जिस प्रकार दर्पण के बिना मुखमण्डल का रूप प्रत्यक्षीकृत नहीं हो पाता उसी प्रकार विमर्श के बिना प्रकाश के स्वरूप की संभावना नहीं हो सकती । शक्ति की सहायता के बिना शिव को अपने स्वरूप की प्रतीति नहीं हो सकती । इसीलिए कहा गया है—'शिवा' शिव का मुख है—'शैवीमुखमिहोच्यते ।'

पुण्यानन्दनाथ ने 'कामकलाविलास' में कहा है कि जिस प्रकार कोई नृपति निर्मल दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर अपने मुख की सुन्दरता को भलीभाँति जान लेता है उसी प्रकार भगवान् शिव भी अपनी स्वाधीनभूतात्म शक्ति को देखकर स्वीय परिपूर्णाहन्तामय स्वरूप को जान लेते हैं ।

> 'सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमय नित्यनिरूपमाकारा ।
> भाविचराचरबीजं शिवरूपविमर्शनिर्मलादर्शः ।।'[४]

यह विमर्श शक्ति परमशिव में नित्य अन्तर्लीन है—

> 'सकल भुवनोदयस्थितिलयमय लीलाविनोदनोद्युक्तः ।
> अन्तर्लीनविमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्रतनुः ।।[५]

'प्रकाश' विमर्शात्मक है और 'विमर्श' प्रकाशात्मक है । सांराश यह है कि—

> 'न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः ।
> ना नयोरन्तरं किंचिच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ।।'

---

१. हैमकोश
२. विश्वकोश
३. पराप्रवेशिका
४-५. पुण्यानन्दनाथ कामकला विलास

यथा चन्द्रिका चन्द्रमा से पृथक् नहीं हो सकती और न तो चन्द्रमा चन्द्रिका से उसी प्रकार शिव शिवा से एवं शिवा शिव से (प्रकाश विमर्श से एवं विमर्श प्रकाश से) पृथक् नहीं हो सकते ।

'शक्ति' एवं शक्तिमान में अभेद—आचार्य सोमानन्दपाद ने 'शिवदृष्टि' में कहा है कि भगवान् शिव तभी तक शक्तिमान कहलाते हैं जब तक कि शक्ति उनके साथ है क्योंकि—

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
शिवः शक्तस्तथा भगवानिच्छया कर्तुमीहते ॥[१]

इसीलिए कहा गया है कि शक्ति एवं शक्तिमान् में अभेद है—

'शक्तिशक्तिर्मतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ॥'[२]

'सौन्दर्यलहरी' में आचार्य शङ्कर कहते हैं कि—यदि 'शिव' शक्ति से समन्वित न रहें तो वे हिल भी नहीं सकते—

'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं ।
नो चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥'[३]

'शक्ति' के विभिन्न रूप—'शक्ति' के अनन्त रूप हैं किन्तु उनमें से पाँच रूप प्रधान हैं—(१) चितशक्ति (२) आनन्दशक्ति (३) इच्छाशक्ति (४) ज्ञानशक्ति (५) क्रियाशक्ति ।

(क) **'चित शक्ति'**—यह प्रकाशात्मक रूप है । इसीके द्वारा शिव अपने को 'प्रकाश' (स्वप्रकाश) समझते हैं ।

(ख) **'आनन्द शक्ति'**—इसके द्वारा शिव आनन्दमय हैं और इस शक्ति की सहायता से ही वे अपने में 'आनन्द' का साक्षात्कार कर पाते हैं ।

(ग) **'इच्छा शक्ति'**—इसके द्वारा ही शिव प्रपञ्च का सृजन, पालन एवं संहार करते हैं ।

(घ) **'ज्ञान शक्ति'**—इसके द्वारा ही शिव ज्ञानस्वरूप हैं ।

(ङ) **'क्रिया शक्ति'**—इसके द्वारा ही शिव सभी स्वरूपों को धारण कर पाते हैं ।

इन्हीं शक्तियों की सहायता से शिव अपने में 'अहं' का बोधकर पाते हैं, एवं विश्व की अभिव्यक्ति कर पाते हैं, जगत् शिव की शक्ति का ही अपना विराट रूप है । इसे परमशिव अपने में ('स्वभित्तौ' = अपने हृदय की दीवार में) स्वेच्छया अभिव्यक्त करते हैं । शक्ति के बिना शिव जड़वत हैं ।

---

१. सोमानन्द 'शिवदृष्टि' २. शिवदृष्टि
३. सौन्दर्यलहरी

'विमर्श' शिव का स्वभाव है । सृष्टि अवस्था में विश्वाकार होने से स्थिति में विश्व को प्रकाशन के द्वारा, एवं संहार के समय विश्व को आत्मसात करने से शिव में जो पूर्ण अकृत्रिम अहंभाव है उसी को 'विमर्श शक्ति' कहते हैं ।[१] पुण्यानन्द ने इसी आद्या शक्ति को 'शिवरूपविमर्श निर्मलादर्शः' कहा है ।[२] शक्ति विमर्शरूपिणी है । 'विमर्श' है—पूर्ण अकृत्रिम अहंभाव की स्फूर्ति । बिना शक्ति के शिव को अपने प्रकाशरूप का ज्ञान नहीं होता । शक्ति के बिना शिव शव हैं—विभिन्न विमर्शों का स्वरूप निम्नानुसार है—

(क) 'शिवतत्त्व' में—'अहं' विमर्श होता है ।

(ख) 'सदाशिवतत्त्व' में—'अहमिदं' विमर्श होता है ।

(ग) 'ईश्वरतत्त्व' में—'इदमहं' विमर्श होता है ।

शैव-शाक्त तन्त्रों में तत्त्वों को निम्न रूप से वर्गीकृत किया गया है— (१) शिवतत्त्व (२) विद्यातत्त्व (३) आत्मतत्त्व । इसी 'शिवतत्त्व' के दो रूप हैं— (क) **'शिवतत्त्व'** (ख) **'शक्तितत्त्व'** ।

'शक्ति' को प्रथम 'स्पन्द' भी कहा गया है । जगत् की रचना करने वाले परमेश्वर की जो प्रथम स्पन्दरूप इच्छा है वही 'शक्ति' है ।[३]

'यदयमनुत्तरमूर्ति- र्निजेच्छयाऽखिलमिंद जगत्स्रष्टुम ।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ॥[४]

शिव—'शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति ॥' स्पन्दसूत्रों में कहा गया है कि जिसके उन्मेष एवं निमेष से जगत् की सृष्टि एवं प्रलय होते हैं उस 'शक्तिचक्र विभवप्रभव' शङ्कर की हम स्तुति करते हैं—

'यस्योन्मेष निमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्कर स्तुमः ॥'

अर्थात् शङ्कर या शिव उस परासत्ता का अभिधान है जो जगत् की सृष्टि एवं प्रलय का सूत्रधार है । 'शिव' के अन्य पर्याय निम्नांकित हैं—

'शंभुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः ।
ईश्वरः सर्व ईशानः शङ्करश्चन्द्रशेखरः ॥' आदि ॥[५]

'भगवान् शिव जगत् को उत्पन्न करते हैं, उसका पालन एवं संहार करते हैं ॥' (शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति ॥') 'शिव' शब्द अनेकार्थवाची है—'शिवो मोक्षे महादेवे कीलकग्रहयोगयोः । बालके गुग्गुलौ वेदे पुण्डरीकद्रुमेऽपि च । सुखे क्षेमे जले क्लीबं ॥'[६]

---

१. पराप्रावेशिका (पृ० १-२)　　२. कामकलाविलास
३. पराप्रावेशिका　　४. षट्त्रिंशत्तत्वसन्दोह
५-६. अमरकोश

त्रिपुरासिद्धान्तर्गत 'परशुरामकल्पसूत्र' (१।४) की टीका में श्रीरामेश्वर ने ३६ तत्त्वों का विवरण दिया है और इसी प्रकार मृगेन्द्रसंहिता एवं 'षट्त्रिंशत्तत्व- संदोह' में भी इसका सविस्तार विवरण दिया गया है । 'परशुरामकल्पसूत्र' (१।४) की टीका में कहा गया है कि सृष्टि के आदि में स्वकीयस्वरूपमात्र में अवस्थित परमशिव में जो 'एकोऽहं बहुस्याम' के रूप में इच्छा उत्पन्न हुई वही 'इच्छाशक्ति' है और उसी से 'ज्ञानशक्ति' एवं ज्ञानशक्ति से क्रियाशक्ति उत्पन्न हुई । इस शक्तित्रय के सहयोग से शब्द सृष्टि एवं अर्थसृष्टि प्रारब्ध हुई । इस सृजनेच्छाशक्ति से विशिष्ट परमशिव ही 'शिवतत्त्व' है । वैसे तो परमशिवं 'निर्गुण' हैं किन्तु सिसृक्षा के उदित होते ही वे 'सगुण' एवं शक्तियुक्त हो जाते हैं ।

'सौभाग्यभास्कर' में श्रीभास्करराय कहते हैं—प्रलयकाल में सूक्ष्मावस्थापन्न जगत् को गर्भीकृत करके शक्ति शिव में विलीन हो जाती है । ऐसी स्थिति में क्रियाशक्ति भी नहीं रहती । इस अवस्था में स्थित शिव ही निर्गुण ब्रह्मस्वरूप 'परमशिव' कहलाते हैं । सृष्टि की उन्मुखावस्था में परमशिव के 'ईक्षण', 'काम', 'तप', 'विचिकीर्षा' आदि के रूप में प्रथम स्पन्दन होता है । और इसी से शक्ति का विकास होता है । इस शक्ति से युक्त परमशिव ही प्रथम तत्त्व 'शिव' कहलाते हैं । इसी तथ्य को 'षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह' में इस प्रकार कहा गया है—

'यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाऽखिलमिदं जगत्स्रष्टुम् ।
स्पन्दते स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ॥'[1]

जब अनुत्तरमूर्ति परमशिव स्वेच्छावश जगत् की सृष्टि करने के लिए स्पन्दित हुए तब सृष्टि की इस उन्मुखावस्था में उनका जो प्रथम स्पन्दन हुआ वही 'शिवतत्त्व' है ।[2]

प्रत्येक जीव में स्थित शिवतत्त्व ही आत्मतत्त्व है । यह चैतन्यरूप है । 'चैतन्यमात्मा'[3] इसे ही 'परासंवित्' परमेश्वर 'शिव' या 'परमशिव' कहते हैं । यह जड़ाजड़ सभी सत्ताओं में व्यष्टि-समष्टि रूप में स्थित है । यह देशकालातीत होते हुए भी सभी देशों एवं कालों में, एक होते हुए भी अनन्त रूपों में स्थित है । अद्वैत होते हुए भी द्वैत रूप से भासमान है । यह विश्वरूप होते हुए भी विश्वातीत है । समस्त जगत् इसी तत्त्व का अभिन्नरूप है । 'परमशिव' स्वयं ३६ तत्त्वों के रूप में जगत् में भासित होता है । इस विश्वोत्तीर्ण, विश्वात्मक, परमानन्दरूप एवं प्रकाशैकघन 'शिव तत्त्व' का ही (अपने से लेकर पृथ्वीपर्यन्त) ३६ तत्त्व अपना अभिन्न स्फुरण है यही परमशिव भट्टारक नाना वैचित्र्यों के रूप में स्वयं स्फुरित होते हैं ।[4] क्षेमराज कहते हैं—'अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति ॥' 'श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकघनस्य एवं विधमेव शिवादिधरण्यन्तं अखिलं अभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुतः अन्यत्

---

१. आचार्य क्षेमराज—ष०त्रिं०त०सं० २. शाक्तदर्शनम्
३. शिवसूत्र (१।१) ४. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (पृ० ३,८)

किंचित ग्राह्यं ग्राहकं वा; अपितु श्रीपरमशिवभट्टारक एवं इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति ।।' 'एवं भगवान् विश्वशरीरः ।' 'चिदात्मा शिवभट्टारक एव एक आत्मा न तु अन्यः किंचित् ।।'[१] इसीलिए कहा गया है—'तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः ।।'[२]

'परमशिव' और 'शिवतत्त्व'—'परमशिव' शुद्ध अद्वैत की तत्त्वातीत स्थिति है। इसे न 'शिव' कहा जा सकता है और न तो 'शक्ति' न इसे विश्वोत्तीर्ण कहा जा सकता है और न तो विश्वमय । उसकी भावना एवं उसका उपदेश दोनों संभव नहीं है—

'अप्रमेयेऽपरिच्छिन्ने स्वतन्त्रे भाव्यता कुतः ।' (तन्त्रालोक)

शैव-शाक्त दर्शनो में छत्तीस तत्त्व स्वीकार किए गए हैं, 'परमशिव' इनमें से कोई भी तत्त्व नहीं है क्योंकि वह 'तत्त्वातीत' है ।

अप्रतिहतशक्ति परमशिव अपने स्वातन्त्र्यस्वभाव के कारण प्रमातृप्रमेयादि अनन्तरूपों में आत्मावभासन करने की इच्छा से जगल्लीला के लिए नानारूप धारण करने के कारण 'विश्वमय' हैं किन्तु स्वरूपतः 'विश्वोत्तीर्ण' हैं । इसी कारण श्रीक्षेमराज इसे 'विश्वमय' एवं 'विश्वातीत' दोनों एक साथ कहते हैं—'श्रीमत्परमशिवस्य' पुनः 'विश्वोत्तीर्णविश्वात्मकः'[३] 'परमशिव' है तो विश्वोत्तीर्ण किन्तु वह विश्वशरीरी भी है—'भगवान् विश्वशरीरः'[४] विश्व उसकी आत्मा के साथ अभिन्न रूप में स्थित है—'श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं'[५] इसीलिए 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में कहा गया है—चितिसङ्कोचात्मा चेतनोऽपि सङ्कुचित विश्वमयः'[६] 'चिदैकात्म्येन विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव'[७] श्रीपरमशिवभट्टारक एवं इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति'[८] 'जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् उक्तम्'[९] 'ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित् ।'[१०]

'परमशिव' विश्वमय है या विश्वातीत ?—इस प्रश्न पर अपना मत प्रस्तुत करते हुए आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि—

(१) विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वम् इति तांत्रिकाः ।

(२) विश्वमयम् इति कुलाद्याम्नायनिविष्टाः ।

(३) विश्वोत्तीर्ण विश्वमयं च इति त्रिकादिदर्शनविदः ।

एक ही चिदात्मा भगवान् परमशिव स्वातन्त्र्यावभासित विभिन्न भूमिकाओं में आत्मा के रूप में अवस्थित हैं तथापि वे मूलतः निष्क्रिय, निर्गुण एवं निराकार हैं। चिदात्मा परमेश्वर अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति के बल से अभेद व्याप्ति का विमज्जन करके भेद-व्याप्ति का अवलम्बन ग्रहण करते हैं—'चिदात्मा परमेश्वरः स्वातन्त्र्यात् अभेदव्याप्तिं निमज्य भेदव्याप्तिं अवलम्बते ।।'[११] सामरस्य एक ऐसी अवाङ्मन-सगोचर परम स्थिति है जिसमें शक्ति एवं शक्तिमान् जैसे शब्दों की कल्पना करना

१-११. आचार्य क्षेमराज—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

भी संभव नहीं है। इसी तत्त्वातीत अवस्था को शैवागम में 'अकथ्या' एवं 'अन्तःस्वानन्दगोचरा' कहा गया है।

'विज्ञानभैरव' में कहा गया है कि यह न तो नवात्मा है, न तत्त्वरूप है, न शब्दराशि है, न त्रिशिराभैरव है, न शक्तित्रयात्मक है, न नादबिन्दुमय है, न चन्द्रार्धनिरोधिका है, न वर्णचक्र में स्थित अहंस्वभाव या षट्चक्रात्मक ही है और न तो शक्तिस्वरूप ही है प्रत्युत् वह दिक्कालकलनोन्मुक्त, अव्यपदेश्य, अकथ्य, अन्तःस्वानुभवानन्द एवं विकल्पोन्मुक्तगोचर है—

'तत्त्वतो न नवात्माऽसौ शब्दराशिर्न भैरवः।
न चासौ त्रिशिरा देवो न च शक्तित्रयात्मकः।
नादबिन्दुमयो वापि न चन्द्रार्धनिरोधिकाः।
न चक्रक्रमसंभिन्नो न च शक्तिस्वरूपकः।
दिक्कालकलनोन्मुक्ता देशोद्देशाविशेषिणी।
व्यपदेष्टुमशक्याऽसावकथ्या परमार्थतः।
अन्तःस्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा॥'[१]

'परमशिव' तत्त्व नहीं है तो 'शिवतत्त्व' है क्या?—आचार्यों ने कहा है कि 'शिवतत्त्व' परमशिव का प्रथम स्पन्द है—'पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्व-मुच्यते तज्ज्ञैः॥'[२] 'परमशिव' विश्वातीत होते हुए भी 'शिवतत्त्व' के माध्यम से विश्वभाव से स्फुरित हो रहा है। विश्व उसका शक्तिप्रचय है—'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्॥'[३] परमशिव अपने इसी प्रथम स्पन्द के रूप में (अपनी स्पन्दशक्ति, स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण) स्पन्दवान है। चिदात्मा परमशिव अपने प्रकाशस्वरूप की प्रतीति रूप अपनी 'स्वातन्त्र्य शक्ति' या 'विमर्शशक्ति' के माध्यम से ही जगत् के रूप में अवभासित होकर विश्वातीत होते हुए विश्वमय एवं तत्त्वातीत होते हुए तत्वात्मक बन जाता है।

'परमशिव' की शक्तियाँ'—वैसे तो 'परमशिव' की असंख्य शक्तियाँ हैं—'शक्तयश्च अस्य असंख्येयाः॥'[४] किन्तु पाँच प्रमुख हैं। 'शिवदृष्टि' में कहा गया है कि 'आत्मा' अपनी स्वतन्त्र इच्छा से शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त सर्वत्र अभेदभाव से स्फुरित है—

'आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्वपुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः॥'

प्रश्न उठता है कि शिवरूप यह आत्मा किसके माध्यम से स्फुरित होती है? स्वतन्त्र रूप में तो यह स्पन्दित तक भी नहीं हो सकती फिर वह 'विश्वातीत' विश्वरूप में प्रसृत कैसे हुई? इसके प्रसरण का साधन उसकी ये ही शक्तियाँ हैं।

---

१. विज्ञानभैरव
२. षट्त्रिंशत्तत्त्व सन्दोह
३. शिवसूत्र
४. तन्त्रसार (आह्निक ४, पृ० २८)

शक्तिस्वभाव परमशिव असंख्य शक्तियों से समन्वित है तथापि शक्तिपञ्चक ही उसकी मुख्य शक्तियाँ हैं जो निम्न हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया।

सगुण शिव—'परमशिव' का शिवतत्त्व के रूप में अवभासन ही उसके सगुण स्वरूप की अभिव्यक्ति है और इस रूप में वह शिव 'पञ्चकृत्यकारी' है—

सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ।।[१]

१. आभासन, २. रक्ति, ३. विमर्शन, ४. बीजावस्थापन, ५. विलापन।[२] आचार्य क्षेमराज ने भी शिव को पञ्चकृत्यविधायी कहा है—

'नमः शिवायसततं पञ्चकृत्यविधायिने ।
चिदानन्दघनस्वात्म परमार्थावभासिने ।।[३]

तथापि तद्वत पञ्चकृत्यानि करोति ।।'[४] 'पञ्चविधकृत्यकारित्वंचिदात्मनो भगवतः ।।'[५] परमशिव की विश्वोत्तीर्णता एवं विश्वमयता में विरोध नहीं है इसीलिए उसे विश्वोत्तीर्ण कहकर भी विश्वमय (सगुण शिव) कहा गया है—'इह खलु निखिलजगदात्मा सर्वोत्तीर्णश्च सर्वमयश्च विकल्पासङ्कुचितसंवित्प्रकाशरूपः, अनवच्छिन्न-चिदानन्दविश्रान्तः प्रसरदविरल विचित्रपञ्चवाहवाहवाहिनीमहोदधिः । निरतिशयस्वातन्त्र्य-सीमनि प्रगल्भमानः सर्वशक्तिखचित एक एव अस्ति संविदात्मा महेश्वरः ।।[६]

उसकी शक्तियों का स्वरूप निम्नानुसार है—

(१) **'चिच्छक्तिः'**—तस्य प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः ।

(२) **'आनन्द शक्तिः'**—स्वातंत्र्यम् आनन्दशक्तिः ।

(३) **'इच्छा शक्तिः'**—तच्चमत्कारः इच्छाशक्तिः ।

(४) **'ज्ञान शक्तिः'**—आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः ।

(५) **'क्रिया शक्तिः'**—सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्ति ।।[७]

'उत्पादयति पाति संहरति'—अर्थात् "शिव जगत् की सृष्टि करते हैं, उसकी रक्षा करते हैं और उसका संहार करते हैं ।" शिव को इन कार्यों से विशिष्ट क्यों दिखाया गया है?

'शान्त ब्रह्मवाद' एवं 'ईश्वराद्वयवाद'—त्रिकदर्शन के आचार्यों ने निर्विशेष, निष्क्रिय एवं निर्गुण ब्रह्म को 'शान्तब्रह्म' कहा है तथा उसको परासत्ता से प्रतिपादित

---

१. स्वच्छन्दतन्त्र (१ पटल) २-५. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
६. जन्म-मरण विचार
७. पाँच शक्तियाँ ही नहीं हैं प्रत्युत् अनन्त शक्तियाँ हैं तथापि पाँच शक्तियाँ प्रमुख हैं—'इत्थं सर्वशक्तियोगेऽपि आभिर्मुख्याभिः शक्तिभिरुपवर्णने ।।
—'जन्म-मरण विचार'

करनेवाले आचार्य शङ्कर एवं उनके केवलाद्वैतवादी अनुयायियों को शान्तब्रह्मवादी कहा है । सांख्यानुयायी भी शान्तब्रह्मवादी कहे गए हैं—'शान्तब्रह्म- वादिभिः सांख्यैः पुरुषस्य परमात्मनोऽधिष्ठेयं कर्मानुरूपं सुखदुःखभोक्तृतया व्यपदिश्यते[1] चूँकि आचार्य भास्करराय शान्त ब्रह्मवादी नहीं हैं और उनका परमशिव शङ्कराचार्य के निर्गुण ब्रह्म की भाँति निष्क्रिय एवं निर्गुण नहीं है अतः अपने मत को शाङ्कर मत से पृथक् रूप में प्रतिपादित करने के लिए ही उन्होंने शिव की सक्रियता का भी उल्लेख किया है ।

'ईश्वराद्वयवाद' में शिव पञ्चकृत्यकारी है—जबकि शान्तब्रह्मवाद का निर्गुण ब्रह्म निष्क्रिय है ।

'शान्तब्रह्मवाद'[2]	'ईश्वराद्वयवाद'
१. ब्रह्म निर्गुण, निराकार एवं निष्क्रिय है ।	१. शिव पञ्चकृत्यकारी है ।
२. विश्व मिथ्या है ।	२. विश्व सत्य है, शिवस्वरूप है ।
३. माया शक्ति मिथ्या एवं अनिर्वचनीय है ।	३. शक्ति सत्य है और चिदात्मक है ।
४. आत्मा जीवदशा में भी निष्क्रिय है और औपचारिक कर्तृत्व या सुख दुःखादिभौक्तृत्व से युक्त है	४. शिव अपनी सकल या जीव दशा में भी पञ्चकृत्यकारी है ।
५. अज्ञान या माया आकस्मिक नहीं है प्रत्युत् आत्मा का स्वातंत्र्यमूलक, स्वेच्छा परिगृहीत रूप है यथा नट द्वारा अभिनय के समय स्वेच्छा-गृहीत रूप । शिव अपने स्वरूप को आच्छादित एवं अनाच्छादित करने में स्वतन्त्र हैं । 'प्रज्ञान' शिव की स्वातंत्र्यशक्ति का विजृंभणमात्र है । प्रज्ञान आत्मा की शक्ति है ।	५. माया एवं अज्ञान अध्याय एवं अध्यारोपजन्य भ्रान्ति है तथा आत्मा का आवरक होने से उसका विरोधी है ।
६. आत्मा कर्तृत्वपूर्ण नित्य पञ्चकृत्य-कारी है । इसका स्वभाव ही विमर्श है । उसके लिए ज्ञान एवं क्रिया एक से हैं । उसकी क्रिया ही ज्ञान है और उसका ज्ञान ही क्रिया है । ज्ञान-क्रिया की उन्मुखता ही 'इच्छा' है ।	६. आत्मा में कर्तृत्व नहीं है ।

१. भोजराज—'योगसूत्रवृत्ति'
२. 'परमार्थचर्चाविवरण' (पृ०६) अभिनवगुप्तपाद— तन्त्रालोक

७. परमशिव इच्छामय है क्योंकि ज्ञान-क्रिया का औन्मुख्य ही इच्छा है। पञ्चकृत्य उसका स्वभाव है।	७. ब्रह्म इच्छाविहीन एवं निरीह है।
८. दो का नित्य सामरस्य ही वास्तविक अद्वैत है। अद्वैत द्वैताभाव का वाचक नहीं है।	८. द्वैत अज्ञान है। अद्वैत द्वैताभाव का वाचक है।
९. शिव स्वयं का आवरक एवं स्वयं का उन्मीलक है। उसने लीला हेतु आत्मप्रच्छादन कर रखा है। आच्छादन उसकी विवशता नहीं उसकी क्रीड़ा या लीला है।	९. विक्षेप एवं आवरण शक्तियाँ ही जीव में उसकी इच्छा के विरुद्ध अज्ञान एवं भ्रान्ति उत्पन्न करती हैं।
१०. ब्रह्म भी सत्य है और जगत् भी सत्य है। जीव और जगत् दोनों सत्य हैं।	१०. 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'।
११. भेद-अभेद का ही आत्मप्रकाश है अतः मिथ्या हो ही नहीं सकता।	११. भेद मिथ्या है।
१२. शिव एवं शक्ति दोनों तत्वतः एक ही हैं। दोनों में अभिन्नता है।	१२. ब्रह्म एवं माया भिन्न-भिन्न हैं।
१३. भेद एवं अभेद में, व्युत्थान एवं निरोध में बन्धन एवं मुक्ति में, सुख एवं दुःख में, ब्रह्म एवं माया में द्वैत एवं अद्वैत में, तथा भेद एवं अभेद के भीतर सम्यग्दर्शन होने पर चिदानन्द की (शिवशक्ति के सामरस्य की) प्राप्ति होती है।	१३. जब तक भेद है, द्वैत है, बंधन है, माया है, तब तक मुक्ति कहाँ?
१४. ब्रह्म, जीव एवं जगत् सभी चिन्मय हैं। जगत् जब चैतन्य की सृष्टि है तब अचैतन्य आयेगा कहाँ से? सर्वचिन्मयवाद ही सत्य है। जड़ता भी चैतन्य का एक रूप है, चैतन्य से पृथक् नहीं है अतः आत्मा का ही अवभास है।	१४. ब्रह्म एवं जीव चिन्मय है जबकि जगत् जड़ है और जड़ वस्तु अचित् है अतः अनात्मक है।
१५. 'अद्वैत' द्वय का नित्य सामरस्य है।	१५. 'अद्वैत' द्वय का अभाव है
१६. यह वसुगुप्त, उत्पल, सोमानन्द, अभिनवगुप्त एवं क्षेमराज आदि द्वारा प्रतिपादित द्वयात्मक अद्वयवाद का दर्शन है।	१६. यह शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत दर्शन है।

१७. जगत् शक्ति का आत्मस्फार है, यह शिव का विजृंभण है, शिव की आनन्दक्रीड़ा है, परमशिव स्वनिर्मित चित्र है, शिव के आनन्दस्वभाव का विकास है, परमशिव निर्मित एक लीला-नाट्य है, शक्ति का व्यक्त रूप है, आत्मा है अतः शिव और शक्ति से अभिन्न है, भगवान् का शरीर है, चिद्विलास एवं शिवात्मक है, प्रकाश एवं प्रकाश की लीला है, शिव की एक क्रीड़ा है, सत्यात्मक है, शक्ति द्वारा स्वनिष्ठ स्फुरत्ता का दर्शन है, चिच्छक्ति का परिणाम है, शक्ति का आकार है, शक्ति का आत्मविकास है, स्वातंत्र्यशक्तिका की आत्मक्रीड़ा है, शिव का हृदय बीज है, प्रकाश के साथ एकात्मरूप है, शिवशक्तिरूप है, चैतन्यस्वभाव है—('चैतन्यं विश्वस्य स्वभावः शिवसूत्र विमर्शिनी') एक चित्र है—आत्म प्रच्छादन की क्रीड़ा है। ('जगच्चित्रं समालिख्य स्वेच्छातूलिकयात्मनि। स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति भगवान् शिवः', 'जगच्चित्रं नमस्तस्मै कला-श्लाघ्याय शूलिने', 'आत्मप्रच्छादन-क्रीड़ां कुर्वतो वा कथंचन' (शिवदृष्टि)	१७. 'जगत' मिथ्यात्व का दूसरा पर्याय है।
१८. जगत् आनन्दरूप है। 'सर्वं जगत् स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत्॥' (वि०भै०)	१८. जगत् दुःखरूप है।

सावश्यं विज्ञेया यत्परिणामादभूदेषा।
अर्थमयी शब्दमयी चक्रमयी देहमय्यापि च सृष्टिः[1] ॥ ५ ॥

१. 'सृष्टि' का स्वरूप क्या है? 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय', 'एकोऽहं बहुस्याम्'—एक से बहुत होने की कामना ही सृष्टि है।

('परिणामवाद' एवं चतुर्विधा सृष्टि)

उस 'विमर्शरूपिणी' शक्ति को सम्यक रूप से (एवं) अवश्य जानना चाहिए जिसके परिणामस्वरूप (यह) अर्थमयी, शब्दमयी, चक्रमयी एवं देहमयी सृष्टि (हुई) है ॥ ५ ॥

* प्रकाश *

अवश्यम्, सर्वविज्ञानसाधनत्वान्मोक्षादिपुरुषार्थप्रदत्वाच्च । अर्थमयी शिवादि-क्षित्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वरूपा । शब्दमयी परादिवैखर्यन्ता । चक्रमयी बिन्द्वादिभूगृहान्ता । देहमयी सूक्ष्मादिस्थूलान्ता ॥ ५ ॥

* सरोजिनी *

आचार्य भास्कर कहते हैं कि—विमर्शरूपिणी शक्ति को इसलिए अवश्यमेव जानना चाहिए क्योंकि वह समस्त विज्ञानों का साधन है एवं धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष प्रदान करती है—'अवश्यम्, सर्वविज्ञान साधनत्वान्मोक्षादिपुरुषार्थप्रदत्वाच्च ॥'

अर्थमयी—शिवादि क्षित्यत्तषट्त्रिंशत तत्त्वरूपा । अर्थात् समस्ततत्त्वमय । 'परशुराम कल्पसूत्र' में कहा गया है कि तत्त्व छत्तीस हैं—'षट्त्रिंशत्तत्त्वानिविश्व' । ये तत्त्व तीन भागों में विभक्त है—(१) 'आत्मतत्त्व' (२) 'विद्यातत्त्व' (३) एवं 'शिवतत्त्व' । ये ३६ तत्त्व निम्न हैं—(१) शिव (२) शक्ति (३) सदाशिव (४) ईश्वर (५) शुद्धविद्या (६) माया (७) अविद्या (८) कला (९) राग (१०) काल (११) नियति (१२) पुरुष/जीव (१३) प्रकृति (१४) मन (१५) बुद्धि (१६) अहङ्कार (१७-२१) श्रोत्रादि पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ (२२-२६) वागादि पञ्चकर्मेन्द्रियाँ (२७-३१)—रूपादि पञ्चमहाविषय (३२-३६)—आकाशादिक पञ्चभूत । भगवती समस्त विश्व को जन्म देने में स्वतन्त्र हैं ।

'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः ॥'[१] क्षेमराज कहते हैं—'विश्वस्य' सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य 'सिद्धौ' निष्पत्तो, प्रकाशने स्थित्मात्मनि, पर प्रमातृ-विश्रान्त्यात्मनि च संहारे, पराशक्तिरूपा 'चितिः' एव भगवती 'स्वतन्त्रा' अनुत्तर विमर्शमयी शिवभट्टारकाभित्रा 'हेतु' कारणम् ॥

'ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किंचित् ॥'[२]

शब्दमयी—शब्द की चार वृत्तियाँ हैं—(१) 'परा' (२) 'पश्यन्ती' (३) 'मध्यमा' (४) 'वैखरी' ॥ भगवती इन रूपों में भी परिणत होती हैं क्योंकि वे शब्दरूपा हैं—वे परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीरूपा हैं—'परा प्रत्यक्चितीरूपा पश्यन्ती पर देवता । मध्यमा वैखरीरूपा भक्त मानस हंसिका ॥'[३] वेदों में वाक्चतुष्टय का उल्लेख है 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि । तानिविदुर्ब्राह्मणो ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥'

१-२. क्षेमराज—'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' ३. श्रीललितासहस्रनाम

'चक्रमयी'—बिन्दु से लेकर भूगृहान्त समस्त चक्र । चक्र नवयोन्यात्मक है—'नवयोन्यात्मकं चक्रं चिदानन्दघनं महत । चक्रं नवात्मकमिदं नवधा भिन्न मन्त्रकम् ।।'[१] देवी चक्ररूपा है—'एवंविश्वप्रकारा च चक्ररूपा महेश्वरी ।।'[२] त्रैलोक्यमोहन, सर्वाशापरिपूरण, सर्वसङ्क्षोभण, सौभाग्यदायक, सर्वार्थसाधक, सर्वरक्षाकर, सर्वरोगहर एवं सर्वसिद्धिप्रद चक्र ।।

'देहमयी'—(१) स्थूल देह (२) सूक्ष्म देह (३) कारणदेह आदि देह ।।[३] 'यत्परिणामात'—जिसके परिणमन से—

परिणामवाद—एक रूप का तिरोभाव और रूपान्तर का आविर्भाव ही 'परिणाम' है । यथा 'दही' दूध का परिणाम या विक्रिया है—'परिणामे तु रूपान्तरं तिरोभवति, रूपान्तरं च प्रादुर्भवति । 'परिणाम' उपादान के समान सत्ता वाला होता है ।[४]

'परिणामवाद' का प्राचीन रूप—भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में 'परिणाम' एवं 'विवर्त' दोनों को समानार्थक माना है । वे कहते हैं—'यह 'विश्व' शब्द का ही परिणाम है ऐसा आम्नाय वेत्ताओं का कथन है, सर्वप्रथम यह जगत् छन्दों से ही विवृत अथवा परिणत हुआ ।'

'शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः ।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत ।।' (वा०प०, प्र०का०)

शान्तरक्षित ने 'तत्त्वसंग्रह' के आगम काण्ड में कहा गया है कि—'विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः । इस प्रथम कारिका के 'विवर्त' शब्द का 'परिणाम' शब्द के द्वारा ही अनुवाद किया है—'नाशोत्पादसमालीढं ब्रह्म शब्दमयं च यत् । यत्तस्य परिणामोऽयं भावग्रामः प्रतीयते ।।'

भवभूति को भी, 'परिणाम' एवं 'विवर्त' में कोई भेदक रेखा है—यह ज्ञात नहीं था इसीलिए उन्होंने दोनों शब्दों को समान अर्थ में व्यवहृत किया है—

'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्न पृथक् पृथिगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुदबुदतरङ्गमयान्विकारा
नंभो यशा सलिलमेव हितत्समस्तम् ।।'

'विवर्त' अधिष्ठान से विषम सत्ता रखता है ।

शङ्कराचार्य विवर्तवादी थे कि परिणामवादी?—ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार वेदान्ती शङ्कराचार्य को सभी 'विवर्तवादी' मानते हैं और वे 'विवर्तवादी' के रूप में प्रसिद्ध भी हैं किन्तु 'सौन्दर्यलहरी' के तांत्रिक स्तोत्र में वे परिणामवाद का समर्थन करते हैं—

१-२. योगिनीहृदय
३. 'प्रकाश' (भास्करराय)
४. 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी' (पृ० ८, अ० १, वि० १)

'मनस्त्वं व्योमस्त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि,
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां नहि परम् ।
त्वमेव त्वामात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा,
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन विभृषे ॥ ३५ ॥'

आचार्य शङ्कर 'सौन्दर्यलहरी' के इस श्लोक द्वारा स्वाभीष्ट 'परिणामवाद' की पुष्टि करते हैं ।[१]

आचार्य भास्करराय का परिणामवाद—योगिराज भास्करराय सृष्टि के सन्दर्भ में 'परिणामवाद' के प्रतिपादक हैं । किन्तु यह 'परिणाम' सामान्य परिणाम से भिन्न है । जिस प्रकार मिट्टी एवं उसके परिणाम रूप घट में कोई भेद नहीं है उसी प्रकार ब्रह्म एवं जगत् में कोई भिन्न नहीं है । ब्रह्म सत्य है तो जगत् भी सत्य है। भेद मात्र ही मिथ्या है—वस्तुतस्तु जगतो ब्रह्मपरिणामकत्वं स्वीकुर्वतां तांत्रिकाणां मते जगत्ः सत्यत्वमेव मृद्घटयोरिव ब्रह्मजगतोरत्यन्तभेदेन ब्रह्मणः सत्यत्वेन जगतोऽपि सत्यत्वावश्यम्भावात् भेदमात्रस्य मिथ्यात्व स्वीकारेण अद्वैतश्रुती नामखिलानां निर्वाहः ।'[२]

आचार्य भास्करराय ने 'वाचारंभणंविकारः'—(छा०उ०) 'आत्मकृतेः परिणामात्' (ब्रह्मसूत्र) को उद्धृत करके 'वरिवस्यारहस्यम्' में परिणामवाद की पुष्टि ही नहीं की प्रत्युत यह भी कहा कि वेदों की एवं ब्रह्मसूत्रकार की भी यही दृष्टि थी। 'श्रीकण्ठभाष्य' में भी परिणामवाद का समर्थन किया गया है—

'कारणविकाररूपोहि परिणाम पूर्वरूपपरित्योगेन रूपात्तरापत्तिः परिणामः ॥'

वल्लभाचार्य ने 'परिणामवादएवाभिप्रेतः'[३] कहकर, निम्बार्काचार्य ने 'सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म स्वशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणामय्य अव्या कृतेन स्वरूपेण शक्तिमता कृतिमता परिणतमेव भवति ।'[४] भास्कराचार्य ने 'परमात्मा स्वयमात्मानं कार्यत्वेन परिणामयामासेत्यर्थः ।'[५] कहकर एवं श्रीपति पण्डित ने 'चेतना चेतनात्मक प्रपञ्चाकारेण परिणामात् । ननुदधि-क्षीर न्यायवत् स्वस्वरूप परित्यागपूर्वक रूपान्तर प्राप्तिरेव परिणामः ।'[६] कहकर 'परिणामवाद' का प्रतिपादन किया है ।

किन्तु यह 'परिणामवाद' रामानुजाचार्य (श्रीभाष्य में) के परिणामवाद से भिन्न है ।

---

१. लक्ष्मीधर—'लक्ष्मीधरा' व्याख्या—''परिणमयितुं' परिणाम वन्तुं कर्तुं''
'डिण्डिमभाष्य'—''तदाकार परिणामनम् । त्वमेवाष्टमर्तिरूपेण परिणतासि' 'अष्टमूर्तिरूपेण परिणतायाम्', 'आभ्यां परिणामाभ्यामेव जगच्चक्रं उन्मूलयति' ।
'गोपालसुन्दरी टीका'—'परिणामयितुं परिणामं प्रापयितुं ।
२. 'सौभाग्यभास्करः' (पृ० १५१) ३. अणुभाष्य
४. 'वेदान्त पारिजात' (१।४।६) ५. भास्कराचार्य
६. श्रीपतिपण्डित 'श्रीकरभाष्य'

उपर्युक्त परिणामवाद 'अविकृत परिणामवाद' है । 'अपूर्व परिणामवाद' है । जो ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है वह विश्वरूप में परिणत होने पर भी विकृत नहीं होता ।

'वामकेश्वर तन्त्र' में 'तस्यां परिणतायां तु न कश्चित्पर इष्यते'[१] 'तस्य दृश्यं तत्परिणम एवं, तस्यां परिणतायां'[२] वाक्यों द्वारा 'परिणामवाद' ही तो उसका अभीष्ट प्रतीत होता है । यद्यपि इन वाक्यों में आए 'परिणतायां' का अर्थ जयरथ ने 'विद्यमानायां' किया है किन्तु तन्त्राचार्य भास्करराय ने इसका वास्तविक अर्थ 'परिणत होने पर' ही किया है । 'चतुश्शती' में भी इसी दृष्टि को प्रतिपादित किया गया है—

'त्रिपुरा परमाशक्तिराद्यजाता महेश्वरी ।
स्थूलसूक्ष्मस्वभावेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका ॥
कवलीकृत निःशेष तत्त्वग्रामस्वरूपिणी ।
यस्यां परिणतायान्तु न किञ्चित्परमिष्यते ॥'

'परिणामवाद' में त्रुटि यह है कि 'परिणाम' में रूपान्तर का आविर्भाव एवं पदार्थ के पूर्व रूप का तिरोभाव हो जाता है । 'परमशिव' प्रकाश है । प्रकाश के रूपान्तर का अभाव संभव नहीं है क्योंकि तब तो (तिरोधान की स्थिति में) अंधकार छा जाएगा । ऐसी स्थिति में 'अप्रकाश' प्रकाश में कैसे आएगा? इस प्रकार 'विवर्त' एवं 'परिणाम' दोनों ही स्थितियों में जगत् के प्रकाश में आने की व्याख्या संभव नहीं है—'परिणामे तु रूपान्तरं तिरोभवति । रूपान्तर च प्रादुर्भवति । प्रकाशस्य तु रूपान्तर भावात् तत्तिरोधाने स्यादान्ध्यम् । अप्रकाशश्च प्रादुर्भवन नैव प्रकाशेत् इति उभयथापि सुप्तं जगत् स्यात् ॥[३]

इसी प्रकार 'प्रतिबिम्बवाद' भी सदोष है क्योंकि—'प्रतिबिम्ब' में संवेदन की स्वच्छता मात्र होती है—प्रतिबिम्ब में स्वातन्त्र्य नहीं है—

प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभाव परमशिव स्वातन्त्र्य द्वारा रुद्र से स्थावर पर्यन्त, प्रमातृरूप में, नील सुखादि प्रमेय रूप में, अनतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्त की भाँति एवं स्वरूप को अनावृत किए हुए भी संवित् रूप में, अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति की महिमा से प्रकाशित होता है ।[४]

भास्करराय की दृष्टि में शङ्कराचार्य—भास्करराय मखिन की दृष्टि में शङ्कराचार्य परिणामवादी थे । वे कहते हैं कि 'मनस्त्वं व्योमस्त्वम्' इति श्लोके 'त्वयिपरिणतायाम्' इति स्वाभिमतः 'परिणामवाद' एव स्फुटीकृतः ॥[५] 'विवर्तवाद' वेदान्ति संमतं परिणामवादी तांत्रिको दूषयति' 'परिणामवाद एवाभिप्रेतः'[६] 'श्रुतेरपि

१-२. वामकेश्वर तन्त्र,
३-४. 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति विमर्शिनी' (अ. १; २०, वि. १, पृ. ८९)
५. वरिवस्यारहस्य 'प्रकाश' टीका (१।३) ६. तत्रैव

परिणामवाद एव संमत: सिध्यति 'आत्मकृते: परिणामात्'

अर्थमयी—जगत् 'विमर्श शक्ति' का परिणाम है । 'विमर्श शक्ति' शब्द अर्थ, चक्र एवं देह के रूप में परिणत होकर जगत् बन जाती है । विमर्श 'विश्वरूपिणी' है—

'यदा सा परमा शक्ति: स्वेच्छया विश्वरूपिणी ।।'[१]

"सैव परा शक्तिर्विमर्शरूपिणी स्वेच्छया विश्वरूपिणी विश्वं सृजति ।।'[२]

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' में कहा गया है कि शक्ति अपने अन्त:स्थित विश्व को ही प्रकट करती है—'अन्त:स्थितवतामेव घटते बहिरात्मना ।'

अभिनवगुप्त भी कहते हैं—'यस्यामन्तर्विश्वमेतद्विभाति बाह्याभासं भासमानं विसृष्टौ' विश्व परासत्ता से पृथक् कोई अन्य स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—'इदं... विश्वं वा परस्यां पारमेश्वर्यां भैरवसंविदि अविभागेन बोधात्मकेन रूपेणास्ते ।।' 'चिति: स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतु: ।।' (प्र०हृ०) कहकर क्षेमराज ने भी जगत् को चितिशक्ति से अभिन्न स्वीकार किया है क्योंकि वह स्वेच्छापूर्वक स्वभित्ति पर विश्व का उन्मीलन करती है—

'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वभुन्मीलयति । (प्र०हृ०२)

(१) 'जगत: प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् ।'[३]

(२) ननुं जगदपि चितो भिन्नं नैव किंचित् ।।[४]

(३) चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्त जगदात्मना स्फुरति ।[५]

(४) परमानन्दमयप्रकाशैकधनस्य एवंविधमेव शिवादिधण्यन्तं अखिलं अभेदेनैव स्फुरति । न तु वस्तुत: अन्यत किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा । श्रीपरमशिव-भट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्त्रै: स्फुरति ।[६]

(५) श्रीपरमशिव: स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं ।

(६) विश्वशरीर शिवैकरूप एव । 'विश्वशरीर: शिवभट्टारक एव ।। 'न साऽवस्था न य: शिव: ।।'[७]

(७) शरीरमेव घटाद्यपि वा ये षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं शिवरूपतां पश्यन्ति ।।[८]

---

१. योगिनीहृदय २. दीपिका

३-७. प्र० हृ०

८. एक 'मायाण्ड' में असंख्य प्रकृत्यण्ड हैं । एक एक प्रकृत्यण्ड में असंख्य 'ब्रह्माण्ड' हैं । 'मायाण्ड'—पुरुष से षट्कंचुक पर्यन्त तत्त्वों द्वारा निर्मित है। 'शाक्ताण्ड' माया से ऊपर है । यह ज्योतिर्मय एवं शुद्ध सत्वात्मक हैं । इसका उपादान शुद्धविद्या, ईश्वर एवं सदाशिव हैं ।

—वाक्यों द्वारा आचार्य क्षेमराज ने 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में यह प्रतिपादित किया हैं कि सारे अर्थ, समस्त अर्थमयी सृष्टि, समस्त विश्व एवं समस्त तत्त्व (३६ तत्त्व) भगवती चिति या विमर्श शक्ति के ही अपने परिणाम या रूपान्तर हैं ।

पृथ्वी से शक्तितत्वपर्यन्त यह समस्त सृष्टि पाँच अण्डों में विभक्त है जो निम्नांकित हैं—(१) पिण्ड (२) ब्रह्माण्ड (३) प्रकृत्यण्ड (४) मायाण्ड (५) शाक्ताण्ड

ये पाँचों अण्ड 'विश्व' हैं । शिव तत्त्व 'विश्वातीत' एवं शून्य है ।

(i) 'शाक्ताण्ड' में शान्तिकला है । इसके अधिष्ठाता सदाशिव हैं ।

(ii) 'मायाण्ड' में विद्या कला है । इसके अधिष्ठाता रुद्र हैं ।

(iii) 'प्रकृत्यण्ड' में प्रतिष्ठा कला है । इसके अधिष्ठाता विष्णु हैं ।

(iv) 'ब्रह्माण्ड' में निवृत्ति कला है । इसके अधिष्ठाता ब्रह्मा है ।
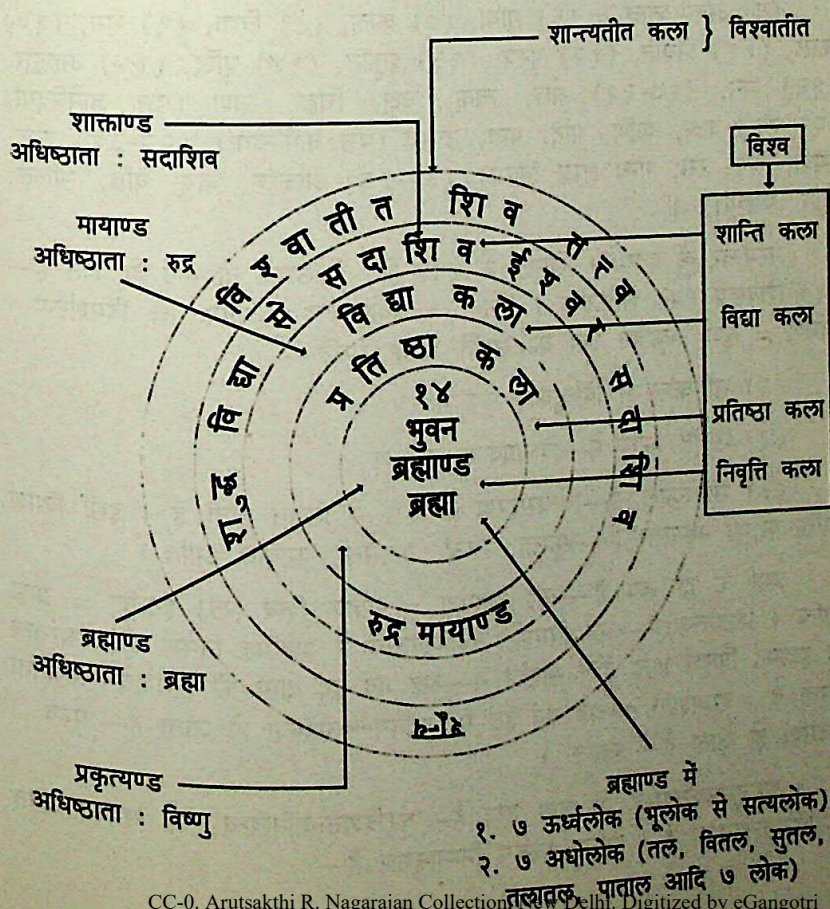
(v) शिव तत्त्व में शान्त्यतीत कला है ।

(vi) परमशिव निष्फल परमपद है। यह विश्वात्मक एवं विश्वातीत दोनों है।

अर्थमयी—शिवादिक्षित्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वरूपा ॥ सृष्टि मुख्यत: द्विरूपा है । (१) शब्दमयी (२) अर्थमयी । यह अर्थमयी सृष्टि त्रिस्तरीया है—

(१) अभेद भूमि—परमशिव = 'अहमस्मि'

(२) भेदाभेदभूमि—शिव, शक्ति से शुद्धविद्या: = 'अहमिदम्' ।

(३) 'भेदभूमि' = माया से पृथ्वी = 'इदमहम्' । इस त्रिस्तरीय सृष्टि को—(१) ऐं = 'आत्म तत्त्व' (२) ह्रीं = 'विद्या तत्त्व' (३) क्लीं = 'शिव तत्त्व' के रूप में भी निरूपित किया गया है ।

(क) शिव तत्त्व = (१) शिवतत्त्व, (२) शक्तितत्त्व ।

(ख) विद्या तत्त्व = (३) सदाशिव, (४) ईश्वर, (५) शुद्ध विद्या

(ग) आत्म तत्त्व = (६) माया, (७) कला, (८) विद्या, (९) राग, (१०) काल, (११) नियति, (१२) पुरुष, (१३) प्रकृति, (१४) बुद्धि, (१५) अहङ्कार, (१६) मन, (१७-२१) श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण (पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ) (२२-२६) वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ (पञ्च कर्मेन्द्रियाँ); (२२-३१) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध (पञ्च विषय), (३२-३६) आकाश, वायु, वह्नि, सलिल, भूमि (पञ्चभूत) ॥

परमेश्वर के हृदय में सिसृक्षा के उदय होते ही उसके दो रूप हो जाते हैं—(१) शिवरूप (२) शक्तिरूप । 'शिव' = प्रकाशरूप । 'शक्ति' = विमर्शरूप । विमर्श = पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति । यह स्फूर्ति—

(१) सृष्टिकाल में विश्वाकार रूप में

(२) स्थिति काल में—विश्वप्रकाश रूप में

(३) संहारकाल में—विश्वसंहरण के रूप में प्रस्तुत होती है । इसी विमर्श शक्ति के ही नामान्तर हैं—स्फुरत्ता, स्पन्द, महासत्ता, परावाक् आदि ।

प्रमा के दो रूप हैं—(क) अहमंश = ग्राहक शिव (ख) इदमंश = ग्राह्य शक्ति । शिवतत्त्व में—अहं विमर्श, सदाशिवतत्त्व में अहमिदं विमर्श एवं ईश्वरतत्त्व में इदमिदं विमर्श होता है । सद्विद्या में—अहं एवं इदं दोनों की समभावेन प्रधानता रहती है । मायाशक्ति'→अहं एवं इदं में पार्थक्य→अहमंश हो जाता है—'पुरुष' । इदमंश हो जाता है—'प्रकृति' ।

'परशुरामकल्पसूत्र' में कहा गया है—'षट्त्रिंशत्तत्त्वानिविश्व' यह समस्त जगत् षट्त्रिंशतत्त्वात्मक है । इसका स्वरूप निम्नानुसार है—

परा संवित्
शिवतत्त्व
शिवतत्त्व
(उन्मनी शक्ति)
शक्तितत्त्व
(समनी शक्ति)
अहं
मन्त्र महेश्वर
अहं इदं
इदं
सादाख्य तत्त्व (नादशक्ति)
अहं
मन्त्रेश्वर
अहं इदं
इदं (ईश्वर तत्त्व)
(बिन्दुशक्ति)
विद्यातत्त्व
शुद्ध तत्त्व
सद्विद्या से नीचे एवं
माया
से ऊपर विज्ञानाकल :
मन्त्र और ८ विद्येश्वर
अहं इदं
सद्विद्यातत्त्व
आत्मतत्त्व
माया में प्रलयाकल
पुरुष
प्रकृति
शुद्धाशुद्ध तत्त्व
ब्रह्मा से सब
बद्ध जीवों =
सकल
अहं
इदं
अशुद्धतत्त्व
बुद्धि से
पृथ्वी तत्व
पर्यन्त
इ द म ह म्
अ ह मि द म्
अहमस्मि
(पूर्णाहन्ता)
मूल तात्विक
सृष्टिस्तर
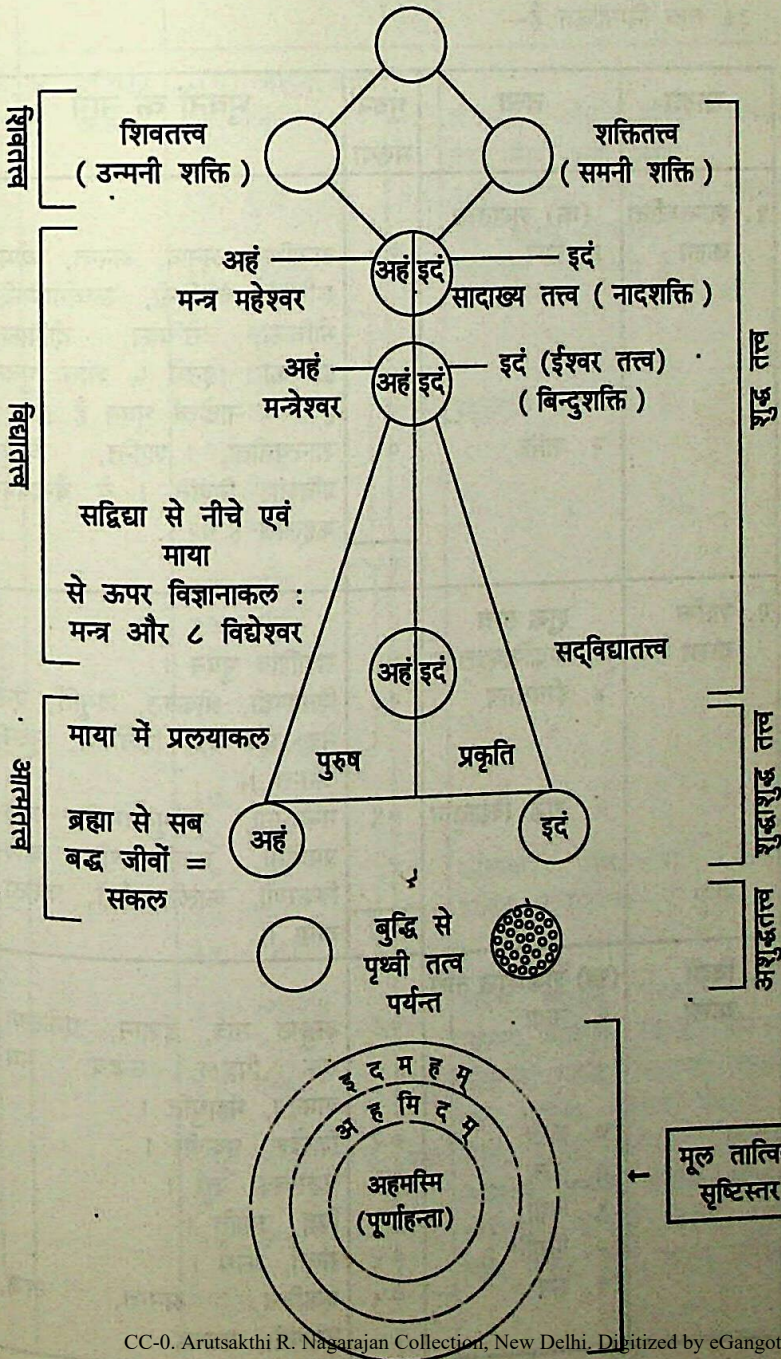
अर्थमयी सृष्टि अर्थमयी है । ३६ तत्त्व ही मूल अर्थ हैं और समस्त जगत् इन्हीं अर्थों का विकसित एवं विराट रूप है ।

३६ तत्त्व निम्नांकित है—

कला	तत्त्व	भुवन संख्या	भुवनों के नाम
(अ) शुद्ध तत्त्व — १. शान्त्यतीता कला	(क) शुद्धतत्त्व १. शिव	१०	अनाश्रित, अनाथ, अनन्त, व्योम-रूपिणी, व्यापिनी, ऊर्ध्वगामिनी, मोचिका, रोचिका, दीपिका, इन्धिका । (इनमें ५ शाक्त भुवन हैं । ५ नादोर्ध्व भुवन हैं ।)
	२. शक्ति	०५	शान्त्यतीता, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा, निवृत्ति । ये बैन्दवपुर कहलाते हैं ।
		१५	
२. शान्ति कला	शुद्ध तत्त्व ३. सदाशिव तत्त्व	०१	सदाशिव भुवन ।
	४. ईश्वरतत्त्व	०८	शिखण्डी, श्रीकण्ठ, त्रिमूर्ति, एक नेत्र, एक रुद्र, शिवोत्तम, सूक्ष्म, अनन्त ।।
	५. शुद्ध विद्यातत्त्व	०९	मनोन्मनी, सर्वभूतदमनी, बल-प्रमथिनी, बलविकरणी, कल-विकरणी, काली, रौद्री, ज्येष्ठा, वामा ।।
		१८	
(आ) शुद्धाशुद्ध तत्त्व — ३. विद्या कला	(ख) शुद्धाशुद्ध तत्त्व ६. माया	०८	अङ्गुष्ठ मात्र, ईशान, एकेक्षण, एक पिङ्गल, उद्भव, भव, वामदेव, महाधुति ।
	७. काल	०२	शिखेश, एकवीर ।
	८. कला	०२	पञ्चान्तक, शूर ।
	९. विद्या	०२	पिङ्ग, ज्योति ।
	१०. नियति	०२	संवर्त, क्रोध ।
	११. राग	०५	एकशिव, अनन्त, अज, उमापति, प्रचण्ड ।

	१२. पुरुष	०६	एकवीर, ईशान, भव, ईश, उग्र, भीम, वामा ।
		२७	
४. प्रतिष्ठा कला	(ग) अशुद्ध तत्त्व		
(इ) अशुद्ध तत्त्व	१३. प्रकृति	०८	श्रीकण्ठ, औम, कौमार, वैष्णव, ब्रह्म, भैरव, कृत, अकृत ।
	१४. बुद्धि	०८	ब्राह्म, प्रजेश, सौम्य, ऐन्द्र, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच ।
	१५. अहङ्कार	०१	स्थलेश्वर एक भुवन है ।
	१६. मन १७. श्रोत्र १८. त्वक १९. चक्षु २०. जिह्वा २१. नासा	०१	स्थूलेश्वर एक भुवन है ।
	२२. वाक २३. पर्णि २४. पाद २५. पायु २६: उपस्थ	०१	शङ्कुकर्ण एक भुवन है ।
	२७. शब्द २८. स्पर्श २९. रूप ३०. रस ३१. गंध	०५	कालञ्जर, मण्डलेश्वर, माकोट, द्राविड, छगलाण्ड—५ भुवन ।
	३२. आकाश	०८	स्थाणु, स्वर्णाक्ष, भद्रकर्ण, गोकर्ण, महालय, आविमुक्त, रुद्रकोटि, वस्त्रपाद ।
	३३. वायु	०८	भीमेश्वर, महेन्द्र, अट्टहास, विमलेश, नल, नाकल, कुरुक्षेत्र, गया ।
	३४. तेजस्	०८	भैरव, केदार, महाकाल, मध्यमेश, अम्रातक, जल्पेश, श्रीशैल, हरिश्चन्द्र ।
	३५. जल	०८	लकुलीश, पारभूति, डिण्डी, मुण्डी, विधि, पुष्कर, नैमिष, प्रभास, अमरेश ।
		५६	

शब्दमयी—परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी रूपा । भास्करराय के मतानुसार—(१) शब्दब्रह्मरूप बीज की उच्छूनतावस्था ही 'परावाक' है । (२) शब्दब्रह्मरूप इस बीज की स्फुटितावस्था 'पश्यन्तीवाक्' है । (३) इस बीज की मुकुलित, अव्यक्त किन्तु दलद्वयावस्था 'मध्यमा वाक्' है । (४) और इस बीज की सम्यक् विकसितावस्था 'वैखरीवाक्' है । "तत्र शब्दब्रह्मरूपस्य बीजस्योच्छूनतावस्था 'परा' स्फुटितावस्था 'पश्यन्ती', मुकुलिताव्यक्तं दलद्वयं 'मध्यमा' । सम्यग् विकासेन प्रसृतं मिथः संसृष्टमूल दलद्वयं 'वैखरी' ।।"[१]

आचार्य शङ्कर कहते हैं कि विचिकीर्षु घनीभूता चित् शक्ति 'बिन्दु' बन जाती है—'विचिकीर्षुर्घनीभूता सा चिदभ्येति बिन्दुताम् ।।'[२]

बिन्दु—कारणबिन्दु→कार्यबिन्दु→नाद→बीज । (यही त्रिक क्रमशः 'पर' 'सूक्ष्म' एवं 'स्थूल' कहा जाता है । 'कारणबिन्दु' 'कर्मबिन्दु' 'नाद' एवं 'बीज' के अधिदेवता अव्यक्त, ईश्वर, हिरण्यगर्भ एवं विराट, शान्ता, वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, अम्बिका, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया हैं । निम्न पीठ़ ही अधिभूत हैं—'कामरूप' 'पूर्णगिरि', 'जालन्धर' एवं उड्याण पीठ । 'कारणबिन्दु'—त्रिकोत्पत्ति द्वारा भेदात्मकता का उदय→अव्यक्त शब्दब्रह्मात्मक 'ख'→'बिन्दोस्तस्माद भिद्यमानाद-व्यक्तात्मा २वोऽभवत् । स २वः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते ।।'[३] '२व' = 'कारण-बिन्दु' । 'कारणबिन्दु' से तादात्म्यापन्न 'ख' मूलाधार में व्यक्त—'देहेऽपि मूलाधारेऽस्मिन् समुदेति समीरणः । विवक्षोरिच्छयोत्थेन् प्रयत्नेन सुसंस्कृतः । स व्यञ्जयति तत्रैव शब्दब्रह्मणि सर्वगम् ।।'[४] कारणबिन्दुरूप यह अभिव्यक्त शब्दब्रह्म निस्पन्द रहता है और यही है 'परावाक्'—'कारण बिन्द्वात्मकमभिव्यक्तं शब्दब्रह्म स्वप्रतिष्ठतया निस्पन्दं चदेव च परावागित्युच्यते ।।'[५] 'बिन्दु' = पश्यन्ती । 'नाद' = मध्यमा । 'बीज' = बैखरी । कारणात्मक बिन्दु—अव्यक्तात्मक 'ख' (शब्दब्रह्म) । कारणबिन्द्वात्मक यह शब्दब्रह्म निस्पन्द 'परावाक्' है ।

परतत्त्व → प्रकृति (परा प्रकृति) → घनीभूत ब्रह्म

घनीभाव के लिए जो व्यापार होता है वही है 'विचिकीर्षा' (इच्छा-ज्ञान क्रिया रूप विचिकीर्षा) । प्रकृति की घनावस्था उच्छूनावस्था है जिसमें प्रकृति कर्मों की अपूर्वावस्था को छोड़कर परिपक्व दशा में अविभक्त रूप से स्थित हो । पक्व कर्मों से सम्बद्धरूपता ही घनीभाव है । कर्माभिन्नरूप ही 'बिन्दु' है । कारण बिन्दु (प्रकृति) का विभाजन→(१) पर (२) सूक्ष्म (३) स्थूल (बिन्दु । कार्यबिन्दु) नाद एवं बीज—

कालेन भिद्यमानस्तु स बिन्दुर्भवति त्रिधा ।
स्थूल सूक्ष्म परत्वेन तस्य त्रैविध्यमिष्यते ।
स बिन्दु नाद बीजत्वभेदेन च निगद्यते ।।[६]

---

१. सौभाग्यभास्कर (पृ० ३३)
२-४. प्रपञ्चसार तन्त्र (प्रथम पटल)
५. सौभाग्यभास्कर
६. प्रपञ्चसार तन्त्र

'कार्य बिन्दु' ही 'पश्यन्ती' है, नाद ही 'मध्यमा' है एवं बीज ही वैखरी' है। तान्त्रिकों की 'प्रकृति' सांख्य की प्रकृति से भिन्न है क्योंकि यह चिद्रूप है। यह निश्चल, परावाक्रूप, प्रणवात्मक कुण्डलिनी शक्ति है—'प्रकृतिः निश्चला परावाग्रूपिणी पर प्रणवात्मिका कुण्डलिनी शक्तिः' ॥[१]

'परावाक्'—जो निःस्पन्द चित् शक्ति है वही पर शब्द या परावाक् है। एक ही परावाक् गतिशील होने पर सामान्य स्पन्द के रूप में 'पश्यन्ती', विशेष स्पन्द के रूप में 'मध्यमा' एवं स्पष्टतः उच्चरित होने के रूप में 'वैखरी' कहा जाता है। एक ही चित् (चैतन्यशक्ति) या परावाक् गतिशील होने पर 'शब्द' एवं 'अर्थ' के रूप में रूपान्तरित हो उठता है। परावाक् आत्मस्फुरण की अवस्था है। वामकेश्वर तन्त्र के मतानुसार 'प्रकाश' के निम्न चार अंश हैं—१. अम्बिका २. वामा ३. ज्येष्ठा एवं ४. रौद्री। 'विमर्श' के निम्न चार अंश हैं—१. शान्ता २. इच्छा ३. ज्ञान और ४. क्रिया। प्रकाशांश 'अम्बिका' एवं विमर्शांश 'शान्ता' की समरसावस्था में शान्ताभावसमापन्न पराशक्ति ही 'परावाक्' कहलाती है—

'आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला।
अम्बिका रूपमापन्ना परावाक् समुदीरिता ॥' (योगिनीहृदय)

आत्मस्फुरण की अवस्था में समग्र विश्व बीजात्मना (अस्फुट रूप में) आत्मसत्ता में विद्यमान रहता है। तदनन्तर 'शान्ता' से इच्छा का उदय होने पर वह अव्यक्त विश्वशक्ति के गर्भ से निःसृत होता है। उस समय इच्छा शक्ति वामा शक्ति से तादात्म्य अधिगत करती है और 'पश्यन्ती' की आख्या प्राप्त करती है। तदनन्तर ज्ञानशक्ति का उन्मेष होता है। ज्ञानशक्ति 'ज्येष्ठा' से अभिन्न है और 'मध्यमा' कहलाती है। ज्ञानानन्तर क्रियाशक्ति 'रौद्री' के साथ एकीभूत होकर 'वैखरी' कहलाती है। विश्व वैखरी का ही विस्तार है। शान्ता एवं अम्बिका का सामरस्य ही परावाक् है। यह वाक् चतुष्टय परस्पर मिलकर मूल त्रिकोण (महायोनि) के रूप में रूपान्तरित हो जाता है। 'परावाक्' इस त्रिकोण का केन्द्र है जो नित्यस्पन्दमय है। 'पश्यन्ती' इसकी वामरेखा, वैखरी इसकी दक्षिण रेखा एवं मध्यमा अग्ररेखा है। मध्य में स्थित महाबिन्दु शिव-शक्ति का स्थान है।

वैयाकरणों के मत में पश्यन्ती ही वाणी का परा रूप है। अक्षर, 'शब्दब्रह्म', परब्रह्म या परावाक् इसके विभिन्न नाम हैं। वैयाकरणों की दृष्टि में शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म अभिन्न है। आगमों में 'शब्दब्रह्म' ही परावाक् के नाम से प्रसिद्ध है। अद्वैतवादी परावाक् को परमेश्वर की स्वाभाविक या माहेश्वरी शक्ति मानते हैं। 'परावाक्' स्वाभाविक है—'परावाक् स्वरसोदिता' परावाक् के दो कार्य हैं—(१) स्वरूपाच्छादन (२) विकल्पप्रकटीकरण (विक्षेपोद्भावन)

परावाक् ही शुद्ध ज्ञान में विकल्पानुगत होकर निर्विकल्पक शुद्ध ज्ञान को सविकल्पक अशुद्ध ज्ञान के रूप में परिणत कर देती है। ज्ञानी लोग ज्ञान के इस

१. प्रपञ्चसार तन्त्र विवरण (पटल ३०)

विकल्पांश की अपसारणा करके विशुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान में अवस्थित हुआ करते हैं । यह निर्विकल्पक शुद्ध ज्ञान परावाक् से भी अतीत है अत: परावाक् का अतिक्रमण करने के पूर्व निर्विकल्प अवस्था प्राप्त करना संभव नहीं है । अद्वैतवादी 'परावाक्' को परमात्मा की माहेश्वरी शक्ति (स्वाभाविक शक्ति) मानते हैं । इसलिए कहा गया है—'परावाक् स्वरसोदिता' । यह आगुन्तक शक्ति नहीं प्रत्युत् परमात्मा का विमर्श भाव है । परमात्मा से परावाक् कभी पृथक् नहीं होती । जब परमेश्वर विश्व-लीला करना चाहते हैं तब अपनी अनुत्तरा 'स्वातन्त्र्यशक्ति' द्वारा अपने को परिच्छिन्न करके 'आणव मल' ग्रहण करते हैं और परिणामस्वरूप ग्राह्यग्राहक भाव प्रकट हो उठता है । जो पूर्णस्थिति है वह परप्रमातृरूप है और वहाँ ग्राह्यग्राहक भाव का अभाव है अत: वहाँ प्रमाता-प्रमेय-प्रमाण का भेद नहीं है किन्तु परमेश्वर अपनी 'स्वातंत्र्य' नाम्नी शक्ति द्वारा अद्वैतस्थिति में द्वैतभाव आविर्भूत करके ग्राह्यग्राहक ग्रहण भाव की त्रिपुरी को प्रकट करते हैं । चित्तरूपी ग्राहक के समक्ष विकल्प रूप अर्थ ही विषय के रूप में प्रस्तुत होते हैं । इस आविर्भाव क्रम का कारण भी परमेश्वर की पराशक्ति परावाक् ही है ।

रसात्मक स्वरस में आविर्भूत शक्ति का नामान्तर ही परावाक् है—'परावाक् स्वरसोदिता' ॥ प्रपञ्च का स्वरस वैखरी है क्योंकि प्रपञ्च में वैखरी का ही स्वरस प्रवाहित हो रहा है । वैखरी में मध्यमा का, मध्यमा में पश्यन्ती का एवं पश्यन्ती में परावाक् का स्वरस तरंगित हो रहा है किन्तु परावाक् में किसी का भी नहीं प्रत्युत् अपना ही रस (स्वरस) तरंगित हो रहा है इसीलिए तो शास्त्रकारों ने कहा है कि—'परावाक् स्वरसोदिता' । यदि यह कहा जाय कि परावाक् में परमेश्वर का स्वरस प्रवाहित हो रहा है तो अनुचित होगा क्योंकि यद्यपि परावाक् परमेश्वर की अपनी शक्ति है किन्तु 'शक्ति' शक्तिमान से भिन्न नहीं है । इस प्रकार भी तो कहा जा सकता है कि परमेश्वर परावाक्रूपी रसात्मक 'स्व' के कारण ही शक्तिमान एवं परम ईश्वर है ।

प्रत्यभिज्ञा में भी कहा गया है कि—'प्रत्यवमर्शात्मा चिति ही सरस परावाक् है। परमात्मा का यह स्वातंत्र्य ही उनका मुख्य ऐश्वर्य है । वह सर्वदेश काल में स्फुरण करती हुई महासत्ता सबका अधिष्ठान है और परमेश्वर का हृदय है।' उसका रूप है अंत: सङ्कल्प । उसमें शब्द एवं अर्थ दोनों एक साथ स्फुरित होते हैं अत: दोनों में अभेद है । जिस प्रकार निजात्मा संवित् से सम्पूर्ण जगत् अनुविद्ध है तदवत संवित् से सम्पूर्ण वाणी अनुविद्ध है । योगिनाथ ने ठीक ही कहा है कि परतत्व में किसी भी वस्तु की सिद्धि के लिए वाणी को स्वीकार करना पड़ता है । वह शक्ति शब्द का रूप धारण करके अर्थ को प्रकट करती है । संवित्प्रसूत वाणी के बिना किसी भी अर्थ का अवधारण नहीं हो सकता । सर्वप्रकारक संवित्सवरूप की प्रभा के समान प्रकाशन शक्ति अंतस्सङ्कल्पतारूपा वाणी बनकर फिर वर्ण, पद, वाक्य को जीवन-दान करती है और पदार्थ के रूप में बाहर दिखती है ।

'अम्बिका' में 'शान्ता' का साम्य होने पर 'मूलबिन्दु' का उदय होता है। इसीका नाम है 'परावाक्'। परमात्मा या सदाशिव इसी 'मूलबिन्दु' की अवस्था विशेष का नाम है। पौष्कर में परावाक् को 'सूक्ष्मा' अभिधान देकर इसका इस प्रकार निरुपण किया गया है—'सूक्ष्माचिदेकशरणा निवृत्ताशेषशक्तिका।' शैवपरिभाषाकार योगीन्द्रज्ञान शिवाचार्य इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं— 'तत्र ज्ञानैकाश्रया अर्थसामान्य प्रकाशिका वाणी सूक्ष्मा ॥'[१] विभिन्न वाणियों की कारण-कार्य-परम्परा निम्नानुसार है—

'वैखर्याः कारणं मध्या, पश्यन्ती मध्यमां प्रति।
पश्यन्त्याः कारणं सूक्ष्मा निर्विकल्प स्वरूपिणी ॥'[२]

तत्व की दृष्टि से 'सूक्ष्मा' का सम्बन्ध शिवतत्व से है—'तत्र शिवतत्त्वे सूक्ष्माभिधानावाग्वृत्तिः ॥' इसी वाक्तत्त्व में शान्त्यतीत भुवनों का अवस्थान भी है।

'विकल्पबोधायाणूनां तत्त्वानां स्थितये कलाः।
पञ्च तत्त्वानि लोकांश्च मन्त्रा दीन सृजिच्छिवः।
शान्त्यतीता पुराधारं शिवतत्त्वं पुराभवत् ॥'

'परावाक्' या 'सूक्ष्मा शब्दवृत्ति' शिवात्मक है—'अस्य शिवाधिष्ठितत्वेन शिवतत्त्वव्यपदेशः ॥'[३] 'तत्र शिवतत्त्वे सूक्ष्माभिधाना वाग्वृतिः। अत्रैव शान्त्यतीतभुवनाना वस्थितिः।'[४]

'परावाक्'—सभी शास्त्रों को अपने में निहित रखता है। इसमें बीजात्मना (Germinally) सभी शास्त्र निहित रहते हैं। यही परावाक् धीरे-धीरे भौतिक स्तरों में उतरता हुआ अक्षरों के रूप में (Syllables, vocables) वर्णमाला का सृजन करता है। इस स्तर पर चैतन्य के दो स्तर परस्पर अभिन्न है तथा शब्द एवं अर्थ एक दूसरे से अपृथक हैं। परा की उत्तरावस्था में (परवर्ती स्थितियों में) शब्द एवं उसके अर्थ परस्पर भिन्न हो जाते हैं और वैखरी की अवस्था में तो विभिन्न उच्चारणावयवों के माध्यम से पृथक् शब्द पृथक् अर्थों के साथ उच्चरित होने लगते हैं। 'परावाक्' समस्त शास्त्रों का उद्गम या स्रोत है। ये शास्त्र सर्वोच्च सत्ता (Supreme being) के पाँचों मुखों से, जो उसकी पाँच शक्तियों (चित, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया) के प्रतीक हैं, निःसृत होते हैं। पञ्चविध शैव शासनाम्नाय शिव के पञ्चमुखों से प्रकट होता है और तन्त्र के ९२ सम्प्रदायों का प्रवर्तन करता है जो कि निम्न ३ भागों में वर्गीकृत हैं—(१) शिव तन्त्र = द्वैतपरक : १० (२) रुद्रतन्त्र = द्वैताद्वैतवादी : १८ (३) भैरव तन्त्र = अद्वैतवादी : ६४ ॥

'परावाक्' विश्व-सृष्टि का मूलाधार है—वामकेश्वर तन्त्र में (नित्याषोडशिकार्णव) में कहा गया है कि 'परमाशक्ति' (त्रिपुरा या परावाक्) जब

१. शैवपरिभाषा २. पौ०बिन्दु०प०
३-४. शैवपरिभाषा

स्वनिष्ठ स्फुरत्ता का साक्षात्कार करती है तभी विश्व का उदय होता है—'यथा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी । स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः ॥' परमाशक्ति के ईक्षण-व्यापार में इच्छा के साथ ही साथ ज्ञान एवं क्रिया भी सूक्ष्मात्मना विद्यमान रहते हैं । भास्करराय मखिन् ने 'सेतुबंध' में कहा है कि 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' इस वाक्य में 'बहुस्यां' के ईक्षण के आकारित होने के पूर्व (उठी हुई प्राथमिकी वृत्ति) इच्छा एवं ज्ञान दोनों शक्तियों से युक्त थी । इतना ही नहीं 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च' आदि श्रुति-वाक्यों से यह भी प्रमाणित है कि उक्त प्राथमिक इच्छा-ज्ञान शक्ति के साथ क्रियाशक्ति भी समवेत थी ।

पद्मपादाचार्य प्रपञ्चसार तन्त्र की टीका में परावाक् की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—मूलाधार से उत्पन्न चैतन्याभास और माया शक्त्यात्मक भाव परावाक् है—'तस्मात् प्रथममुदितः चैतन्याभासः भावश्च यः जगद्भावयतीति माया शक्तिर्भावः स पराख्यः ॥' 'चैतन्याभासविशिष्टतया प्रकाशिका माया निष्पन्दा परावागित्यर्थः ॥' 'मूलाधार' में मूल का अर्थ है जगत् की मूलभूतात्मिका परिणामिनी माया शक्ति एवं उसका अधिष्ठानभूत चिदात्मा । शरीरगत मूलाधार भी चिदात्मा की अभिव्यक्ति का स्थान है । इसी स्थान से उत्पन्न मायाशक्त्यात्मक चैतन्याभास एवं निष्पन्दा वाक् को 'परा' आख्या दी गई है । शङ्कराचार्य ने मूलाधार से प्रथमोदित वाक् को 'परा' कहा है—'मूलाधारात् प्रथममुदितो यश्च भावः पराख्यः ॥'[१] शङ्कराचार्य की व्याख्या के अनुसार 'परावाक्' मूलाधारोत्पन्न प्राथमिक 'भाव' है ।

परावाक् की 'परा' संज्ञा इसलिए है क्योंकि यह 'पूर्ण' है—'पूर्णत्वात परा ॥'[२] परावाक् वाणी की पराकाष्ठा है—यही शब्दब्रह्म है । इसे 'वाक्' इसलिए कहा गया है क्योंकि यह प्रत्यवमर्श द्वारा कथन करती है—'वक्ति' विश्वं अपलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक् ॥'

'परावाक्', चिदात्मक, स्वात्मविश्रान्त 'अहं' के रूप में नित्योदित परमात्मा की स्वातंत्र्यशक्ति के रूप में अवस्थित है तथा सदा निरपेक्ष रूप से रहती है ।

संसार का साररूप एवं मालिनी शक्ति 'परावाक्' है । यही समस्त मन्त्रों की जननी है । यही तुरीय पद 'अव्यक्त' भी कहा गया है । 'परावाक्' में इच्छा-ज्ञान-क्रिया समष्टि रूप से अवस्थित रहती है । इसे 'कारणबिन्दु' भी कहा गया है क्योंकि यह जगदाङ्कुर के लिए कन्दस्वरूपा है । शब्दब्रह्मरूपात्मिक का यह परावाक् आत्मप्रतिष्ठ होने के कारण निःस्पन्द है ।

अपने मूल स्वरूप में परावाक् चितशक्ति का ही अपर पर्याय है । 'अथवा चिच्छक्तिरेव पराख्या चैतन्याभास विशिष्टतया प्रकाशिका माया निष्पन्दा परा-वगित्यर्थः ॥'[३] चैतन्याभासविशिष्ट होने के फलस्वरूप प्रकाशिका माया ही स्पन्दहीन 'परावाक्' है ।

---

१. प्रपञ्चसार तन्त्र
२. ई०प्र० विमर्शिनी
३. पदार्थादर्श

शाक्ताद्वैत, ईश्वराद्वयवाद में तो 'माया' 'प्रकृति' आदि 'परावाक्' से निम्नस्तरीय तत्त्व माने गये हैं । 'महामाया' को द्वैतवादी तन्त्र में शिव की परिग्रहरूपा बिन्दु शक्ति या 'परावाक्' स्वीकार किया गया है ।

लक्ष्मीधर की दृष्टि में 'परा' सतोगुणरजोगुण एवं तमोगुण की साम्यावस्था का अभिधान है । 'एका परेति सत्वरजस्तमोगुण साम्यरूपा ॥'[१]

'परावाक्'—'प्रकृति' एवं 'प्रतिभा'—आचार्य लक्ष्मीधर ने सौन्दर्यलहरी की अपनी टीका में परावाक् से प्रकृति का सम्बन्ध बताते हुए उसे प्रकृतिरूपात्मक स्वीकार किया है । प्रकृति में निहित गुणत्रय 'ज्ञान', 'इच्छा', एवं 'क्रिया' के ही प्रतीक हैं । ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकार का कथन है कि 'पशुपति' की अवस्था में जो 'ज्ञान' 'क्रिया' एवं 'माया' शक्ति है वही 'पशु' दशा में 'सत्व' 'रज' एवं 'तम' है—'स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या । मायातृतीये ते एव पशोः सत्वं रजस्तमः ॥'[२] इच्छा आदि शक्तियाँ ही सङ्कुचित होकर सत्व-रज-तम (गुणमय) का रूप धारण करती हैं ।

सांख्य, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा आदि में निरूपित प्रकृति का स्वरूप अशुद्ध प्रकृति का स्वरूप है जबकि तन्त्रोक्त प्रकृति शुद्धा प्रकृति है और इसमें इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्ति तत्त्व के रूप में विद्यमान हैं—'इच्छादित्रिसमष्टिः शक्तिः शान्तास्य सङ्कुचद्रूपा । सङ्कलितेच्छाद्यात्मक सत्वादिकसाम्य रूपिणी सती । बुद्ध्यादिसामरस्य-स्वरूप चित्तात्मिका मता प्रकृतिः ॥'[३] 'मूल प्रकृति' परावाक् है । इसी से विश्ववैचित्र्य का आविर्भाव होता है । आचार्य व्यास ने 'गुणानांपरमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति । यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्' कहकर अपने भाष्य में यह स्वीकार किया है कि प्रकृति के सत्त्वादिक गुणों का परमरूप दृष्टिपथ से अतीत है तथा जो दृष्टिगोचरीभूत है वह मायावत हेय है । निष्कर्ष यह कि सांख्यदर्शन द्वारा अज्ञात सत्त्वादि गुणों की एक परा कोटि भी विद्यमान है और यही तन्त्रों में वर्णित है । व्याकरणशास्त्र मानता है कि बोधावसर पर गो, घर, देवदत्त, प्रभृति भिन्न-भिन्न विच्छिन्न पदार्थों से पृथक् एक अखण्ड वाक्यार्थ रूप 'प्रतिभा' का आविर्भाव है । यह 'प्रतिभा' स्फोटात्मक शब्द का अपर पर्याय है । तान्त्रिक समाम्नाय में 'प्रतिभा' को भी 'परावाक्' की आख्या प्रदान की गई है । विश्व-सृष्टि के लिए निरपेक्षता की क्षमता 'परा' या 'प्रतिभा' कहलाती है । अभिनवगुप्त ने इस अनन्यापेक्ष शक्ति को 'प्रतिभादेवी' की संज्ञा दी है ।

'अनन्यापेक्षिता यास्य विश्वात्मत्वं प्रतिप्रभोः । तां परां प्रतिभां देवीं सेगिरन्ते ह्यनुत्तरम् ॥' 'प्रतिभा' चित्स्वरूपा, स्वातंत्र्य-चमत्कारपूर्णा, भैरवभट्टारिकात्मिका, महासंवित् है । यही 'परावाक्' भी है जो कि पराप्रकृतिरूपा, अनन्तप्रमेयाकारा शक्ति है—भेदोदग्राहविवर्तेन लब्धाकारपरिग्रहा । आम्नाता सर्वविद्यासु वागेव प्रकृतिः

---

१. सौन्दर्यलहरी की टीका—लक्ष्मीधराचार्य ।
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (अ ४ । प्रा० १) ३. तन्त्रसंदोह

परा ॥'[१] यही स्वरसोदित परावाक् समस्त वर्णसमुदाय, नादसमुदाय, प्रमेय समुदाय समग्र जगत् एवं मन्त्रसमुदाय का मूल स्रोत है ।

'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में कहा गया है—'चित्प्रकाश से अभिन्न, नित्य उदित, महामन्त्ररूप, पूर्ण अहं विमर्शात्मक जो यह 'परावाक् शक्ति' है, जिसके गर्भ में 'अ' से 'क्ष' पर्यन्त (वर्णात्मक) समग्र शक्तिचक्र विद्यमान रहता है, वही पश्यन्ती और मध्यमा के क्रम से ग्राहकभूमिका को आभासित करती है ।' प्रत्यवमर्शात्मक, अमायीय वर्णजनित, अन्तर शब्दनस्वभाव चिति को नित्योदित 'परावाक्' कहते हैं । यही 'परावाक्' परमात्मा की शक्ति एवं मुख्य ऐश्वर्य है । पूर्ण होने के कारण इसे 'परा' तथा प्रत्यवमर्श द्वारा विश्व का अभिलाप करने से इसे 'वाक्' कहते हैं ।

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥[२]

'पूर्णत्वात् परा वक्ति विश्वं अभिलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक् ॥'[३] 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' के प्रणेता क्षेमराज का कथन है कि चित्प्रकाश से अव्यतिरिक्त, नित्योदित, महामन्त्ररूप, पूर्णाहंविमर्शमयी वाक् ही 'परावाक् शक्ति' (चित्प्रकाशात् अव्यतिरिक्ता नित्योदितमहामन्त्ररूपा पूर्णाहंविमर्शमयी या इयं परावाक् शक्तिः ॥) विभु की माया शक्ति द्वारा भिन्न-भिन्न बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुसमूह का विश्रान्तिस्थान, वही प्रत्यवमर्शात्मक परावाक् रूप चिति, ज्ञान, सङ्कल्प, अध्यवसाय, स्मृति और संशय के नाम से कही गई है—

'माया शक्त्या विभोः सैव भिन्न संवेद्यगोचरा ।
कथिता ज्ञानसङ्कल्पाध्यवसायादिनामभिः ॥'

इस धरातल पर वाच्य एवं वाचक शब्दों का अस्तित्व नहीं रहता । इस भूमि में वाच्य अर्थ की भी सत्ता नहीं रहती । यहाँ अतीत, अनागत एवं वर्तमान का भेद नहीं रहता । यहाँ पर भेद अपनी आत्मा से अभिन्न या आत्मरूप होकर भासमान होता है ।

महाज्ञान सर्वप्रथम 'अहंज्ञान' का रूप धारण करके परमशिव के अन्तर में स्फुरित होता है । इस अवस्था में वाच्य-वाचक भाव एवं शब्द-अर्थ का पृथकत्व विद्यमान नहीं रहता । वाच्य 'इदं' रूप में भासमान नहीं होता ।

'नाद' एवं परापश्यन्ती आदि वाक्चतुष्टय—आचार्य भास्करराय ने 'मातृका' 'पश्यन्ती' 'मध्यमा' की व्याख्या इस प्रकार की है—

(१) **'मातृका'**—'माति तरति कायतीति च व्युत्पत्या मातृकेत्युच्यते । तस्यां च निर्विकारायामप्यनादि सिद्धप्राण्यदृष्टवशात् स्वान्तःसंहृत विश्वसिसृक्षोत्पद्यते ॥' ततः स्रष्टव्यपदार्थानालोचयति 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय ॥' इति ॥[४]

१. भर्तृहरि—'स्वोपज्ञ' (ब्रह्मकाण्ड) । २. ई०प्र०का०
३. ई०प्र० विमर्शिनी ४. वरिवस्यारहस्यम्

(२) **'पश्यन्ती'**—परमात्मा 'बहुस्यां प्रजायेय' का जो ईक्षण करता है उसी की परिणति पश्यन्ती है[१]—'तादृशमीक्षणमेव प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य तस्यां पश्यन्तीति पदं प्रवर्तते ।'

(३) **'उत्तीर्णा'**—यहीं 'पश्यन्ती' ही उत्तीर्णा भी कही जाती है ।[२] 'सैव च पश्यन्त्याख्यामातृका करणसरणित उत्तीर्णत्वा दुत्तीर्णोत्युच्यते ।।' उसके अवयव वामादिक ८ शक्तियाँ है—तदवयवाश्च वामादयोऽष्टौ शक्तयोऽन्यत्र प्रपञ्चिताः ।।

(४) **'नौ नाद'**—यही पश्यन्ती व्यष्टि-समष्टि रूप से ९ प्रकार की हैं—'अत:सैव व्यष्टि-समष्टि वेषेण नवविधा ततो नव नादा अविकृत शून्यादयो जाता: ।।[३]

(५) **उसकी समष्टि**—नाद, ध्वनि आदि कही जाती है—(तत्समष्टिश्च नाद ध्वन्यादि पद वाच्या) ।।

'मध्यमा वाक्'—परा की भाँति अतिसूक्ष्म एवं वैखरी की भाँति अति स्थूल—इन दोनों कोटियों से परे मध्य स्तर पर व्यक्त वाक् 'मध्यमा' है । ('नातिसूक्ष्मा परावन्नातिस्थूला वैखरीवद अतो मध्यमाख्या ।।) इसीलिए उसे 'मध्यमा' कहते भी हैं। मध्यमा की स्थिति 'मध्यमाख्या मातृका मध्यमावयवरूपमविकृत शून्य स्पर्श नाद ध्वनि बिन्दु शक्ति बीजाक्षराख्यं नादनवकं मूलाधारादिषट्के नादे नादान्ते ब्रह्मरन्ध्रे च स्थितम् ।।'[४]

नव नाद एवं वर्णमाला—(नव नाद—वर्णमाला की उत्पत्ति इन्हीं ९ नादों से होती है—'नवभिर्नादैरक च ट त प य श ला ख्य वर्ग नवकवती वैखर्याख्या मातृका जाता, ।')—९ नादों से वैखरी वाक् उत्पन्न होता है । 'वैखरी' नामकरण क्यों ?[५]—

'स्पष्टतरत्वात खं कर्णविवरवर्ति नभोरूप श्रोत्रेन्द्रियं राति गच्छति, तज्जन्य ज्ञान विषयो भवति इति ।

'ख' आकाश का नाम है । आकाश का सम्बन्ध श्रोत्रेन्द्रिय से है अतः आकाश की इन्द्रिय स्रोत्र में जो (राति) जाता है, प्रवेश करता है (राति = गच्छति) वह 'वैखरी' है ।[६]

प्रणवात्मक निश्चल कुण्डलिनी ही 'परावाक्' है । पश्यन्ती आदि परावाक् की ही विकृतियाँ हैं । 'प्रणव' उच्चारण से पूर्व संविदात्मक 'पर प्रणव' में स्थित रहता है फिर यह ज्वाला-प्रवाह रूप शब्दभेदों को पार करता हुआ—यह ज्योतिलिङ्गाकार चिदग्निरूप प्रणव भ्रमर के समान गुञ्जन करता हुआ मूलाधार से सुषुम्णा मार्ग में प्रवेश करता है । और द्वादशान्त में स्थित हो जाता है ।

'परावाक्' अव्यक्त विश्वबीज है—भारतीय ऋषियों ने मानव जीवन के जो चार लक्ष्य निर्धारित किये हैं उन्हें ही शब्दान्तर में 'पुरुषार्थ चतुष्टय' कहा गया है।

१-द. वरिवस्यारहस्यम्

पुरुषार्थ चतुष्टय में प्रथम पुरुषार्थ 'धर्म' है । जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार किया उन्होंने अनुभव किया कि चराचर समस्त जगत् का मूलाधारभूत तत्त्व सूक्ष्म वाक् है और जो धर्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाये वे जगदाधिष्ठान रूप में स्थित इस सूक्ष्म वाक् तत्त्व का संधान नहीं कर सकते—

'यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचम् ऋषयः साक्षात्कृतधर्माणो मन्त्रदृशः पश्यन्ति, ताम् असाक्षात्कृतधर्मेभ्यः परेभ्यः आदि ।।'[१]

यह सूक्ष्म वाक् 'परावाक्' का पर्याय है । सूक्ष्म वाक् के विषय में दो दृष्टियाँ हैं । शब्दब्रह्मवादी आचार्यों की दृष्टि के अनुसार सूक्ष्म वाक् पुरुष की समवायिनी शक्ति तथा अमृत कला है । सिद्धान्त शैव मत के अनुसार सूक्ष्म वाक् 'बिन्दु' का कार्य है । शैव दृष्टि के अनुसार सूक्ष्म वाक् पुरुष भी समवायिनी शक्ति नहीं है प्रत्युत् यह आत्मा में अविभक्त रूप में स्थित रहती है । यह सूक्ष्म वाक् (परावाक्) नित्य भी नहीं है । प्रत्युत् यह कार्यरूप एवं अनित्य है । इसी का नामान्तर शब्दब्रह्म, रवि, या सूर्य है । इसका भेदन करने से विवेक ज्ञान का उदय होता है और शब्दब्रह्म का भेदन करने से मुक्ति होती है । शब्दब्रह्मवादी सूक्ष्म वाक् से 'पश्यन्ती' को अभिन्न स्वीकार करते हैं जबकि शाक्त आचार्य इसे आत्मा या परमशिव की पराशक्ति मानते हैं । जब आत्मस्वरूप में आत्मस्वरूप की दिदृक्षा होती है तब प्रकाशांश एवं विमर्शांश (शान्ता एवं अम्बिका शक्तियाँ) दोनों में सामरस्यागम होता है । इसी सामरस्य का अभिधान है 'परावाक्' या परामातृका' । इसी में जगत् के मूल तत्व (३६ .तत्त्व) विश्वबीज के रूप में अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहते हैं और सृष्टिबेला में अभिव्यक्त हुआ करते हैं । 'परावाक्' अद्वैतात्मक अखण्ड ज्ञान, समस्त भावों की पूर्णता, पर बोध, एवं 'परम परामर्श' है । जगद्रचना के प्रारम्भ में परावाक् में स्थित वेदशास्त्रादिक निम्नभूमिका में अवतीर्ण होते हैं और सर्वप्रथम हृदय के अन्दर परम बोध के रूप में अस्फुट अहंज्ञान के उस स्वरूप का आविर्भाव होता है जिसके विमर्श से वाच्य-वाचकभाव विद्यमान नहीं रहता ।

तन्त्र का मूलस्वरूप भी परावाक् रूप है क्योंकि 'परावाक्' परमात्मा की 'पराशक्ति' है । यह आत्मबोध की परावस्था है । 'परमाकला' द्वारा आत्मस्फुरण के साक्षात्कार की परिणति ही 'परावाक्' है ।'

आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला ।
अम्बिकारूपमापन्ना परावाक् समुदीरिता ।।'[२]

अमृतानन्द 'दीपिका' में कहते हैं कि 'वह सर्ववर्णांशभूत विमर्शरूपा ('परमा') विमर्शशक्ति ('कला') अपने अर्थात् परशिव के ('आत्मनः') पश्यन्ती आदि के क्रम से वैखरीपर्यन्त, विमर्शन ('स्फुरण') का जब दर्शन करना चाहती है तब परमाशान्तात्मिका होकर प्रकाशांशस्वरूपा अम्बिका के साथ सामरस्य प्राप्त करके

१. पुराकल्प २. योगिनीहृदय

('अम्बिका रूपमापन्ना') जिस स्वरूप में प्रकट होती हैं उसे 'परावाक्' कहते हैं—'सा परमा सर्ववर्णांशभूतविमर्शरूपा, कंला विमर्शशक्ति, आत्मनः परशिवस्य, स्फुरणं पश्यन्त्यादि क्रमेण वैखरीपर्यन्तं विमर्शनम्, पश्येद्, .द्रष्टुमिच्छेत् तदा परमा शान्तात्मिका भूत्वा अम्बिका रूपमापन्ना प्रकाशांशमात्राया अम्बिकायाः सामरस्यमापन्ना 'परावाक्' समुदीरिता ॥' यही परावाक् 'परामातृका' भी कही जाती है ।[१]

वाक् तत्व के - चारों रूपों का परमात्मा की संविदात्मक आत्म शक्तियों के साथ सम्बन्ध है, यथा—

इच्छाशक्ति—पश्यन्ती वाक् = इच्छाशक्ति + वामाशक्ति—पश्यन्ती

ज्ञानशक्ति—मध्यमा वाक् = ज्ञानशक्ति + ज्येष्ठाशक्ति—मध्यमा

क्रियाशक्ति—वैखरी वाक् = क्रियाशक्ति + रौद्रीशक्ति—वैखरी[२]

शक्तिचक्र के चार प्रकार हैं—(१) खेचरी (२) गोचरी (३) दिक्चरी (४) भूचरी । इन्हें ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी भी कहते हैं । इन्हीं में आनन्द, इच्छा, ज्ञान, एवं क्रिया भी निवास करती है । ये समस्त शक्तियाँ आत्मसंवित से अभिन्न हैं ।[३] इन समस्त शक्तियों के मूलकारण स्पन्दरूप भगवान् ही है ।[४]

'शारदातिलक' में शब्दब्रह्ममयी कुण्डलिनी से 'शक्ति' के आविर्भाव का उल्लेख हैं । यह क्रम इस प्रकार है—कुण्डलिनी—शक्ति—ध्वनि—नाद—निरोधिका—अर्द्धेन्दु । बिन्दु—परा—पश्यन्ती—मध्यमा—वैखरी ॥

सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः ।
शक्ति ततो ध्वनिस्तस्मान्नादस्तस्मान्निरोधिका ॥

ततोर्द्धेन्दुस्ततो बिन्दुस्तस्मादासीत् परा ततः ।
पश्यन्ती मध्यमा वाचि वैखरी शब्द जन्मभूः ॥

इच्छाज्ञान क्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका ।
क्रमेणानेन सृजति कुंण्डली वर्णमालिकाम् ॥[५]

'मातृका' के चार रूप हैं—

मातृका
↓
परा | पश्यन्ती | मध्यमा | वैखरी
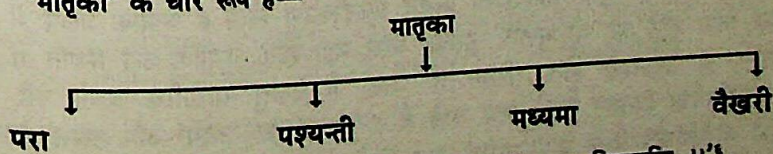
'अनेन मातृकायाः परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी इति चत्वारिरूपाणि ॥'[६]

---

१. 'परामातृकोच्यते' (दीपिका)
२. योगिनीहृदय, सेतुबन्ध, दीपिका
३-४. स्पन्दप्रदीपिका
५. शारदातिलक (त०प्र० पटल)
६. लक्ष्मीधरा

'परा' क्या है?—'परा' नाम सान्तरोहरूपा ।' 'अन्तरे अन्तःकरणे ऊहेन तर्केण सहितं रूपं यस्याः सा सान्तरोहरूपा ।' 'कामकला विलास' में भी इसीलिए कहा गया है—'या सान्तरोहरूपा परा महेशी परा नाम ।।'

'पश्यन्ती' क्या है ?—'स्पष्टा पश्यन्त्याख्या त्रिमातृका चक्रतां याता ।।' 'त्रिमातृका त्रिखण्डयुक्ता मातृका पञ्चदशाक्षरी, तदात्मिका । सा च चक्रतां चक्रत्वं याता । त्रिखण्डात्मक चक्रैक्यं त्रिखण्डात्मकमातृकाया इति रहस्यम् । 'स्पष्टा' युक्तावस्थायां अतिसूक्ष्मतया प्रतीता ।।[१]

'मध्यमा' क्या है?—'मध्यमा नाम परापश्यन्त्योः उच्चानुच्चावस्थात्मिका ।' इसके दो रूप है—(१) वामादि व्यष्टिरूपा (२) वामादि समष्टिरूपा । वामादि शक्तियाँ निम्न हैं—(१) वामा (२) ज्येष्ठा (३) रौद्री (४) अम्बिका । ये चारों शक्तियाँ श्रीचक्र के अन्तर्गत अधोमुख हैं और चतुर्योन्यात्मिक हैं । (१) इच्छा (२) ज्ञान (३) क्रिया (४) शान्ता (५) परा—ये ५ शक्तियाँ श्रीचक्र के अन्तर्गत ऊर्ध्वमुख एवं शक्तियोन्यात्मिक हैं । इसीलिए कहा गया है—'एका परातदन्या वामादिव्यष्टि मातृसृष्ट्यात्मा । तेन नवात्मा माता जाता सा मध्यमाऽभिधानाभ्याम् । द्विविधा हि मध्यमा सा सूक्ष्मा स्थूलाकृतिः स्थिरा सूक्ष्मा । नवनादमयी स्थूला नववर्गात्मा तु भूतलिपयाख्या ।'[२]

'परा' क्या है?—'एक परेति सत्त्वरजस्तमोगुणसाम्यरूपा ।' 'पश्यन्ती' क्या है?—'पश्यन्ती अन्यतरगुण वैषम्यरूपा ।' 'मध्यमा' क्या है?—'मध्यमा वामादि-व्यष्टिरूपा स्थूलात्मिका ।'[३]

'मध्यमा'—सूक्ष्मा स्थूला : नव नादमयी, नववर्गात्मा, भूतलिव्याख्या । (नव नाद = अ, क, च, ट, त, प, य, श, क्ष ।)

(१) 'आद्या सूक्ष्मरूपा मध्यमा'—स्थूलरूपा (नव वर्गात्मिका) मध्यमा ।[४] 'पश्यन्ती' के ३ रूप हैं—(१) 'पश्यन्ती' (२) 'महापश्यन्ती' (३) 'परम महापश्यन्ती ।'[५] आचार्य सोमानन्द—'पश्यन्ती' को 'ज्ञानशक्ति' कहते हैं ।

सृष्टि—'अर्थमयी शब्दमयी चक्रमयी देहमय्यापि च सृष्टिः ।।' आचार्य भास्करराय जिसे 'सृष्टि' कहते हैं उसका स्वरूप क्या है? (१) स्पन्दकारिकाकार का मत—जगत् की सृष्टि नहीं होती प्रत्युत् प्रकटीकरण होता है क्योंकि प्रलय में जगत् का ध्वंस होने पर भी मूलतः उसका ध्वंस नहीं होता क्योंकि उस स्थिति में जगत् शक्ति में उपसंहृत होकर स्थित हो जाता है किन्तु सांसारिक प्राणी उसे प्रलय महाध्वंस या विनाश कहने लग जाते हैं । 'जगत' का 'उदय' और अस्त होता है । इसे ही स्पन्दकारिका में—'उन्मेष' एवं 'निमेष' कहा गया है—'यस्योन्मेष निमेषाभ्यां जगतः प्रलयो दयौ । तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः ।।[६]

१-४. लक्ष्मीधरा
५. ई०प्र०वि० (अभिनवगुप्त)
६. स्पन्दकारिका

(२) 'सृष्टि' ईक्षणमात्र है—'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय ।'

(३) योगिनीहृदय का मत—'सृष्टि' शक्ति द्वारा स्फुरत्ता का दर्शन है ।[१] 'शब्दमयी'—शब्द का वाक् तत्त्व से सम्बन्ध है । वाक् क्या है?

वाक् तत्त्व—समस्त सृष्टि वाक्तत्त्वात्मक या शब्दमयी है । जगत् 'शब्द' या वाक्तत्त्व का परिणाम है 'अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदुच्यते । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥'[२]

(१) समस्त शक्तियाँ वाक्तत्त्वात्मक या वर्णात्मक हैं—स्पन्दप्रदीपिकाकार ने कहा है—'समस्त शक्तियाँ वर्णात्मक हैं ।'

(२) वाक् तत्त्व 'पशुपति' को 'पशु' भी बना देता है—कल्लट इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहते हैं—

'शब्द राशि समुत्थस्य शक्ति वर्गस्य भोग्यताम् ।
कलाविलुप्त विभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ॥'

स्पन्द प्रदीपिकाकार उत्पल ने ठीक ही कहा है कि पुरुष जिन शक्तियों का स्वामी है उन्हीं का भोग्य बनकर (पुरुष के स्थान पर) 'पशु' बन जाता है । कादि रूप या ब्रह्मादि शक्तिरूप चक्र की कलाओं से (ककारादि अक्षरों के श्रवण और उच्चारण द्वारा) पुरुष अपने वैभव एवं अपनी महाव्याप्ति खोकर स्वभावच्युत हो जाता है और फलतः पशु बन जाता है ।

(३) समस्त ज्ञान शब्दानुविद्ध हुआ करते हैं—आचार्य भट्टकल्लट इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए 'स्पन्दकारिका' में कहते हैं—

'यतः शब्दानुवेधेन न बिना प्रत्ययोद्भवः ॥'

(४) शब्द शक्तियाँ पर तत्त्व के स्वरूप की आच्छादिका हैं—आचार्य भट्टकल्लट ने 'स्पन्दकारिका' में कहा है—'स्वस्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोद्यता' अर्थात् पुरुष के स्वस्वरूप को आच्छादित करने के लिए ये शब्दरूप शक्तियाँ सर्वदा उद्यत रहती हैं अर्थात् क्रियाशक्ति के द्वारा ये पुरुष रूप को सदैव ढकना चाहती हैं ।

(५) बिना वर्णानुगम (शब्दानुवेध) के किसी ज्ञानसंवेदनरूप प्रत्यय का उदय ही नहीं होता—'यतः शब्दानुवेधेनं न बिना प्रत्ययोद्भवः ॥' (स्पन्दकारिका)

'वाक्यपदीय' में ठीक ही कहा गया है कि 'ऐसा कोई प्रत्यय नहीं होता जिसमें शब्द का अनुगम न हो । सभी ज्ञान शब्द से अनुविद्ध देखे जाते हैं ।'

(६) समस्त विश्व-व्यवहार का आधार भी वाक् तत्त्व ही है—

१. 'यदा सा परमा शक्तिः......स्फुरन्तात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः'

२. 'वाक्यपदीय'

स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पलदेव ने कहा है कि समस्त विश्व-व्यवहार का कारण वाक् तत्त्व ही है ।

(७) चित तत्त्व की उन्मुखता में बाधक तत्त्व के रूप में भी वाक् तत्त्व ही है। स्पन्दप्रदीपिका में कहा गया है कि वाक् शक्ति ही प्रत्यवमर्शिनी शक्ति भी है और साथ ही वही चित् शक्ति की उन्मुखता में बाधक भी है ।

वाक् तत्त्व—अपनी मूल प्रकृति में चितिशक्ति मात्र है । शास्त्रों में इसके चार प्रकार बताये गये हैं—

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानिविदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति ॥'

'बिन्दु' की शब्दात्मिका वृत्ति चतुष्टयात्मिका है जो निम्न है—(१) वैखरी (२) मध्यमा (३) पश्यन्ती (४) परा । बिन्दुरूपी रत्नाकर में उठती हुई तरङ्गें बाह्यात्मना 'नाद' एवं 'ज्योति' के रूप में उदित होती है । 'नाद' वाक् के रूप में एवं ज्योति अर्थ के रूप में प्रकट होती है । वाक् एवं अर्थ परस्पर 'वागर्थाविव संपृक्तौ' परस्पर संश्लिष्ट रहते हैं । इनमें प्रत्येक अवस्थात्रयात्मक होता है—(१) परम (२) सूक्ष्म एवं (३) स्थूल । इसे ही अवरोह क्रम कहते हैं । इस प्रकार बिन्दु से वाक् की यात्रा में निम्न पड़ाव आते हैं—(१) परा (२) पश्यन्ती (३) मध्यमा एवं (४) वैखरी ॥

वाक् तत्त्व का मूल स्वरूप—वाक् तत्त्व अपने मूल में चिति शक्ति है और इस प्रकार वाक् तत्त्व चितिशक्ति का ही रूपान्तरण है । 'स्पन्दप्रदीपिका' में कहा गया है कि संविद् ही प्राणों के द्वारा वाग् रूप धारण करती हैं । वही वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती एवं परा है । संविद् के आरोहण से ही परा, पश्यन्ती आदि वाणियों का उदय होता है । संविद् सर्वमय है और वाक् का मूल संविद् है ।

वाक्यपदीयकार भतृहरि ने वाक् तत्त्व को 'शब्द' के रूप में ग्रहण करके शब्द को ब्रह्मस्वरूप स्वीकार किया है—

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥'

उन्होंने जगत् को शब्द का विवर्त मानकर समस्त स्थूल-सूक्ष्म जगत्, जागतिक प्रपञ्च एवं उसके मूलभूत उपादानों को शब्द की परिणति स्वीकार किया है और इस प्रकार वास्तविक सत्ता शब्द या वाक् तत्त्व को स्वीकार करते हुए जगत् को उसकी प्रतिच्छाया, विवर्त, या परिणाम मानते हुए शब्द तत्व (वाक् तत्त्व) को ही विश्व का मूल स्वीकार किया है । इस प्रकार वैयाकरणों की दृष्टि में जगत् का मूल शब्द है, जगत् की स्थिति शब्द में है और अन्ततः जगत् का लय भी शब्द में ही होगा । 'शब्द' ही निगुर्ण-सगुण, मूर्त-अमूर्त, स्थूल-सूक्ष्म, भौतिक-अभौतिक, ऐन्द्रिय-इन्द्रियातीत, प्रकृत्यात्मक-प्रकृत्यातीत, आत्मिक-अनात्मिक, द्रष्टा-दृश्य-दर्शन आदि सभी में अनुस्यूत है और सभी का मूलाधिष्ठान है ।

'भाव' या ध्वनियों के विभिन्न स्तरों में जो प्रथम स्तर है वह 'परा' कहलाता है और मूलाधार नामक निम्नतम चक्र में उदित होता है । ऊर्ध्ववर्ती स्तर पर पहुँचने पर यही भाव (वाक्) 'पश्यन्ती' कहलाने लगता है । जब यह और दूर तक यात्रा करता हुआ हृदय में पहुँचता है और 'बुद्धि' के साथ संयुक्त हो जाता है तब यह 'मध्यमा' कहलाने लगता है । जब यही भाव और आगे जाकर मुख में पहुँचता है और विवक्षा से युक्त होकर व्यक्त हो उठता है तब 'वैखरी' कहलाने लगता है । इनमें से 'सूक्ष्मा' द्वारा 'पश्यन्ती' पश्यन्ती द्वारा 'मध्यमा' एवं मध्यमा द्वारा 'वैखरी' वाक् का प्रादुर्भाव हुआ करता है—'तत्र सूक्ष्मा पश्यन्त्याः, पश्यन्ती मध्यमायाः, मध्यमा वैखर्याश्च कारणं द्रष्टव्यम् ॥'[१] ये ही शब्द (१) शुद्ध अध्वा में सूक्ष्म (२) अशुद्ध अध्वा में स्थूलतर एवं (३) मिश्र अध्वा में स्थूल हैं । इस प्रकार शब्दों की सूक्ष्मता का क्रम इस प्रकार है—(क) शब्द : शुद्ध अध्वा में सूक्ष्म (ख) शब्द : मिश्र अध्वा में स्थूल (ग) शब्द : अशुद्ध अध्वा में स्थूलतर ।

तत्त्व की दृष्टि से वाग्विभाजन एवं विवरण—

(क) **विद्यातत्व**—(१) वैखरी = श्रोत्रविषया, स्थूल वर्णपरिग्रहा, वायु- संगिनी, प्रयोगार्हा । 'विद्यातत्व' से सम्बद्ध । करणभूत सप्तकोटि मन्त्रों, विद्या राशी एवं उनके भुवनों से सम्बद्ध । प्राणवृत्याभिव्यक्ता, श्रोत्रग्राह्यार्थविशेषबोधनक्षमा ।

(ख) **सदाशिव तत्त्व**—(२) 'मध्यमा' = बुध्युपारूढ़वर्ण, तत्क्रमविशेषोपेता, प्राणवृत्यगोचरीभूता ॥ 'सदाशिवतत्व' ही मध्यमा वाक् का अधिष्ठान है । कामिक आदि तन्त्र भेद के कारणों, प्रणवादिकों, सामीप्यादिकमुक्तिप्राप्त सिद्धों एवं उनके भुवनों का कारण ।

(ग) **शक्तितत्त्व**—(३) 'पश्यन्ती' = मयूराण्डरसवत् अविभक्त वर्णार्थाविशेष-बोधनाक्षमा । वर्णरूपानुसंधानविरहान्त, समुज्वल, मयूराण्डरसवत् निर्विशेषार्थधारिका । 'शक्तितत्त्व' ही पश्यन्ती वाक् का अधिष्ठान है । शिव शक्त्यधिष्ठानत्वेन इसे शक्तितत्त्वपदवाच्यता प्राप्त हुई है ।

(घ) **शिवतत्व**—(४) 'परावाक्' = ज्ञानेकाश्रया अर्थसामान्यप्रकाशिका वाणी ॥ परावाक् 'शिवतत्व' में स्थित है । यही शान्त्यतीत भुवनों की भी अवस्थिति है । यह चिदेकशरणा एवं निर्विकल्पस्वरूपिणी है ।[२] इसी वाक् को शैवपरिभाषा में 'सूक्ष्मा' के नाम से उल्लिखित किया गया है ।

वाणी का मूल स्रोत—जहाँ वाणी अपने मूल रूप में बीजात्मना अव्यक्तभाव से (पराशक्ति के रूप में) स्थित है वह स्थान है—'मूलाधार चक्र ।' 'पश्यन्ती' अवस्था में, यह मूलाधारस्थ अव्यक्त 'परावाक्' विकसित होकर अङ्कुरोन्मुख हो उठता है । 'मध्यमा' अवस्था में अङ्कुरोन्मुख यह वाणी का बीज, और अधिक

---

१. शिवाग्रयोगीन्द्र ज्ञान शिवाचार्यः 'शैवपरिभाषा' (परि० चतुर्थ)

२. शैवपरिभाषा

विकसित होकर परस्पर संयुक्त दो पत्तियों के रूप में प्रकट होता है । 'वैखरी वाक्' वाणी की वह अवस्था है जिसमें पृथक्-पृथक् रूप में अभिव्यक्त पत्तियों की भाँति वाणी मुख (एवं उसके उच्चारण स्थानों) द्वारा स्पष्ट रूप से प्रकट होती है । 'नित्यंतन्त्र' के अनुसार—

(१) वायु के द्वारा सर्वप्रथम मूलाधार चक्र में वाक् का अव्यक्त आद्यस्वरूप 'परावाक्' जागृत होता है ।

(२) तदुपरान्त यह वायु और अधिक ऊपर उठकर स्वाधिष्ठान चक्र में व्यक्त होती है और वाणी के अभिव्यक्ति की इस अवस्था को 'पश्यन्तीवाक्' कहते हैं ।

(३) यह वायु अनाहतचक्र में पहुँच कर एवं बुद्धि के साथ मिलकर वाणी को अभिव्यक्ति की जो अवस्था प्रदान करता है उसे 'मध्यमावाक्' कहते हैं ।

(४) इसके उपरान्त मध्यमावाक् और अधिक प्रस्फुट अभिव्यक्ति के स्तंर पर आरूढ़ होने पर एवं विशुद्ध चक्र में व्यक्त होकर जो अवस्था प्राप्त करता है उसे वैखरीवाक् कहते हैं । सारांश निम्नानुसार है—

(१) मूलाधार चक्र—परावाक् (क) अव्यक्तवाक् (ख) स्वाधिष्ठान चक्र (२) पश्यन्तीवाक्—वाक् की अङ्कुरोन्मुखावस्था । (३) अनाहत चक्र—बुद्धि के साथ संयोग : मध्यमा वाक् : प्रकट किन्तु संयुक्त पत्तों वाली । (४) विशुद्ध चक्र—कण्ठ से व्यक्त : वैखरी वाक् ॥ पूर्ण प्रस्फुट ॥

'पश्यन्ती' = अ, सृष्टि, वामा, इच्छा । 'मध्यमा' = इ, रक्षा, ज्येष्ठा, ज्ञाना । 'वैखरी' = 'म' ओम् । विनाशा रौद्री । क्रिया ॥

अम्बिका शक्ति + शान्ता शक्ति का सामरस्य—वामा (इच्छा), ज्येष्ठा (ज्ञान), रौद्री (क्रिया) का विकास (= पूर्ण गिरि, जालंधर एवं उड्डीयान पीठ का विकास) = 'पश्यन्ती' 'मध्यमा' एवं वैखरी वाक् । भगवान् शङ्कराचार्यजी ने 'प्रपञ्चसारतन्त्र' में वाक् चतुष्टय की उत्पत्ति एवं उनके स्वरूप का निम्नानुसार विवेचन किया है—

'मूलाधारात प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः ।
पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः ।
वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्ना ।
बद्धस्तस्माद्भवति पवनप्रेरितो वर्णसङ्घः ॥'

आचार्य पद्मपाद-कृत वाणी-विभाग—आचार्य पद्मपाद ने प्रपञ्चसारतन्त्र की टीका में वाक् तत्त्व के ५ एवं ७ भेद किये हैं जो निम्न हैं—(१) शून्य (२) संवित् (३) सूक्ष्मा (४) परा (५) पश्यन्ती (६) मध्यमा (७) वैखरी ।

(१) सूक्ष्मा (२) परा (३) पश्यन्ती (४) मध्यमा (५) वैखरी । इनमें 'शून्य' वह है जो स्पन्दशून्य वाक् के रूप में स्थित है । 'संवित्' का अर्थ है सिसृक्षु । 'सूक्ष्मा' का अर्थ है—उत्पत्ति की अवस्था । 'परा' का अर्थ है—मूलाधार में

प्रथमोदित । (अथवा सूक्ष्मा, परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीति पञ्चपदीं वाचमाश्रित्याह मूलाधारादिति । सप्तपद्यपि वागनेनैव सूचिता । शून्य-संवित्सूक्ष्मादीनि सप्तपदानि । तत्रानुत्पन्ना निष्पन्दा 'शून्या' ।। वागुत्पित्सुः 'संवित्' । उत्पत्यवस्था 'सूक्ष्मा' । मूलाधारात् प्रथममुदिता परेति विभागः ।।'[१]

स्वच्छन्दागम एवं वाग्विभाग—

'तस्माच्छून्यं समुत्पन्नं शून्यात्स्पर्शसमुद्भवः ।
तस्मान्नादः समुत्पन्नः पूर्वं वै कथितस्त्व ।।'

—इस श्लोक द्वारा 'स्वच्छन्दतन्त्र' में शून्य (व्यापिनी) स्पर्श (शक्ति) आदि की ओर सङ्केत करके वाणी के ७ भेदों की ओर सङ्केत किया गया है ।

'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति ।।'

'शब्दब्रह्म' = परावाक् = कुण्डलिनी = प्रणव = ओंकार 'परब्रह्म ।।'

'शब्दब्रह्म' → 'परब्रह्म'
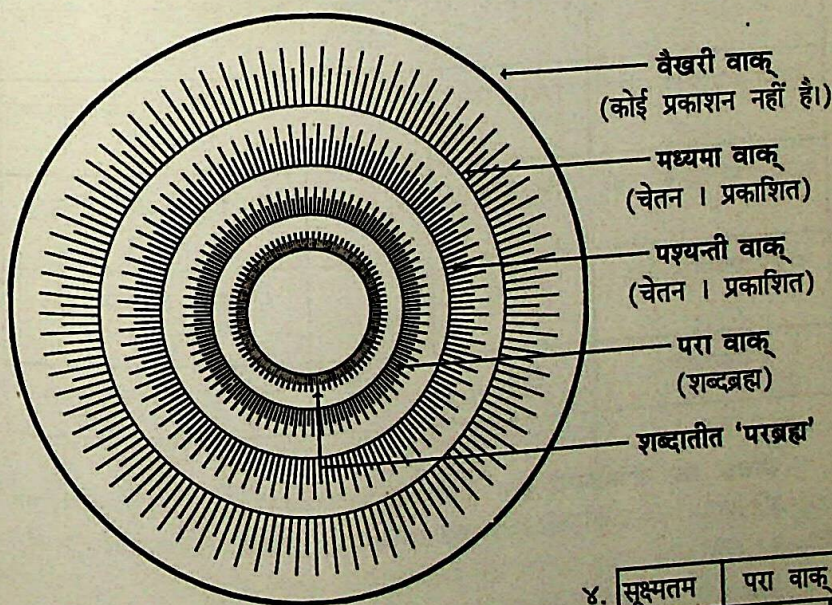
१. प्रपञ्चसार टीका

(१) **'चक्रमयी'**—सृष्टि चक्रमयी है । श्रीचक्र में ही समस्त प्रपञ्च अन्तर्गर्भित है । श्रीचक्र का विकास ही जगत् है । श्रीचक्र नवयोन्यात्मक, चिदानन्दघन है और नवात्मक है—

'नवयोन्या चक्रं चिदानन्दघनं महत् ।
चक्रं नवात्मकमिदं नवधा भिन्नमन्त्रकम् ।।'

श्रीचक्र के अंतर्गत चक्र	अधिष्ठात्री देवी		
सर्वानन्दमय चक्र	महात्रिपुरसुन्दरी	बिन्दु	केन्द्रस्थ रक्तबिन्दु
सर्वसिद्धिप्रद चक्र	त्रिपुराम्बा		पीतवर्ण का त्रिकोण
सर्वरोगहर चक्र	त्रिपुरसिद्धा		काले रङ्ग के १० त्रिकोण
सर्वरक्षाकर चक्र	त्रिपुरमालिनी	अन्तर्दशार चक्र	हरे रङ्ग के ८ त्रिकोण
सर्वार्थसाधक चक्र	त्रिपुराश्री	बहिर्दशार चक्र	लाल रङ्ग के १० त्रिकोण
सर्वसौभाग्यदायक चक्र	त्रिपुरवासिनी		नीले रङ्ग के १४ त्रिकोण
सर्वसङ्क्षोभणकारक चक्र	त्रिपुरसुन्दरी		गुलाबी रङ्ग का अष्टदल कमल
सर्वाशापरिपूरक चक्र	त्रिपुरेशी		पीतवर्ण का षोडशदल कमल
त्रैलोक्यमोहन	त्रिपुरा		हरे रङ्ग का बाह्यस्थल

श्रीचक्र की नौ योनियाँ है—(१) मध्यत्रिकोण (२) अष्टार (३) अन्तर्दशार (४) बहिर्दशार (५) चतुर्दशार (६) अष्टदलपद्म (७) षोडश दल पद्म (८) तीन वृत्त (९) भूपुर ।

श्रीचक्र में ९ त्रिकोण होते हैं । इन्हें योनियाँ भी कहते हैं । इनमें (क) ५ शक्ति त्रिकोण एवं (ख) ४ शिव त्रिकोण । 'शक्तित्रिकोण' अधोमुखी एवं शिव त्रिकोण ऊर्ध्वमुखी होते हैं । यही कौलमत है ।

(१) 'शक्तिचक्र'—त्रिकोण, अष्टार, अन्तर्दशार, बहिर्दशार चतुर्दशार (२) 'शिवचक्र'—अष्टदलपद्म, षोडशदलपद्म तीन वृत्त, भूपुर । इन चक्रों का पिण्डस्थ चक्रों के साथ निम्न सम्बन्ध हैं—

(१) अकुलेसुषुम्नामूलरुणसहस्रदलकमले त्रिपुराधिष्ठितं त्रैलोक्यमोहनचक्रम्। (२) वह्नावाधारे चतुर्दशकमले त्रिपुरेश्यधिष्ठितं सर्वाशापरिपूरणं चक्रम्। (३) स्वाधिष्ठानस्थितषड्दलकमले त्रिपुरसुन्दर्यधिष्ठितं सर्वसङ्क्षोभण चक्रं। (४) नाभौ दश-दल कमले त्रिपुरवासिन्यधिष्ठितं सर्वसौभाग्यदायक चक्रम्। (५) अनाहते द्वादश-दलकमले त्रिपुरा श्रीसमधिष्ठितं सर्वार्थसाधकं चक्रं। (६) विशुद्धौ षोडशदलकमले त्रिपुरमालिन्यधिष्ठितं सर्वरक्षाकरं चक्रं। (७) लम्बिकाग्रे तालुमूले अष्टदलकमले त्रिपुरासिद्ध्यधिष्ठितं सर्वरोगहरं चक्रम्। (८) भ्रुवोरन्तरे द्विदलकमले त्रिपुराम्बिका-धिष्ठितं सर्वसिद्धिप्रदं चक्रम्। (९) इन्दौ ललाटे बिन्दौ महात्रिपुरसुन्दर्यधिष्ठितं सर्वानन्दमयं चक्रं भावयेत्॥'[१]

(१) 'चक्रमयी'—सृष्टि चक्रमयी है। श्रीचक्र में ही समस्त प्रपञ्च अन्तर्गर्भित है। श्रीचक्र का विकास ही जगत् है। श्रीचक्रान्तर्गत योनियों को भी 'चक्र' कहते हैं वे निम्नलिखित हैं—

'नवमं त्र्यस्त्रमध्यं स्यात् तेषां नामान्यतः शृणु।
त्रैलोक्यमोहनं चक्रं सर्वाशा परिपूरकम्॥ ८२॥
सर्वसङ्क्षोभणं गौरि सर्वसौभाग्यदायकम्।
सर्वार्थसाधकं चक्रं सर्वरक्षाकरं परम्॥ ८३॥
सर्वरोगहरं देवि! सर्वसिद्धिमयं तथा।
सर्वानन्दमयं चापि नवमं शृणु सुन्दरि॥ ८४॥
अत्र पूज्या महादेवी महात्रिपुरसुन्दरी।
परिपूर्णं महाचक्रमजरामरकारकम्॥ ८५॥'[२]

'श्रीचक्र' नवयोन्यात्मक है, चिदानन्दघन है और नवात्मक है—

'नवयोन्यात्मक चक्रं चिदानन्दघनं महत।
चक्रं नवात्मकमिंद नवधा भिन्नमन्त्रकम्॥'[३]

'श्रीचक्र' में जो अन्य ९ चक्र स्थित हैं वे निम्नांकित हैं—(१) त्रैलोक्यमोहन (२) सर्वाशापरिपूरक (३) सर्वसङ्क्षोभण (४) सर्वसौभाग्यदायक (५) सर्वार्थसाधक (६) सर्वरक्षाकर (७) सर्वरोगहर (८) सर्वसिद्धिमय (८) सर्वानन्दमय

(२) 'चक्रमयी'—पिण्ड में भी चक्र हैं जो निम्न हैं—(१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपूरक (४) अनाहत (५) विशुद्धाख्य (६) आज्ञा (७) बिन्दु (८) अर्द्धचन्द्र (९) रोधिनी (१०) नाद (११) नादान्त (१२) व्यापिनी (१३) समना (१४) उन्मनी।

'गोरक्षकशतक' में पिण्डस्थ चक्रों को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है 'चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम्। नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्या दलं

१. योगिनीहृदय की टीका—'दीपिका'—अमृतानन्द
२-३. योगिनीहृदय

हृदि । कण्ठे स्यात् षोड्शदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा सहस्त्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ।।[१]

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में ९ चक्रों का उल्लेख किया गया है जो निम्न हैं—(१) (आधार में) ब्रह्मचक्र (२) स्वाधिष्ठान (३) नाभिचक्र (४) हृदयाधार (अष्टदल) (५) कण्ठ चक्र (६) तालु चक्र (७) भ्रूचक्र (८) ब्रह्मरन्ध्र : निर्वाणचक्र (९) आकाश चक्र । आज्ञाचक्र के ऊपर अन्य चक्र निम्न हैं—(१) बिन्दु, (२) अर्धचन्द्र, (३) रोधिनी, (४) नाद, (५) नादान्त, (६) शक्ति, (७) व्यापिनी, (८) समना, (९) उन्मना ।

बिन्द्वर्धचन्द्ररोधिन्यो नादनादान्त शक्तय: ।
व्यापिका समनोन्मन्य इति द्वादशसंहति: ।। (वरिवस्यारहस्यम्)

(३) **'चक्रमयी'**—'यदा सा परमा शक्ति: स्वेच्छया विश्वरूपिणी स्फुरत्तामात्मन: पश्येत्तदा चक्रस्य संभव: ।' (यो०हृ०) परमाशक्ति का परिणमन ही चक्र है । ये चक्र निम्नांकित हैं—(क) श्रीचक्र । (ख) (१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपूरक (४) अनाहत (५) विशुद्धाख्य (६) आज्ञा (७) बिन्दु (८) अर्द्धचन्द्र (९) रोधिनी (१०) नाद (११) नादान्त (१२) शक्ति (१३) व्यापिनी (१४) समना (१५) उन्मनी ।

'गोरक्षशतक' में इन चक्रों को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

'चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्शदलम् ।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्या दलं हृदि ।।

कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ।
सहस्त्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ।।'

'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में ९ चक्रों का उल्लेख किया है जो निम्न हैं—(१) आधार में ब्रह्मचक्रं (२) स्वाधिष्ठान (३) नाभिचक्र (४) हृदयाधार (५) कण्ठचक्र (६) तालुचक्र (७) भ्रूचक्र (८) ब्रह्मरन्ध्र: निर्वाणचक्र (९) आकाशचक्र ।

आगमानुसार 'आज्ञाचक्र' के ऊपर अन्य चक्र निम्न हैं—'बिन्दु', 'अर्द्धवन्द्र', 'रोधिनी', 'नाद', 'नादान्त', 'शक्ति', 'व्यापिनी', 'समना', 'उन्मना' ।

'बिन्द्वर्धचन्द्ररोधिन्यो नांद नादान्त शक्तय: ।
व्यापिका समनोन्मन्य इति द्वादशसंहति: ।।'[२]

'सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद' में निम्न नौ चक्रों का उल्लेख किया गया है—

(१) **'आधार चक्र'**—मूलाधार में त्रिरावृत्तभङ्गया वह्निमण्डलाकार ब्रह्मचक्र है । यहीं मूलकन्द में पावकाकार शक्ति का ध्यान करना चाहिए । यहीं मूलाधार में सर्वकामप्रद कामरूपपीठ स्थित है । यही है आधार चक्र का स्वरूप ।

१. गोरक्षनाथ—'योगशतक'
२. 'वरिवस्यारहस्यम्'

(२) **'स्वाधिष्ठान चक्र'**—द्वितीय चक्र षडदलात्मक स्वाधिष्ठान है । उसके मध्य में (मांसाकार) पश्चिमाभिमुखी ज्योतिर्लिङ्ग है जो कि प्रवाल सदृश है । यहीं उड्डीयानपीठ है जो कि जगदाकर्षण सिद्धि प्रदान करने वाला है ।

(३) **'मणिपूरक चक्र'**—तृतीय चक्र 'नाभिचक्र' है जो कि पञ्चावर्त सर्प कुटिलाकार है । उसमें बालार्ककोटिप्रभा कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए । मणिपूरक सर्वसिद्धिप्रद एवं सर्व सामर्थ्यवान चक्र है ।

(४) **'हृदय चक्र'**—यह अधोमुखी अष्टदलात्मक चक्र है । इसके आकाश के मध्य ज्योतिर्लिङ्ग का ध्यान करना चाहिए इसी अष्टदलात्मक हृदयचक्र में 'हंसकला' स्थित है जो कि सर्वप्रिया एवं सर्वलोकवश्यकरी है ।

(५) **'कण्ठ चक्र'**—चतुरङ्गुल कण्ठचक्र के वामभाग में इडा नाम्नी चन्द्रनाडी एवं दक्षिण दिशा में पिङ्गला नाम्नी सूर्यनाड़ी एवं उसके मध्य में श्वेतवर्णा सुषुम्ना का ध्यान करना चाहिए । ऐसे ध्याता को अनाहतसिद्धि प्राप्त होती है ।

(६) **'तालु चक्र'**—तालुमूल चक्र में लक्ष्य का ध्यान करने से सूर्य एवं चन्द्रमा को एकता स्थापित होती है । वहाँ अमृत प्रवाहित होता है । वहाँ ऊर्ध्वमूलचक्ररन्ध्र में जो अन्तर्जिह्वा स्थित है और 'घण्टिकालिङ्ग' कहलाता है वहीं राजदन्तावलम्बिनी विवर 'दशमद्वार' है । वहाँ वृत्ति शून्य होकर ध्यान करने से चित्त का लय हो जाता है ।

(७) **'भ्रू चक्र'**—सातवाँ चक्र जो अङ्गुष्ठमात्र है और 'भ्रू चक्र' कहलाता है । वहाँ ज्ञाननेत्र का दीप शिखाकार रूप में ध्यान करना चाहिए । वहीं कपालकन्द है । यह आज्ञाचक्र वाक्सिद्धि प्रदान करता है ।

(८) **'ब्रह्मरन्ध्र निर्वाणचक्र'**—यह अष्टम चक्र है । यहाँ सूचिका गृह से भी अधिक सूक्ष्म ('सूचिकागृहेतर') धूम्रशिखा का ध्यान करना चाहिए । वहीं जालन्धरपीठ है जो मोक्षप्रद है और परब्रह्मचक्र है ।

(९) **'आकाश चक्र'**—नवम चक्र आकाश चक्र है । यह षोडशदलोपेत एवं ऊर्ध्वमुख है । उसके मध्य में स्थित है—त्रिकूटाकार ज्योति । ('त्रिकूट' = भ्रूमध्य) 'ऊर्ध्वमुन्नयते इत्योंकारः' के अनुसार ऊर्ध्वशक्तिता (तुरीयोंकाररूपता) ब्रह्माभिन्न 'परशून्य' का ध्यान करना चाहिए । वहीं सर्वेच्छासिद्धिसाधक 'पूर्णगिरिपीठ' विद्यमान है ।

'स्वच्छन्दतन्त्र' में 'आधारपङ्कज' 'स्वाधिष्ठान' 'अनाहत' विशुद्ध के अतिरिक्त लम्बिका के अग्रभाग में भी एक 'अष्टदलकमल' का वर्णन किया गया है—

> 'कण्ठोर्ध्वे परमेशानि लम्बिकाचतुरङ्गुले ।
> तस्यामष्ट दलं पद्मं रसिकादिभिरावृतम् ॥'

यह सूक्ष्मजिह्वा स्थानीय है ।[१] 'स्वच्छन्दतन्त्र' के ही अनुसार मूलाधार में ही षड्दलात्मक 'कुलपद्म' भी है जो कि चतुर्दलात्मक मूलाधार चक्र से भिन्न है । उसके नीचे स्थित है—'अष्टदलसहस्र अकुल' । यह कुलपद्म से भिन्न है । 'अकुल' कहने से 'कुलपद्म' एवं 'अकुल' दोनों का ग्रहण किया जाता है अत: दोनों के व्यावर्तन हेतु अकुल को 'विषु' भी कहा जाता है ।[२]

षट्चकों का पूर्ण विवरण अगले पृष्ठ पर तालिका में इस प्रकार है—

सृष्टि और चक्र—'सहस्रार' बिन्दु होता है । इसी कारण वह 'बैन्दव गृह' है। उस बिन्दु से ही कारण सहित यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है । उस 'बिन्दु' से ही 'मूलाधार' एवं 'स्वाधिष्ठान' के दस दलों की उत्पत्ति होती है । सहस्रार से उत्पन्न होकर यही बिन्दु दस रूपों में रूपान्तरित हो जाता है—

'सहस्रारं बिन्दुर्भवति च ततो बैन्दवगृहं ।
तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषं स करणम् ॥

ततो मूलाधाराद्वितयमभवत्तद्दशदलं ।
सहस्राराज्जातं तदिति दशधाबिन्दुरभवत् ॥'[३]

इसी दशधा विभक्त 'बिन्दु' से मणिपूर के १०, अनाहत के १२, विशुद्धाख्य के १६ एवं आज्ञा के २ दल निर्मित होते हैं । कौलमार्गी यह मानते हैं कि 'मूलाधार' एवं 'स्वाधिष्ठान' ही कारणस्थान हैं अत: वे इन्हीं में ही भगवत्ती की उपासना भी करते हैं ।[४]

'सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता' स्वीकार करके ऋषियों ने सृष्टि का उपादान एवं उपादान कारण कुण्डली शक्ति को माना है । 'बिन्दु' ही सृष्टि का मूल केन्द्र है । शक्ति अपने निर्गुण स्वरूप में बिन्दुरूपा है । कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में परमशिव से मिलकर बिन्दुरूपा हो जाती है । उन्मनी अवस्था में यह बिन्दुस्वरूपा है । कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में 'बिन्दु' रूप में निवास करती है । इसी कारण सहस्रार को 'बैन्दव गृह' कहते हैं । शक्ति का यह रूप ही 'परम बिन्दु' या 'कारणबिन्दु' है। समस्त प्रपञ्च का कारण होने के कारण ही इसे 'कारण बिन्दु' कहते हैं । यह अवस्था चने की भाँति है । इसमें दो दालें एकरूप होकर रहती हैं। ये दो दालें शिव एवं शक्ति एवं चना 'कारण बिन्दु' सदृश हैं ।

बीज से वृक्षोत्पत्ति की प्रक्रिया—(१) बीज फूलना, (२) दो दालों का पृथक्-पृथक् होना फिर (३) अङ्कुर फूटना, (४) वृक्ष ।

निष्क्रिय ब्रह्म की सिसृक्षा—अहं का स्फुरण (बीज के फूलने के सदृश अवस्था) = 'कारणबिन्दु'—अहं एवं इदं का उदय (शिव शक्ति का उदय)—नाद-बिन्दु की उत्पत्ति । शिव-शक्ति = श्वेत + रक्त बिन्दु या कार्य बिन्दु + बीज ।

१-२. सेतुबन्ध
३. सुभगोदय स्तुति (गौड़पादाचार्य)
४. सुभगोदय स्तुति (श्लोक ४८)

चक्र	स्थान	पीठ	दल संख्या	वर्ण	तत्त्व/ गुण	तत्त्व का रङ्ग	मण्डल का आकार	बीज/ वाहन	देवता/ वाहन	शक्ति/ लिङ्ग
१. मूलाधार चक्र	पायु-मुष्क के मध्य (रीढ़ के अधोभाग में)	कामाख्या पीठ	०४	व,श,ष,स,	पृथ्वी, आकर्षण/गंध	पीतवर्ण	वर्गाकार	लं/ ऐरावत	ब्रह्मा हंस	डाकिनी/ स्वयंभू
२. स्वाधिष्ठान चक्र	मेरुदण्ड में मेढ्र के ऊपर	—	०६	ब,भ,म,य, र,ल,	जल/सङ्कोचन/ रस	श्वेतवर्ण	अर्द्धचन्द्र	वं/ मकर	विष्णु गरुड़	राकिनी
३. मणिपूरचक्र	मेरुदण्ड में नाभि के पास	—	१०	ड,ढ,ण,त,थ, द,ध,न,प,फ	तेज/प्रसरण/ रूप	रक्तवर्ण	त्रिभुज	रं/ मेष	रुद्र वृषभ	लाकिनी
४. अनाहतचक्र	हृदय के पास	पूर्णगिरि पीठ	१२	क,ख,ग,घ, ङ,च,छ,ज, झ,ञ,ट,ठ	वायु/गति/ स्पर्श	धूम्रवर्ण	षट्कोण	यं/ कृष्णमृग	ईश	काकिनी/ बाण
५. विशुद्धाख्य चक्र	कण्ठ के पास	जालंधर पीठ	१६	अ,आ,इ,ई, उ,ऊ,ऋ,ऌ, ॡ,ए,ऐ,ओ, औ,अं,अः	आकाश/ अवकाश/ शब्द	श्वेतवर्ण	वृत्त	हं/ श्वेत हस्ती	सदाशिव	शाकिनी

६. आज्ञाचक्र	भ्रुवद्वय के मध्य	उड्डीयान पीठ	०२	हं,क्षं	मन	—	—	ओं	शम्भु	हाकिनी शक्ति/ इतरलिङ्ग
७. सहस्रार (शून्यचक्र)	महानाद के ऊपर, शंखिनी नाड़ी के ऊपर विसर्ग नामक शक्ति के नीचे पूर्णचन्द्र के समान शुभ्र सहस्रदल युक्त निम्नाभिमुख । सहस्रदल की कर्णिका में परमामृत समूह से स्निग्ध चन्द्र मण्डल है । उसके भीतर त्रिकोण है । उसके भीतर बिन्दु रूप शून्य है । यहीं स्थित हैं शून्याकार एवं सर्वात्मा परमशिव ।	—	१०००	समस्त स्वर एवं समस्त व्यञ्जन	तत्त्वातीत/ गुणातीत	श्वेतवर्ण	—	—	परमशिव परमहंस	—

सहस्रार से उत्पन्न यह 'बिन्दु' ही दशधा विभक्त होकर 'मूलाधार' एवं स्वाधिष्ठान कमलों का दस दल बन जाता है। कौलमार्गियों के मतानुसार मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान ही 'कारणस्थान' है। सम्पूर्ण जगत् का 'कारण बिन्दु' जो 'सहस्रार' में स्थित है वही दशधा विभक्त होकर सभी चक्रों के दलों के रूप में प्रकट होता है—

'दशधा भिद्यते बिन्दुः एक एव परात्मकः। चतुर्धाऽऽधार कमलेषोढा- ऽधिष्ठान पङ्कजे, 'अधिष्ठानाधार द्वितयमिदमेव दशदलं। सहस्राराज्जात मणिपुर मतोऽभूद्दशदलम् ॥' 'तदेवैको बिन्दुर्भवति जगदुत्पत्ति कृदयम् ॥'[१]

(क) सहस्रार से उत्पन्न (१) 'मूलाधार' एवं (२) 'स्वाधिष्ठान' के १० दल 'मणिपूर चक्र' के १० दल बन जाते हैं। (मणिपूर में मू०स्वा० दोनों हैं।)

(ख) हृदय एवं मूलाधार के १२ + ४ दल मिलकर विशुद्धार चक्र के १६ दल बन जाते हैं। (विशुद्धाख्य में—अनाहत + मूलाधार दोनों हैं।)

(ग) मणिपूर के १० दल एवं मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्र (२) = १० + २ मिलकर अनाहत चक्र के १२ दल बन जाते हैं।

(घ) मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान आज्ञा चक्र में दो दलों के रूप में रूपान्तरित हो जाता है। ये ही दो दल सहस्रार में एक बिन्दु के रूप में शेष रह जाते हैं।

सारांश—मणिपूर से आज्ञा चक्र तक के समस्त चक्र मूलाधार एवं स्वाधिष्ठानरूप हैं।[२] इसीलिए कहा गया है कि समस्त चक्रों का त्याग करके सहस्रार में एक बिन्दु रूप में भगवती के परा संवित् रूप का ध्यान करना चाहिए।

'देहमयी'—'अण्ड' या 'पिण्ड' ही देह है। हिरण्यगर्भ भी स्वर्णाण्ड ही था। पराशक्ति सृष्टयोन्मुख होने पर 'अण्ड', 'ब्रह्माण्ड', 'प्रकृत्यण्ड', 'मायाण्ड' एवं 'शक्त्याण्ड' के रूप में परिणत हो जाती है। उसमें ही समस्त षट्त्रिंशदात्म जगत् निहित है—उस शक्ति के दो रूप हैं—(१) पुरुषरूप—'परमशिव' (२) नारीरूप—'विमर्श'। उसी में षट्त्रिंशदात्म जगत् स्थित है—'भारूपं परिपूर्णं स्वात्मनि विश्रान्ति तो महानन्दम्। इच्छा संवित्करणैर्निर्भरितम् अन्तः शक्तिपरिपूर्णं। सर्वविकल्पविहीनं शुद्धं शान्तं लयोदयविहीनम्। यत्पर तत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्म जगत्।'

देहों की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो विश्व में (१) पिण्डज (२) जरायुज (३) स्वेदज (४) उद्भिज देह हैं। पार्थिव, आंभस, तैजस, वायव्य शरीर भी हैं और उनके मिश्रित शरीर भी हैं। मानव शरीर ब्रह्माण्ड का प्रतिबिम्ब माना

१. सुभगोदय स्तुति
२. मूलाधार में यह बिन्दु मन, बुद्धि, चित्त एवं अहङ्कार तथा स्वाधिष्ठान में—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य (६) बन जाता है। एक परमतत्त्व दशधा होकर जगत् की सृष्टि करता है।

जाता है और इसीलिए कहा गया है कि—'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' मानव शरीर 'ब्रह्मपुर' कहा गया है—ब्रह्म का नगर कहा गया है । ईश्वर स्वयमेव प्रग्ञ्च में 'जीव' बनकर प्रवेश करता है । 'तत्त्वमसि' इसी सत्य का साक्षी है । मानव शरीर पञ्चकोशात्मक है । पञ्चकोश निम्नांकित हैं—(१) 'अन्नमय', (२) 'प्राणामय', (३) 'मनोमय', (४) 'विज्ञानमय', (५) 'आनन्दमय' ।

थियोसॉफी के अनुसार—(१) 'अन्नमय एवं प्राणमय कोश' = 'भौतिक शरीर'। (अन्नमय = 'प्राणमय' = Dense/ethenic (२) 'मनोमय कोश' = Astral and lower 'mental body' (काम शरीर) (३) 'विज्ञानमय कोश' = उच्चस्तरीय मानसिक शरीर या 'कारणशरीर' (४) 'आनन्दमयकोश' = 'आत्मिक शरीर' । (Ātmic body)

(१) पुराणों एवं षड्दर्शनों में ३ प्रकार के शरीर कहे गए हैं—(१) 'स्थूलशरीर' (षाट्कौशिक शरीर) (२) 'सूक्ष्म शरीर' (३) 'कारण शरीर' । (Gross or Phenomenal body, Astral body, casual body)

(१) 'स्थूलशरीर' = पञ्चकोशात्मक, धातुमय, अन्न-रस, रक्त, मांस, मेद, शुक्र से निर्मित जड़ एवं पांचभौतिक मांसल शरीर ।

(२) 'सूक्ष्मशरीर' = स्थूलशरीर से सूक्ष्मतर शरीर । ५ ज्ञानेन्द्रियों, ५ कर्मेन्द्रियों, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, ५ प्राण से समन्वितशरीर ।

(३) 'कारणशरीर' = अज्ञान की उपाधि जो सुषुप्ति में भी वर्तमान रहती है वह 'कारणशरीर' कहलाती है । मुक्ति के पूर्व इससे मुक्ति संभव नहीं । मोक्ष में ५ कोश भी नहीं रहते । सांख्य मत के अनुसार सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग शरीर का जो स्वरूप है वह अन्य शास्त्रों से भिन्न है ।

'सांख्यकारिका' में ईश्वरकृष्ण ने सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) का इस प्रकार प्रस्तुतीकरण किया है—'पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् । संसरति निरूपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ।'[1]

यह सूक्ष्म शरीर १८ तत्त्वों से निर्मित होता है जो निम्न है—(१) मन (२) बुद्धि (३) अहङ्कार (४) ५ ज्ञानेन्द्रियाँ (५) ५ कर्मेन्द्रियाँ (६) ५ तन्मात्रायें ।

इसका स्वरूप इस प्रकार है—'चित्रं यथाऽऽश्रयमृते, स्थाण्वादिभ्यो बिना यथाच्छाया । तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रम लिङ्गम् ।। (४१)[2] पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन । प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ।।'(४२)[3]

अन्नमय कोश स्थूल शरीर है । प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोश सूक्ष्म शरीर के तत्त्व हैं । वेदान्त मत में ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं ५ प्राण मिलकर सूक्ष्मशरीर की रचना करते हैं ।

१-३. सांख्यकारिका

स्थूल शरीर और उसके पञ्चकोश
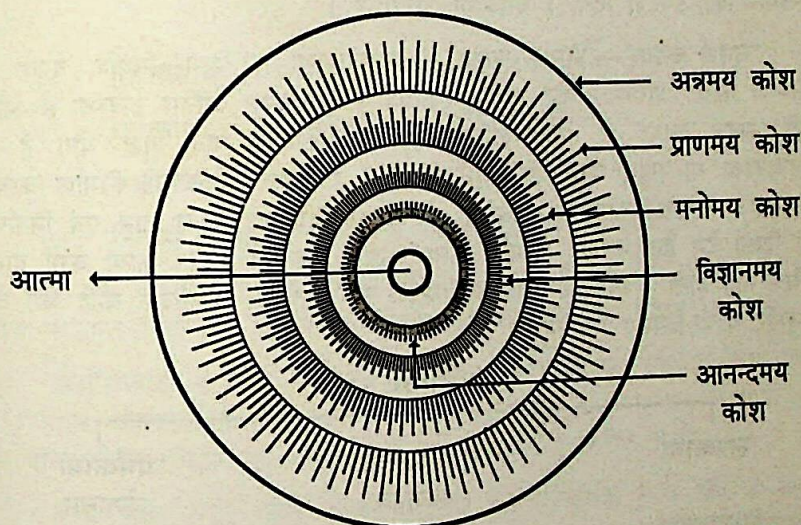
माध्यमिक मत—'धर्मकाया', रूपकाया, निर्माणकाया, संभोगकाया ।
'धर्मकाया' ही वास्तविक काया है और समस्त काया-समूह की जननी है ।
महायान—(१) रूपकाया (निर्माणकाया) (स्थूल एवं सूक्ष्म) (२) धर्मकाया ।
'निर्माणकाया' 'संभोगकाया' 'धर्मकाया' एवं 'सहजकाया'—मुख्यत: ये ही काया की चार कोटियाँ हैं ।

'धर्मकाया'—द्वितीय काया है और प्रकाशमय है । सुषुप्ति के क्षय से नित्यानित्य भेदों से रहित, मैत्री से पूर्ण, चित्त की निर्विकल्पावस्था को ही धर्मकाया या चित्तवज्र कहते हैं । यह तर्कातीतावस्था है । प्रज्ञोपाय-ऐक्य के कारण इसे 'धर्मात्मा योग' भी कहा गया है । यह सुषुप्ति से उच्चतर स्थिति है । असङ्ग ने 'धर्मकाया' को पारमार्थिक एवं अज्ञेय माना है । भगवान् बुद्ध 'संभोगकाया' धारण करके भक्तों को आन्तरिक उपदेश देते हैं । इसी काया से बुद्ध ने महायान का उपदेश दिया ।

'संभोग काया' तृतीय काया है । इसी काया में स्थित होकर बुद्ध ने गृद्धकूट पर्वत पर 'मन्त्रयान' का उपदेश दिया था । इसे ही 'वाग्वज्र' भी कहा गया है । यही मन्त्रयोग एवं तन्त्रोपदेश की (बुद्ध द्वारा गृहीत) काया है । यहाँ प्रज्ञोपाय की एकता है समस्त संस्कारों, तर्कों, इच्छाओं, तृष्णाओं के शान्त या नष्ट हो जाने पर ही यह काया प्राप्त होती है । बीज मन्त्रों का जन्म भी इसी काया में होता है ।

'निर्माण काया'—वह भौतिक काया 'निर्माण काया' है जिसे धारण करके शाक्य मुनि श्रावकयान, प्रत्येक यान एवं बोधिसत्वों को उपदेश देते हैं। भगवान् बुद्ध—(१) निर्माण काया द्वारा बाह्य नैतिक उपदेश देते हैं। (२) संभोग काया द्वारा गृद्धकूट पर महायान का उपदेश दिया। (३) संभोग काया द्वारा धान्यकूट पर तन्त्रमार्ग का उपदेश दिया। धर्मकाया अज्ञेय है।

'चतुर्थ काया'—'निर्माण काया'। जागृतावस्था का क्षय→निर्माण काया। 'निर्माण काया' प्रारम्भिक होते हुए भी नारोपा के मतानुसार अंतिम अवस्था है और यही 'सहज काया' है, यही शून्यता है, यही ज्ञानवज्र एवं शुद्ध योग है। सहजावस्था या सहज काया ही चतुर्थ काया है। 'सहज काया' ही निर्माण काया है—सहज साधना→कायावज्र। असङ्ग के मतानुसार शिल्प, जन्म ज्ञान एवं निर्वाण की शिक्षा देने हेतु भगवान् 'निर्माण काया' धारण करते हैं। यह काया कर्मों द्वारा उत्पन्न नहीं होती। धर्मसंस्थापनार्थ यह धारण की जाती है। तान्त्रिक बौद्ध धर्म के अनुसार काया-विवरण निम्नानुसार है—
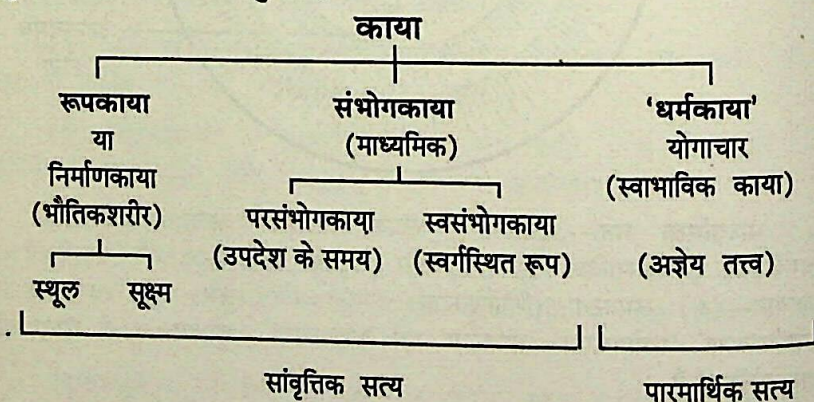
'वज्रयोग' के अनुसार काया विषयक विवरण—

(१) **निर्माणकाया**—कायावज्र—विशुद्धयोग—शून्यता विमोक्ष।

(२) **संभोगकाया**—वागवज्र—धर्म योग—अनिमिता विमोक्ष।

(३) **धर्मकाया**—चित् वज्र—मन्त्रयोग—अपरिह्रित।

(४) **सहजकाया**—ज्ञानवज्र—संस्थान योग—अनभिसंसकार।

अभिसम्बोधि सिद्धान्त—अभिसम्बोधि = पूर्ण प्रकाश।

(१) एकक्षणाभिसम्बोधि—सहजकाया (२) पञ्चकारसम्बोधि—धर्मकाया। (३) विंशत्याकार सम्बोधि—संभोगकाया (४) मायाजालाभिसंबोधि—निर्माणकाया। 'कायावज्र' = भौतिक शरीरादि की उन्नति। 'वाग्वज्र' = वाणी की पूर्णता। 'चित्तवज्र' = मानसिक विकास। 'ज्ञानवज्र' = प्रज्ञा का विकास। वज्रयान (मन्त्रयान) में तीन कायाओं के अतिरिक्त एक चतुर्थ काया विज्ञान वादियों की

'स्वाभाविक काया' का ही विकसित रूप है और इसे तन्त्र, 'सहजकाया' कहता है। यह तन्त्रों की अन्तिम साधना की निष्पत्ति है। 'सहजकाया' तुरीयावस्था से, 'धर्मकाया' सुषुप्ति से एवं संभोग काया स्वप्नावस्था से ऊँची है।

तान्त्रिक बौद्धों ने कायों का जो वर्णन किया है उसका विवरण निम्नानुसार है—

(१) **'सहजकाया'**—करुणा—ज्ञानवज्र—विशुद्धियोग—तुरीय।

(२) **'धर्मकाया'**—मैत्री—चित्तवज्र—धर्मयोग—सुषुप्ति।

(३) **'संभोगकाया'**—मुदिता, वाग वज्र, मन्त्रयोग—स्वान।

(४) **'निर्माण काया'**—उपेक्षा, कायवज्र, संस्थानयोग—जाग्रत।

तान्त्रिक बौद्धमत में महायान का 'काया सिद्धान्त' प्रसिद्ध है। हीनयान में भी काया-सिद्धान्त मिलता है। हीनयानी गौतम बुद्ध को वास्तविक मनुष्य मानते थे।

'सर्वास्तिवाद' में (१) 'रूपकाया' एवं (२) 'धर्मकाया' को स्वीकार किया गया है। प्रथम बाह्यकाया है और 'धर्मकाया' गुणों का शरीर है। महायान ने गुणों को भी शून्य घोषित किया एवं धर्म-शून्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

चूँकि शरीर, गुण आदि सांवृत्तिक सत्य हैं, पारमार्थिक सत्य नहीं है अतः माध्यमिकों के अनुसार वास्तविक 'धर्मकाया' अवर्ण्य, अवाङ्मनसगोचर, सर्वव्यापक, सर्वाधार तत्त्व है और वह 'रूपकाया' 'निमार्णकाया' एवं 'संभोगकाया' का मूलाधार है। तथागत बुद्ध का वास्तविक रूप 'धर्मकाया' है। महायान के अनुसार काया-विभाजन प्रारंभिक रूप में निम्नानुसार है—(१) 'रूपकाया' (२) 'धर्मकाया'। 'निर्माणकाया' स्थूल एवं सूक्ष्म दो प्रकार की है।

'धर्मकाया'—धर्मों का शरीर (The body of merits) 'धर्मकाया' का प्रथम रूप है। आध्यात्मिक काया (Metaphysical Principle underlying the universe—the reality) तथता है। योगाचार सम्प्रदाय ने 'रूपकाया' के दो भेद स्वीकार किये हैं—(१) 'रूपकाया' (२) 'संभोगकाया'। 'लङ्कावतार सूत्र' में (१) संभोगकाया को 'निष्पन्द काया' कहा गया है। इसे ही 'निष्पन्दबुद्धि' भी कहा गया है। योगाचारी 'धर्मकाया' भी स्वीकार करते हैं। यह 'स्वाभाविककाया' है। 'पञ्चविंशतिसहस्त्रिका' में 'संभोगकाया' को सूक्ष्मशरीर के रूप में गृहीत किया गया है। इसी 'सूक्ष्मकाया' से बुद्ध बोधिसत्वों को आंतरिक या गुह्य उपदेश देते हैं। 'धर्मकाया' पावन शरीर है। माध्यमिक सम्प्रदाय जिसे 'तथता' या 'धर्मकाया' कहता है, योगाचार उसे 'स्वाभाविक काया' कहता है। योगाचारी 'धर्मकाया' को गुणों का समूह मानते हैं। इस प्रकार 'धर्मकाया' के स्वरूप के विषय में महायान एवं योगाचार मत में मतभेद हैं। योगाचारी 'धर्मकाया' को एक 'पवित्र व्यक्तित्व' (Purified Personality) कहते हैं जबकि माध्यमिक मत उसे 'अज्ञेय ब्रह्म' के समान स्वीकार करता है। वसुबंधु के 'अभिधर्म कोश' में 'धर्मकाया' के दो अर्थ

हैं—(१) 'गुण' (२) पवित्र व्यक्तित्व । वसुबंधु कहते हैं कि बुद्ध की 'रूपकाया' (भौतिक शरीर) अपवित्र है अत: उसकी शरण लेना उचित नहीं है । 'धर्मकाया' की ही शरण लेना औचित्यपूर्ण है ।

'सद्धर्मपुण्डरीक' में कहा गया है कि बुद्ध ने युगों-पूर्व बुद्धत्व ग्रहण किया था। तथागत अशरीरी हैं । जगत् को बुद्ध की काया निर्मितकाया ('निर्माण काया') ही दिखाई पड़ती है । उनका वास्तविक स्वरूप 'धर्मकाया' है । यही माध्यमिकों का मत है । माध्यमिक मत में बुद्ध की लीला को मात्र 'आभास' माना गया है । बुद्ध लीला के लिए कोई भी रूप धारण कर लेते हैं और यही 'रूप काया' या 'निर्माणकाया' है ।

तज्ज्ञानार्थमुपाया विद्या लोके चतुर्दश प्रोक्ताः ।
तेष्वपि[1] च सारभूता वेदास्तत्रापि गायत्री ॥ ६ ॥

(विमर्श शक्ति के परिज्ञान के उपाय)

उस (विमर्श शक्ति) के ज्ञान के लिए संसार में चौदह विद्यायें कही गई हैं। उन (१४ विद्याओं) में भी सारभूता श्रुतियाँ हैं और उनमें (श्रुतियों में) भी सारभूत गायत्री है ॥ ६ ॥

* प्रकाश *

चतुर्दश विद्याः—चत्वारो वेदाः षडङ्गानि न्यायो मीमांसा पुराणं धर्मशास्त्रं चेति । तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भावः । तेषां प्रामाण्यसमर्थनं त्वस्मदीये[2] त्रिपुरसुन्दरीबाह्य-वरिवस्याविधौ द्रष्टव्यम् । तन्त्रराजव्याख्याने च विस्तरेण तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भावः प्रपञ्चयिष्यते । एवं च न शिष्टाकोपाधिकरणस्थवार्त्तिकविरोधः, शास्त्रपरिमाणानति-क्रमात् ॥ ६ ॥

* सरोजिनी *

तज्ज्ञानार्थ = उस विमर्श शक्ति के ज्ञान के लिए । **विद्या लोके चतुर्दश प्रोक्ताः** = संसार में चौदह विद्यायें कही गई हैं । **चौदह विद्यायें**—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, निरुक्ति, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण, न्याय, मीमांसा, पुराण, धर्मशास्त्र । जहाँ तक तन्त्रशास्त्र का प्रश्न है वह धर्म शास्त्र में ही अंतर्भूत है । **तेष्वपि च सारभूता वेदा** = उन चौदह विद्याओं में भी चतुष्टय सारभूत विद्यायें हैं । **तत्रापि गायत्री** = उन वेदों में भी गायत्री सारभूत है ।

गायत्री = गायत्री मन्त्र वेदमन्त्र है । इसका स्वरूप निम्नांकित है—

'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुवरिण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥'

व्याहृतियाँ—गायत्री मन्त्र के प्रारम्भ में जो—(१) 'भूः' (२) 'भुवः' (३)

१. तास्वपि
२. चास्मदीये

'स्वः' तीन व्याहृतियाँ हैं ।

छान्दोग्य श्रुति में एक कथा आती है कि एक समय प्रजापति ने लोकों में सारतम वस्तु की जिज्ञासावश तप किया । तप—(१) पृथ्वी में अग्नि देवता को (२) अन्तरिक्ष में वायु देवता को (३) स्वर्ग में आदित्य देवता को सार देखा । उन्होंने पुनः तप किया तो (१) अग्नि में ऋग्वेद को (२) वायु में यजुर्वेद को एवं (३) आदित्य में सामवेद को सार देखा । उन्होंने पुनः तप किया (१) ऋग्वेद में भूः को (२) यजुर्वेद में भुवः को एवं (३) सामवेद में स्वः व्याहृति को सार देखा । सार-क्रम (१) प्रथम दृष्टया सार—अग्नि, वायु, सूर्य (२) द्वितीय दृष्टया सार—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद । (३) तृतीय दृष्टया सार—(अन्तिम निष्कर्ष) : सारतमः 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' ।। (१) **'भूः'** = सत् (२) **'भुवः'** = चित् (३) **'स्वः'** = आनन्द 'भूरिति सन्मात्रमुच्यते । भुव इति सर्वं भावयति प्रकाशयतीति व्युत्पत्या चिद्रूपमुच्यते । सुव्रियते इति व्युत्पत्या स्वरिति सुष्ठु सर्वैर्व्रियमाणसुखस्वरूपमुच्यते ।' (शाङ्कर भाष्य) ।। **महः** = सर्वातिशायी[१] महत्तर ।। **तपः** = सर्व तेजोरूप परतेज । **जनः** = सर्व का कारण । **सत्य** = सर्वबाधारहित । **तत्** = ब्रह्म । 'ॐ ततसदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' ।।'[२]

'तच्छब्देन प्रत्यग्भूतं स्वतः सिद्धं परं ब्रह्मोच्यते इति ।।'[३] 'सवितुः' शब्द भी परमेश्वर का बोधक है । 'सवितुरिति सृष्टिस्थिति लयलक्षणकस्य सर्वप्रपञ्चस्य समस्तद्वैतविभ्रमस्याधिष्ठानं लक्ष्यत ।'[४]

'सवितुः सर्वान्तर्यामित्तया प्रेरकस्य जगत्स्रष्टुः परमेश्वरस्य इति ।।'[५] **वरेण्यं** = परमेश्वरस्यात्मभूतं वरेण्यं सर्वैरूपास्यतया ज्ञेयतया च संभजनीयम् ।।'[६]

भर्ग = अन्तर्यामी परज्योति । अविद्यादिदोषभर्जनात्मकज्ञानैक विषयत्वम् ।।'[७] **देवस्य** = सर्व साक्षी चेता केवल निर्गुण ब्रह्मरूप आत्मा । **धीमहि** = 'आत्मेत्येवोपासीत' आदि श्रुत्यर्थ के अनुष्ठान का सूचक । **'धियो यो नः प्रचोदयात्'** = **प्रचोदयात्** = अन्तर्यामी ब्राह्मण । 'धियो यो नः' अन्तर्यामी परब्रह्म का प्रत्यगात्मा से अभेद ।

गायत्री मन्त्र का अर्थ—ॐकार का लक्ष्य, 'भूः' (सत्) 'भुवः' (चित्), 'स्वः' (आनन्दस्वरूप), **तत्** = उस ('तत्त्वमसि' में प्रयुक्त तत् का व्यञ्जक), **सवितुः** = (जगदुत्पादक, सूर्य के सूर्य), **वरेण्यम्** = (वरीय, श्रेष्ठतम्), **भर्गः** = (स्वज्ञान द्वारा अविद्या का भर्जक, दाहक), **देवस्य** = ज्योतिः स्वरूप परब्रह्म का, **धीमहि** = हम ध्यान करते हैं । प्रश्न—'वह स्वयं ज्योतिस्वरूप परब्रह्म कौन है? उत्तर—'धियो यो नः प्रचोदयात्' (जो हमारी बुद्धि को शुभ कर्मों में प्रवृत्त करे)' अर्थात्—अविद्यातत्कार्ययोर्भर्जनाद्भर्गः स्वयं ज्योतिः परब्रह्मात्मकं तेजः धीमहि तद्योऽहं सोऽसौ

---

१. शङ्कराचार्य—प्रपञ्चसार तन्त्र । 'प्रपञ्चसार विवरण' (पद्मपादाचार्य)
२. गीता
३-४. शाङ्करभाष्य
५-६. सायण भाष्य
७. शाङ्करभाष्य

योऽसौ सोऽहमिति वयं ध्यायेम ।[१] प्रणवात्त गायत्री जपादि द्वारा उपास्य है । यहाँ शुद्ध गायत्री मन्त्र प्रत्यगभिन्न ब्रह्म का बोधक है । समस्त दृश्यों का द्रष्टा जो मेरा स्वरूप है यही सर्वाधिष्ठान है, परमानन्दरूप है, माया एवं तत्कार्यात्मक समस्त अनर्थों से शून्य है, स्वयं प्रकाश एवं चिदात्मक ब्रह्म है,—इस प्रकार हम ध्यान करते हैं । स्वविवर्त जड़ प्रपञ्च के साथ ब्रह्म का रज्जु-सर्प की भाँति बाध-सामानाधिकरण्यरूप अभेद है, चिद्रूप प्रत्यगात्मा के साथ ब्रह्म का मुख्य तादात्म्यरूप अभेद है, इस प्रकार सर्वात्मक ब्रह्म का बोधक यह गायत्री मन्त्र सिद्ध होता है—'सोऽयमिति न्यायेन सर्वसाक्षिप्रत्यगात्मने । ब्रह्मणा सह तादात्म्यरूपमेकत्वं भवति इति सर्वात्मक ब्रह्मबोधकोऽयं गायत्री मन्त्रः सम्पद्यते ।'[२]

प्रणव तत्त्व का गायत्री तत्त्व में समावेश—'प्रणव' = अ, उ, म् = ३ मात्रायें । अकार = व्यष्टि-समष्टि वैश्वानर विराट । 'उकार' = तैजस् हिरण्यगर्भ । मकार = प्राज्ञ ईश्वर ।

(क) गायत्री का प्रथम पाद = 'तत्सवितुर्वरेण्यम्'—इस पाद से—समस्त प्रसूयमान प्रपञ्च की कर्तृशक्ति के वरेण्य प्राज्ञ से अभिन्न ईश्वर तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है तथा कार्य-कारण में अभेद होने के कारण कर्तृशक्ति में समस्त कार्यवर्ग का आरोप एवं अन्तर्भाव सूचित) ।

(ख) गायत्री का द्वितीय पाद = 'भर्गो देवस्य धीमहि' से तैजस हिरण्यगर्भ का प्रतिपादन किया गया है । (तेजवाचक 'भर्ग' पद एवं ध्यानकर्तृवाचक 'धीमहि' पद से उक्त अर्थ ध्वनित है ।)

(ग) गायत्री का तृतीय पाद = 'प्रचोदयात्' = (प्रकृष्ट चोदना क्रिया से युक्त = 'प्रचोदयात्' पद से—प्रकृष्ट क्रियाधर्मी वैश्वानर विराट सूचित) ।

(ङ) गायत्री का चतुर्थ पाद—प्रणव की चतुर्थ मात्रा का अन्तर्भाव ।

सारांश = प्रणवतत्त्व भी गायत्री तत्त्व में समाविष्ट ।[३]

गायत्रीमन्त्रगत प्रकृतियों का अंतर्भाव—गायत्री मन्त्रगत प्रकृतियों के अनुसार संसार की समस्त अवस्थाओं का वर्णन—

(१) 'तत्'—(तनुविस्तारे) : ईश्वर में सर्वप्रथम सिसृक्षारूप सृष्टि-विस्तार की भावना—'एकोऽहं बहुस्याम्' के रूप में उत्पन्न होती है । उसकी विस्तारेच्छा = 'तत्' का वाचक ।

(२) 'सवितुः' (षूञ् प्राणिगर्भविमोचने) : परमात्मा इच्छा करने के बाद जगत् को उत्पन्न करता है ।)

---

१. सायणभाष्य
२. शाङ्करभाष्य
३. आत्मा का प्रथम पाद 'वैश्वानर', आत्मा का द्वितीय पाद—'तैजस', आत्मा का तृतीय पाद—'प्राज्ञ' आत्मा का चतुर्थ पाद—'प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा विज्ञेयः = 'माण्डूक्योपनिषद्' ।

(३) **'वरेण्यं'** = (वृञ् वरणे)—प्रार्थनीय श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञान को जीव प्राप्त करता है ।

(४) **'भर्गो देवस्य'** = अज्ञान का भर्जन (विनाश) होता है ।

(५) **'धीमहि'** = विनाश के बाद जीवन्मुक्ति काल में ध्यानादि साधन अपनाये जाते हैं । तत्पश्चात्—

(६) **'धियः'** = आत्मतत्त्व विषयक चरम साक्षात्काररूप बुद्धि होती है । और इसके बाद अभेदभाव से परमात्म प्राप्ति रूप मोक्ष होता है । वह परमात्मा कौन है?

(७) **'यो नः प्रचोदयात्'**—(१) जो हमारा सबका अन्तर्यामी प्रेरक है वह परमात्मा । (२) न्यायदर्शन के अनुसार—सृष्टि की आरम्भावस्था में प्राणियों के अदृष्टवश परमाणु में आद्य क्रिया प्रारंभ होती है—फिर **'यो नः'**—(युमिश्रणे)—परमाणु द्वय आदि का मिश्रण होता है । फिर—**'धियः'** = आत्मा-मन एवं बुद्धि-संयोग पूर्वक सांसारिक बुद्धिः सांसारिक भोगादि होते हैं । फिर—**'धीमहि'** = अर्थात्—ध्यानादि साधनों द्वारा तत्वविषयक धी (ज्ञान) की प्राप्ति होती है । **'अदेवस्य भर्गो'**—अज्ञान का भर्जन । **'वरेण्यं'** = (मिथ्या ज्ञान के विनाश के बाद वरेण्य अपवर्ग की प्राप्ति होती है ।) अपवर्ग क्या है? **'सवितुः'**—कर्तास्वरूप आत्मा की । **'तत्'** = एकविंशति दुःख का अत्यन्त ध्वंस रूप अकर्तृत्व अवस्था । (३) योगदर्शन के अनुसार गायत्रीमन्त्र की सार्थकता एवं एकात्मता—**'प्रचोदयात्'** = कुण्डल्योत्थापन क्रिया में कुण्डलिनी-समुत्थान से लेकर षटचक्रभेदनपूर्वक सहस्रार कमल विकास पर्यन्त निःशेष क्रिया-कलाप, प्र + चुद् धातु से सङ्केतित हैं ।

सारांश—सविता (क्लेश आदि से अस्पृष्ट परमात्मा) हमारी बुद्धि को शुभ योग की क्रिया की ओर प्रवृत्त करे । आदि ॥

'गायत्री' सर्वात्मक है—'गायत्री' चतुर्विंशत्यक्षरात्मक मन्त्र एवं उससे बोधित देवता का ही वाचक नहीं है—'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च' (छा०) 'गायत्रीपुरश्चरण' में एकता का विधान भी है । उपासना के प्रसङ्ग में—'मन्त्र गुरु देवतात्मकत्वेनात्मानं भावयन् यथाशक्ति गायत्री जपसमर्थः ॥'

गायत्री ब्रह्म की हृदय में उपासना—गायत्रीब्रह्म हृदयाकाश में ध्येय है—योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्तिपूर्णामप्रवर्तिनीं श्रियं लभते य एवं वेद ॥' (उपनिषद)

गायत्री की अङ्गोपासना—चिदाशाकाशस्वरूप स्वयंज्योति गायत्री ब्रह्म की उपासना के अङ्गरूप द्वारपालों की उपासना । (छान्दोग्यो०)

गायत्री ब्रह्मभवनरूप हृदय के ५ सुषि (छिद्र) हैं—

(१) **पूर्वाभिमुखी पुरुष के हृदय का पूर्व छिद्र रूप द्वार**—इसका द्वारपाल प्राण है, वही चक्षु है, वही आदित्य है । प्राणरूप तेज का ध्यान—

तेजस्वी, अन्नाद ।

(२) दक्षिण सुषि = द्वारपाल—व्यान है । वही श्रोत्र एवं चन्द्रमा भी है । उसका श्री एवं यश रूप से चिन्तन→श्रीमान, यशस्वी ।

(३) पश्चिम सुषि = द्वारपाल—अपान है । वही-वाग एवं अग्नि है इस अपान का ब्रह्मवर्चस एवं अन्नाद्य रूप से चिन्तन→वह व्यक्ति ब्रह्मवर्चस्वी एवं अन्नाद हो जाता है ।

(४) उत्तर सुषि = द्वारपाल-समान है । वही मन एवं पर्जन्य दोनों है । समान का कीर्ति एवं व्युष्टि (अपरोक्ष यश) के रूप में ध्यान→कीर्ति + व्युष्टि।

(५) ऊर्ध्व सुषि = द्वारपाल = उदान वायु । वही वायु एवं आकाश है, इसका ओज एवं महः रूप से चिन्तन→ओजस्वी एवं महान हो जाता है।

तस्या रूपद्वितयं तत्रैकं यत् प्रपठ्यते ऽस्पष्टम् ।
वेदेषु चतुर्ष्वपि परमत्यन्तं गोपनीयतरम् ॥ ७ ॥

(गायत्री के दो रूप)

उस (गायत्री) के दो रूप हैं । उनमें एक अस्पष्ट रूप में पढ़ा जाता है । (वह) चारों वेदों में भी अत्यन्त एवं परम गोपनीय है ॥ ७ ॥

*** प्रकाश ***

तस्या गायत्र्याः स्पष्टमस्पष्टं चेति पदच्छेद आवृत्त्या । चरणत्रयम् 'तत् सवितुः' इत्यादि स्पष्टम् । 'परोरजसे सावदोम्' इति चतुर्थचरणं त्वस्पष्टमित्यर्थः । परं श्रीविद्याख्यं द्वितीयं रूपम् ॥ ७ ॥

*** सरोजिनी ***

तस्याः = उस गायत्री के । **रूपद्वितयं** = दो रूप हैं । **तत्रैकं** = उनमें से एक । **यत** = जो, जिसे । **प्रपठ्यतेऽस्पष्टम्** = अस्पष्ट रूप में पढ़ा जाता है । यहाँ विचारणीय बिन्दु यह है कि यदि दो रूपों में एक अस्पष्ट है तो दूसरा स्पष्ट होगा । इसीलिए भास्करराय कहते हैं—'तस्याः गायत्र्याः स्पष्टमस्पष्टं चेति ॥' वे कहते हैं कि इनमें से 'तत्सवितुः' इत्यादि तो सुस्पष्ट है किन्तु चतुर्थ चरण अस्पष्ट है । **वेदेषु चतुर्ष्वपि** = चारों वेदों में भी । **परम**—भास्करराय 'परम्' का अर्थ 'श्रीविद्या' समझते हैं—'परं श्री विद्याख्यं द्वितीयं रूपं' अर्थात् गायत्री का जो दूसरा रूप है वह श्रीविद्या है । **वेदेषु चतुर्ष्वपि परमत्यन्तं गोपनीयम्** का दूसरा अर्थ यह होगा—'चारों वेदों में भी पर विद्या (श्रीविद्या) अत्यन्त गोपनीय है ।' इस पर विद्या (पञ्चदशाक्षरी मन्त्र) का स्वरूप निम्नांकित है—'क ए ई ल ह्रीं । ह स क ह ल ह्रीं । ह स क ह ल ह्रीं ॥'

गायत्री को पञ्चमुखी कहा गया है—(१) गायत्री के पाँच मुख—(क) ॐ (ख) भूर्भुवः स्वः (ग) तत्सवितुर्वरेण्यम् (घ) भर्गो देवस्य धीमहि (ङ) धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ या (१) ४ वेद (२) यज्ञ ॥

गायत्री का स्वरूप—गायत्री के पाँच मुख हैं ।

गायत्री के चरण एवं देवता—(१) गायत्री का प्रथम चरण—ब्रह्मा, (२) गायत्री का द्वितीय चरण—विष्णु, (३) गायत्री का तृतीय चरण—महेश । (ये देवता गायत्री के प्रमुख शक्ति पुञ्ज हैं ।)

महर्षि उद्दालक ने इसी गायत्री विद्या की प्राण-प्रतिष्ठा की थी । गायत्री मन्त्र के पञ्चमुखों के प्रतिकार्थ—(१) चार वेद एवं यज्ञ (२) पञ्चतत्त्वात्मक जगत् एवं स्वदेह से पृथक् अपने को आत्मसंवित समझने का सङ्केत (३) आत्मा पर चढ़े पञ्चकोशों से भी अपने को पृथक् समझने का सङ्केत ।

(१) पाँच कोश (२) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (३) पाँच कर्मेन्द्रियाँ (४) पाँच प्राण (५) पाँच उपप्राण (६) पाँच तन्मात्रायें (७) पाँच विषय (८) पाँच महाभूत (९) पाँच यज्ञ (१०) पाँच अवस्था (११) पाँच शूल (१२) पाँच क्लेश (१३) भगवान् शिव के पाँच मुख (१४) पाँच आकाश आदि विभिन्न पञ्चकों का प्रतीकार्थ अत्यन्त रहस्यमय हैं ।

'पञ्चस्यास्यास्तु गायत्र्याः विद्यां यस्त्ववगच्छति ।'

गायत्री का महत्त्व—'गायत्र्येव तपो योगः साधनं ध्यानमुच्यते । सिद्धि जनानां सा माता नातः किंचिद् बृहत्तरम् ॥'[१]

गायत्री में स्थित नौ पद—(१) तत् (२) सवितुः (३) वरेण्यं (४) भर्गो (५) देवस्य (६) धीमहि (७) धियो (८) यो नः (९) प्रचोदयात । (इसीलिए यज्ञोपवीत में ९ सूत्र होते हैं । यज्ञोपवीत में तीन ग्रंथियाँ ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रंथि एवं रुद्रग्रंथि—इन देवों के प्रतीक हैं । यज्ञोपवीत गायत्री का एवं द्विजत्व का प्रतीक है। बड़ी ग्रंथि ॐ की एवं तीन शेष ग्रंथियाँ भूः भुवः स्वः की प्रतीक हैं ।

'भूः' = अन्नमय कोश । **'भुवः'** = प्राणमय एवं मनोमय कोश । **'स्वः'** = विज्ञानमय-आनन्दमय कोश । (सृष्टि के तीन स्तर = पृथ्वी, पाताल, स्वर्ण । साधना के पिण्ड गत तीन स्तर—भूः, भुवः, स्वः) गायत्री 'त्रिपदा' कही गई है ।[२]

गायत्री का निर्गुण ध्यान—'गायत्रीहृदय' में कहा गया है—'आत्मान आकाशो भवति, आकाशाद्वायुर्भवति, वायोरग्निर्भवति, अग्नेरोंकारो भवति, ॐकाराद् व्याहृति-

---

१. गायत्री लहरी, गायत्री मञ्जरी ।
२. गायत्री के तीन पाद या चरण—(१) 'भूः'—भूक्षेत्रीय (२) 'भुवः'—पातालल्लोकीय (३) 'स्वः'—स्वर्ग एवं स्वर्गोपरि से सम्बद्ध । (१) 'भुः'—में मन्त्रदीक्षा (२) 'भुवः'—में अग्नि दीक्षा (३) 'स्वः'—में ब्रह्म दीक्षा ।

भवति, व्याहृतितो गायत्री भवति, गायत्र्याः सावित्री भवति, सावित्र्याः सरस्वती भवति, सरस्वत्या वेदा भवन्ति, वेदेभ्यो लोकाः ॥[१]

सम्पूर्ण लोकों का वेदों में, वेदों का सरस्वती में, सरस्वती का सावित्री में, सावित्री का गायत्री में, गायत्री का व्याहृतियों में, व्याहृतियों का ओंकार में, ओंकार का अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में एवं आकाश का ब्रह्मस्वरूप अपनी आत्मा में लय करने का ध्यान करें । 'सर्वमस्मीत्युपासीत तद् व्रतम् तद् व्रतम् ॥'[२]

गायत्री का स्वरूप—'गायत्री पुरश्चरण पद्धति' नामक ग्रन्थ में ऋषि याज्ञवल्क्य ब्रह्मा से गायत्री के गोत्र, अक्षर, पाद, शिर एवं कुक्षि के विषय में प्रश्न करते हैं । ब्रह्माजी का उत्तर निम्नांकित है—

(१) **गायत्री का गोत्र** = सांख्यायन । (२) **गायत्री के वर्ण** = बत्तीस । (३) **गायत्री के पाद** = चार, अन्त के पाद की गणना न होने के कारण गायत्री त्रिपदा ही कही जाती है । (४) **गायत्री के अक्षर**—चौबीस । (५) **गायत्री की कुक्षि** = आठ सिर, सात सिर हैं । (६) **गायत्री के पाद**—प्रथम पाद = ऋग्वेद। द्वितीय पाद = यजुर्वेद, तृतीय पाद = सामवेद, चतुर्थ पाद = अथर्ववेद । गायत्री की कुक्षि—प्रथम = पूर्वदिशा । द्वितीय = दक्षिण दिशा । तृतीय = पश्चिम दिशा। चतुर्थ = उत्तर दिशा । पञ्चम = ऊर्ध्वदिशा । षष्ठ = अधः दिशा । सप्तम् = अन्तरिक्ष दिशा । अष्टम् = अवान्तर दिशा । (७) **गायत्री का सिर**—प्रथम = व्याकरण, द्वितीय = शिक्षा; तृतीय = कल्प; चतुर्थ = निरुक्त; पञ्चम = ज्योतिष, षष्ठ = इतिहास-पुराण, सप्तम = उपनिषद ॥ (८) **गायत्री के रूप**—पूर्वासन्ध्या गायत्री, मध्यमा सावित्री, पश्चिमा सरस्वती । (९) **वेशभूषा**—गायत्री बाला कुमारी—रक्तवर्णा रक्तवस्त्रा । 'सावित्री'—श्वेतवर्णा । 'सरस्वती' = कृष्णवर्णा । एक गायत्री चितिशक्ति ही अनेक रूप धारण करती है—गायत्रीसर्वरूपा है । (१०) **गायत्री का हृदय**—विष्णु, शिखा = रुद्र, कवच = ब्रह्मादिक । ('ब्रह्मा गायत्री का सिर है'—'नारायणोपनिषद') ॥

गायत्री के विभिन्न रूप—'हे गायत्री! त्रैलोक्यपाद से तुम एक पाद वाली हो। त्रयी विद्यारूप द्वितीय पाद से द्विपदी हो, प्राणादि तृतीय पाद से तुम त्रिपदी हो, तुरीय रूप चतुर्थ पाद से तुम चतुष्पदी हो—(बृ०५।१४।७)—इस प्रमाण के अनुसार गायत्री अनेकरूपा है—अनेक पाद है ।[३] गायत्री की महिमा में कहा गया है—कि यह लोकत्रयी, वेदत्रयी, सर्वप्राणस्वरूप त्रिपदा गायत्री इस चतुर्थ तुरीय पद में प्रतिष्ठित है । इस प्रकार तुरीय चेतनरूप यह गायत्री प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्वयं ज्योति प्रत्यगात्मरूप से स्थित है—'सैषा गायत्र्यै तस्मिंस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वैतत्सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥'[४] गायत्री का ज्ञाता नष्ट नहीं होता—

---

१. गायत्रीहृदय
२. छान्दोग्योपनिषद (२।१४।४)
३. बृ० ५।१४।७
४. बृ० (५।१४।४)

'य एतां वेद गायत्रीं पुण्यां सर्वगुणान्विताम् तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ । स लोके न प्रणश्यति ।'[१] मनुस्मृतिकार कहते हैं कि—एक अक्षर. मात्र परब्रह्म है, परमतप मात्र प्राणायाम हैं, परात्पर मात्र सावित्री है एवं सत्य मात्र मौन है—क्योंकि उसी से उसकी उत्कृष्टता है—'एकाक्षरं परब्रह्म प्राणायामः परं तपः । सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ।'[२] 'पद्मपुराण' में गायत्री-जाप को सर्व-पाप-विनाशक कहा गया है—'ब्रह्महत्यादि पापानि गुरूण च लघूनि च । नाशयत्यचिरेणैव गायत्री जापको द्विजः ॥[३]

आचार्य शङ्कर ने 'प्रपञ्चसार तन्त्र' में गायत्री की विशद व्याख्या की है—

(१) गायत्री 'चतुर्विंशत्यक्षरात्मक'[४] है । इसीलिए शङ्कराचार्य कहते हैं—'चतुर्विंशतितत्त्वभेदैः ।'[५]

(२) यह वेदों का सार है—'अन्वर्थकं मन्त्रमिमन्तु वेदसारं पुनर्वेदविदो वदन्ति ॥'[६]

(३) तार एवं व्याहृति आदि के साथ ही इस पराशक्ति गायत्री की उपासना की जानी चाहिए—'तार व्याहृतिसंयुता सहशिरो गायत्र्युपास्या परा ।'[७]

(४) सप्त व्याहृतियों का सम्बन्ध (क) भूलोक (ख) भुवलोक (ग) स्वर्लोक (घ) महर्लोक (ङ) जनलोक (च) तपलोक (छ) सत्यलोक—इन सातों लोकों से हैं—'सभूर्भुवः स्वश्च महोजनस्तपः समन्वितं सत्यमिति क्रमेण ।'[८]

(५) गायत्री में प्रयुक्त प्रणव 'ॐ' के दो रूप हैं—१. निर्गुण २. सगुण ।[९]

आचार्य भास्कर के कथनानुसार—'कामो योनिः कमला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाऽभ्रमिन्द्रः । पुनर्गुहा सकला मायया च, पुरुच्येषा विश्वमातादिविद्या ॥' यह ऋचा गायत्री मन्त्र को प्रकट करती है । इस ऋचा में पञ्चदशाक्षरी मन्त्र का उद्धार भी निहित है । यह ऋचा आदि विद्या गायत्री की उद्धारिका है । यह कामराजोपासिता (कादि) विद्या का मन्त्र है । उक्त मन्त्र का रहस्यार्थ निम्नांकित है—

'काम' (क), 'योनि' (ए), 'कमला' (ई), 'वज्रपाणि' (इन्द्र = ल), 'गुहा' (ह्रीं), ह, स, मातरिश्वा—वायु (क), अभ्र—आकाश (हा) इन्द्र (ल), गुहा (ह्रीं), स क ल, माया (ह्रीं) ॥

सारांश—'क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं' (पञ्चदशाक्षरी मन्त्र) ॥

---

१. महाभारत (भीष्मपर्व अ० १४।१६) २. मनुस्मृति ।
३. पद्मपुराण 'ऐहिकामुष्मिकं सर्वं गायत्री जपतो भवेत् (अग्नि पु०) सर्वपापानि नश्यन्ति गायत्री जपतोनृप । (भवि०पु०)
४. प्रपञ्चसार विवरण (पद्मपादाचार्य) ५-८. प्रपञ्चसार तन्त्र
९. प्रपञ्चसार विवरण

इस 'पञ्चदशाक्षरी विद्या' में तीन कूट विद्यमान हैं—

(१) 'वाग्भव कूट'	= १८ वर्ण	योग = ५८ वर्ण ॥
(२) 'कामराज कूट'	= २२ वर्ण[१]	'संहत्याष्टपञ्चाशद्वर्णात्मिका विद्या'
(३) 'शक्ति कूट'	= १८ वर्ण[२]	(भास्कर राय-'प्रकाश')
	५८	

(१) क ए ई ल ह्रीं	= (वाग्भव कूट)	— 'कादिविद्या'
(२) ह स क ह ल ह्रीं	= (कामराज कूट)	— 'हादिविद्या'
(३) स क ल ह्रीं	= (शक्ति कूट)	— 'सादिविद्या'

मनु, चन्द्र कुबेर, लोपामुद्रा, मन्मथ, शिव, दुर्वासा आदि के सम्प्रदायों में से अब मात्र (१) 'कामदेव (मन्मथ)' एवं (२) 'लोपामुद्रा' सम्प्रदाय ही अवशिष्ट रह गए हैं। इन दोनों में भी 'मन्मथ सम्प्रदाय' अधिक प्रचलित है। 'कामराज- विद्या' (१५ अक्षर वाली) के दो भेद हैं—(क) शाक्त (ख) शांभव। शाक्त कामराज-विद्या—ऊर्ध्वाम्नाय से सम्बद्ध है और कीलित नहीं है। जबकि शांभव कामराज-विद्या पूर्वाम्नाय से सम्बद्ध है तथा सदोष है। 'लोपामुद्रा विद्या' भी १५ अक्षरों वाली है और यह द्विभेदात्मक है—(१) शाक्त (२) शाम्भव।

(१) मनु द्वारा उपासित श्रीविद्या—१८ वर्ण। (२) दुर्वासोपासित विद्या के वर्ण—१३ वर्ण। (३) चन्द्र एवं कुबेर से उपासित श्रीविद्या—२२ वर्ण। (४) कहीं-कहीं इन्द्र एवं अग्नि के स्थान पर नन्दी एवं विष्णु के सम्प्रदाय का उल्लेख मिलता है। (५) बह्वृचोपनिषद् में जिस 'कादि' 'हादि' एवं 'सादि' विद्याओं का उल्लेख किया गया है इसका सम्बन्ध शांभव विद्या से है।[३]

पञ्चदशाक्षरी मन्त्र एवं उसका स्वरूप—पञ्चदशाक्षरी मन्त्र—क ए ई ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं (१५ वर्ण) ॥

मन्त्रावयव—(१) ३ ककार (२) १ एकार (३) १ ई (४) ३ लकार (५) ३ ह्रींकार (६) २ हकार (७) २ सकार (८) ह्रीं में—ह, र, ई, बिन्दु। 'ह्रीं'—ह, र, ई, बिन्दु। 'ह्रीं'—ह, र, ई बिन्दु। (सामान्य गणनानुसार २७ वर्ण या मातृकायें) पञ्चदशाक्षरी मन्त्र के तीन विभाग (१) वाग्भव कूट (२) कामराज कूट (३) शक्ति कूट।

(१) प्रथम कूट = १८ वर्ण	'एवं च प्रथम-तृतीय कूटे अष्टादश वर्णात्मके। मध्यमकूटं तु चतुरधिकम संहत्याष्ट पञ्चाशद्वर्णात्मिका विद्येति सिद्धम् ॥'
(२) द्वितीय कूट = २२ वर्ण	
(३) तृतीय कूट = १८ वर्ण	
५८	

१. भास्करराय प्रथम तृतीय कूटे अष्टादशवर्णात्मके। (प्रकाश)

२. मध्यमकूटं तु चतुरधिकम्

३. गोपीनाथकविराज: 'योगिनीहृदय की भूमिका' (Preface to the 2nd edition)

'हल्लेखा' 'ह्रीं' के अन्तर्गत (१) व्योम, (२) अग्नि, (३) वामलोचना (ई), (४) बिन्दु (.), (५) अर्धचन्द्र, (६) रोधिनी, (७) नाद, (८) नादान्त, (९) शक्ति, (१०) व्यापिका, (११) समना, (१२) उन्मनी ॥ (ह्रींकार के १२ अवयव)॥ 'नाद' किसे कहते हैं? 'बिन्दु', 'अर्धचन्द्र', 'रोधिनी', 'नाद', 'नादान्त', 'शक्ति', 'व्यापिका', 'समना' एवं उन्मनी—इस नव के समूह को नाद कहते हैं—

'बिन्द्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते ॥'

'बिन्दु विनिर्मुक्तानामष्टा नामेव नाद संज्ञा मन्त्र शास्त्रे तथापि व्यवहार सौकर्याय तत्सहितानामेव सात्र कृता इति ध्येयम् ।[१] यद्यपि बिन्दु को छोड़कर शेष अङ्गों को ही 'नाद' कहा जाता है किन्तु-व्यवहार-सौविध्य के लिए उसे भी नाद में (यहाँ) अन्तर्भुक्त कर लिया गया है ।

(क) १८ वर्ण कूट 'वाग्भव कूट'—१. क् + २. अ ('क'), योनि। कोणत्रय ३. ('ए'), लक्ष्मी ४. ('ई'), ५. ल् + ६. अ ('ल') । 'ह्रीं' के १२ अवयव = ६ + १२ = १८ अवयव ॥

(ख) २२ वर्ण कूट 'कामराजकूट'—(१) ह् + अ ('ह') (२) स + अ ('स') (३) क + अ ('क') (४) ह + अ ('ह') (५) ल् + अ ('ल') = १० एवं 'ह्रीं' के १२ अवयव = १० + १२ = २२ अवयव ।

(ग) १८ वर्ण कूट 'शक्ति कूट'—'स्' + अ = ('स'), (२) क् + अ ('क') (३) ल् + अ ('ल') = ६ एवं 'ह्रीं' के १२ अवयव = ६ + १२ = १८ अवयव । 'वाग्भव कूट' के १८, कामराजकूट के २२ अवयव एवं शक्ति कूट के १८ अवयव = १८ + २२ + १८ = ५८ अवयव ।

सारांश—पञ्चदशाक्षरी मन्त्र में ५८ वर्ण हैं—(प्रथमेऽष्टादश वर्णा द्वाविंशतिरक्षराणि मध्ये स्युः । प्रथमेन तुल्यमन्त्यं संघाते नाष्टपञ्चाशत ।')[२]

पञ्चदशाक्षरी मन्त्र का अर्थ—'कादि' 'हादि' एवं 'सादि' ये तीन प्रकार की विद्यायें भी बहुचर्चित हैं । 'योगिनीहृदय' 'तन्त्रराजतन्त्र' 'मात्रिकार्णव' 'त्रिपुरार्णव'—'कादि मत' के ग्रन्थ हैं ।[३] भास्करराय ने भावनोपनिषद की टीका में 'योगिनीहृदय' को 'कादिमत' का कहकर भी 'वरिवस्यारहस्यम्' में 'योगिनीहृदय' की हादि मत के अनुकूल व्याख्या स्वीकार की है ।

यद्यपि तन्त्रराजादौ सौन्दर्यलहर्यां चं हादिविद्याया एव प्रथममुद्धारो दृश्यते, तथापि 'श्रीविद्यैव तु मन्त्राणां तत्र कादिर्यथा परा' इति वचनात्, षोडशीघटकत्वाच्च, 'यदक्षरैकमात्रेऽपि', 'यदेकादशमाधारम्' इत्यादिरहस्यार्थप्रतिपाद्याक्षरशालित्वाच्च, योगिनीहृदयात्रिशत्यामस्या एवादराच्च, त्रिपुरोपनिषद्येतन्मूलकत्वेनैवान्यासामुद्धाराच्च, शाङ्खायनश्रुतौ 'चत्वार ई दावुक्तानामिहापि वक्ष्यमाणानामर्थानामत्रैव स्वारस्याच्च,

---

१. भास्करराय—'प्रकाश'
२. 'वरिवस्यारहस्यम्'
३. 'मनोरमा', भास्करराय—भावनोपनिषद की टीका में ।

बिभ्रति' इत्यस्यामृचि च प्रथममस्या एवोद्धाराच्च कादिविद्यायाः प्राधान्यमिति [१]द्योतयंस्तस्याः प्रतीकमादत्ते—

कामो योनिः कमलेत्येवं [२]साङ्केतिकैः शब्दैः ।
व्यवहरति न तु प्रकटं यां विद्यां वेदपुरुषोऽपि ॥ ८ ॥

(श्रीविद्या की गोपनीयता)

जिस विद्या को वेद पुरुष भी 'कामो योनिः कमला' इस प्रकार के सांकेतिक शब्दों द्वारा (प्रतीकात्मक रीति से) व्यवहृत करता है न कि प्रकट रूप से (वही यह परमगोप्या श्रीविद्या है ।) ॥ ८ ॥

* प्रकाश *

'कामो योनिः कमला वज्रपाणिर्गुहाहसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः ।
पुनर्गुहासकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमातादिविद्या ॥'

इति शाङ्खायनश्रुतिः । कामो मातरिश्वा च ककारः । योनिरेकारः । कमला तुरीयः स्वरः । वज्रपाणिरिन्द्रश्च लकारः । गुहाद्वयं माया च लज्जाबीजम् । हसेति सकलेति च स्वरूपम् । गुहया सह समासाद्बहुवचनं न पुनः सकारो दीर्घः । एवं लकारोऽपि । अभ्रं हकारः । एतादृशैः साङ्केतिकैः शब्दैर्व्यवहारादत्यन्तगोपनीयत्वं समर्थितं भवति ॥ ८ ॥

* सरोजिनी *

कामो = क । **न तु प्रकटं**—न कि प्रकट रूप से । प्रकट रूप से क्यों नहीं ? 'मन्त्र' स्वयं शिव हैं । यथा किसी व्यक्ति का नाम लेने से वह व्यक्ति स्वयं सम्मुख उपस्थित हो जाता है उसी प्रकार मन्त्र-प्रयोग से मन्त्र का देवता प्रकट हो जाता है अतः—'तस्माद् मन्त्र महासेन रहस्यं न प्रकाशय ।' (वातुल० तन्त्र)

योनी = एकार । **कमला** = तुरीय स्वर—'ई'। **वज्रपाणि** = इन्द्र । लकार । **गुहाद्वय** = माया एवं लज्जाबीज । **अभ्र** = नभ । हकार ।

कामो योनिः कमला—यह वाक्यांश निम्न श्लोक का प्रारंभिक अंश है—'कामो योनिः कमला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः । पुनर्गुहा सकला मायया च पुरुच्यैषा विश्वमातादिविद्योम् । **कामो** = क, **योनिः** = ए, **कमला** = ई, **वज्रपाणि** = इन्द्र अर्थात् 'ल', गुहा = ह्रीं, ह, स—दो वर्ण, **मातरिश्वा** = वायु अर्थात् 'क', **अभ्र** = आकाश अर्थात् 'ह', 'इन्द्रः' (शतक्रतु) = 'ल', पुनः 'गुहा' (गुफा)—'ह्रीं', स, क, ल,—३ वर्ण, 'माया' अर्थात् 'ह्रीं'—यह सर्वात्मिका जगन्माता की मूल विद्या है और ब्रह्मरूपिणी है ॥' यह मन्त्र इस प्रकार है—

'क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं' ॥

१. द्योतयन्नस्याः २. संकेतितैः

यह मन्त्र समस्त मन्त्रों का मुकुटमणि है और मन्त्रशास्त्र में 'पञ्चदशी' 'श्रीविद्या' आदि के नाम से प्रख्यात है । इसके छः प्रकार के अर्थ हैं—भावार्थ, वाच्यार्थ, सम्प्रदायार्थ, लौकिकार्थ, रहस्यार्थ, तत्वार्थ ।[१] इसमें जो 'ह्रीं' अक्षर है वह देवी का बीज है—यह स्वतन्त्र रूप में एक मन्त्र है—यह मन्त्र देवी प्रणव है—ओंकारवत व्यापक अर्थों से परिपूरित है । इसका संक्षिप्त अर्थ है—इच्छा-ज्ञान-क्रिया, अद्वैत, अखण्ड, सच्चिदानन्द समरसीभूत, शिवशक्तिस्फुरण । इसी के विषय में 'श्रीदेव्यथर्वशीर्ष, में कहा गया है—'वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्र समन्वितम् । अर्धेन्दुलसितं देव्या बीजं सर्वार्थसाधकम् ॥'

वियत् (आकाश) = 'ह' । 'ईकार' । 'वीतिहोत्र' (अग्नि) अर्थात् 'र' । 'अर्धचन्द्र' अर्थात् (ॅ) । 'एवमेकाक्षरं ब्रह्म यतयः शुद्ध चेतसः । ध्यायन्ति परमानन्दमया ज्ञानाम्बुराशयः ॥' यह 'ह्रीं' नामक देवी प्रणव 'एकाक्षर ब्रह्म' है ।

आचार्य भास्करराय कहते हैं[२] कि यद्यपि 'तन्त्रराजतन्त्र' एवं शङ्कराचार्य की 'सौन्दर्यलहरी' में हादि विद्या का ही 'प्रथमोद्धार दिखाई पड़ता है'—अर्थात् उसको ही प्राधान्य प्रदान किया गया है तथापि शास्त्रों में तो यह कहा गया है कि—'मन्त्रों में श्रीविद्या एवं उसमें भी कादि विद्या प्रमुख है'—'श्रीविद्यैव तु मन्त्राणां तन्त्र कादिर्यथा परा ॥'

भास्करराय कहते हैं कि विद्याओं में 'कादिविद्या' ही प्रमुख है क्योंकि—

१. श्रीविद्यैव तु मन्त्राणां तन्त्र कादिर्यथा परा'
२. 'यदक्षरैकमात्रेऽपि' (षोडशीघटक)
३. 'यदेकादशमाधारम्' (रहस्यार्थ प्रतिपाद्याक्षरशालित्व के कारण)
४. 'त्रिपुरोपनिषद' के एतन्मूलक एवं प्राधान्यप्रद होने के कारण
५. 'योगिनीहृदय' आदि ग्रन्थों में इसके प्राधान्य के कारण
६. शाङ्खायन श्रुति में 'चत्वार ईं विभ्रति' में कादि विद्या को प्राधान्य दिये जाने के कारण—
७. 'कामो योनिः कमला वज्रपाणिर्गुहाहसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः । पुनर्गुहा सकला मायया च पुरुच्येषा विश्वमातादिविद्या,—इस शाङ्खायन श्रुति में 'काम' शब्द के प्रतीकात्मक प्रयोग के कारण 'कादिविद्या' ही अधिक प्रशस्त एवं प्रमुख है ।

'कादि विद्या'—कामराजविद्या ककादिपञ्चदशवर्णात्मक है । इसीको कादि विद्या' भी कहते हैं । तन्त्रराज तन्त्र में शिवजी देवी से कहते हैं—'हे देवी पार्वती । कादिविद्या तुम्हारा स्वरूप ही है । और उससे सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती

१. 'नित्यषोडशिकार्णव' 'वरिवस्यारहस्यम्'
२. प्रकाश

हैं ।।' कादिविद्या का उद्धार आथर्वणात्रिपुरोपनिषद में—'कामोयोनिः... विश्वमातादि विद्या' द्वारा किया गया है ।

'लोपामुद्रा विद्या' ही 'हादिविद्या' है । यह भी पञ्चदशवर्णात्मिका है । कामेश्वराङ्कस्थिता कामेश्वरी के पूजामन्त्रों में 'कादि' एवं 'हादि' दोनों विद्याओं से युक्त नाममन्त्र की योजना प्रचलित है । मनु, चन्द्र, कुबेर, अगस्ति, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द, शिव एवं क्रोधभट्टारक (दुर्वासा) १० विद्यायें केवल आम्नायपाठ मात्र में उल्लिखित है । प्रचलित उपासना-पद्धतियों में उनका विशेष उपयोग नहीं है । वस्तुतः श्रीविद्या के १२ सम्प्रदाय थे । जो निम्न है—'मनुश्चन्द्रः कुबेरश्च लोपामुद्रा च मन्मथः । अगस्तिः सूर्यश्च इन्द्रः स्कन्दः शिवस्तथा । क्रोधभट्टारको देव्या द्वादशामी उपासकाः ।।'

इनमें से मनु, चन्द्र, कुबेर, लोपामुद्रा, मन्मथ, अगस्ति, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द, शिव एवं क्रोधभट्टारक (दुर्वासा)—सभी बारहों श्रीविद्या के उपासकों का पृथक्-पृथक् अपना सम्प्रदाय था किन्तु इनमें चतुर्थ और पञ्चम (लोपामुद्रा एवं मन्मथ) को छोड़कर अन्य सम्प्रदाय प्रचलित नहीं है । इनमें भी 'कामराजविद्या' (मन्मथ सम्प्रदाय) का ही अधिक प्रसार है । 'त्रिपुरारहस्य' के माहात्म्यखण्ड के अनुसार कामदेव ने भगवती त्रिपुरा की निर्व्याज, एकनिष्ठ उपासना करके उनसे जो वर प्राप्त किए उसमें स्वोपासित 'कामराजविद्या' के उपासकों के लिए बहुत अधिक सुविधायें प्राप्त करा दीं अतः 'कादि विद्या' अधिक प्राधान्य प्राप्त कर गई ।

'कामकलाविलास' के टीकाकार नटनानन्दनाथ ने 'चिद्वल्ली' में कहा है कि— 'इह श्रीविद्यारत्नागमे सन्तानद्वयमस्ति । कामराज सन्तानो लोपामुद्रासन्तानश्चेति । कामराजसन्तानक्रमस्तु सकल विद्यानुसन्ध्यविच्छिन्न इति प्राचीनगुरवोऽप्याचक्षते । लोपामुद्रासन्तानक्रमस्तु विच्छिन्नतया प्रवर्तत इति वर्णयन्ति ।।' इस प्रकार नटनानन्दनाथ—(१) 'कामराज विद्या' (कादि विद्या) एवं (२) 'लोपामुद्रा विद्या' (हादि विद्या) दो का ही उल्लेख करते हैं ।

'कामराज विद्या' (कादि विद्या)—यह विद्या ककारादिपञ्चदशवर्णात्मिका है इसीलिए इसका नाम 'कादिविद्या' है । 'लोपामुद्रा' ऋग्वेद के अन्यतम ऋषि हैं (ऋग्वेद १।१७९।१-२) ।

पञ्चदशाक्षरी विद्या—

(क) **'वाग्भवकूट'** (आद्य खण्ड) : क ए ई ल ह्रीं ।—कादि विद्या । (प्रथम खण्ड)

(ख) **'कामकूट'** : ह स क ह ल ह्रीं । हादि विद्या (द्वितीय खण्ड)

(ग) **'शक्तिकूट'** : स क ल ह्रीं । सादि विद्या (तृतीय खण्ड)

१. **'लोपामुद्राविद्या'**—ह, स, क, ह, ल, ह्रीं ।

२. **'क्रोधमुनिविद्या'**—ह, स, क, ह, ल, ह्रीं ।

३. **'मानवीविद्या'**—ह, स, क, ह, ल, ह्रीं, क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं ।

४. **'चान्द्रीविद्या'**—ह, स, क, ह, ल, ह्रीं, क, ए, ई, ल, ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं ।

५. **'कौबेरीविद्या'**—ह, स, क, ह, ल, ह्रीं, क ए ई ल ह्रीं, ह, स, क, ह, ल, ह्रीं, स क ल ह्रीं, ह, स, क, ह, ल, ह्रीं ।

६. **'अगस्त्यविद्या'**—ह ह स क ह स क ए ल ह्रीं, ह स ह स क ह ल ह्रीं ।

७. **'नन्दिविद्या'**—ह, ह, स क ह स क ए ल ह्रीं, ह स ह स क ह ल ह्रीं, ह स स क ल ह्रीं ।

८. **'प्रभाकरीविद्या'**—क ए ल ह्रीं, ह स क ए ल ह्रीं, ह स ह स क ह ल ह्रीं, ह स स क ल ह्रीं, ह स स क ल ह्रीं, स क ल ह्रीं ।

९. **'षण्मुखीमुद्रा'**—ह्रीं, क्लीं हंस;, क्लीं लं ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, सोहं क्लीं हंस; ह्रीं, हंसः सोहं हंसः । ह्रीं क्लीं हंसः, क्लीं लं ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, सोहं क्लीं हंसः ह्रीं हंसः, सोहं हंसः ह स क ए ल ह्रीं ह स ह स क ह ल ह्रीं ह स स क ल ह्रीं ।

१०. **'वैष्णवी विद्या'**—ह स क ए ल ह्रीं, ह स ह स क ह ल ह्रीं, ह स स क ल ह्रीं, क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं ।

११. **आदिविद्या (शक्ति-शिव विद्या)**—(१) क ए ई ल ह्रीं (वाग्भवकूट) (२) ह स क ह ल ह्रीं (कामकूट) (३) स क ल ह्रीं, (शक्तिकूट)

द्वादशविद्यायें—शक्तिशिव विद्या । लोपामुद्रा विद्या । क्रोधमुनिविद्या । मानवी विद्या । चान्द्री विद्या । कौबेरी विद्या । अगस्त्य विद्या । नन्दि विद्या । प्रभाकरी विद्या । षण्मुखी विद्या । परमशिव विद्या । वैष्णवी विद्या ॥

श्री विद्या का उपासना क्रम

काली क्रम	**सुन्दरी क्रम**	**तारा क्रम**
(कुण्डलिनी क्रम, कादिविद्या, सत्वगुण प्रधान)	(हंस क्रम, हादिविद्या, रजोगुण प्रधान ।)	(समवरोधिनी क्रम, सादिविद्या, तमोगुण प्रधान)
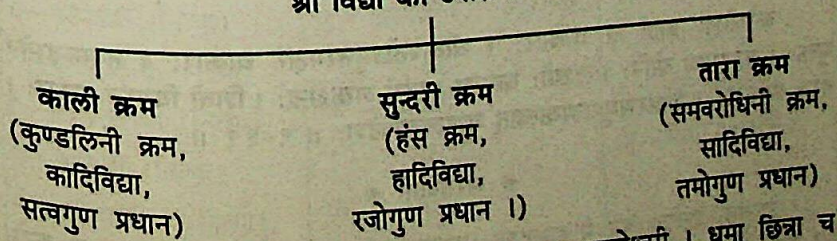
दश महाविद्यायें—'काली तारा षोडशी च बगला भुवनेश्वरी । धूमा छिन्ना च मातङ्गी भैरवी कमलात्मिका ॥'

(१) 'कादि विद्या'—'क' से प्रारंभ (२) 'हादि विद्या'—'ह' से प्रारंभ (३) 'सादिविद्या'—'स' से प्रारंभ । पञ्चदशाक्षरी मन्त्र के ३ ककार + २ हकार = ('शिववर्ण') शेष बीजाक्षर = ('शक्ति वर्ण') ३ ह्रींकार (शिवशक्त्यात्मक) । ('पञ्चदशीविद्या' = षोडशी 'विद्या' = पञ्चदशाक्षरी विद्या ।)

विद्यावर्णानुद्धरति—

क्रोधीशः श्रीकण्ठारूढः कोणत्रयं लक्ष्मीः ।
मांसमनुत्तररूढं वाग्भवकूटं प्रकीर्तितं प्रथमम् ॥ ९ ॥

शिवहंसब्रह्मवियच्छक्राः प्रत्येकमक्षरारूढाः ।
द्वितीयीकं कूटं कथितं तत् कामराजाख्यम् ॥ १० ॥

शिवतो वियतो मुक्तं तृतीयमिदमेव शक्तिकूटाख्यम् ।
हृल्लेखानां त्रितयं [२]कूटत्रितयेऽपि योज्यमन्ते स्यात् ॥ ११ ॥

(कूटत्रय का स्वरूप)

(क) वाग्भव कूट का स्वरूप—'क ए ई ल'-ह्रीं—

श्रीकण्ठ (अ) से समन्वित क्रोधीश (क), कोणत्रय (त्रिकोण = त्रिभुज 'ए'), लक्ष्मी (ई), अनुत्तर (अ) एवं मांस (ल) से युक्त प्रथम कूट 'वाग्भवकूट' कहा गया है ॥ ९ ॥

(ख) कामराज कूट का स्वरूप— 'ह स क ह ल'-ह्रीं—

शिव (ह्), हंस (स्), ब्रह्मा (क्), वियत् (ह्), एवं शक्र (ल्), (वर्ण-समुदाय) अक्षर (अ) से समन्वित होकर द्वितीय कूट 'कामराजकूट' कहा गया है ॥ १० ॥

(ग) शक्ति कूट का स्वरूप—'स क ल-ह्रीं'—

शिव (ह) एवं वियत् (ह) से विरहित यही ('कामराज कूट') 'शक्तिकूट' नाम वाला तृतीय (कूट) है । तीनों कूटों में अन्त में हृल्लेखा त्रिक जोड़ लेना चाहिए (अर्थात् प्रत्येक कूट के अन्त में 'ह्रीं' जोड़ लेना चाहिए) ॥ ११ ॥

* प्रकाश *

क्रोधीशो ब्रह्मा च ककारः । श्रीकण्ठोऽनुत्तरमक्षरं चाकारः । तमारूढस्तेन युक्तः । कोणत्रयं योनिः । लक्ष्मीः कमला । मांसं शक्रश्चेन्द्रः । शिवो वियच्च हकारः । हंसः सकारः । अक्षरसमूहात्मकत्वात् कूटत्वव्यपदेशः ॥ ९-११ ॥

* सरोजिनी *

उपर्युक्त श्लोक त्रय में पञ्चदशी (पञ्चदशाक्षरी । षोडशी) मन्त्र एवं उसके कूटों का विवरण प्रस्तुत किया गया है जो इस प्रकार है—

(१) वाग्भवकूट	(२) (कामराजकूट)	(३) शक्तिकूट)
मन्त्र : 'क ए ई ल ह्रीं, (वाग्भवकूट) (कादि विद्या) (प्रथम कूट)	ह स क ह ल ह्रीं, कामराजकूट (हादि विद्या) (द्वितीय कूट)	स क ल ह्रीं' (शक्तिकूट) (सादि विद्या) (तृतीय कूट)
(मूलाधार से आरम्भ कर के प्रलयाग्नि के समान भासित होने वाला है यह 'प्रथम कूट' ।)	(अनाहत चक्र से आगे कोटि सूर्य के समान आभावाला 'द्वितीयकूट' है । यह आज्ञा चक्र को स्पर्श करता है ।)	(आज्ञा चक्र से आगे ललाट के मध्य में कोटि चन्द्रमा के समान आभा वाला तृतीय कूट विद्यमान है ।)
('प्रलयाग्निनिभं प्रथमं मूलाधारादनाहतं स्पृशति' (वरिवस्यारहस्यम्)	('तस्मादाज्ञाचक्रं द्वितीय कूटं तु कोटिसूर्याभम्' (वरिवस्यारहस्यम्)	(तस्माल्ललाट मध्यं तार्तीयं कोटि चन्द्राभम् ।। (वरिवस्यारहस्यम्)
(प्रथमकूट में दश मात्रायें हैं)	(मध्यकूट में $१०\frac{१}{२}$ मात्रायें हैं।)	(तृतीय कूट में एक लव न्यून २९ मात्रा-काल जप में होना चाहिए ।)
(प्रथमकूट के नाद का द्वितीय कूट के साथ उच्चारण करना चाहिए ।	(द्वितीय कूट के नाद का उच्चारण तृतीयकूट के नाद के साथ करना चाहिए ।)	(तृतीय कूट को पूर्ववर्ती कूटद्वय के बिन्दु आदि नवों के गण के संमेलन द्वारा शबलरूप में विभावित करना चाहिए ।)
(आग्नेय खण्ड) क—कामेश्वरी (नित्या) ए—भगमालिनी (नित्या) ई—नित्यक्लिन्ना (नित्या) ल—भेरुण्डा (नित्या) ह्रीं—वह्निवासिनी (नित्या)	(सौर खण्ड) 'ह—महावज्रेश्वरी, विद्येश्वरी' 'स'—रौद्री, 'क'—त्वरिता, 'ह'—कुलसुन्दरी, 'ल' = नित्या, 'ह्रीं' = नीलपताका (नित्यायें)	(चान्द्रखण्ड) स—विजया, ल—सर्वमङ्गला ज्वालामालिनी, ह्रीं—चित्रा (चित्रा)

चान्द्रखण्ड का 'ह्रीं' = चित्रा ॥

भगवती का त्रिखण्डात्मक रूप

खण्ड	मन्त्र का भाग	मन्त्र का भाग	षड् कमलों का भाग	कुण्डलिनी भाग
सोमखण्ड	शक्तिकूट	शिव के ४ चक्र	आज्ञा एवं विशुद्ध	सोमकुण्डलिनी
सूर्यखण्ड	कामकूट	चतुर्दशार एवं बहिर्दशार	हृदय एवं मणिपुर	सूर्य कुण्डलिनी
अग्निखण्ड	वाग्भवकूट	अन्तर्दशार, अष्टार, बिन्दु	स्वाधिष्ठान एवं मूलाधार सहित त्रिकोण	अग्निकुण्डलिनी

(१) **वाग्भव कूट** : आग्नेय : भगवती का मुख है ।

(२) **कामकला कूट** : सौर : भगवती का कण्ठ से कटिपर्यन्त रूप है ।

(३) **शक्ति कूट** : चान्द्र : भगवती का कटि के नीचे का भाग है जो कि सृजन शक्ति का रूप है ।

(क) **प्रथम कूट** : वाग्भव कूट : ११ मात्रा काल—एक लव कम । श्लोक १७, श्लोक ३१, (१०)

(ख) **द्वितीय कूट** : कामराज कूट : ११$\frac{१}{२}$ मात्रा काल—एक लव कम । श्लोक १७ (१०$\frac{१}{२}$)

(ग) **तृतीय कूट** : शक्ति कूट : ८$\frac{१}{२}$ मात्रा काल—एक लव कम । श्लोक १८ एक लव कम । (८$\frac{१}{२}$)

श्रीविद्या का मन्त्र पंद्रह अक्षरों का है अतः इस मन्त्र को 'पञ्चदशी' कहते हैं । उसमें १६वाँ बीज और लगा देने से वही 'षोडशीविद्या' बन जाती है ।

'कूट' एवं विद्या—

पञ्चदशीमन्त्र के (१) प्रथम पञ्चाक्षर = 'वाग्भवकूट' कहलाते हैं ।

(२) द्वितीय षडाक्षर = 'कामकलाकूट' कहलाते हैं ।

(३) अन्तिम अक्षरचतुष्टय = 'शक्तिकूट' कहलाते हैं ।

(१) 'कादिविद्या' मूल विद्या है । कामदेव ने इसी मूल 'कादिविद्या' की उपासना की थी । इसी विद्या के आधार पर (२) अन्य ११ विद्यायें प्रचलित हुईं ।

अगस्त मुनि की पत्नी लोपामुद्रा, दुर्वासा, कुबेर, चन्द्र, नन्दि, मनु, अगस्त्य, सूर्य, षडानन, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, यमराज, इन्द्र एवं कामदेव—सभी ने अपने-अपने इष्ट के अनुसार मूल विद्या को भिन्न-भिन्न विद्याओं का रूप दिया और वे विद्यायें उन ऋषियों एवं देवों के नाम से प्रसिद्ध हुई ।

प्रणव एवं देवी प्रणव में साम्य—

उद्गीथोपासना में उपासित प्रणव एवं देवी प्रणव (ह्रीं) में ऐकात्म्य है । प्रणव का स्वरूप निम्नांकित है ।

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ।
अर्द्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ॥ २२५ ॥

कौण्डिली व्यापिनी शक्तिः समनैकादशी स्मृता ।
उन्मना च ततोऽतीता तदतीतं निरामयम् ॥
(स्वच्छन्द तन्त्र : ४ पटल)

ॐ
के १२ अवयव

ॐ

१. अकार
२. उकार
३. मकार
४. बिन्दु
५. अर्द्धचन्द्र
६. निरोधिनी
७. नाद
८. नादान्त
९. शक्ति
१०. व्यापिनी
११. समना
१२. उन्मना
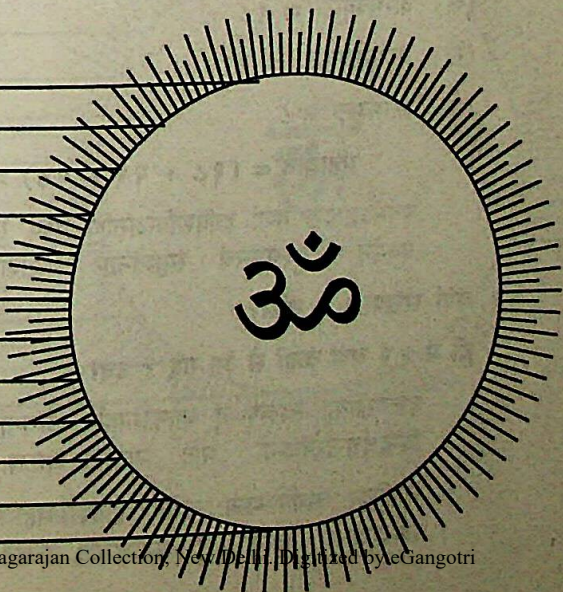
'पञ्चदशाक्षरी' मन्त्र या 'पञ्चदशी विद्या' (पञ्चदशाक्षरी विद्या)—

१. **स्वरूप**—'क ए ई ल ह्रीं । ह स क ह ल ह्रीं । स क ल ह्रीं ।'

२. **प्रादुर्भाव-स्रोत**—'कामो योनिः कमला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्र-मिन्द्रः ।'

३. **निहित वर्ण**—इसमें वर्ण निहित हैं इसीलिए इसे 'पञ्चदशाक्षरी' कहते हैं ।

४. **मूल वर्ण**—पुनरावृत्ति-रहित वर्णों की दृष्टि से इस मन्त्र में निम्न ७ वर्ण मात्र स्थित हैं—'क' 'ए' 'ई' 'ल' 'ह्रीं' 'ह' 'स' ।

५. **वर्ण-सङ्घटन**—(क) तीन ककार (ख) एक एकार (ग) एक ईकार (घ) तीन लकार (ङ) तीन ह्रींकार (च) दो हकार (छ) दो सकार ।

६. **पुनरावृत्ति-शून्य वर्ण**—'ए' 'ई' । इसमें भी 'ह्रीं' में निहित ईकार को ध्यान में रखा जाय तो ईकार चार हो जायेंगे अतः पुनरावृत्ति-शून्य वर्ण मात्र एक ही शेष रह जाएगा और वह है 'ए' ।

७. **कूट**—पञ्चदशाक्षरी मन्त्र में तीन कूट हैं—(१) वाग्भवकूट (२) कामराज कूट (३) शक्तिकूट ।

८. **कूटों की वर्ण संख्या**—(क) 'वाग्भव कूट' (पाँच) + (ख) 'कामराजकूट' (छः) + (ग) 'शक्तिकूट' (चार) = १५

१०. **नाद समन्वित एवं आत्मप्रतिष्ठित सूक्ष्म वर्णों सहित वर्ण संख्या—**

(क) 'वाग्भवकूट' = १८

(ख) 'कामराजकूट' = २२

(ग) 'शक्तिकूट' १८

महायोग = (१८ + २२ + १८) = ५८

'प्रथमेऽष्टादश वर्णा द्वाविंशविरक्षराणि मध्ये स्युः ।
प्रथमेन तुल्यमन्त्यं सङ्घातेनाष्ट पञ्चाशत् ॥

११. **वर्ण-संख्या ५८ कैसे?**

ह्रीं में १२ वर्ण कहाँ से आ गए ? उत्तर—

हल्लेखायाः स्वरूपं तु व्योमाग्निर्वाम लोचना । बिन्द्वर्धचन्द्ररोधिन्यो नाद नादान्त शक्तयः ॥ व्यापिका समनोन्मन्य इति द्वादश संहति । बिन्द्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते ॥	ह्रींकार में निहित १२ वर्ण

पञ्चदशी मन्त्र में वर्ण-संघटन

ह्रींकार में निहित १२ वर्ण

'प्रणव' = ओंकार । ओंकार जीवों का प्राण है ।[१]

१. नेत्र तन्त्र

संहार क्रम
सृष्टि क्रम
अ → उ → म → बिन्दु → अर्धचन्द्र → रोधिनी → नाद → नादान्त → शक्ति → व्यापिनी → समना → उन्मना
उन्मना → समना → व्यापिनी → शक्ति → नादान्त → नाद → रोधिनी → अर्धचन्द्र → बिन्दु → मकार → उकार → अकार
अकार
उकार
मकार
बिन्दु
अर्धचन्द्र
रोधिनी
नाद
नादान्त
शक्ति
व्यापिनी
समना
उन्मना
ॐ
ॐ
ॐ
संहार क्रम
(मुक्ति क्रम)
सृष्टि क्रम
(बन्धन क्रम)
आरोह क्रम
अवरोह क्रम
महाबिन्दु
उन्मना १२
समना ११
व्यापिनी १०.
शक्ति ९
नादान्त ८
नाद ७
रोधिनी ६
अर्धचन्द्र ५
बिन्दु ४
मकार ३
उकार २
अकार १
महाबिन्दु
१२ उन्मना
११ समना
१० व्यापिनी
९ शक्ति
८ नादान्त
७ नाद
६ रोधिनी
५ अर्धचन्द्र
४ बिन्दु
३ मकार
२ उकार
१ अकार
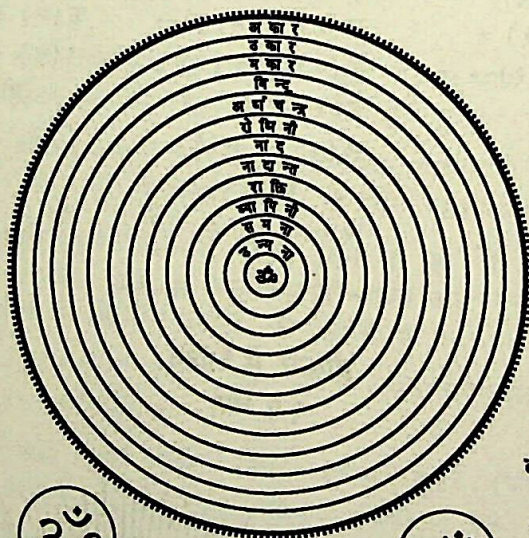
पञ्चदशाक्षरी मन्त्र

कूटत्रय का उच्चारण काल

(मात्राकाल जो जप के लिए नियत है)

१. **प्रथमकूट** = १० मात्राएँ
२. **द्वितीयकूट** = साढ़े दस मात्राएँ
३. **तृतीयकूट** = एक लव कम उन्तीस मात्राएँ
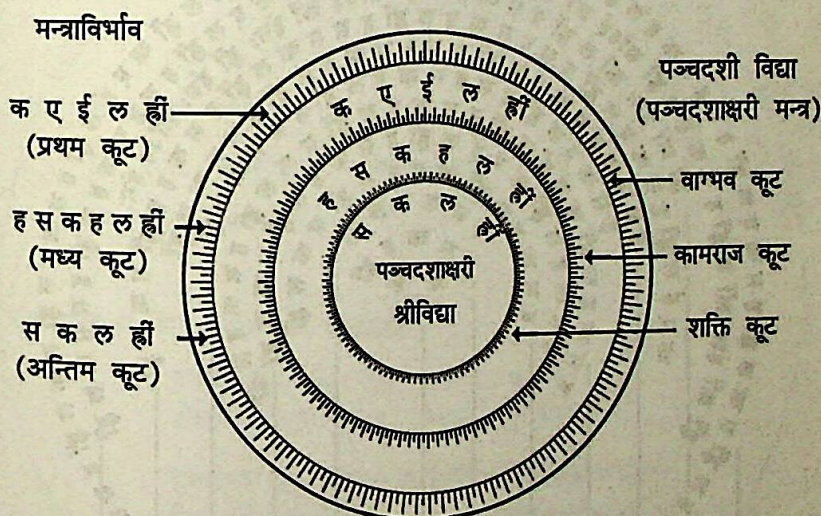
कूटों के प्रत्येक अक्षर में—ब्रह्मा-भारती, विष्णु-पृथ्वी, रुद्र-रुद्राणी अधिपति निवास करते हैं ।

'पञ्चदशी मन्त्र' की स्थिति एवं स्वरूप—

(१) प्रथम कूट—प्रलयाग्नि के समान भासित होने वाला । अनाहत स्पर्शी । (मूलाधार से अनाहत तक व्याप्त)

(२) द्वितीय कूट—कोटि सूर्यवत भासमान । आज्ञाचक्र स्पर्शी । (अनाहत से आगे से प्रारंभ होकर आज्ञा चक्र तक व्याप्त)

(३) तृतीय कूट—कोटि चन्द्रों के समान भासमान । (आज्ञा चक्र से आरम्भ करके उन्मना एवं महाबिन्दु तक ।)

'सुषुम्नानाड़ी' के मूलाग्र भागों में दो 'सहस्त्रदल कमल' स्थित हैं । मध्य में अष्टदल आदि तीस कमल स्थित है ।[१] मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध आज्ञा नामक ६ कमल हैं ।

१. स्वच्छन्द तन्त्र

श्रीविद्या के विभिन्न रूप

श्रीविद्या के विभिन्न स्वरूप विभिन्न सम्प्रदायों को दृष्टि में रखने पर श्रीविद्या के विभिन्न स्वरूप इस प्रकार निर्मित होंगे—
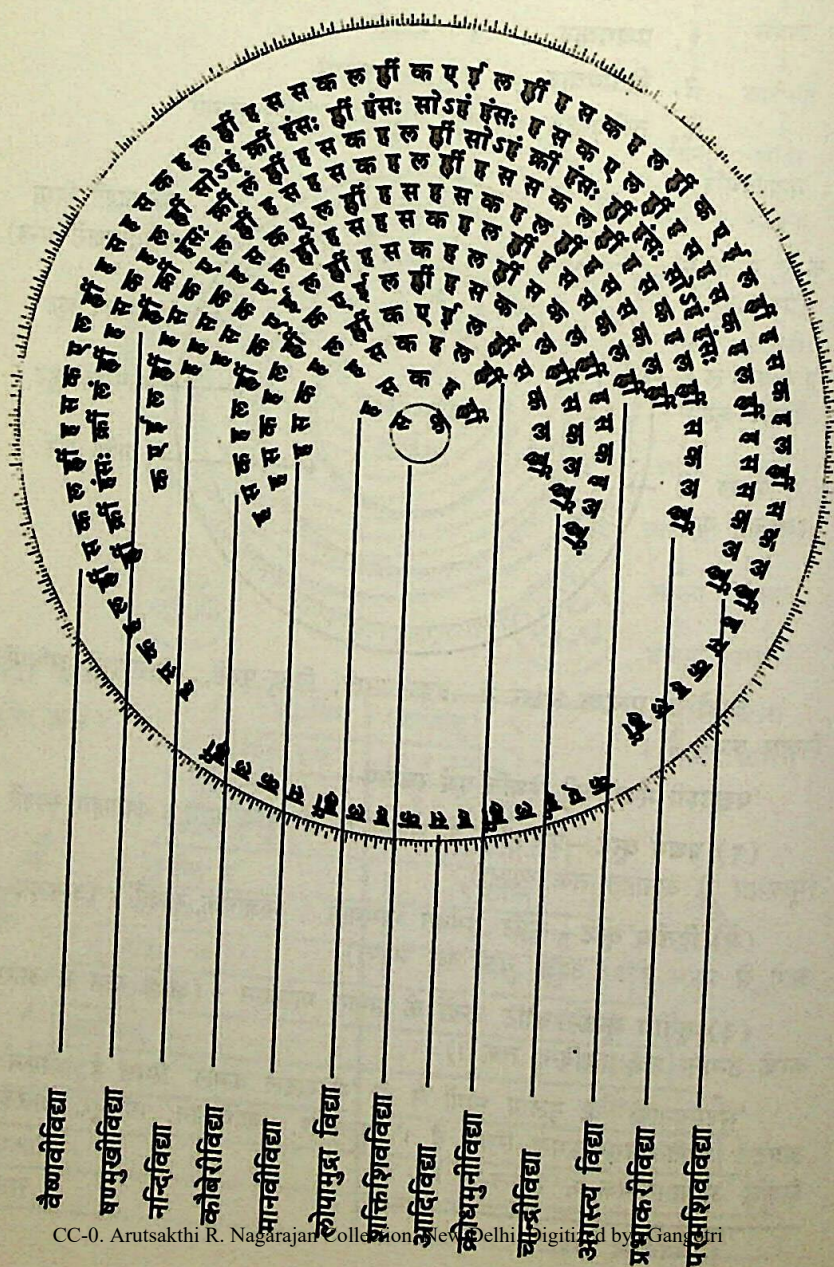
(क) **द्वादशविद्या**—१. आदिविद्या २. शक्तिशिवविद्या ३. लोपामुद्रा विद्या ४. क्रोधमुनीविद्या ५. मानवीविद्या ६. चान्द्रीविद्या ७. कौबेरीविद्या ८. नन्दिविद्या ९. प्रभाकरीविद्या १०. षण्मुखीविद्या ११. परमशिवविद्या १२. वैष्णवीविद्या

(ख) **श्रीविद्या के द्वादशोपासक**—१. मनु २. चन्द्र ३. कुबेर ४. लोपामुद्रा ५. मन्मथ ६. अगस्त्य ७. अग्नि ८. सूर्य ९. इन्दु १०. स्कंद ११. शिव १२. क्रोधभट्टारक[१] (दुर्वासा)

(ग) **श्रीविद्या की सन्तानें**— १. कामराज सन्तान
२. लोपामुद्रा सन्तान

आदिविद्या 'वाग्भवकूट'—'कादि' द्वितीयकूट 'कामराजकूट'—कामकलामय 'हादि' तृतीयकूट 'शक्तिकूट'—'सादि'	'सैषा पराशक्तिः । सैषा शांभवी विद्या कादि विद्येति वा । हादिविद्येति वा सादि विद्येति वा रहस्यमोमो 'वाचि प्रतिष्ठा ॥'[२]

उक्त मन्त्र में शिव-शक्ति का सन्निधान—

कत्रयं हद्वय चैव शैवो भागः प्रकीर्तितः ।
शेषाणि शक्तय क्षराणि ह्रींकार उभयात्मकः ॥'

हृल्लेखायाः स्वरूपं तु व्योमाग्निर्वामलोचना[३] ।
बिन्द्वर्धचन्द्ररोधिन्यो नादनादान्तशक्तयः ॥ १२ ॥
व्यापिकासमनोन्मन्य इति द्वादशसंहतिः ।
बिन्द्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते ॥ १३ ॥

(हृल्लेखा का स्वरूप)

हृल्लेखा के स्वरूप के अन्तर्गत व्योम (ह), अग्नि (र), वामलोचना (ई), बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना एवं उन्मनी इन बारह (अवयवों) का एकीकृत समूह (समष्टि) निहित है ॥ १२ ॥

(नाद और उसका स्वरूप)

व्यापिका, समना तथा उन्मनी (तथा पूर्वोत्तक बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त एवं शक्ति को मिलाकर) बारह का समूह बनता है । बिन्दु आदि नव के समूह को 'नाद' कहा जाता है ॥ १३ ॥

---

१. श्रीविद्यारत्नागम (कामकलाविलास की टीका 'चिद्वल्ली' में उद्धृत) ॥
२. बह्वृचोपनिषद
३. वामलोचनम्

* प्रकाश *

व्योम हकारः केवलो न त्वकारविशिष्टः । अग्नी रेफस्तादृशः । वामलोचने-कारः[१] । बिन्द्वादयो नवापि सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमकालैरुच्चार्या ध्वनिविशेषाः, वर्ण-विशेषा वा । न च ककारादिवत् स्पष्टमनुच्चार्यत्वात् तन्त्रीस्वरतुल्यत्वेन श्रूयमाणत्वाच्चा कारप्रत्ययाद्यभावाच्च 'बीजबिन्दुध्वनीनां च त्रिकूटेषु ग्रहात्मिका' इत्यादौ ध्वनिपदेनैव तन्त्रेषु व्यवहाराच्च न वर्णत्वमर्धचन्द्रादेरिति वाच्यम्, अनुस्वारविसर्गादावुक्तहेतु-सत्त्वेऽपि वर्णत्वस्येष्टत्वात् । कथमन्यथा 'त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शंभुमते मताः' इति प्रतिज्ञाय 'अनुस्वारो विसर्गश्च—' इति परिगणनं शिक्षायां सङ्गच्छेत ? न च तादृश-संख्याविरोधादेव नात्र वर्णत्वम्, तत्र स्पष्टोच्चार्याणामेव गणनात् । न च ताल्वादि-परिगणितस्थानानभिव्यङ्ग्यत्वान्न वर्णत्वम्, तदनभिव्यङ्ग्यत्वस्य पश्यन्त्यादावव्याप्तेः, 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि इति श्रुत्या वर्णसमूहात्मकपदत्वस्य स्पष्टमुक्तत्वाच्च । अत एव चतुःशतीशास्त्रे नादस्यार्थवर्णनं सङ्गच्छते । न च रथघोषवत् पदार्थस्मारकत्वोप-पत्तिः; तत्र हि तत्कालकरणीयत्वसम्बन्धेन माहेन्द्रस्तोत्रोपाकरणस्य स्मृतिविषयताया वाचनिकत्वेन रथघोषसामान्यस्य लौकिकादिसाधारणस्य स्मारकत्वाभावेन तस्य तत्र शक्तेरयोगात्, प्रकृते तु न तथेति वैषम्यात्; 'हृल्लेखात्रयसंभूतैस्तिथिसंख्यैस्तथाक्षरैः' इत्यादौ प्रतिहृल्लेखं हकाररेफेकारानुस्वारनादपञ्चकमिति पञ्चदशाक्षराणीत्युक्तया, नादे-ऽक्षरत्वव्यवहारस्यासकृद्योगिनीहृदये,

> 'भूमिश्चन्द्रः शिवो माया शक्तिः कृष्णाध्वमादनौ ।
> अर्धचन्द्रश्च बिन्दुश्च नवार्णो मेरुरुच्यते ।
> महात्रिपुरसुन्दर्या मन्त्रा मेरुसमुद्भवाः ॥'

इति ज्ञानार्णवादावप्यसकृद्व्यवहारस्य दर्शनाच्च । ध्वनिपदेन व्यवहारस्तु तत्तुल्य-त्वाल्लक्षणया ध्वनिपर्यायनादपदवाच्यत्वान्नेयार्थरूपलक्षणया वा नेय इति दिक् । एवं च प्रथमतृतीयकूटे अष्टादशवर्णात्मके; मध्यमकूटं[२] तु चतुरधिकम्; संहत्याष्टपञ्चाश-द्वर्णात्मिका विद्येति सिद्धम् । यद्यपि बिन्दुविनिर्मुक्तानामष्टानामेव नादसंज्ञा मन्त्रशास्त्रे, तथापि व्यवहारसौकर्याय तत्सहितानामेव सात्र कृतेति ध्येयम् ॥ १२-१३ ॥

* सरोजिनी *

हृल्लेखायाः = हृल्लेखा का । व्योम = ह । अग्नि = र । वाम- लोचना = ई । 'बिन्दु' अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना एवं उन्मनी—ये नौ अवयव प्रणव, महामन्त्र, मन एवं चक्र के अङ्गभूत हैं ।

आचार्य भास्करराय 'सेतुबन्ध' में कहते हैं कि—'स्वच्छन्दतन्त्र' में कहा गया है कि मूलाधार की कर्णिका के मध्य में 'वह्नि बिम्ब' है एवं स्वाधिष्ठान की कर्णिका में 'हृल्लेखा' का अवस्थान है—'स्वच्छन्द तन्त्रे मूलाधारे कर्णिकायां बह्निबिम्बस्य कथनात् स्वाधिष्ठानकर्णिकायां हृल्लेखारूप शक्तेरवस्थानम् ॥'

---

१. वामलोचनमीकारः

'हल्लेखा' 'ह्रीं' (ह, र, ई एवं अनुस्वार) की भी द्योतिका है। 'हल्लेखा' का ऊर्ध्व बिन्दु 'बिन्दु' है।[१] प्रथम कूट में जो हल्लेखा है उसके अन्तर्गत ही 'कामकला' है। उसमें गुरुमुखैकवेद्या जो सर्पयोग मार्ग के अनुसार 'षडदल कमल' के ऊपर मूलाधार और उसके ऊपर शक्ति या 'हल्लेखा' का स्थान है। यह अनङ्गादि देवताओं से परिवेष्टित है और आधार कमल से ढाई अङ्गुल ऊपर नील वर्ण की कर्णिका के भीतर प्रतिष्ठित है। 'हल्लेखा' से दो अङ्गुल ऊपर स्वाधिष्ठान कमल का स्थान है। इसके बाद क्रमशः मणिपुर, अनाहत, 'विशुद्ध', लम्बिकाग्र (अष्टदल कमल) और अन्त में आज्ञाचक्र है। आज्ञाचक्र के ऊपर बिन्दु से उन्मना पर्यन्त प्रणव की भूमिकाओं के रूप में निम्न भूमियाँ स्थित हैं—बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका (यापिनी) समना और उन्मना।[२] आचार्य शङ्कर ने 'हल्लेखा' की व्याप्ति के विषय में इस प्रकार लिखा है—

'सचराचरस्य जगतो मूलत्वान् मूलताऽस्य बीजस्य ॥' और 'हल्लेखा' के ज्ञान का फल इस प्रकार निरूपित किया है—यां ज्ञात्वा सकलमपास्य कर्मबंधं, तद्विष्णोः परमपदं प्रयाति लोकः। तामेतां त्रिजगति जन्तुजीवभूतां, हल्लेखां जपत इति नित्यमर्चयीत् ॥[३]

'स्वच्छन्द संग्रह' में 'हल्लेखा' का इस प्रकार विवरण प्रस्तुत किया गया है—'आधारपङ्कजस्योर्ध्वे सार्धद्वयङ्गुलि कोपरि। तैजसं साष्टपत्रञ्च पीतकर्णिकया युतम्। हल्लेखाकर्णिका मध्ये स्थितानङ्गादि देवता। एतस्माद द्वयङ्गुलादूर्ध्वे स्वाधिष्ठानं षडस्त्रकम्।[४]
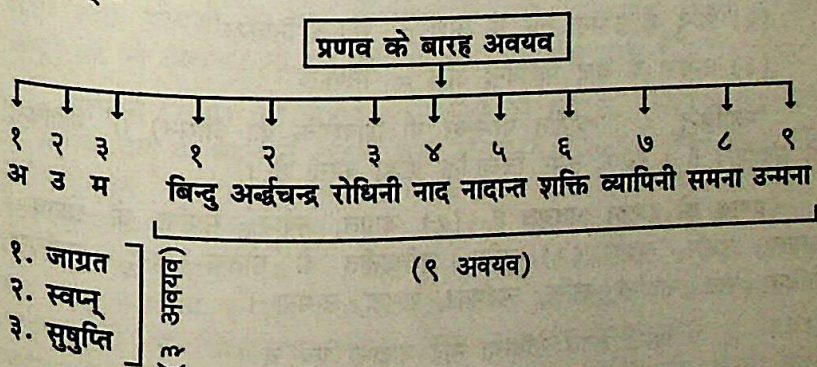
(तुरीय एवं तुरीयातीत अवस्थाओं के द्योतक ३ + ९

= १२ अवयव = प्रणवावयव ॥)

द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश—ये छः अवयव 'शून्य' कहलाते हैं।

---

१. गोपीनाथ कविराज—'भारतीय संस्कृति और साधना'; (पृ० ४०)
२. तत्रैव; (पृ० ३३६) ३. प्रपञ्चसारतन्त्र (चतुर्थ पटल)
४. स्वच्छन्दतन्त्र

(क) द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम शून्य = 'अवान्तर शून्य' ।

(ख) द्वादश शून्य (उन्मना) = 'महाशून्य' ।

(ग) सुषुप्तिभावना का स्थान भ्रूमध्य स्थित बिन्दु में है । इस बिन्दु को 'हल्लेखा' का ऊर्ध्व बिन्दु जानना चाहिए ।

(घ) अर्द्धचन्द्र, रोधिनी एवं नाद—इन तीन मन्त्रावयवों में 'तुरीय' की भावना करना उचित है ।

(ङ) नादान्त से शक्ति । व्यापिनी, समना एवं उन्मना में 'तुरीयातीत अवस्था' व्याप्त है । उन्मना से परे किसी प्रकार की अवस्था नहीं है । 'बिन्दु' मात्रा से मात्राहीन की ओर जाने का द्वार है जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान एकाकार हो जाते हैं, उन्मना पर्यन्त सम्पूर्ण मन्त्रावयव १०८१७ बार उच्चारित होने पर नाद का अन्त एवं तत्वज्ञान का उदय होकर परमपद की प्राप्ति होती है । समना में भी 'नाद' का अन्त नहीं होता । शाक्त योगियों के मतानुसार 'उन्मना' में भी नाद का अन्त नहीं होता । उन्मता में काल तो नहीं है फिर भी वह परमतत्त्व नहीं है । जब तक नाद का अन्त नहीं होता तब तक तत्वबोध नहीं हो पाता । उन्मना का भेदन होने के बाद ही 'नाद' का अन्त होता है ।[1]

'विश्वचक्र' (अकुल से महाबिन्दु पर्यन्त समस्त अवान्तर चक्रों की समष्टि ही विश्वचक्र है ।)

(१) अकुल से आज्ञा चक्र तक के अंश = 'सकल'

(२) बिन्दु से उन्मना तक के अंश = 'सकल निष्कल'

(३) उन्मना के बाद महाबिन्दु अंश = 'निष्कल'

'महाबिन्दु' = विश्वातीत परमेश्वर या शिवशक्ति का आसन) ।। 'महाबिन्दु' ही सदाशिव है । इसके ऊपर चिच्छक्ति क्रीडा करती है ।

प्रणव के द्वादश अवयव हैं—(१) जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के द्योतक—अकार, उकार, मकार (२) तुरीय, तुरीयातीत के द्योतक—बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना, उन्मना ।

> बिन्दौ तदर्धे रोधिन्या नादे नादान्त एवं च ।
> शक्तौ पुनर्व्यापिकायां समनोर्न्मान गोचरे ।।
> महाबिन्दौ पुनश्चैवं त्रिधा चक्रं तु भावयेत् ।।[2]

'नेत्रतन्त्र' के अनुसार प्रणव की निम्न कलायें हैं—(१) अकार (२) उकार (३) मकार (४) बिन्दु (५) अर्द्धचन्द्र (६) रोधिनी (७) नाद (८) नादान्त (९) व्यापिनी (१०) शक्ति (११) समना (१२) उन्मना—

---

१. गोपीनाथ कविराज—'भारतीय संस्कृति और साधना'; (पृ० ३३८-३३९)

२. योगिनीहृदय । (चक्र संकेत)

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ।
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ॥ २१ ॥
कौण्डली व्यापिनी शक्तिः समनाश्चेति सामया ।
निष्कलं चात्मतत्त्वं च शक्तिश्चैव तथोन्मना ॥ २२ ॥[१]

अकार, उकार, मकार, बिन्दु आदि द्वादश कलाओं के द्वारा ओंकार पृथ्वी से लेकर शिव पर्यन्त समस्त तत्त्वों एवं भुवनों को आकलित करता है क्योंकि—'ओम् इत्येतदक्षरमिदं सर्वम्' प्रणव समस्त प्राणियों का प्राण है, उनका जीवन है—

'प्रणवः प्राणिनां प्राणो जीवनं सम्प्रतिष्ठितम् ।
गृह्णाति प्रणवः सर्वं कलाभिः कलयेच्छिवम् ॥[२]

क्या 'बिन्दु' अर्द्धचन्द्र, रोधिनी आदि वर्ण या अक्षर हैं—भास्करराय 'वरिवस्यारहस्यम्' में कहते हैं कि यद्यपि ककारादि वर्णों की भाँति इनका स्पष्ट उच्चारण तो संभव नहीं है तथापि ये उक्त बिन्दु आदि नव कलायें सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम काल द्वारा उच्चरित ध्वनि विशेष या वर्ण विशेष हैं । 'योगिनीहृदय' में भी नाद को अक्षर स्वीकार किया गया है । इसी आधार पर पञ्चदशाक्षरी मन्त्र में ५८ वर्णों की संहति स्वीकार की गई है ।[३]

नव नादों का समष्टिगत नाम—बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद नादान्त, शक्ति, समना एवं उन्मना—इन नवों का **समष्टिगत नाम** 'नाद' है । बिन्दु से उन्मनापर्यन्त नव कलाओं की समुदित संज्ञा 'नाद' है । भास्करराय कहते हैं कि यद्यपि आठ कलाओं का नाम ही 'नाद' है । किन्तु व्यवहार सौकर्य के लिए 'बिन्दु' को भी मिलाकर नौ कलाओं को भी 'नाद' कहा जाता है ।

कलाओं (नादों) की मात्रायें—कमलपुष्प को सुई से एकबारगी छेद करने पर प्रत्येक दल के भेदन में जितना समय लगता है उसे 'लव' कहते हैं । इससे अधिक सूक्ष्म काल नहीं होता । २५६ लवों की एक मात्रा होती है । उच्चारण-काल—(१) बिन्दु का १२८ लव (२) अर्द्धचन्द्र का ६४ (३) रोधिनी का ३२ (४) नाद का १६ (५) नादान्त का ८ (६) शक्ति का ४ (७) व्यापिका का २ (८) समना १ लव (९) उन्मना—सर्वथा कालहीन ॥[४] 'योगिनीहृदय' में 'उन्मना' को भी कालात्मक स्वीकार किया गया है—'शक्त्यादीनां तु मात्रांशो मनोन्मन्यास्तथोन्मनी ॥' 'सेतुबंध' में भास्करराय ने इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिस तरह 'समना' में काल होता है उसी प्रकार 'उन्मना' में भी काल होता है—"यथा समनायाः कालः तथैवोन्मनी काल ॥"

१-२. नेत्रतन्त्र ३. प्रकाश
४. प्रकाश 'बिन्दु' से लेकर समना पर्यन्त समस्त कलाओं की मात्रा अपनी पूर्ववर्ती कला से उत्तरोत्तर आधी होती जाती है यथा—बिन्दु की मात्रा से आधी मात्रा अर्द्धचन्द्र में अर्द्धचन्द्र से आधी मात्रा रोधिनी में, रोधिनी से आधी मात्रा नाद में, नाद की मात्रा से आधी मात्रा नादान्त में आदि ॥

नादों का क्रमाङ्क	९ नाद या प्रणव के अवयव	स्थान	कलाएँ	अवस्था	आकार	उच्चारण काल (काल की मात्रा या अवधि)	पूर्ण ध्वनि की मात्रा	आकार का स्पष्टीकरण
४	बिन्दु	आज्ञा चक्र के ऊपर ललाट में	ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती, सुप्रभा, विमला, शिवा	सुषुप्ति		१२८ लव	१/२	दीप के सदृश वृत्ताकार
५	अर्द्धचन्द्र अर्धेन्द्र	बिन्दु के ऊपर	रुन्धती, रोधनी, रौद्री, ज्ञानबोधा, तमोपहा, निरोधिका	तुर्यावस्था		६४ लव	१/४	आधे चन्द्र के समान
६	निरोधिका	अर्द्धचन्द्र के ऊपर	इन्धिका, दीपिका, रोचिका, मोचिका			३२ लव	१/८	त्रिकोणाकृति : चन्द्रिका की भाँति
७	नाद	निरोधिका के ऊपर	ऊर्ध्वग			१६ लव	१/१६	दो बिन्दुओं के मध्य पद्मराग मणिवत दण्ड के समान
८	नादान्त	नाद के ऊपर	सूक्ष्मा, सुसूक्ष्मा, अमृता, अमृतसंभवा, व्यापिनी			८ लव	१/३२	वाम भाग में बिन्दु एवं हल के समान : तड़ित के समान

नादों का क्रमाङ्क	९ नाद या प्रणव के अवयव	स्थान	कलाएँ	अवस्था	आकार	उच्चारण काल (काल की मात्रा या अवधि)	पूर्ण ध्वनि की मात्रा	आकार का स्पष्टीकरण
९	शक्ति	नादान्त के ऊपर	व्यापिनी, व्योमरूपा, अनन्ता, अनाथा, अनाश्रिता			४ लव	१/६४	जिसमें दो तिरछे बिन्दु हों । वामबिन्दु से एक रेखा निकल रही हो । दक्षिण बिन्दु शिरा शून्य
१०	·व्यापिनी (व्यापिका)	शक्ति के ऊपर	सर्वज्ञा, सर्वगा, दुर्गा, सवना, स्पृहणा, धृति			२ लव	१/१२८	बिन्दु से निकलता हुआ त्रिकोण
११	समना	व्यापिनी के ऊपर				१ लव	१/२५६	ऊर्ध्व एवं अधोभागस्थ बिन्दुद्वय से संयुक्त रेखाकृति
१२	उन्मना	समना के ऊपर				कालहीन	१/५१२	ऊर्ध्वबिन्दु से हीन
०	नौ कलाएँ							

'बिन्दु'—'योगिनीहृदय' के अनुसार 'बिन्दु' दीपक के समतुल्य प्रकाशमान है और यह ललाट में गोलबिन्दी के रूप में स्थित है। इसका उच्चारण-काल अर्द्धमात्रा है। ह्रस्व स्वर का उच्चारण-काल 'मात्रा' कहलाता है और इसका आधा काल अर्धमात्रा है जो कि बिन्दु के उच्चारण में प्रयुक्त होता है।[१]

ह्रस्व का उच्चारण-काल एक मात्रा, दीर्घ का उच्चारण-काल दो मात्रा, प्लुत का उच्चारण-काल तीन मात्रा एवं व्यञ्जन का उच्चारण-काल अर्धमात्रा हुआ करता है—

'एक मात्रो भवेदहृस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं त्वर्धमात्रकम् ॥'

'मात्रा लध्वक्षरस्य कालः। तदविगुणो गुर्वक्षरस्य। अतएव कामकला कमला त्रिकोणा योनिश्च द्विमात्रा। हृल्लेखायां द्वयोर्व्यञ्जनयोरे का मात्रा कामकलाया द्वे मात्रे इति तिस्त्रः। बिन्दोरपि व्यञ्जन त्वादर्धामात्रा ॥'[२]

'बिन्दु' भाल के मध्य वृत्ताकार रूप से दीप की भाँति देदीप्यमान है—रहता है—'मध्येकालं बिन्दुर्दीप इवाभाति वर्तुलाकारः ॥'[३] अमृतानन्द कहते हैं—'दीपाकारोऽर्धमात्रोच्चारणकालो वृत्त सन्निवेशो बिन्दुः इति ॥'[४] 'योगिनीहृदय' में बिन्दु की व्याख्या केवल इस प्रकार की गई है—'दीपाकारो'। अर्थात् बिन्दु दीपक के आकार का है—दीपक की जैसी कान्ति या भासन वाला है। बिन्दु आदि नव के समूह को 'नाद' कहा जाता है। (व०र०)

बिन्दु का विस्तार—'स्वच्छन्द तन्त्र' में 'बिन्दु' के विस्तार के विषय में इस प्रकार कहा गया है—"बिन्द्वावरणमूर्ध्वतः। 'सूर्यकोटि प्रतीकाशमतिदीप्तं महद्गुणम्। तन्मध्येशतकोटीनां संख्या योजनपङ्कजम्। तत्कर्णिकायामासीनः शान्त्यतीतेश्वरः प्रभुः। पञ्चवक्त्रो दशभुजो विद्युत्पुंजनिभा कृतिः। निवृन्तिश्चं प्रतिष्ठा च विद्या शान्ति सुक्रमात। परिवार्य स्थिना श्चैताः शान्त्यतीतस्य सुन्दरि। वामभागे समासीना शान्त्यतीता मनोन्मनी। पञ्चवक्त्रधराः सर्वा दसबाह्विन्दु शेखराः। बिन्दुतत्वं समाख्यातं कोट्यर्बुद शतैर्वृतम् ॥"[५]

बिन्दु को दीपाकार इसलिए कहा गया है क्योंकि दीपक का भासन जैसा होता है वैसा ही बिन्दु का होता है—'दीपाकारो दीपकस्य याद्दशं भासनं ताद्दशम।"[६] दीपस्यैवाकारः कान्तिर्यस्य स दीपाकारः ॥[७] (१) निवृत्ति (२) प्रतिष्ठा (३) विद्या (४) शान्ति—ये तत्पुरुष की कलायें हैं। इनका स्थान भ्रू मध्य है और यह बिन्दुरूप ईश्वर तत्व में स्थित हैं। 'इन्दु' फिर 'बोधिनी' फिर 'नाद' फिर

---

१. भास्करराय—वरिवस्यारहस्यम्
२. भास्करराय—'प्रकाश'
३. वरिवस्यारहस्यम्
४. दीपिका
५. नेत्रतन्त्र
६. दीपिका
७. सेतुबन्ध

'महानाद' फिर 'कला' (आज्ञी) फिर 'उन्मनी' ॥ 'बिन्दु एवं मात्रार्ध के ऊपर स्थित हैं—'नाद'। 'नाद' के ऊपर स्थित है—'महानाद' (वायु के लय का स्थान) ॥ व्यापिका ही 'आज्ञी' है। आज्ञा चक्र, फिर-'बिन्दु' (शिव) फिर 'बोधिनी' (अर्धमात्रा के आकार की) फिर 'नाद' (शिवशक्ति का संमिलन) (अर्धचन्द्र के, आकार का), फिर व्यापिका, (वक्रा आज्ञी) फिर 'समनी' फिर 'उन्मनी' परशक्तिमय, अपने को तीन रूपों में प्रकट करता है—(१) बिन्दु, (२) नाद, (३) बीज नाद। 'बिन्दु' नादात्मक है। 'बीज' शक्ति है। 'नाद'—बिन्दु + बीज का सम्मिलन ॥

'बिन्दु'—आज्ञा चक्र के ऊर्ध्व में बिन्दु का स्थान है। 'बिन्दु' ही योगियों का 'तृतीय नेत्र' या 'ज्ञानचक्षु' है। इसी स्थान से ज्ञानभूमि की सूचना प्राप्त होती है। जब तक चित्त को एकाग्र करके उपसंहृत न किया जाय तब तक 'बिन्दु' में प्रवेश पाना असंभव है क्योंकि विक्षिप्त अवस्था में बिन्दु स्थान में स्थिति संभव नहीं है। इस भूमि में साधक अहंभाव युक्त होकर और द्रष्टा बनकर निम्नवर्ती संसार को तटस्थ दृष्टि से देख सकता है किन्तु बिन्दु में अहंभाव के पूर्ण समर्पण या विसर्जन के पूर्व महाबिन्दु या शिवभाव की अभिव्यक्ति संभव नहीं है। बिन्दुभाव अधिगत करने के उपरान्त साधक को समस्त कलाओं का क्षय करते-करते विगतकल अवस्था प्राप्त करनी चाहिए। इस बिन्दु को 'चन्द्रबिन्दु' कहा जाता है। इसीलिए इसकी उत्तरवर्ती अवस्था का अभिधान है—'अर्धचन्द्र' ॥

सृष्टि के मूल उत्स के रूप में जो तत्त्व स्थित है वह है—'बिन्दु'। यह 'महाबिन्दु' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रकाश या शिवांश एवं विमर्श या शक्त्यंश जब समभाव में प्रतिष्ठित रहते हैं तब उनकी आख्या 'बिन्दु' होती है। सृष्टि के आरम्भ में एक ही बिन्दु तीन रूपों में विभाजित होकर उदित होता है। समष्टिगत बिन्दु व्यष्टिरूपात्मना तीन बिन्दुओं में रूपान्तरित हो जाता है। 'अम्बिका' या प्रकाशांश तथा 'शान्ता' या विमर्शांश इन दोनों का मूल स्रोत की सृष्टि का मूल स्रोत है। अम्बिका का प्रकाशन—(१) वामा (२) ज्येष्ठा एवं (३) रौद्री नाम्नी तीन शक्तियों एवं—'शान्ता' का प्रकाशन (१) इच्छा (२) ज्ञान एवं (३) क्रिया—इन तीन शक्तियों के रूप में होता है। जहाँ अम्बिका एवं शान्ता साम्यभाव में स्थित रहती हैं उसे समष्टि बिन्दु या मूल बिन्दु कहते हैं।

(क) **'समष्टिबिन्दु'** = अम्बिका एवं शान्ता में साम्यभाव की भूमि—'परावाक्' ॥

(ख) **'व्यष्टि बिन्दु'** = (१) वामा एवं इच्छा में साम्य से जिस बिन्दु का आविर्भाव होता है—अर्थात = 'पश्यन्तीवाक्' ॥

(२) ज्येष्ठा एवं ज्ञान के साम्य से जो बिन्दु प्रकट होता है—अर्थात् = 'मध्यमावाक्'

(३) रौद्री एवं क्रिया शक्ति के साम्य (दातादात्म्य) से जो बिन्दु प्रकट होता है—अर्थात् = 'वैखरीवाक्'

यह त्रिकोण मूलत्रिकोण है । इसका मध्य बिन्दु 'परामातृका' है । तीन दिशाओं के तीन बिन्दुओं को 'पश्यन्ती' 'मध्यमा' एवं 'वैखरी' कहते हैं । इस त्रिकोण की वाम दिशा की वक्ररेखा 'पश्यन्तीवाक्' का प्रसार है । इसके ऊर्ध्व की सरल रेखा 'मध्यमा वाक् का प्रसार है । इसके दक्षिण दिशा की रेखा 'वैखरी वाक्' है । यही है योनिस्वरूप विश्वमातृका का स्वरूप । समग्र विश्व का जो मूलबिन्दू है वही सर्वोच्च बिन्दु है इसी बिन्दु से सर्वप्रथम त्रिकोण का जन्म होता है। समग्र विश्व के केन्द्र में पराशक्ति के आत्मप्रकाशन की भूमि के रूप में इसी त्रिकोण का प्रकटीकरण होता है । लुप्त हो जाता है । यह स्तर समाधिजन्य प्रज्ञा से उत्कृष्टतर है । योगिगम्य पञ्चशून्यों में प्रथम शून्य बिन्दु है । जहाँ ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय एकाकार होते हैं वही, मात्रा से मात्राहीन में जाने की, भूमि 'बिन्दु' है । 'बिन्दु' में काल विद्यमान है और उसकी मात्रा १२८ लवों की है—'बिन्दौ' लवाः शतं ज्ञेया अष्टाविंशतिसंयुतम् ।'

अन्य चक्रों में काल की मात्रा निम्नानुसार है—(१) उन्मना—काल है ही नहीं है । (२) 'समना'—एक लव (३) 'व्यापिका'—४ लव (४) 'नादान्त'—८ 'लव' (५) 'नाद'—१६ लव (६) 'रोधिनी'—३२ लव (७) 'अर्धचन्द्र'—६४ लद (७) 'बिन्दु'—१२८ लव । नालिनीदलसंहति को सूची द्वारा अभिवेधन किये जाने पर प्रत्येक दल के अभिवेधन में जितना समय लगता है उस काल को 'लव' कहा जाता है—"दले दले तु यः कालः स कालो लवसंज्ञकः ।।[१]

इन समस्त चक्रों की अवस्थायें निम्नानुसार हैं—(१) बिन्दु—सौषुप्त सन्निभ (२) अर्धचन्द्र से नादान्त पर्यन्त तुर्यावस्था । (३) नादान्त से उन्मनी तक = तुर्यातीता । अन्य मत—(१) बिन्दु—सुषुप्ति । (२) अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद = तुर्यावस्था (३) नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना, उन्मनी = तुर्यातीत । तुर्यातीतपद = आनन्दैकघनावस्थाः आकार निम्नानुसार है—

(१) महाबिन्दु (२) उन्मनी (३) समना (४) व्यापिका (५) शक्ति (६) नादान्त (७) नाद (८) रोधिनी (९) अर्धचन्द्र (१०) बिन्दु

चूँकि "महाबिन्दु" काल एवं अवस्थाओं से परे हैं अतः उसकी किसी अवस्था, काल, मात्रा आदि की कल्पना करना संभव नहीं है । "महाबिन्दु समाश्रित्यावस्था कपि न संभवेत् ।"

'बिन्दु', 'अर्धचन्द्र', 'रोधिनी', 'नाद', 'नादान्त', 'शक्ति', 'व्यापिका', 'समना', एवं 'उन्मना' इन सभी का समष्टिगत नाम 'नाद' है—

"बिन्द्वर्ध चन्द्ररोधिन्यो नाद नादान्त शक्तयः ।
व्यापिका समतोन्मन्य इति नाद पदाभिधाः ।।"

ये सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, एवं सूक्ष्मतम काल से उपलक्षित हैं तथा इनकी विशिष्ट

१. शङ्कराचार्यः 'प्रपञ्चसारतन्त्र'

ध्वनियाँ हैं तथा अनुस्वार विसर्गवत वर्ण है । अर्द्धचन्द्र से नीचे पूर्णचन्द्राकार ज्ञान शक्ति प्रधान, नादपरामर्श को उदरस्थ किए हुए समस्त स्रष्टव्य वेद्य वर्ग से अविभक्त, क्रियात्मशक्त्यात्मा ईश्वर रूप 'बिन्दु' का उदय होता है ।[१] इनका प्रकाश करोड़ों सूर्यों के समान है । ये सृष्टि-संसार के कारण है ।

"नाद"—ब्रह्मरन्ध्र के मुख में नादस्थान है । यह मन्त्र महेश्वरों से परिवृत है । 'उन्मना'—में काल नहीं है किन्तु 'नाद' में है । यह काल की मात्रा १६ लवों की है—'नादे षोडशैवलवाः पुनः ॥' 'नाद' सृष्टिप्राक अवस्था का वह स्तर है जो तत्वतः 'सदाशिव' है एवं जो अप्रतिम वेग से प्रसरण करता हुआ समस्त जगत को ध्वनि से आपूरित कर देता है—

"प्रसरत्यतिवेगेन ध्वनिनापूरयञ्जगत् ।
स नादो देवदेवेशः प्रोक्तश्चैव सदाशिवः ॥" (नेत्रतन्त्र)

अर्धचन्द्र की ऊर्ध्वभूमि में प्रतिष्ठित इस नाद पद की अनेक शक्तियाँ हैं । नाद की निम्न शक्तियाँ हैं—(१) इंधिका (२) दीपिका (३) रोचिका (४) मोचिका (५) ऊर्ध्वगामिनी ।

'इंधिका दीपिका चैव रोचिका मोचिका तथा ।
ऊर्ध्वगामिन्यः यत्येताः कला नाद समुद्भवाः ॥'[२]

इनका विवरण निम्नानुसार है—

'एताः स्वतन्त्रता युक्ताः सकले निश्कले स्थिताः ।
ज्ञानशक्तिस्वरूपास्तु ज्ञाताः सार्वज्ञ्यदायिकाः ॥[३]

अर्धचन्द्रोर्ध्ववर्तिनी 'नादशक्ति' की शक्तियाँ विमर्श प्रधान एवं परदीप्तिमय हैं ।[४] बिन्दु आदि नव के समूह को 'नाद' कहा जाता है—"बिन्द्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते ॥"[५]

ये 'बिन्द्वादि' निम्न हैं—(१) बिन्दु (२) अर्द्धचन्द्र (३) रोधिनी (४) नाद (५) नादान्त (६) शक्ति (७) व्यापिका (८) समना (९) उन्मनी—

'बिन्द्वर्धचन्द्र रोधिन्यो नाद नादान्त शक्तयः ।
व्यापिका समनोन्मन्य इति द्वादशसंहतिः ॥

बिन्द्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते ।[६]
'बिन्दौ तदर्धे रोधिन्यां नादे नादान्त एव च ॥

शक्तौ पुनर्व्यापिकायां समनोन्मनि गोचरे ।
महाबिन्दौ पुनश्चैव त्रिधा चक्रं तु भावयेत् ॥[७]

---

१. 'बिन्दुश्चेश्वरः स्मृतः' (नेत्रतन्त्र)
२-३. नेत्रतन्त्र
४. नेत्रोद्योत
५-६. वरिवस्यारहस्यम्
७. योगिनीहृदय (चक्र सङ्केत)

भास्करराय कहते हैं कि यद्यपि बिन्दु विनिर्मुक्त आठ अष्ट अवयवों की आख्या ही 'नाद' है तथापि व्यवहार-सौकर्य के लिए उसके सहित नौ के अवयवों की समष्टि को 'नाद' कह दिया गया है—

'यद्यपि बिन्दुविनिर्मुक्तानामष्टानामेव नाद संज्ञा मन्त्र शास्त्रे तथापि व्यवहार सौकर्याय तत्सहितानामेव सात्र कृतेति साध्यम् ।।'[1]

''नाद'' का काल मात्रा काल होता है—

'संहृत्यैकलवोनो मात्राकालोऽस्य नादस्य ।'[2]

मूलाधार से उठने वाला 'नाद' वर्णों के मध्य से होता हुआ सूत्र की भाँति प्रतीत होता है—'आधारोत्थित नादो गुण इव परिभाति वर्णमध्यगतः ।।'[3]

'नाद'—'निरोधिका' के अनन्तर नादभूमि आती है । 'नाद' की मात्रा १/१६ है । नाद को चारों ओर से घेरकर अनन्त मन्त्र महेश्वर स्थित हैं । इसका स्थान ब्रह्मरन्ध्र के मुख में है । विशुद्धचित् की तरङ्ग यहीं से प्रारम्भ होती है । इस भूमि में त्रिगुणातीत विशुद्धचित् का आभासयुक्त शब्द श्रुतिगोचर होता है । 'नाद' मन्त्र महेश्वररूपी महापुरुषों से परिवृत है । नाद के भीतर ही भुवन पञ्चक की मध्यवर्ती शक्ति 'ऊंर्ध्वगा' के नाम से प्रख्यात है । यहीं से शुद्ध चिद् बोध का शुभारम्भ होता है । बिन्दु की परवर्ती अवस्था ही 'नाद' है । 'बिन्दु' का अनुभव भ्रूमध्य के मध्य में होता है जबकि उसके भी ऊर्ध्व में ब्रह्मरन्ध्र की अंतिम सीमा तक 'नाद' का अनुभव होता है । नाद का आश्रय लेकर ही नाद के अन्त में पहुँचा जाता है। वाचकों की महासमष्टि से एकीभूत स्थिति का नाम 'नाद' है । जिस प्रकार बिन्दुरूप ज्योति में यथाभीष्ट अर्थ का साक्षात्कार होता है तदवत् 'नाद' में निःशेष विश्व, अनन्तवाचक एवं अनन्त मन्त्रों का साक्षात्कार होता है । परिणामतः प्रत्येक मन्त्र चेतन होने पर नादावस्था में उपनीत होता है । 'बिन्दु' एवं 'नाद' जगत के असंख्य वाच्यवाचकों की एकीभूत समष्टि के वाचक हैं । 'नाद' का अन्त हुए बिना देहात्मबोध विगलित नहीं होता ।

मन्त्रशास्त्र में जिसे 'मन्त्र चैतन्य' की संज्ञा दी गई है वह प्राणात्मक नाद शक्ति का उदय मात्र है । जिस प्रकार पयोधि में अनिल के आघात से ऊर्मियाँ उठती हैं । तदवत् 'बिन्दु' में भी ऊर्मियाँ उठती हैं । ये ऊर्मियाँ ही बाहर की ओर 'नाद' एवं 'ज्योति' के रूप में प्रकट होती है । 'नाद' का उदय वाक् के रूप में एवं 'ज्योति' का उदय अर्थ के रूप में हुआ करता है ।

कुण्डलिनी के व्यक्त होने के साथ वेग उत्पन्न होता है । वेग के उत्पन्न होने पर स्फोट उत्पन्न होता है । यह स्फोट ही 'नाद' है । 'नाद' से प्रकाश उत्पन्न होता है । प्रकाश का व्यक्तरूप ही 'महाबिन्दु' है । जीव = सृष्टि में उत्पन्न 'नाद' ॐकार है । शब्द ब्रह्म (ओङ्कार) से ५२ मातृकाओं का जन्म होता है । इनमें

१. 'प्रकाश'

२-३. वरिवस्यारहस्यम्

(१) ५० अक्षरम् (२) ५१वीं मातृका (प्रकाशरूपा) (३) ५२वीं मातृका पकाश का प्रवाह—६वीं 'जीवनकला' है । ५० मातृकाएँ लोम एवं विलोम से १०० हैं । ये ही १०० मातृकाएँ १०० कुण्डल हैं । इन कुण्डलों को धारण किए हुई मातृकामयी 'कुण्डलिनी' है । सहस्रार चक्र में अव्यक्त नाद है वही आशा चक्र में आकर ॐकार रूप में व्यक्त होता है । ॐसे उत्पन्न होने वाली ५० मातृकाओं की अव्यक्त स्थिति का स्थान सहस्रार चक्र है और यही 'अकुल स्थान' है । यहीं शिवशक्ति का स्थान है । 'शक्ति' व्यक्त है, 'शिव' अव्यक्त है ।

जब कुण्डलिनी उद्बुद्ध होकर ऊपर की ओर बढ़ती है तो उससे 'स्फोट' होता है जिसे 'नाद' कहा जाता है । विवरण निम्नानुसार है—कुण्डलिनी का जागरण—स्फोट (नाद)—प्रकाश—प्रकाश का व्यक्त रूप 'महाबिन्दु'—(१) इच्छा (सूर्य, ब्रह्मा), (२) ज्ञान (चन्द्र, विष्णु), (३) क्रिया (अग्नि, शिव) ।

यह 'नाद' एवं 'बिन्दु' अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनाहत नाद का व्यष्टि में व्यक्त रूप है । जो 'नाद' अनाहतभाव से समस्त विश्व में सर्वत्र व्याप्त है जब उसी का प्रकाश व्यक्ति में होता है तब उसे 'नाद' कहते हैं । 'स्फोट' अखण्ड सत्ता रूप ब्रह्मतत्त्व का वाचक है । 'स्फोट' शब्दब्रह्म है जबकि सत्ता ब्रह्म है । 'स्फोट' वाचक शब्द है जबकि सत्ता वाच्य है । यह 'नाद' मूलाधार में उदित होता है एवं सहस्रार में लय हो जाता है ।

गोरक्षसिद्धान्त संग्रह में कहा गया है कि 'नाथ' का अंश 'नाद' है, नाद का अंश प्राण है, शक्ति का अंश बिन्दु है एवं बिन्दु का अंश शरीर है । सृष्टि-क्रम निम्नानुसार है—शिव + शक्ति (प्रकृति) का संयोग—सगुण शिव-शक्ति—परनाद—परबिन्दु—अपरबिन्दु (-रुद्र) + बीज (-विष्णु) + अपर नाद (-ब्रह्मा) । सोपाधिशिव + सोपाधिशक्ति का संयोग—विश्व में विक्षोभ (नाद, परनाद)—विक्षोभ में क्रियाशीलता (बिन्दु, परबिन्दु) ।

नाद + बीज + बिन्दु = इच्छा + ज्ञान + क्रिया । अपरनाद = इच्छा । 'बीज' = ज्ञान । अपरबिन्दु = क्रिया ।

'नाद' की भी अपनी श्रेणियाँ एवं स्तर हैं यथा—(१) नाद ब्रह्मग्रंथि का भेदन करने पर 'शून्य' में और उसके ऊर्ध्व में (२) विष्णु ग्रंथि का भेदन करने पर—'अतिशून्य' में, और उसके भी ऊर्ध्व में (३) रुद्र ग्रंथि का भेदन करने पर 'महाशून्य' में पहुँच जाता है ।

'परमाकला' नादशक्ति ही है । कुण्डलिनी मूलाधार पद्म में सुषुम्ना के प्रवेश द्वार में (ब्रह्मद्वार में) मुख में अपनी पूँछ डालकर पायूपस्थ के मध्यवर्ती चतुरङ्गुल प्रमाण योनिकन्द में सो रही हैं । यह कुलकुण्डलिनी ही मूल नाद शब्दब्रह्म है और समस्त मन्त्र उसकी स्वरूप-विभूतियाँ हैं । इसी निमित्त इसे 'मन्त्रदेवता' एवं (अक्षरमयी होने के कारण) 'मातृका' कहते हैं। इसे ही षटचक्र निरूपमाकार ने परमाकला (नाद शक्ति) कहा है—

तन्मध्ये परमा कलातिकुशला सूक्ष्मातिसूक्ष्मा परा । नित्यानन्दपरंपराति- कुशला पीयूषधाराधरा ।

'ब्रह्माऽदि कटाहमेव सकलं यद् भासया भासते ।
सेयं श्रीपरमेश्वरी विजयते नित्यं प्रबोधोदया ।।'

व्यापक एवं शिथिल अर्थों में 'नाद' शब्द बहुत व्यापक है क्योंकि इसके भीतर 'बिन्दु', 'अर्धचन्द्र', 'रोधिनी', 'नाद', 'नादान्त', 'शक्ति', 'व्यापिका', 'समना' एवं 'उन्मना' ये सभी आ जाते हैं—

'बिन्द्वर्धचन्द्ररोधिन्यो नादनादान्त शक्तय: ।
व्यापिकासमनोन्मन्य इति नादपदाभिधा: ।।' (पूर्णता प्रत्यभिज्ञा)

समस्त वर्णों में 'नाद' ही तो अनुस्यूत है—'वर्णेषु नादोऽनुस्यूत: ।।' नादनवक मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपुर-अनाहत-विशुद्धाख्यआज्ञा (चक्रषट्क) एवं नाद, नादान्त एवं ब्रह्मरन्ध्र तक स्थित है—

'नाद नवकं मूलाधारादिषट्के नादे नादान्ते ब्रह्मरन्ध्रे च स्थितम् ।।'[२]

परमात्मा ने "ईक्षण" किया । 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" । इस 'ईक्षण' का सम्बन्धं 'पश्यन्ती' वाक् से है । इस पश्यन्ती वाक् के वामादिक आठ अवयव हैं जो कि अष्ट शक्तियाँ हैं । ये व्यष्टि-समष्टि रूप से नौ रूपों में व्यक्त होती हैं उन्हीं से अविकृत शून्यादिक नौ नाद उत्पन्न होते हैं ।[३] इन्हें ही 'नाद' एवं 'ध्वनि' आदि कहा जाता है ।[४] इन्हीं नौ नादों से अ-क-च-ट-त-प-य-श-ल (वर्ग नवक) वैखरी मातृका का जन्म होता है ।[५]

'नाद' पद्मराग की कान्ति वाला, दो अण्डों के मध्य वर्तमान सिरा (नाडिका) की भाँति विराजमान रहता है—'नादस्तु पद्मरागवदद्वयमध्यवर्तिनीव सिरा ।।'[६] यही है नाद का आकार—"बिन्दुद्वयान्तरे दण्ड:शेवरूपो मणिप्रभ: ।।" यह प्रश्वेत मणि के समतुल्य प्रभास्वर है और इसका आकार दो बिन्दु एवं उसके मध्य खींची गई एक रेखा के तुल्य है इसका उच्चारण-काल मात्रा का सोलहवाँ भाग है ।

नादोत्पन्न कलायें निम्न हैं—

इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिका तथा ।
ऊर्ध्वगामिन्य इत्येता: कला नाद समुद्भवा: ।।[७]

(१) तारा (२) सुतारा (३) तरणी (४) तारयन्ती (५) सुतारिणी—ये ईशान कलायें हैं । सदाशिवात्मक 'नादतत्त्व' से सम्बद्ध हैं । 'नाद कलायें' निम्न हैं—(१) इन्धिका (२) दीपिका (३) रोचिका (४) मोचिका ।

'नादान्त'—नाद के अनन्तर नादान्त की भूमि आती है । इसकी मात्रा १/३२ है । नादान्त ही तृतीय शून्य है । नाद एवं नादान्त आचार्यों द्वारा ईश्वर

१-६. प्रकाश ७. नेत्रतन्त्र

पद के रूप में भी स्वीकृत किये गए हैं । इस भूमि में वेद्य का भेद प्रधान है और समस्त वाचक शब्द अभिन्न रूप में विमर्शन का विषय है । इसके अनन्तर ललाट में अनाहत नाद ध्वनित होता है । नादान्त अधः शक्ति द्वारा सकल जगत का उद्भेदन करके ऊर्ध्वशक्ति में समाप्त होता है । यह नाडयाधार एवं ब्रह्मविल में लीन है—और मोक्ष का द्वार अवरुद्ध करके स्थित है । यह ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है । नादान्त भी शून्यपद वाच्य है । इस स्थान में नाद एवं चित् सद्भाव में स्थित है । नादान्त में काल तो है किंतु आठ लव का है—'नादान्तेऽष्टौलवा' । नादान्त की कला केवल एक है और वह है 'ऊर्ध्वगा' ॥

परनादात्मक प्रकाशानन्दघन शिव से स्फोटात्मक शब्दब्रह्म अपनी ध्वनि (अनुरणन) के द्वारा समस्त प्रपञ्च को आपूरित करता हुआ अप्रतिम वेग से सर्वत्र फैल जाता है । इसी नाद को देवदेवेश सदाशिव कहा जाता है । उपर्युक्त परनादात्मक शिव को परमेश्वरी परावाक्रूप 'उन्मना' समझना चाहिए तथा इसमें घण्टा सदृश अनुरणन को 'नादान्त' समझना चाहिए ।[1]

बाईं ओर स्थित बिन्दु से युक्त, विद्युत के समान प्रकाशित होने वाला 'नादान्त' हल की भाँति प्रतीत होता है—

'नादान्तस्तडिदाभः सव्यस्थितबिन्दुयुक्तलाङ्गलवत् ॥'[2]

'ऊर्ध्वाग्रं दक्षिणारं लाङ्गलम् वामभागे बिन्दुरेक नादान्ताकारः ॥'[3]

'नादान्त' सौदामिनी के समतुल्य प्रभास्वर है । इसका आकार हल के समान है और इसके वामभाग में एक बिन्दु रहता है । इसका उच्चारण-काल मात्रा का बत्तीसवाँ भाग है ।

नादान्त की कलायें निम्नांकित हैं—'ऊर्ध्वगा' (मात्र एक कला है ।) नादान्त का अवस्थान 'ब्रह्मरन्ध्र' में है । नाद के भीतर भुवनपञ्चक की मध्यवर्ती शक्ति ही 'ऊर्ध्वगा' है । ब्रह्मरन्ध्र की दृष्टि से—(ब्रह्मरन्ध्र सुषुम्ना के ऊपर स्थित है) ब्रह्मरन्ध्र में 'नादान्त' है जबकि ब्रह्मरन्ध्र के मुख में 'नाद' का स्थान है । नादान्त 'शून्य' है । 'ब्रह्मरन्ध्र' सुषुम्ना के ऊपर अवस्थित है जबकि 'शक्ति' ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर अवस्थित है ।

'शक्ति'—नादान्त के अनन्तर स्थित चिद्भूमिस्वरूपिणी, ब्रह्मरन्ध्रो- परिस्थिता, अनुन्मिवितविश्वगर्भा, विश्वाधारा, कलाचतुष्टयवेष्टिता, व्यापिनीकेन्द्रा इस भूमि का नाम ही 'शक्ति है । इसकी मात्रा १/६४ है । इसके मध्य में ही आनन्दसत्ता की अनुभूति होती है । इसके अनन्तर ब्रह्म की सगुण शक्ति के आनन्द का आभास होता है । शक्ति से उन्मनी पर्यन्त प्रत्येक भूमि द्वादश आदित्यवत् समुज्ज्वल एवं

---

१. 'प्रसरत्यतिवेगेनध्वनिनापूरञ्जगत् । स नादो देवदेवेशः प्रोक्तश्चैव सदाशिव ॥' (नेत्रतन्त्र)

२. 'वरिवस्यारहस्यम्' ३. प्रकाश

दीप्त है। पृथ्वी तक सभी तत्व, भुवन शक्ति के ही विस्तार हैं। शक्तितत्व ही 'निरालम्बपुरी' या अनाश्रित भुवन हैं। अनाश्रित भुवन के चतुर्दिक चार शक्तियाँ हैं—मध्य में अनाश्रित शक्ति अवस्थित है। शिवरूपी अनाश्रित देव के उत्सङ्ग में अनाश्रिता शक्ति प्रतिष्ठित है। शक्ति में आनन्दमय स्पर्श की अनुभूति होती है।

'ब्रह्मरन्ध्र' सुषुम्ना के ऊपर है जबकि 'शक्ति' ब्रह्मरन्ध्र के भी ऊपर स्थित है। यहीं ऊर्ध्वकुण्डलिनी प्रसुप्त, सर्पाकार एवं उर्णातन्तु सन्निभ प्रकाश करती हुई स्थित है। समस्त अनुन्मिषित विश्व इन्हीं के गर्भ में स्थित है और इस प्रकार वे विश्वाधार हैं। समस्त तत्व एवं भुवन इन्हीं का आश्रय लेकर स्थित हैं। इस भूमि में एक अव्यक्त आनन्द की अनुभूति होती है। पृथ्वीपर्यन्त तत्व जो कुछ भी प्रसृत है—अस्तित्व में है—सब 'शक्ति तत्व' का विस्तार है।

शक्ति की कलायें = सूक्ष्मा, सुसूक्ष्मा, अमृता, अमृतसंभवा और व्यापिनी—ये ही शक्ति की कलायें है—

'सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च ह्यमृतामृतसंभवा।
व्यापिनी चैव विख्याता शक्ति तत्व समाश्रिताः ॥' (नेत्रतन्त्र)

'शक्ति' दो बिन्दुओं के बाएँ से उदित होने वाली सिरा की आकृति वाली होती है—'तिर्यग्बिन्दुद्वितये वामोदगच्छत्सिराकृतिः शक्तिः ॥'[१] 'शक्तिर्वामस्थबिन्दूद्यत्सिराकारा ॥'[२] यह द्वादश आदित्यों के एक साथ प्रकाशित होने से उत्पन्न प्रकाश के समतुल्य है। इसका आकार दो बिन्दुओं में से बायें बिन्दु से एक सीधी स्थिर रेखा खींचने से निर्मित आकार के तुल्य है। इसका उच्चारण-काल मात्रा का चौसठहवाँ भाग है। शक्ति की निम्न कलायें हैं—(१) सूक्ष्मा (२) सुसूक्ष्मा (३) अमृता (४) अमृत संभवा (५) व्यापिनी ॥

'व्यापिनी'—शक्ति की उत्तरवर्ती भूमि में 'व्यापिनी' स्थित है। यही चतुर्थ शून्य है। यद्यपि शक्ति शून्यात्मक नहीं है किन्तु व्यापिनी शून्यस्वरूपा है। पञ्च शून्यों में यही चतुर्थ शून्य है। व्यापिनी की मात्रा १।१२८ है। व्यापिनी में (त्वक् और केश स्थान में) व्याप्ति होती है। शक्ति के केन्द्र में स्थित कला ही 'व्यापिनी' है। किसी किसी आचार्य ने 'व्यापिनी' को महाशून्य भी स्वीकार किया है। किन्तु यह महाशून्य नहीं क्योंकि इसके बाद भी शून्य हैं। केन्द्र में स्थित शक्ति की कला ही 'व्यापिनी' है। 'शक्ति' व्यापिनी से पृथक् है। शक्ति तत्व ही 'अनाश्रित भुवन' है और इसमें व्यापिनी के मध्य में शिवतत्व स्थित हैं। अनाश्रित भुवन के चतुर्दिक 'व्यापिनी', 'व्योमात्मिका', 'अनन्ता' एवं 'अनाथा' नामक शक्तियाँ अवस्थित हैं तथा मध्य में 'अनाश्रिता शक्ति' समासीन है। 'व्यापिनी' में साकार-निराकार का भेद तिरोहित हो जाता है। यहाँ की अनुभूति एक, अद्वितीय एवं आत्मानुभव का अङ्ग है। 'व्यापिका' में काल ४ लवों का है—'व्यापिकायांमपि लवौ शक्तौ चत्वार एव च ॥'

१. 'वरिवस्यारहस्यम्' २. चक्र सङ्केत

'व्यापिनी' की निम्न कलायें है—व्यापिनी, व्योमरूपा, अनन्ता और अनाथा। 'व्यापिनी व्योमरूपा च ह्यनन्ता नाथ संज्ञिता। अनाश्रिता महेशानि व्यापिन्यास्तु कलाः स्मृताः ॥' (नेत्रतन्त्र)

व्यापिनी से ही प्रसुप्त भुजङ्गाकार कुण्डलाख्य महाशक्ति का जन्म होता है—'कुण्डलाख्या महाशक्तिस्तृतीयाप्युपचर्यते।' इसकी स्पर्श संज्ञा है।

'व्यापिका' बिन्दु एवं उसके ऊपर त्रिकोण के समान आकृति वाली कही गई है।[1] 'बिन्दूद्गच्छ तत्र्यश्राकारधरा व्यापिका प्रोक्ता ॥'[2] 'बिन्दु संस्पृष्टाग्रकत्रि-कोणाकारा व्यापिका ॥'[3] व्यापिनी (व्यापिका) का प्रकाश द्वादश आदित्यों के समतुल्य है। इसका आकार बिन्दु के ऊपर निर्मित त्रिकोण के समान है। इसका उच्चारण-काल मात्रा का १२८वाँ भाग है।

'समना'—'समना' व्यापिनी के ऊर्ध्व भूमि में स्थित है। यही पराशक्ति है। यह व्यापिनी में प्रतिष्ठित अनाश्रित भुवन के भी ऊर्ध्व में स्थित है। यही समस्त कारणों का कारण एवं समस्त अण्डों का आधार है। इसी शक्ति पर समासीन होकर शिव समग्र विश्व की सृष्टिरक्षा, संहार, निग्रह एवं अनुग्रह रूप पञ्च कार्य सम्पन्न करते हैं। समना की मात्रा १।२५६ है। शिखा केश स्थान में या समना पद में केवल मनन ही रहता है किन्तु मनन का कोई विषय नहीं रहता। आगे मनन भी नहीं रहता और इस स्थिति में हंस शुद्ध आत्मा का रूप धारण करता है। समना को कृष्णा चतुर्दशी भी कहते हैं। बिन्दु पूर्णिमा है। उसके बाद से कृष्ण पक्ष का आरम्भ होता है। समना के अनन्तर जो 'उन्मना' है वही 'अमावस्या' है। 'बिन्दु' को पूर्णिमा कहने पर भी उसे पूर्णरूप से पूर्णिमा नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रकृत पूर्णिमा षोडशी है पञ्चदशी नहीं। ठीक पूर्णिमा होने पर पूर्णता अखण्ड रहती है और उसके अनन्तर कृष्णपक्ष नहीं आता। बिन्दु में १५ कलाएँ हैं किन्तु एक कला नहीं है यही कला 'अमृतकला' या 'षोडशी' है। समना अनाश्रित भुवन के ऊपर स्थित है। 'समना' ब्रह्मविल के बाहर अतीत मन की भूमि है। इस भूमि में मन है भी और नहीं भी है। नादान्त से इस मन की सूचना प्राप्त होती है। 'सूक्ष्म समष्टि मन' नाद में लय हो जाता है—समाप्त हो जाता है उसके परे 'अतिमानस' है। 'समना' समस्त कारणों की कारणभूता एवं महेश्वर की पराशक्ति है ब्रह्म की चिद्रूप ईसरमशक्ति 'समना' के रूप में अवतरित होती है और समष्टि मन में संचरित हो जाती है। समना की ही दूसरी दिशा 'उन्मना' है।

समना पर्यंत माया का सूक्ष्म अंश स्वीकार किया जाता है। किसी के मत में यह एक मात्रा का २५६वाँ भाग है और किसी के मत में एक मात्रा का '५१२वाँ भाग है। यहाँ मन की मात्राओं का त्याग हो जाता है। इसके बाद मन नहीं रहता। जिस प्रकार बिन्दु में एक मात्रा का अर्धांश है उसी प्रकार अर्धचन्द्र में

१-२. 'वरिवस्यारहस्यम्' ३. प्रकाश

बिन्दु का, निरोधिका में अर्धचन्द्र का अर्धांश है और यही क्रम 'समना' तक चलता है। मात्रा का सूक्ष्म अंश केवल 'समना' तक ही है। 'उन्मना' अमात्र है क्योंकि वहाँ मात्रा नहीं है क्योंकि वहाँ मन ही नहीं है और मन की ही तो मात्रायें होती है।

उन्मना तो कालशून्य है किन्तु समना में काल है। 'समना' से जो काल है उसकी संज्ञा है एकाणुर्लव 'समनायां पुनःकाल एकाणुर्लव संज्ञकः।' वस्तुतः 'समना' ही सृष्टिव्यापारा है—

"समनासौ निविर्दिष्टा शक्तिः सर्वाध्ववर्तिनी।
क्रीडीकरोति या विश्वं सहृत्य सृजते पुनः॥" (नेत्र तन्त्र)॥

समना की कलायें निम्नांकित हैं—

सर्वज्ञा सर्वगा दुर्गा सवना स्पृहणा धृतिः।
समना चेति विख्याता एताः शिवकलाः स्मृताः।
इच्छाशक्तिमधिष्ठाय इच्छासिद्धिप्रदायिकाः॥

शिव तत्वं समाश्रित्य सुसंपूर्णार्णवप्रभा।
अनन्त शक्तिसंस्थानाः सूक्ष्माश्चात्यन्तनिर्मलाः॥[१]

'समना' की कलायें—सर्वज्ञा, सर्वगा, दुर्गा, सवना, स्पृहणा, धृति॥

समना व्योमरूपात्मिका है। इससे शून्य नाम्नी व्यापिनी शक्ति का उदय होता है। सदाशिव अनाश्रित पदात्मक सम्पूर्ण भावाभासों की भित्ति रूप अशेष मनन, मन्तव्य मात्रात्मक 'समना' है जो कि उन्मना की स्वस्वरूपगोपन क्रीड़ा के परिणामस्वरूप स्फुरित होती है।[२] 'समना' का प्रकाश द्वादश आदित्यों के समतुल्य है। एक सीधी रेखा के ऊपर एवं नीचे बिन्दु स्थापित कर देने से निर्मित होने वाला आकार ही 'समना' का आकार है इसका उच्चारण-काल २५६वाँ भाग मात्र है।

'समना' की आकृति रेखा के ऊपर नीचे स्थित दो बिन्दुओं के समान होती है—

'ऊर्ध्वाधोबिन्दुद्वयसंयुतरेखाकृतिः समना॥'[३]
'बिन्दुद्वयान्तरालस्थऋजुरेखामयी पुनः समना॥'[४]

'समना' और 'उन्मना' में अन्तर यह है कि ऊपर वाले बिन्दु के बिना उपर्युक्त समना ही 'उन्मना' है।[५] भास्करराय कहते हैं—'सैवोर्ध्वबिन्दुहीनोन्मना'[६] इसी उन्मना के ऊपर 'महाबिन्दु' है—'तदूर्ध्वं महाबिन्दु॥'[७]

---

१. नेत्रतन्त्र
२. स्वच्छन्दोद्योत
३. 'वरिवस्यारहस्यम्'
४. प्रकाश
५-७. 'वरिवस्यारहस्यम्'

'उन्मना'—'समना' की ऊर्ध्ववर्ती भूमि ही 'उन्मना' है । उन्मना की मात्रा १।५१२ है । अन्य आचार्यों की दृष्टि से इसके उच्चारण का काल नहीं है । यहीं शब्दब्रह्मरूपी परम नाद का अन्त है । यही पञ्चम शून्य भी है और नव नादों में नवम भूमि है । यह भूमि मन के अतीत है । मन के नहीं रहने से नाद भी नहीं रहता एवं नाद के नहीं रहने से मन भी नहीं रहता । जब तक नाद का अन्त नहीं होता तब तक तत्वबोध नहीं होता । उन्मना में नाद का अन्त नहीं होता । उन्मना में काल नहीं है किन्तु फिर भी उन्मना परम तत्व नहीं है क्योंकि उन्मना में भी नाद का आत्यन्तिक लय नहीं है । उन्मना में कला का अभाव है तथापि नहीं रहते हुए भी रहती है । इसकी स्थिति इसी प्रकार की है यथा—असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त वृत्ति रूप में नहीं रहता किन्तु तो भी रहता है । अर्थात् संस्कार रूप में रहता है । समना में सूक्ष्ममन की विद्यमानता है किन्तु उन्मना में नहीं है, केवल संस्कार है ।

नाद-श्रवण की दृष्टि से स्थिति इस प्रकार है—

(क) आवरणवशात् नाद न सुनाई देने पर-क्षिप्त, विक्षिप्त या मूढ़ दशा ।

(ख) नाद का श्रुतिगोचर होने पर-एकाग्रावस्था या ज्ञानावस्था ।

(ग) नाद-श्रवण के स्थगित होने पर-चित्त की निरोधावस्था ।

(इस अवस्था में मन की वृत्ति नहीं रहती संस्कारमात्र रूप में मन विद्यमान रहता है । जब यह संस्कार भी नहीं रहता तब चिन्मात्र या शुद्ध आत्मा की रूपंस्थिति हुआ करती है ।)

जब तक नाद का अन्त नहीं होता तब तक तत्त्व बोध नहीं होता । नादान्त ही नहीं शक्ति एवं समना में भी नाद का अन्त नहीं होता । शाक्त योगियों के मन में तो उन्मना में भी नाद का अन्त नहीं होता । उन्मना का भेदन करने के अनन्तर उन्मना की ऊर्ध्व भूमि में ही 'नाद' का लय हो पाता है । और तभी तत्वबोध या आत्मसाक्षात्कार संभव हो पाता है । उन्मनापर्यन्त समस्त मन्त्रावयव १०८१७ बार उच्चारित होने पर नाद का अन्त एवं तत्वज्ञान का उदय हो पाता है तथा परमपद की सम्प्राप्ति हो पाती है । ६ शून्य, ५ अवस्था एवं ७ विषुव के कोलाहल से अतीत भूमि में ही विश्व की परम विश्रान्ति भूमि एवं परमानन्दस्वरूप 'परमपद' स्थित है । उन्मनापर्यन्त नाद के चिन्तन को 'कालविषुव' कहते हैं और उसके अनन्तर 'तत्वविषुव' है । 'नाद' तत्व का अभिव्यञ्जक तो है किन्तु जब तक नाद का अन्त नहीं होता तब तक तत्वबोध नहीं होता । उन्मना के भेदन के बाद ही नाद अन्त हो पाता है अतः स्पष्ट है कि उन्मनी में तत्वबोध नहीं हो पाता अतः उन्मनी 'परमपद' नहीं माना जा सकता ॥

'उन्मना' वह प्रदेश है जहाँ न मन है, न मात्रा है, न काल है, न देश है, न देवता है; न प्रपञ्च का कोई अंश है । यह विशुद्ध चिदानन्दभूमि है । यही परम लक्ष्य है ।

मन्त्र शास्त्र की दृष्टि से प्रणव के द्वादशावयवों में 'उन्मना' अंतिम अवयव है। जप विज्ञान एवं योग विज्ञान की सीढ़ी का अंतिम सोपान 'उन्मना' ही है— साधना की अंतिम मंजिल उन्मना ही है क्योंकि उसके ऊपर तो साधना की गति हीं नहीं केवल साध्य मात्र का अवस्थान है ।

'उन्मना' तक की यात्रा प्रत्येक साधक का कर्तव्य है क्योंकि उन्मना पद के पूर्व तक मनोराज्य है और वह शुद्धाशुद्ध रूप में स्थित है । उसका अशुद्ध भाग मायात्मक एवं विशुद्ध भाग शुद्धमायात्मक या योगमायात्मक है । उसके अशुद्ध भाग में प्रणव के अवयवत्रय—अकार, उकार एवं मकार (स्थूल-सूक्ष्म-कारण, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) स्थित है और विशुद्ध भाग में बिन्दु—अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी एवं समना स्थित है । और इनके अनन्तर सबसे अतीत 'उन्मना पद है जो मनोराज्य से अतीत है ।

उन्मना में न तो मात्रा है और न तो काल है—"अमात्रमुन्मना शक्ति कालस्तत्र न विद्यते ।।" उन्मना 'परमाशक्ति' है और शिवरूपिणी है--

'सा शक्तिः परमा सूक्ष्मा उन्मना शिवरूपिणी ।
अस्तित्व मात्रमात्मानं क्षोभ्यं क्षोभयते सदा ।।'[१]

वस्तुतः परविमर्शमयी अहैन्तकरसा पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य शक्ति ही 'उन्मना' है जो कि स्वरूप गोपनक्रीड़ोत्सुका होकर 'समना' के रूप में स्फुरित होती है ।[२]

एक प्रश्न उठता है कि क्या मन की अन्तिम सीमा 'बुद्धि' के पूर्व तक ही है और उसके बाद उसका प्रसार नहीं है क्योंकि श्रुति में कहा गया है—'मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान परः ।।' वस्तुतः ऐसा नहीं है क्योंकि मन 'समना' तक है । उपर्युक्त वेदा श्रुति-वाक्य मात्र अन्तःकरण के अवयव रूप मन की ओर इंगित कर रहा है जिसके चार अवयव हैं—(१) 'मन' (२) 'बुद्धि' (३) 'चित्त' (४) 'अहङ्कार' । 'योग' एवं तन्त्रशास्त्र में विवेचित मन के इस सूक्ष्मतम एवं व्यापक स्वरूप की ओर उसका सङ्केत नहीं है ।

उन्मना का उच्चारण-काल मात्रा का ५१२वाँ भाग है । अन्य आचार्यों ने कहा है कि उन्मनी कला मन से अतीत होने के कारण आकार-शून्य है । 'विज्ञान भैरव' के ४२वें श्लोक में 'शून्या' शब्द से 'उन्मनी' को ही अङ्गीकृत किया गया है । आचार्य भास्करराय ने 'समना' एवं 'उन्मना' का उच्चारण-काल मात्रा का २५६वाँ भाग ही स्वीकार किया है । योगी अमृतानन्द ने उन्मना को निराकारा एवं निरुच्चारा माना है । 'उन्मना' अतीत मन के भी अतीत हैं । नौ नादों में यह नवम् नाद है ।[३]

---

१. नेत्रतन्त्र
२. स्वच्छन्दोद्योत
३. विन्दु में जिस नाद समूह की सूचना मिलती है 'उन्मना' में उसका अन्त हो जाता है ।

भास्करराय और अमृतानन्द की दृष्टिः एक विश्लेषण—

चूँकि योग-भूमियों का (१) 'सकल' (२) 'सकल-निष्कल' एवं (३) 'निष्कल'—इन तीन खण्डों में वर्गीकरण करके उन्मनापर्यन्त भूमियों को सकल-निष्कल खण्डों में अवस्थित माना गया है अतः 'उन्मना' का भी कोई आकार मानना चाहिए। यदि उसका कोई आकार स्वीकार कर लिया जाता है तो उसका कोई उच्चारण-काल भी होना चाहिए और वह समना से सूक्ष्मतर होना चाहिए। 'उन्मना' काल-हीन है—अमात्रक है + निवृत्ति से लेकर शान्त्यतीत आदि कलायें। प्राणचार, भुवन एवं देवताओं की गति नहीं है। इससे आगे केवल अनामय पर तत्त्व की स्थिति है—

'यावत्सा समना शक्तिः तदूर्ध्वे चोन्मना स्मृता। नात्र कालः कलाश्चारो न तत्त्वं न च देवता। सुनिर्वाणं परं शुद्धं गुरुवक्त्रं तदुच्यते। तदतीतं वरारोहे परं तत्वमनामयम् ॥'[१]

'स्वच्छन्द तन्त्र' और 'योगिनी हृदय' में मतभेद—

स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है कि 'नात्र कालः कलाश्चारो न तत्त्वं न च देवताः ॥' अर्थात् उन्मना में काल नहीं है। 'योगिनीहृदय' में कहा गया है कि उन्मना में भी काल है। इसीलिए आचार्य भास्करराय मखिन कहते हैं कि—

'यथा समनायाः कालः तथैवोन्मनी।
एक लवात्मक एव काल इति यावत् ॥'[२]

'समना' और 'उन्मना' में भेद क्या है?—यदि 'समना' की ही भाँति 'उन्मना' में भी काल है तो 'समना' एवं 'उन्मना' में भेद ही क्या है? आचार्य भास्करराय का कथन है कि आकृति से सूक्ष्म होने के कारण विद्यमान भी काल 'उन्मना' में दुर्लक्ष्य रहता है। यही उसका परत्व है।

'स्वच्छन्त तन्त्र' में भी उन्मना के अन्त में ही कालहीनता का उल्लेख है यथा—(१) उन्मन्यते परे योज्यो न कालस्तत्रविद्यते।[३] (२) ऊर्ध्व मुन्मनसो यत्र तत्र कालो न विद्यते ॥[४]

क्या 'स्वच्छन्दतन्त्र' में आत्मविरोधी दृष्टियाँ प्रस्तुत की गई है?—इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) 'काल' के दो भेद हैं—(क) पर काल (ख) अपर काल। अपर काल ही 'उन्मनी' है। पर कालात्मा ही उन्मनी शक्ति एवं लव आदि कार्यों का निष्पादक है। चरम तत्व पर कालात्मा चिद्रूप है और कुण्डलिनी रूप उन्मनी शक्ति उनकी उपाधि है।[५]

---

१. स्वच्छन्द तन्त्र (पटल १०)
२. भास्करराय : सेतुबन्ध
३. स्वच्छन्द तन्त्र ३११।११
४. स्वच्छन्द तन्त्र २८६।४
५. 'प्रयोगक्रम दीपिका'

(२) आचार्य पद्मपादाचार्य कहते हैं कि 'वही साक्षिलक्षणा परा प्रकृति पूर्वोक्त स्वसंवेद्यस्वरूपा स्वसम्बन्धिनी अपरा शक्ति को जानती है। वह लव से परार्द्ध पर्यन्त पन्द्रह काल पर्वों की अभिमानिनी अपरा काल शक्ति मुझ उन्मनी रूप काल के द्वारा अभेद रूप से जानी जाती है।[१] 'प्रपञ्चसार विवरण' एवं 'प्रयोगक्रमदीपिका' की इन दृष्टियों में भी विरोध है।

(३) हेलराज ने 'वाक्यपदीय' को टीका में कहा है कि स्वतन्त्र कालशक्ति अनादिनिधन एवं काल की कलना से रहित शब्दब्रह्म में जन्म आदि पौर्वापर्य क्रम को अवभासित करती है। इसकी अनुज्ञा से ही पदार्थों का आविर्भाव एवं प्रतिबंध से तिरोभाव होता है। यह उन्मना ही 'काल शक्ति' स्वातन्त्र्य एवं परावाक् है। व्याकरणागम यही मानता है कि शब्द ब्रह्मकाल शक्ति का आश्रय लेकर जन्मादिक विकारों का जनक बनता है। शब्दब्रह्म इस शक्ति द्वारा भोक्ता/भोग्य/एवं भोग रूप में प्रसृत होता है। यह कालशक्ति ही स्वातन्त्र्यशक्ति है।

(४) अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं—'काल' उन्मना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसीको 'काली' नामक पराशक्ति कहते हैं—"क्रमा-क्रमात्मा कालश्च परः संविदि वर्तते। 'काली' नाम पराशक्तिः सैव देवस्य गीयते॥"[२] वस्तुतः पर विमर्शमयी, अहैन्तकरसा' पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य शक्ति ही 'उन्मना' है। यही शक्ति अपने रूप को छिपाने की क्रीड़ा की इच्छा से मात्रात्मक 'समना' के नाम से स्फुरित होती है।

'वस्तुतो ह्युन्मनाख्यैव पर विमर्शमयी पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य शक्ति रहन्तै करसा स्वरूपगोपन क्रीड़ा सदाशिवानाश्रित पदात्मक सर्वभावभास सूत्रणभित्तिकल्प समनारूपतया स्फुरति॥'

"सा शक्ति परमा सूक्ष्मा उन्मना शिवरूपिणी।
अस्तित्व मात्र मात्मानं क्षोभ्यं क्षोभयते यदा॥"

'उन्मना' के प्रकारद्वय

निर्वाण कलारूपा (सहस्रार में स्थित)	वर्णावलीरूपा (सहस्त्रार में स्थित)

जहाँ 'मनस्' का अस्तित्व विध्वस्त हो जाता है वही है—'उन्मनी' स्थिति। 'नाद' की सूक्ष्मतमावस्था एवं अन्तिम 'नाद' 'उन्मनी' है।

मनोन्मनी और गुरु गोरक्षनाथ

निवर्तयन्तीं निखिलेन्द्रियाणि, प्रवर्तयन्तीं परमात्मयोगम्।
संविन्मयीं तां सहजामनस्कां, कटा गमिष्यामि गतान्यभावः॥

---

१. आचार्य पद्मपाद—'प्रपञ्चसार विवरण' २. तन्त्रालोक (६ आ०)

नेत्रे ययोन्मेषनिमेष शून्ये, वायुर्यथा वर्जितरेचपूरः ।
मनश्च सङ्कल्प विकल्प शून्य, मनोन्मनी सा मयि सन्निधत्ताम् ।।

चित्तेन्द्रियाणां चिरनिग्रहेण, श्वासप्रचारे शमिते यमीन्द्राः ।
निवातदीपा इव निश्चलाङ्गाः, मनोन्मनीमग्नधियो भवन्ति ।।

महामाहेश्वराचार्यवर्य भगवान् गोरक्षनाथ की योग-साधना में मन्त्र, हठ, लय एवं राजयोग चारों ही साधनाओं का समावेश है, तथापि उनका लक्ष्य राजयोग ही है और यह राजयोग ही उन्मनयोग या मनोन्मनी की साधना का विधायक है ।

मनोन्मनी का स्वरूप—जिस योगावस्था में बिना दृश्य के ही दृष्टि स्थिर हो जाय, बिना प्रयास के वायु स्थिर हो जाय, बिना अवलम्बन के चित्त स्थिर हो जाय वही सहज अमनस्क अवस्था 'मनोन्मनी' है । वस्तुतः यह मन की एक निरालम्बावस्था है—'निरालम्बश्चैकावस्था मनोन्मनी' । यह प्रशान्तचित्त की निश्चल स्थिरावस्था है । यह राजयोग, समाधि, उन्मनी, अमरत्व, लय, तत्त्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन्मुक्ति, सहजा एवं तुर्या का पर्याय है । मनोन्मनी में एक विषयोन्मुख मन परिशान्त एवं निश्चल एवं ऊर्ध्वमुख होकर किसी अलौकिक तत्व में लीन हो जाता है । प्राथमिक पाँच चक्रों में तो पञ्चभूतों का एक छठे चक्र में मन का लय होता है और उसके अनन्तर ही मनोन्मनी का उदय होता है । इस महादशा में योगी दशमद्वार (ब्रह्मरन्ध्र) में समाधिस्थ हो जाता है । यह योगावस्था मन-पवन के ऐक्य, सूर्य-चन्द्र-योग, रजरेतसयोग, शिवशक्तियोग एवं मन की अविचल शून्यावस्था का पर्याय है जो कि पवन, नाद, मन, बिन्दु एवं कुण्डलिनी की साधना से प्राप्त होती है । इस भोग-प्रक्रिया में ब्रह्मरन्ध्र शून्यमण्डल में अमृत-निर्झर झरने लगता है, अनाहत नाद का गर्जन होने लगता है, बिन्दु ऊर्ध्वमुखी हो जाता है, शक्ति का शिव से समायोग होता है और योगी महारस का पान करने लगता है, वस्तुतः यह तुरीयावस्था है और कबीर ने इसे ही सहज रहनी एवं सहज समाधि की अवस्था कहा है ।

गोरक्ष-योग में मन और उसका स्वरूप—गुरु गोरक्षनाथ ने मन को शिव, शक्ति एवं पञ्च तत्त्वों का जीव कहा है और इसको ही ग्रहण करके उन्मन रहने का विधान किया है—

'यह मन सकती, यह मन सीव, यह मन पाँच तत्व का जीव ।
यह मन ले जे उनमन रहै, तौ तीनि लोक की बातां कहे ।।'

जब तक यह मन प्राण के साथ सुषुम्ना में प्रवेश नहीं करता तब तक मनोन्मनी का उदय भी नहीं होता और द्वैत का निरास भी नहीं होता—(१) "सुषुम्नावाहिनी प्राणेसिद्धयन्येव मनोन्मनी । (२) मनसौ ह्युन्मनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते ।।"

मन के कारण एवं उसके प्राणभूत तत्व—मन, बिन्दु, प्राणापानैक्य आदि । कल्याणी मल्लिक के अनुसार—'अन्तः शून्यः वहिः शून्यः शून्यः कुंभ इवाम्बरे' की

निर्वितर्क अवस्था । स्मृतिपरिशुद्धि होने पर सम्प्राप्त स्वरूप शून्य शब्दातीत ज्ञानाप्ति की अवस्था ही निर्गुणपंथी सन्तों एवं योगियों की 'उन्मनी' या निर्बीज समाधि है और यही नाथों का 'अमनस्क' या मनोहीन अवस्था है । (ना.सं.इ.द.सा.प्र.) ॥ डा० नागेन्द्रनाथ जी ने कहा है कि मनोहीन अवस्था का अर्थ यह नहीं है कि मन की सत्ता नहीं रहती अथवा उसका निर्दलन हो जाता है, वस्तुतः अचंचलमन जब स्थैर्य प्राप्त करके परमतत्त्व में लीन हो जाता है तभी उन्मनीवस्था का उदय होता है । डा० त्रिगुणायत के अनुसार 'उन्मनी' समाधि से मिलती-जुलती ध्यान की एक अवस्था है जिसे 'तुरीयावस्था' भी कह सकते हैं । हठयोगियों की उन्मनी पातञ्जलयोग की समाधि के समतुल्य है । डा० बड्थ्वाल ने भी इसका प्रयोग समाधि के अर्थ में किया है । पं० परशुराम चतुर्वेदी के मतानुसार 'उन्मनी' समाधि का ही एक पर्यायवाची शब्द है और यह मन एवं प्राण दोनों की ऐक्यावस्था एवं मन के स्थिरत्व का बोधक है । अन्य विद्वानों के मतानुसार इसे सूर्यचन्द्रमिलन, प्राणनियन्त्रण, समाधि एवं परमतत्व, सहजसमाधि का पर्याय मानना चाहिए । निर्गुणिया सन्तों ने इसे परम तत्त्व के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है ।

अमनस्क एवं लय योग—अमनस्क योग मुख्यतः राजयोग की साधना है किन्तु इसमें मनोलय के विविध सोपानों की सविस्तर मीमांसा भी मिलती है—जो निम्नानुसार है—

लय की अवधि	फल
एक निमेष, श्वास, पल, घड़ी, प्रहर, दिन मास एवं वर्ष पर्यन्त लय	परम तत्व की प्राप्ति
१. निमेष का लय—	पर तत्व का संस्पर्श किन्तु बार-बार व्युथाल ।
२. ६ निमेषों का लय—	ताप शान्ति एवं बार-बार निद्रा एवं मूर्च्छा ।
३. १ श्वास का लय—	प्राणाविकों का स्वस्थान में प्रवाहित होना ।
४. २ श्वासों का लय—	कूर्मनागदिक वायुओं के प्रवाह का अवरोध ।
५. ४ श्वासों का लय—	सात धातुओं के रसों का समवायु होकर धातुओं के रसों की पुष्टि ।
६. १ पल तक का लय—	श्वास-प्रश्वास, निमेषोन्मेष में स्वल्पता एवं किसी भी आसन में दीर्घावधि तक बैठे रहने पर भी थकावट नहीं ।
७. २ पलों तक का लय—	हृदय नाड़ी का जागरण एवं अनाहत नाद का उत्थान ॥
८. ४ पलों तक का लय—	श्रुतिपेशल वाणी का श्रवण (दिव्यनाद का श्रवण)

९. ८ पलों तक का लय— काम वासना की निवृत्ति ।

१०. १ घड़ी तक का लय— प्राणादिक वायु का सुषुम्णा में प्रवेश ।

११. १/२ घड़ी तक का लय— मूलाधारस्थ कुण्डलिनी का जागरण ।

१२. २ कला तक का लय— (कलामात्र)—वायुनिरोध—कुण्डलिनी का सुषुम्ना द्वारा एक क्षण में एक बार ही मन में कम्पन ।

१३. ४ कलातक का लय— निद्राभाव निवृत्ति, हृदय में तेजो बिन्दु का दर्शन ।

१४. १/४ दिन तक का लय— आहार में स्वल्पता मूत्र-पुरीष की मात्रा में स्वल्पता, शरीर में लघुत्व एवं स्निग्धत्व आदि ।

'व्यापिका' का आकार—शक्ति त्रिकोण के स्वाभिमुख कोण में बिन्दु बना देने पर 'व्यापिका' का निर्माण होता है । बिन्दु के शिर के ऊपर ऊर्ध्व रेखा बना दी जाय तो 'उन्मना' का आकार निर्मित हो जाता है और 'समना' के शिरस्थित बिन्दु का अपनयन कर दिया जाय तो भी 'उन्मना' का आकार बन जाता है ।[१] 'बिन्दु' भाल के मध्य में स्थित है, वृत्ताकार है और दीपक की भाँति देदीप्यमान् है। उसके ऊपर अर्धचन्द्र है जो कि आकार एवं ज्योति में अर्धचन्द्र के समान है। उसके ऊपर रोधिनी है जो चन्द्रिका की कान्ति वाली है । 'नाद' पद्मराग के समान एवं नादान्त हल के समान है और विद्युत के समान प्रकाशित है ।

'अर्धचन्द्र'—बिन्दु का अर्धभाग ही अर्द्धचन्द्र है जो कि दीपक के आकार का है—'अर्धचन्द्रो बिन्दोरर्धभागः, तथाकारो दीपाकार एव ॥[२] पादमात्रा (मात्रा काल का चतुर्थभाग) ही उसका उच्चारण काल है ।

दीपाकारोऽर्धमात्रश्च ललाटे वृत्त इष्यते ।
अर्धचन्द्रस्तथाकारः पादमात्रस्तदूर्ध्वके ॥" (यो०हृ०)

ह्रस्व उच्चारण काल 'मात्रा' कहलाता है—'ह्रस्वस्य उच्चारणकालो मात्रेत्युच्यते ॥'[३] मात्रा का अर्ध उच्चारण काल जिसका हो उसे 'अर्धमात्रा' कहते हैं—मात्राया अर्ध मुच्चारणाकालो यस्य सोऽर्धमात्रः ।[४] पादमात्रोच्चारणकाल वाला एवं दीपक के आकार वाला या बिन्दु के अर्ध भाग के आकार वाला प्रणवावयव ही अर्धचन्द्र कहलाता है—'पादमात्रोच्चारण कालो दीपकाकारोऽर्धचन्द्र इत्यर्थः।'[५] ज्योत्स्नाकारा (चन्द्रिका समकान्ति) = तदष्टांश (मात्राष्टांश) उच्चारणकाल, त्र्यस्रविग्रहा (त्रिकोणाकारा) 'रोधिनी' कहलाती है—'ज्योत्स्नाकारा तदष्टांशा रोधिनी त्र्यस्रविग्रहा ॥'[६] स्वच्छन्द संग्रह में भी कहा गया है—'अर्धचन्द्रस्तदूर्ध्वं तु रोधिनी तस्य चोपरि । ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती कान्तिः सुप्रभाविमलापि च ॥ रोधिन्याख्यं यदुक्तं ते नादस्तस्योर्ध्व संस्थितः । पद्मकिञ्जल्क सङ्काशः कोटिसूर्यसमप्रभः । पुरैः परिवृतोऽसंख्यैर्मध्ये पञ्चकलावृतः । इन्धिका दीपिका चैव रेचिका मेचिका तथा

१. सेतुबन्ध २-६. दीपिका

ऊर्ध्वगा मध्यगा तासां पञ्चमी परमा कला । चन्द्र कोटिसम प्रख्यं तन्मध्येऽर्बुद-योजनम्। पद्ममध्ये समासीनमीश्वरं चोर्ध्वगामिनम् । चन्द्रायुतप्रतीकाशं पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम् । इन्धिका वृद्यैवृतं देवं शूलपाणिं जटाधरम् । तस्योत्सङ्गता मूर्ध्वगामिनीं परमां शिवाम् । ध्यायेत् ॥'[१]

अर्धचन्द्र एवं रोधिनी—'अर्धचन्द्रस्थिता ह्येताः कलाः पञ्च प्रकीर्तिताः । रून्धिनी रोधिनी रोद्धा ज्ञानरोधा तमोपहा । निरोधिका कलाः पञ्च कथितास्तव सुन्दरि। ब्रह्मादिपरमेशानां परमाप्तिनिरोधनात् । निरोधिकेति सा प्रोक्ता तस्या भेदा वरानने ॥[२].

'योगिनीहृदय' में 'व्यापिका', 'समना', एवं 'उन्मनी' का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

'व्यापिका बिन्दुविलसत्त्रिकोणाकारतां गता ।
बिन्दुद्वयान्तरालस्था ऋजुरेखामयी पुनः ॥ ३२ ॥[३]
समना बिन्दु विलसद् ऋजुरेखा तथोन्मना ।
शक्त्यादीनां वपुः स्फूर्जद्द्वादशादित्यसन्निभम् ॥ ३३ ॥[४]
चतुःषष्टिस्तदूर्ध्वं तु द्विगुणं द्विगुणं ततः ।
शक्त्यादीनां तु मात्रांशो मनोन्मन्यास्तथोन्मनी ॥ ३४ ॥[५]

अमृतानन्दनाथ 'दीपिका' में कहते हैं—'व्यापिका बिन्दुविलसद्वामा दित्रिशक्ति-मयत्रिकोणरूपतां गता ॥'' भास्कराचार्य 'सेतुबंध' में कहते हैं—'शक्तित्रिकोणास्य स्वाभिमुखकोणे बिन्दु लेखनेन व्यापिकाया आकारो भवतीति सम्प्रदायः ॥'' दुर्भेद्य शक्तिकला का भेदन करके 'व्यापिनी' (महाशून्य) में आरूढ़ होना पड़ता है । यहाँ प्राणों का सञ्चरण नहीं है, यहाँ क्रिया भी अस्तमित है । यहाँ नित्य सर्ग एवं महादिन का भी अस्तित्व नहीं है । कलनात्मक काल यहाँ साम्यरूप में स्थित है । यह महाशून्य शक्तिपर्यन्त नीचे के समस्त विश्व में व्यापक है । ब्रह्मरंध्र के ऊपर 'शक्तिस्थान' है (यहीं ऊर्ध्व कुण्डलिनी प्रसुप्त है और भुजङ्गाकार रूप में स्थित है) उसके ऊपर 'व्यापिनी' है केन्द्र में स्थित शक्ति की कला ही 'व्यापिनी' है । तथापि यह 'शक्ति' से पृथक् है । वस्तुतः शक्तितत्त्व ही अनाश्रित भुवन हैं । इसमें 'व्यापिनी' 'व्योमात्मिका', 'अनन्ता', 'अनाथानामक शक्तियाँ हैं । मध्य में 'अनाश्रिता शक्ति' स्थित है । 'व्यापिनी' भी शून्य है । किसी-किसी ने इसे 'महाशून्य' भी कहा है । किन्तु वह महाशून्य नहीं है क्योंकि उसके बाद भी शून्य है । यहाँ पर साकार-निराकार भाव तिरोहित है ।

परमात्मा सृष्टि-स्थिति-प्रलय-तिरोधान-अनुग्रह कृत्य 'समना' में निष्पादित करता है । पूर्ण ब्रह्म की चिदात्मिका ईक्षरम शक्ति 'समना रूप' में अवतीर्ण होकर समष्टि मन में सञ्चरित होती है 'समना' ब्रह्मविल के भीतर अतीत मन का स्थान है । यहाँ मन नहीं है 'व्यापिनी' के परे ऊर्ध्व में—अनाश्रित भुवन के ऊपर 'समना' है ।

१-२. स्वच्छन्द संग्रह ३-५. योगिनी हृदय

'समना' और 'उन्मना' ये दोनों ब्रह्म शक्तियाँ हैं। 'समना' शक्तितत्त्व का आश्रय लेकर परब्रह्म की इच्छा के अनुसार सृष्टि विस्तार करती है और 'उन्मना' शिवत्व का आश्रय लेकर परब्रह्म की विमर्शहीन विश्वातीत दिशा में उन्मुख होती है। नादान्त से उन्मनापर्यन्त अवस्था तुर्यातीतावस्था' कही जाती है। उन्मना से परे और किसी भी प्रकार की अवस्था नहीं है। एक मात्रा विभक्त होकर अर्धमात्रा में परिणत होती है। स्थूल विश्व की अनुभूति मन की जिस मात्रा में होती है उसे एक मात्रा कहते हैं। स्थूल लौकिक अनुभूति का आरंभ इसी एक मात्रा में है। मात्रा का वैपुल्य जाड्याधिक्य का कारण है। व्यापिनी की मात्रा १।१२८ समना की मात्रा १।२५६ है। उन्मना अमात्रक है। किसी-किसी के मत में उन्मना की मात्रा १।५१२ है।

'समना' की ऊर्ध्व कोटि 'उन्मना' है। यह अतीत मन के भी अतीत है। इस स्थान में आत्मा का विकल्पशून्य केवल स्वरूप में अवस्थान है। यह अनिर्देश्य एवं अमेय है। 'उन्मना' नौ नादों में नवम नाद है। 'बिन्दु' में जिस नाद समूह की सूचना मिलती है उसकी इसी 'उन्मना' में अवसान होता है। यही 'महाशून्य' है। इसके बाद ही 'शब्दब्रह्म' है। इससे भी ऊपर 'महाबिन्दु' है। महाबिन्दु ही सदाशिव है। इसी के ऊपर 'चित्कला' (चिच्छक्ति) (परावाक्, परा मात्रा के विलासस्वरूप) क्रीड़ा करती है। शुक्ल एवं रक्त बिन्दुरूप प्रकाश-विमर्शात्मक कामकलाक्षर के सङ्घट्ट से 'चित्कला' अभिव्यक्त होती है।

'स्वच्छन्दसंग्रह' में 'समना' का स्वरूप इस प्रकार प्रकट किया गया है— 'चिदानन्दस्वरूपा तु परा शक्तिस्तदूर्ध्वतः। समना नाम सा शक्तिः सर्वकारण कारणा ॥[१] सर्वाण्डानि बिभर्तीयं शिवेन समधिष्ठिता। प्रत्यारूढ़: स भगवान शिवः परम कारणः ॥ सृष्टिं स्थितिं च संहारं तिरोभावमनुग्रहम। शिवः करोति सततं सर्वकारण कारणः। शिवः सर्वस्य कर्त्तैयं शक्तिः कारणमिष्यते ॥'[२]

'उन्मना' क्या है? 'एतस्माद बिन्दोर्विलसद ऋजुरेखा उन्मना ॥' 'उन्मना' का स्वरूप इस प्रकार है—'या शक्तिः कारणत्वेन तदूर्ध्वे उन्मना स्मृता। मनः संक्रमते यत्र तेन सा उन्मना स्मृता। नात्र काल कला भावो न तत्त्वं न च देवता ॥ सुनिर्वाणं परं शुद्धं रुद्रवक्त्रं तदुच्यते। शिवशक्ति रितिख्याता निर्विकल्पा निरञ्जना ॥[३] 'उन्मनी' 'निराकारा एवं निरुच्चारा' है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—कहकर जिस अवाङ्मनोऽतीतगोचर पद को निर्देशित किया गया है वही है 'उन्मना'।[४]

यदि बिन्दु के ऊपर एक ऊर्ध्वरेखा खींच दी जाय तो उसे ही "उन्मना" का आकार कहा जायेगा। 'समना' के सिर पर स्थित बिन्दु का अपनयन करने पर 'उन्मना' का आकार निर्मित हो जाता है।[५]

१. स्वच्छन्द तन्त्र
२. स्वच्छन्द संग्रह
३. स्वच्छन्द तन्त्र
४. अमृतानन्दनाथ-योगिनीहृदय दीपिका
५. सेतुबन्ध

काल-निर्धारण[1]—(१) 'व्यापिका' में दो लव हैं । (२) 'समना' में एक लव है (३) 'उन्मना' में आधा लव है । (व्यापिकाया द्वौ लवौ, समनाया एको लवः, उन्मनायास्तु लवार्धात्मकः कालः । मनोन्मनीति समनाया एवं संज्ञान्तरम् । यथा समनायाः कालस्तथैवोन्मनीकालः । एक लवात्मक एव काल इति यावत् । एतदूर्ध्वं कालानवच्छेदः—"देशकालानवच्छिन्नं तदूर्ध्वं परमं महत् ।।"[2] वैसे यह भी कहा गया है कि (१) शक्ति के ऊर्ध्व में द्विगुणित, 'व्यापिका' के बाद 'समना' में द्विगुणित एवं इसी प्रकार उत्तरोत्तर द्विगुणित-द्विगुणित माया में उच्चारण-काल कम होता जाता है । किन्तु 'तत्श्चोन्मनाया इह कालविधिर्नास्त्येव ।।" उन्मना में काल है ही नहीं । 'उन्मनी' में नाद-लय को ही 'कालविषुव' कहते हैं ।[3]

काल गणना—(योगिनीहृदय के अनुसार)—शक्त्यादीनां वपुः स्फूर्जद् द्वादशादित्यसन्निभम् । चतुःषष्टिस्तदूर्ध्वं तु द्विगुणं द्विगुणं ततः । शक्त्यादीनां तु मात्रांशो मनोन्मन्यास्तथोन्मनी ।।[4] समना के ऊपर स्थित उन्मना में काल कलाभाव तत्त्व एवं देवता कोई नहीं है—'यावत्सा समना शक्तिस्तदूर्ध्वे उन्मना स्मृता । मात्र कालकलाभावो न तत्त्वं न च देवता। सुनिर्वाणं परं तत्त्वं रुद्रवक्त्रं तदुच्यते । शिव-शक्तिरितिख्यातं निर्विकारं निरञ्जनम् ।। तत्वातीतं वरारोहे वांभनोतीत गोचरम् ।।"[5]

बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति (व्यापिनी, समना, उन्मनी)—योगियों की नौ चिन्मय भूमियों में प्रथम भूमि 'बिन्दु' है—मूलाधार से उठने वाला 'नाद' वर्णों के मध्य अनुविद्ध होकर माला में पिरोये सूत्र की भाँति प्रतीत होता है—

'आधारोत्थितनादो गुणा इव परिभाति वरामिध्यगतः ।।"

(१) **'बिन्दु'**—भाल के मध्य वृत्ताकार रूप में दीप की भाँति देदीप्यमान रहता है—"मध्येकालं बिन्दुर्दीप इवाभाति वर्तुलाकारः ।।" भ्रूमध्य में ललाट की ओर कुछ ऊपर 'बिन्दु' का स्थान है । यह वर्तुलाकार दीप के समान है । इस भूमि में ज्योतिर्मय ज्ञानरूप में ईश्वर बोध की सूचना होती है । यहाँ प्रवेश करने पर जागतिक ज्ञान विलुप्त हो जाता है । यह समाधिजन्य प्रज्ञा से ऊपर की अवस्था है क्योंकि समाधि जन्म ज्ञान जागतिक ज्ञान है । **अर्द्धमात्रा का ज्ञान चिन्मयानुभूति है** । ओङ्कार के अकार-उकार-मकार इन तीन मात्राओं में स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण रूप में भेद है—ये सारे भेद जहाँ पिण्डीभूत होकर अविभक्त रूप में स्थित होते हैं वहीं **'बिन्दु'** है । यहाँ वेद्य या ज्ञेय ही प्रधान है । स्थूल भूमि में भी नाद के नौ विभाग हैं और सूक्ष्म भूमि में भी नौ विभाग हैं । **'बिन्दु'** का उच्चारण-काल आधी मात्रा में नहीं पहुँचने तक योगभूमियाँ नहीं पाई जाती ।। योगियों के पञ्च शून्यों में प्रथम शून्य ही 'बिन्दु' है । बिन्दु-स्तर में बीज नहीं रहता। यहाँ प्रकृति का स्फुरण नहीं रहता ।

१-३. सेतुबन्ध

४. योगिनी हृदय

५. स्वछन्द संग्रह : यही शिवपद 'निर्द्वन्द्वं परमं शान्तं शिवाख्यं परमं पदं'

(२) **'अर्धचन्द्र'**[१]—बिन्दु के ऊपर अर्धचन्द्र स्थित है जो दीप्ति एवं आकृति दोनों दृष्टियों से अर्ध चन्द्रमा के समान है—'तदुपरिगतो अर्धचन्द्रोऽन्वर्थः कान्त्या तथा कृत्या ।।"

'अर्धमात्रा' एकाग्रता एवं निरोध के संधिस्थान में स्थित है । यह द्वितीय भूमि है । प्रथम भूमि है—'बिन्दु' । 'अर्धमात्रा' की मात्रा है—१।४ बिन्दु को पूर्णचन्द्र या चन्द्रबिन्दु कल्पना अर्धचन्द्र की उसी के अर्धांशरूप में कल्पना की गई है । यह बिन्दु के ऊपर स्थित है इसके चारों ओर चार एवं केन्द्र में एक—(५ कलाएँ) कला हैं । यह शून्य नहीं है । 'बिन्दु' मात्रा से मात्राहीनं में जाने का द्वार है—जहाँ कि ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान एकाकार हो जाते हैं । मात्रा-भङ्ग होते ही अधर्ममात्रा का उदय होता है । इसी भूमि से ईश्वर का आभास मिलना प्रारंभ होता है । बिन्दु से ऊपर जाने में कपाल में जो 'सोमरस' दिखाई पड़ता है वही 'अर्द्धचन्द्र' है ।

(३) **'रोधिनी'**—ब्रह्मरंध्र के नीचे त्रिकोण में 'रोधिनी' स्थित है जो कि अर्धचन्द्र के ऊपर अवस्थित है । चूँकि यह पाँच विश्वस्वामियों को ऊर्ध्वगति से निवृत्त करती है इसीलिए इसका नाम है 'रोधिनी' ।

"निरोधयति या देवान्ब्रह्मादींश्च सुराधिपे ॥
निरोधिकेति साख्याता...................... ॥ (१०।१२२३)
परमशिवाभेदाख्यातिरे व ब्रह्मादेर्निरोधः ॥
ध्वनिरध्वगतो यत्र विश्राम्यंत्यतिनिरोधितः ॥
निरोधिनीति विख्याता सर्वदेव निरोधिका ।।" (नेत्रतन्त्र)

रोधिनी तक ही 'बिन्दु' का आवरण है । यह भी 'शून्य' है । यहाँ दिक एवं काल का पार्थक्य स्मृत नहीं रहता । निम्न मन एवं प्राण का यहाँ अनुभव भी नहीं रहता । इसके बाद ही 'नाद' है जो कि ब्रह्मरंध्र के सम्मुख स्थित है ।

(४) **नाद**—निरोधिका के ऊर्ध्वदेश में एवं ब्रह्मरंध्र के सम्मुख 'नादस्थान' है । यह मन्त्र महेश्वररूपी महापुरुषों द्वारा परिवृत है । 'नाद' के अन्तर्गत भुवन पञ्चक के मध्य की शक्ति 'ऊर्ध्वगा' कहलाती है । यहीं से विशुद्ध, चिद्‌बोध का सूत्रपात होता है । ब्रह्मरंध्र के भीतर 'नादान्त' है । काल-भेदन के आरोह-क्रम में प्रथमावस्था है—'बिन्दुपद' एवं दूसरी अवस्था है 'नाद पद' । बिन्दु पद के अधिष्ठाता हैं 'ईश्वर' एवं नाद पद के 'सदाशिव' । बिन्दुअवस्था—सर्वज्ञत्व लाभ =

---

१. नेत्रतन्त्र : अर्द्धचन्द्र की कलाएँ निम्न हैं—
ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती चैव सुप्रभा विमला शिवा ।
अर्द्धचन्द्र कलाः ह्येताः सर्वज्ञपद संस्थिताः ॥
विद्या वरण संबद्धा मन्त्र कोटि विभूषिताः ।
क्रिया शक्तिस्वरूपस्तु संस्थिता विमला शुभाः ॥ (नेत्रतन्त्र)

सिद्धावस्था समस्त विश्व के बाह्य रूप का दर्शन इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिका तथा । ऊर्ध्वगामिन्यः इत्येताः कला नाद समुद्भवाः । एता स्वतन्त्रता युक्ताः सकले निष्कले स्थिताः । ज्ञानशक्तिस्वरूपास्तु ज्ञाताः सार्वइयदायिकाः ।।'' (नेत्रतन्त्र) बिन्दु में 'अर्धचन्द्र' नाम की एक अवान्तर अवस्था है । इसके बाद ही निरोधिका आती है । निरोधिका का प्राचीर पार किये बिना 'नाद' में जाना असंभव है ।

बिन्दु एवं अर्धचन्द्र तथा पातञ्जल योग—पातञ्जल में जिस अपर वैराग्य एवं पर वैराग्य का वर्णन मिलता है उसका स्वरूप क्या है?. अपर वैराग्य से **भोग-वितृष्णा** एवं पर वैराग्य से **त्रिगुण-वितृष्णा** प्राप्त होती है पर वैराग्य—'पुरुषख्याते र्गुरमवैतृष्णाम' पुरुष-साक्षात्कार—प्रकृति का दर्शन—प्रकृति के प्रति वितृष्णा—विवेकख्याति की पूर्णता-पुरुष की केवली रूप में आत्मप्रतिष्ठा । तांत्रिक योगी का लक्ष्य ब्रह्माण्ड का ईश्वरत्व या कैवल्य प्राप्ति नहीं है । ये काल-मार्ग को नष्ट करने के लिए अग्रसर होते हैं । ये योगी सुषुम्णा में प्रवेश करके काल भेदन करते हैं ।

'अर्धमाला एवं पतञ्जलि'—एकाग्रभूमि में उदित होने वाली प्रज्ञा है—अस्मिता प्रज्ञा । काल यहाँ भी है । पातञ्जल योग की साधना थी—काल को संक्षिप्त करते-करते अर्धमात्रा तक ले जाना । **पातञ्जल योगी** स्थूल योगी हैं । उनके विश्व का ज्ञान इस अर्धमात्रा में ही पर्यवसित हो जाता है—यही है अस्मिता ज्ञान ।

'अर्धमात्रा', 'बिन्दु' एवं 'अर्द्धेन्दु'—अर्धमात्रा 'एकाग्रभूमि' है और उसके बाद है (पातञ्जल) 'निरोधभूमि' ।। मात्रा के विषय में आचार्यों का मत निम्न है—(१) ह्रस्व स्वर का उच्चारण-काल एक मात्रा है । दीर्घ का दो मात्रा है । प्लुत का दो से अधिक मात्रा है । जो ह्रस्व दीर्घ एवं प्लुत तीनों नहीं है किन्तु व्यञ्जन है—उसकी काल-मात्रा 'अर्धमात्रा' है—''व्यजनं चार्धमात्रकम ।।'' हलन्त-अर्धमात्रा है । परमशिव का स्थान तो 'महाबिन्दु' है किन्तु वहाँ तक पहुँचने के पूर्व अनेक सोपानों का अतिक्रमण करना पड़ता है यथा—बिन्दु, अर्धचन्द्र आदि ।।

'बिन्दु' की प्राप्ति षट्चक्र भेदन के बाद होती है । इसके बाद ही काल एवं माया तथा मन की मात्रा क्षीण हो पाती है । षट् चक्र का भेदन करके आज्ञा चक्र के जिस बिन्दु की हमें प्राप्ति होती है वही यह 'बिन्दु' है । आज्ञाचक्र तक विश्व, उस बिन्दु में, समाप्त हो जाता है । इस बिन्दु से ऊपर उठने के लिए अर्धमात्रा का अवलम्बन लेकर 'महाबिन्दु' तक उठना आवश्यक है । बिन्दु से महाबिन्दु का नाम ही है—सरल मार्ग । 'बिन्दु' की स्वाभाविक मात्रा है—'अर्ध' । यही 'बिन्दु' योगमार्ग है क्योंकि यहीं से सरल मार्ग का आरंभ है । इस मार्ग में प्रवेश करके क्रमशः उठते-उठते काल के सूक्ष्मतम परमाणु तक पहुँचा जा सकता है । उपाय है—अर्धमात्रा का अवलम्बन । एकाग्रता के द्वारा 'बिन्दु' प्राप्त होता है । काल के कुटिल मार्ग में भौतिक एवं काल्पनिक विश्व स्थित है । इसी तरह काल के सरल मार्ग में भी विराट विश्व स्थित है । इसका दर्शन काल के राज्य में रहकर कर

पाना संभव नहीं । 'बिन्दु' में प्रवेश किये बिना सरल मार्ग में प्रवेश करना असंभव है । मात्र 'शुद्ध विद्या' (भगवदानुग्रह) ही अर्धमात्रा रूप काल को अतिक्रान्त करा सकती है । आध्यात्मिक यात्रा के आरोहण-पथ में सद्गुरु काल की मात्रा से अर्धमात्रा की धारा को जोड़ देता है । जहाँ से अर्धमात्रा प्रारंभ होती है वहीं से सरल गति का आरंभ है । काल के राज्य में लोक-लोकान्तर तैर रहे हैं । काल को अर्धमात्रा में प्रतिष्ठित करना चाहिए । उक्त सरल गति के क्रमविकास के साथ ही साथ मात्रायें भी सूक्ष्मतर होती चली जाती हैं । यह सूक्ष्मता अर्धमात्रा आदि के रूप में विभक्त होती है । यथा 'बिन्दुस्थान' में अर्धमात्रा किन्तु अर्धचन्द्र में १।४ अंश मात्रा एवं निरोधिका में १।८ मात्रा हो जाती है । इसी प्रकार काल की क्षीणतम मात्रा तक पहुँचना पड़ता है । काल की क्षीणतम मात्रा का नाम है 'काल का परमाणु' अर्थात् 'लव' । 'लव' = कालिक विभाग की ऊर्ध्व गति की चरम सीमा । किन्तु यह चरम सीमा नहीं है । मात्रा-विभाग की चरम सीमा १/५१२ मात्रा का भी योगियों ने अनुभव किया है । यही सूक्ष्मतम मात्रा है काल की । इससे भी अधिक मात्रा की सूक्ष्मता संभव तो है किन्तु अभी तक संभव नहीं हुई । 'बिन्दु' में भेद ज्ञान है 'नाद' में अभेद ज्ञान है ।[१] 'बिन्दु' से 'नाद' में जाने के लिए भगवती का आदेश आवश्यक है । इसी प्रकार से नाद से बिन्दु में अवतरित होने के लिए भी भगवती का आदेश आवश्यक है । 'नाद' में भी सभी सत्ताओं का ज्ञान होता है किन्तु अपने से अभिन्न रूप में ।

नाद के ज्ञान के साथ समग्र विश्व के नदन का अनुभव—समस्त विश्व की समस्त सत्ता 'मैं' के रूप में ज्ञात होने लगना 'नदन' है । बिन्दु में स्थित योगी ही विश्व के सञ्चालक हैं । आरोहण-क्रम = गुरुमन्त्र (गुरु की चित् शक्ति से सम्पन्न मन्त्र) पश्यन्ती में शिष्य के बीजमन्त्र का उद्धार—मध्यमावस्था में उस बीज की कल्पना के राज्य में 'मध्यमा वाक्' से शिष्य को अर्पण (गुरु का भौतिक आकाश में उतरना)—वैखरी शब्दों से मन्त्र-दान—गुरु द्वारा शिष्य कर्ण में प्रदत्त मन्त्र का स्थूल अंश + उसका स्थूल आवरण स्थित होना—शिष्य द्वारा मन्त्र जप से स्थूलावरण का भेदन—(गुरु-मन्त्र के रूप में शिष्य श्रुतमन्त्र 'आवरण' है उसका भेदन)—स्थूल आवरण का जप—ज्योतिदर्शन = चित्ताकाश का साक्षात्कार (मध्यमा वाक् की परिपक्वावस्था)—मध्यमा ज्योति या चित्त ज्योतिरूप का—चिदालोक में परिणमन—चिदाकाश दर्शन—(विश्वोऽहं की अनुभूति) ॥

बिन्दु से नाद में प्रवेश—नदन की अनुभूति (स्थूल-सूक्ष्म देह का भी बोध नहीं । विश्वोऽहं का बोध) नदन—विज्ञानमय से आनन्दमय कोष में गति ॥ नाद—नदन किया आस्वाद ।

'नादान्त' ही ब्रह्मरंध्रस्थ ज्योति का स्थान है । उसी के बाद 'चिदाकाश' में गति । बिन्दु का नामान्तर 'चिदाकाश' है ।

---

१. नादस्तु पद्मरागवदपङ्द्वयमध्यवर्तिनीव सिरा ।

'नादान्त'—ब्रह्मरंध्र में नादान्त है । यह भी शून्य है ।[१] 'नाद' पद्मराग की कान्ति वाल । दो अण्डों के मध्य वर्तमान सिरा की भाँति स्थित है । बाईं ओर स्थित बिन्दु से युक्त, विद्युतवत प्रकाशित 'नादान्त' हल की आकृति के समान है ।

'शक्ति'—दो बिन्दुओं के बाएँ से उदित होने वाली सिरा की आकृति वाली होती है ।[२] 'व्यापिका' बिन्दु एवं उसके ऊपर त्रिकोण के समान आकृति वाली है ।[३] 'समना' की आकृति रेखा के ऊपर-नीचे स्थित दो बिन्दुओं के समान होती है ।[४] ऊपर वाले बिन्दु के बिना उपर्युक्त समना ही 'उन्मना' है । इसके ऊपर 'महाबिन्दु' स्थित है ।[५]

रुन्धिनी, रोधिनी, रोद्धा, ज्ञानरोधा, तमोपहा—ये 'अर्धचन्द्र' में स्थित पाँच कलायें हैं । इसी प्रकार रुन्धिनी, रोधिनी, रोद्धा, ज्ञानरोधा, तमोपहा—ये 'निरोधिका' की कलायें हैं । नाद की कलायें निम्न हैं—'इन्धिका दीपिका चैव रेचिका मेचिका तथा ऊर्ध्वगा तासां पञ्चमी परमा कला ।।' नाद का अन्त ब्रह्मरंध्र में होता है—'नादस्यान्तो लयो यत्र भवति ब्रह्मरंध्रक ।।' 'नादान्त'—नाऽयाधारस्तु नादान्तोभित्वा सर्वमिद जगत् ।।' 'शक्ति'—शक्तितत्वं समाख्यातं भुवनैरावृतं महत । 'शक्तिर्बिन्दुद्वयमध्ये वामभागस्थबिन्दूद्यत्स्थिरा रूपा ।।' (दीपिका) ।।

परमात्मा की जो पाँच शक्तियाँ है उनमें से मात्र 'इच्छाशक्ति' ही 'उन्मनी' से सम्बंध रखती है—

सा शक्तिः परमा सूक्ष्मा **उन्मना** शिवरूपिणी ।
अस्तित्वमात्रत्मात्मानं क्षोभ्यं क्षोभयते सदा ।। ६० ।।
समानासौ विनिर्दिष्टा शक्तिः सर्वाध्ववर्तिनी ।
क्रीडीकरोति या विश्वं संहृत्य सृजते पुनः ।। ६१ ।।
कुण्डलाख्या महाशक्तिस्तृतीयाप्युचर्यते ।
ध्वनिरूपो यदा स्फोटस्त्व दृष्टाच्छिव विग्रहात् ।। ६२ ।।[६]

सारांश—'इच्छाशक्ति' = 'उन्मना'—'समना'—कुण्डलिनी नादस्वरूप सदाशिव —निरोधिका ।।

---

१. नादान्तस्तडिदाभः सव्यस्थितबिन्दुयुक्तलाङ्गलवत् ।
२. तिर्यगबिन्दुद्वितये वामोदगच्छत्सिराकृतिः शक्तिः ।
३. बिन्दूदगच्छत्त्र्यश्राकारधरा व्यापिका प्रोक्ता ।
४. ऊर्ध्वाधोबिन्दुद्वयसंयुतरेखाकृतिः समना ।
५. सैवोर्ध्वबिन्दु हीनोन्मना तदूर्ध्वं महाबिन्दुः ।
'अर्धचन्द्रो' बिन्दोरर्धभाराः तथाकारो दीपाकार एव । ज्योत्स्नाकारा चन्द्रिका-समकान्तिः । तदष्टांशा मात्राष्टांशोच्चारणकाला । त्र्यस्त्रविग्रहा त्रिकोणाकारा 'रोधिनी' अर्धचन्द्रस्तदूर्ध्वं तु रोधिनी तस्य चोपरि । ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती कान्तिः सुप्रभाविमलापि च ।। (स्वच्छन्द तन्त्र)
६. नेत्रतन्त्र

'व्यापिनी'—की मात्रा १।१२८ एवं समना की मात्रा १।२५६ है। किसी-किसी के मत में उन्मना की मात्रा १।५२ है। अन्य के मत में इसके उच्चारण का काल है नहीं क्योंकि यह मन के अतीत है। यहीं नादरूपी शब्दब्रह्म का अन्त है। यही पञ्चम नाद है और नवनादों में नवीं भूमि है। पाँच शून्यों में पाँचवाँ शून्य व्यापिनी' है। व्यापिनी में त्वक् और केशस्थान में व्याप्ति होती है शिखा केशस्थान में या समना पद में केवल मनन ही रहता है किन्तु मनन का कोई विषय नहीं रहता।[१]

१।२५६ मात्रा के मन की सूक्ष्मतमा मात्रा का उच्चारण समझा जाता है। मात्रा के और भी शून्य होने पर मन की क्रिया को रखा नहीं जा सकता अतः उसे 'उन्मना' कहा जाता है। उस समय मन को पकड़ा नहीं जा सकता। मन चन्द्रमा है और काल राहु है। मन के न रहने पर काल का भय नहीं रहता। 'समना' है—'कृष्णा चतुर्दशी' है तो 'उन्मना' है—'अमावस्या'। 'बिन्दु'—'पूर्णिमा' है। उन्मना में सूक्ष्म मन भी नहीं है किन्तु संस्कार है। समना में सूक्ष्ममन है।[२]

विश्व से समना तक सूक्ष्म वर्ण का उच्चारण काल अर्धमात्रा से एक मात्रा का १।५१२ भाग है। काल की सूक्ष्मतम इकाई 'लव' है। १।२५६ मात्रा को मन की सूक्ष्मतम मात्रा का उच्चारण समझा जाता है।[३]

'व्यापिनी' की निम्न कलायें हैं—

व्यापिनी व्योमरूपा च ह्यनन्तानाथ संज्ञिता ॥ ४४ ॥
अनाश्रिता महेशानि व्यापिन्यास्तु कला स्मृता।

समना की कलायें निम्न हैं[४]—

सर्वज्ञा सर्वगा दुर्गा सवना स्पृहणा धृतिः ॥ ४५ ॥
समना चेति विख्याता एताः शिवकलाः स्मृताः।

'समना' तक ही पाशजाल है—

'समनान्तं वरारोहे पाशजाल मनन्तकं।'

इसके ऊपर (उन्मना में) की स्थिति परम शान्त है—अप्रमेय—अनामय है—

'तदूर्ध्वे तु परं शान्तम प्रमेय मनामयम् ॥'[५]

'द्वादशसंहतिः' = व्योम (ह), अग्नि (र), वामलोचना (ई), बिन्दु (.), अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना और उन्मना—बारह का समूह ॥

'नाद' = बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना एवं उन्मनी = इन ९ का समूह ॥

---

१८५. मेरुतन्त्र

प्रथमेऽष्टादश वर्णा द्वाविंशतिरक्षराणि मध्ये स्युः ।
प्रथमेन तुल्यमन्त्यं सङ्घातेनाष्टपञ्चाशत् ॥ १४ ॥

(कूटत्रय में वर्ण संख्या)

प्रथम कूट (वाग्भव कूट) में अठारह एवं मध्य कूट (कामराज कूट) में बाईस वर्ण हैं । अन्तिम कूट (शक्तिकूट) में प्रथम के समान (अर्थात् अठारह वर्ण) हैं (और इस प्रकार) सब मिलाकर अठ्ठावन वर्ण होते हैं ॥ १४ ॥

*** सरोजिनी ***
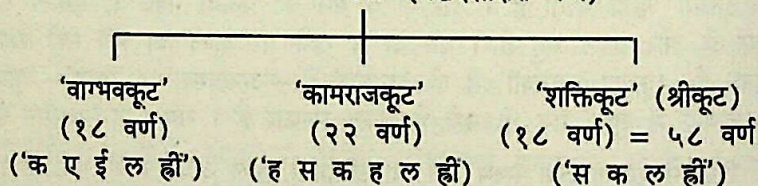
कूट	मन्त्राक्षर	मन्त्राक्षर संख्या	ह्रीं के अवयव	महायोग
(१) 'वाग्भव कूट'	क् + अ, ए, ई, (१) (१) (१) (१) ल् + अ (१) (१)	६	१२	१८
(२) 'कामराजकूट'	ह् + अ, स् + अ, (१) (१) (१) (१) क + अ, ह + अ, (१) (१) (१) (१) ल् + अ (१) (१)	१०	१२	२२
(३) 'शक्ति कूट'	स् + अ, क् + अ, (१) (१) (१) (१) ल + अ (१) (१)	६	१२	१८
		पञ्चदशाक्षरी मन्त्र के समस्त वर्णों की संख्या = ५८		
महायोग	२२ वर्ण	२२	३६	५८

निष्कर्ष—

(१) **'वाग्भवकूट'—'क ए ई ल ह्रीं'**—'क' (क् + अ), 'ए', ई, ल (ल + अ) = ६ वर्ण ॥ ह्रींकार के वर्ण ह्, र्, ई, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना एवं उन्मनी = १२ वर्ण ६ + १२ = १८ वर्ण

---

(२) **'कामराजकूट'** = 'ह स क ह ल ह्रीं'—ह् + अ, स् + अ, क् + अ, ह् + अ, ल् + अ = २० वर्ण ।

ह्रीं के १२ वर्ण—ह, र्, ई, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना, उन्मनी = १२ वर्ण । योग = १० + १२ = २२ वर्ण

---

(३) **'शक्तिकूट'** = 'स क ल ह्रीं'

स् + अ, क् + अ, ल् + अ, = ६ वर्ण, 'ह्रीं' के १२ वर्ण (ह् + र् + ई + बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नाद, शक्ति, व्यापिका, समना उन्मनी) = १२ वर्ण ॥ योग = ६ + १२ = १८ वर्ण

(६ + १० + ६) + १२ + १२ = (२२ + ३६) = ५८ वर्ण ॥

भास्करराय इसी तथ्य को इस प्रकार पुष्ट करते हैं—

'एवं च **प्रथम तृतीय कूटे अष्टादश वर्णात्मके । मध्यकूटं तु चतुरधिकम् संहत्याष्ट पञ्चाशद्वर्णात्मिका विद्येति सिद्धम् ॥**[१]

वर्णानां कालानाह—

मात्राद्वितयोच्चार्या कामकला च त्रिकोणा च ।
बिन्दुरहितहल्लेखा मात्राकालत्रयोच्चार्याः ॥ १५ ॥
अन्येषां वर्णानां मात्राकालो ऽर्धमात्रया सहितः ।
बिन्दोरर्ध मात्रा परे परे चापि पूर्वपूर्वार्धाः ॥ १६ ॥
संहत्यैकलवोनो मात्राकालोऽस्य नादस्य ।

('कामकला', 'त्रिकोण' एवं 'हल्लेखा' का उच्चारणकाल)

कामकला (ई) एवं त्रिकोण (ए) का उच्चारण दो मात्राओं द्वारा एवं बिन्दु-रहित हल्लेखा (ह्रीं) का उच्चारण तीन मात्राओं से (तीन मात्रा काल के बराबर) किया जाना चाहिए) ॥ १५ ॥

अन्य वर्णों (के उच्चारण) का काल अर्धमात्रा सहित मात्रा-काल (अर्थात् डेढ़ मात्राकाल) एवं बिन्दु का अर्धमात्राकाल है । उत्तर वर्ती का वर्णों का उच्चारण-काल अपने पूर्ववर्ती (वर्ण के उच्चारण-काल का) का आधा होना चाहिए ॥ १६ ॥

---

१. वरिवस्यारहस्यम्

* प्रकाश *

मात्रा लध्वक्षरस्य कालः । तद्द्विगुणो गुर्वक्षरस्य । अत एव कामकला कमला त्रिकोणा योनिश्च द्विमात्रा । हृल्लेखायां द्वयोर्व्यजंनयोरेका मात्रा, कामकलाया द्वे मात्रे इति तिस्रः । अन्येषामकारसहितानां ककारादि[1]दशवर्णानाम् । बिन्दोरपि व्यञ्जनत्वादर्धा मात्रा,

'एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं त्वर्धमात्रकम् ॥'

इति वचनात् । परे परे, अर्धचन्द्ररोधिन्यादयः, पूर्वपूर्वार्धाः, अर्धचन्द्रस्यार्धकालो रोधिन्याः, रोधिन्यर्धकालो नादस्येत्यादिक्रमेण कालवन्तः । अयं भावः—कालपरमाणु -र्लव इत्युच्यते,

'नलिनीपत्रसंहत्याः सूक्ष्मसूच्यभिवेधने ।
दले दले तु यः कालः स कालो लवसंज्ञितः ।
अतः सूक्ष्मतमः कालो नोपलभ्यो भृगूद्वह ॥'

इति वचनात् । षट्पञ्चाशदुत्तरदशतद्वयलवैरेका मात्रा । बिन्दोरष्टाविंशत्युत्तरशतं लवाः । अर्धचन्द्रस्य चतुःषष्टिः । रोधिन्या द्वात्रिंशत् । नादस्य षोडश । नादान्तस्याष्टौ । शक्तेश्चत्वारः । व्यापिकाया द्वौ लवौ । समनाया एको लवः । उन्मनायास्तु नास्त्येव कालः । यद्यपि योगिनीहृदये चक्रसङ्केते 'दीपाकारोऽर्धमात्रश्च' इत्यनेन बिन्दोः काल-मुक्त्वा अर्धचन्द्रादेः शक्तिपर्यन्तस्य चतुरंशाष्टांशषोडशांशादिरूपभागद्वैगुण्यं कालस्यो-क्त्वा शक्त्यादीनां पूर्वपूर्वद्विगुणांशकालवत्त्वं सामान्येनोक्तम् 'चतुःषष्टिस्तदूर्ध्वं तु द्विगुणं द्विगुणं ततः' इति, तेन च वचनेन मात्राया द्वादशोत्तरपञ्चशततमो भाग उन्मनाकालः, मात्रास्वरूपं च द्वादशोत्तरपञ्चशतलवात्मकत्वमेव प्रतीयते, अत एव 'देशकालानवच्छिन्नं तदूर्ध्वं परमं महत्' इत्युत्तरग्रन्थेऽप्युन्मनायाः परत एव कालानवच्छेद उक्त इति व्यक्तं प्रतीयते, तथापि 'चतुःषष्टिः—' इति श्लोकस्य शक्तेश्चतुःषष्टितमो मात्राभागः, तदूर्ध्वं द्विगुणं व्यापिकाया अष्टाविंशत्युत्तरशततमो भागः, ततो द्विगुणं समनायाः षट्पञ्चाशदुत्तरशतद्वयात्मको भाग इत्यर्थस्त[2]तस्तदूर्ध्वमिति पदाभ्यां द्विगुणपदद्वयेन च स्पष्टं प्रतीयते[3], अत एवोत्तरार्धे 'शक्त्यादीनां च मात्रांशो मनोन्मन्यास्तथोन्मनी' इत्यत्र मनोन्मनीति पदस्य समनापर्यायस्य समनापर्यन्तानामित्यर्थकत्वमङ्गीकृत्य शक्त्यादीनां तिसृणामित्यमृतानन्दैर्व्याख्यातम् । नादस्य बिन्द्वादिनवकस्य ॥ १५-१६ ॥

* सरोजिनी *

'मात्रा'—लघु अक्षर के उच्चारण काल को मात्रा कहते हैं—"मात्रा लध्वक्षरस्य कालः ॥[1] 'कामकला' एवं त्रिकोण' का उच्चारण काल दो मात्राओं का होता है । 'एकमात्रो भवेद्ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते । त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं

१. कादिदश०
२. इत्यर्थस्य
३. प्रतीतेः
४. सेतुबन्ध

त्वर्धमात्रकम् ।।—के अनुसार (१) 'ह्रस्व' एक मात्रक (२) 'दीर्घ' द्विमात्रक एवं (३) 'प्लुत' त्रिमात्रक हुआ करता है । कालपरमाणु 'लव' कहलाता है—'कालपरमाणुर्लव इत्युच्यते ।।" किसी कमल पुष्प को सुई से छेदने में उसके प्रत्येक दल को छेदे जाने में जितना समय लगता है उस वेधन-काल को 'लव' कहते हैं—"नलिनीपत्र संहृत्याः सूक्ष्मसूच्यभिवेधने । दले-दले तु यः कालः स कालो लवसंज्ञितः । अतः सूक्ष्मतमः कालो नोपलभ्यो भृगूद्वह ।।" इस गणना के अनुसार २५६ लवों की एक मात्रा होती है । षट्पञ्चाशदुत्तर शतद्वयलवैरेका मात्रा ।'[१]

हकारादिबिन्द्वन्त स्थूल वर्णों का उच्चारण-काल 'मात्रा' कहलाता है—हकारादिबिन्द्वन्तानां स्थूलवर्णानामुच्चारण कालो मात्रा । बिन्द्वादि समनान्त का उच्चारण काल अर्धमात्रा है । जो ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत तीनों नहीं है किन्तु व्यञ्जन है उसकी काल-मात्रा अर्धमात्रा है—'व्यञ्जनं चार्धमात्रकम् ।।" हलन्त व्यञ्जन की उच्चारण मात्रा अर्धमात्रा है । मात्रा-विभाग की चरम सीमा १।५१२ है । मन के ऊर्ध्वारोहण में काल-मात्रा क्षीण होती जाती है । काल की सूक्ष्मतम मात्रा (चरम मात्रा) १।२५६ या १।५१२ है । बिन्दु में अर्धमात्रा है एवं उसके बाद १।४ मात्रा एवं उसके बाद १।८ आदि । 'अर्धमात्रा' बिन्दु के ही वेग की मात्रा है ।

'कामकला'—"इति कामकला विद्या देवीचक्रमात्मिका सेयम् । विदिता येन समुक्तौ भवति महात्रिपुरसुन्दरी रूपः ।'[२]

* कामकला का स्वरूप *

१. प्रकाश
२. कामकलाविलास (पुण्यानन्दनाथ)
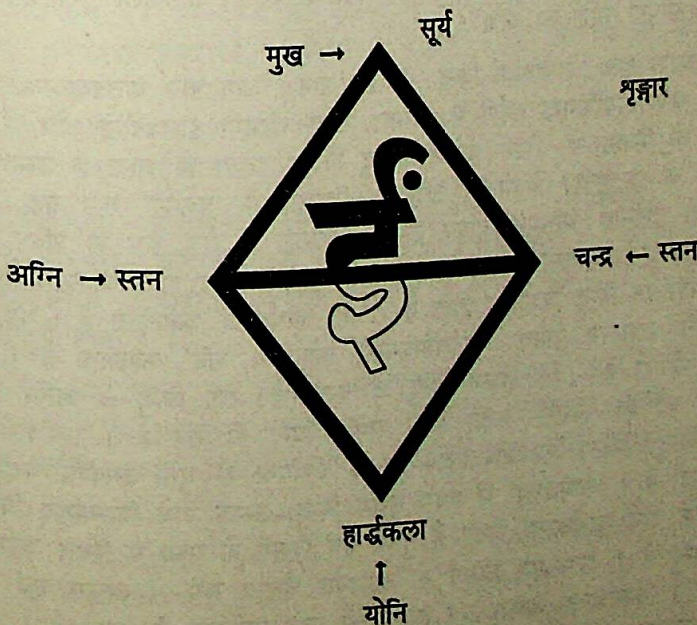
'कामकला' का स्वरूप तत्त्व—सृष्टि की पहली अवस्था है । सृष्टि (१) भेद प्रधान = 'आणवविसर्ग' (२) भेदाभेद प्रधान एवं = 'शाक्त विसर्ग' (३) अभेद प्रधान = 'शांभव विसर्ग'—स्थूल, सूक्ष्म एवं सूक्ष्माति सूक्ष्म तीन प्रकार की है । शैवविसर्ग में न भेद रहता है और न तो भेदाभेद । इसमें विश्व भी नहीं रहता । यह आनन्दात्मक अभेदावस्था है । इस स्थिति में चित्त प्रलीन रहता है । केवल संवित् या चैतन्य विद्यमान रहता है । विसर्ग शक्ति अखण्ड प्रकाश की पराशक्ति है और इसे 'कामकला' के नाम से पुकारा जा सकता है ।[१] इच्छा जब बहिरुन्मुख होती है तब उसे 'विसर्ग' कहते हैं । इसके बहिरुन्मुख होने का कारण है—'क्षोभ' । क्षोभजन्य विसर्ग से उपहित शक्ति 'कामकला' है ।

सूर्य या काम एक ही वस्तु है । अग्नि और सोम का यह सामरस्य नित्य सामरस्य है । सूर्य में ही अग्निशक्ति एवं सोमशक्ति दोनों है । अग्निशक्ति के द्वारा ध्वंस कार्य एवं सोमशक्ति के द्वारा सृष्टि-कार्य होता है । 'कामकला' का प्रधान बिन्दु ही रवि या सूर्य है । सृष्टि 'कामकला' का ही कार्य है इसीलिए ऋषियों ने विश्व-सृष्टि के मूल में 'कामकला' का ही कार्य है । इसीलिए ऋषियों ने विश्व-सृष्टि के मूल में 'कामकला' की क्रिया देखी थी । आत्मा ही 'परासंवित', 'परमाशिव' पूर्णतम सत्ता है—इन दोनों के सामरस्य से ही 'कामकला' का विकास होता है ।

'काम' नामक बिन्दु, 'विसर्ग' एवं 'हार्धकला' ('काम' नामक बिन्दु = संमिश्रित बिन्दु । 'विसर्ग' = शोण एवं सित बिन्दु द्वय । 'हार्धकला' = अभिवृद्ध रूप)—इन तीन अवयवों से युक्त एक अखण्ड पदार्थ 'कामकला' कहलाता है । यही है सम्पूर्ण सृष्टि का बीज ।

प्रकाश रूप अहमात्मक बिन्दु—इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप मातृत्रयात्मक अनन्त सृष्टि । यथा सूर्याभिमुख दर्पण में, अन्तः प्रविष्ट रश्मियों द्वारा दोनों ओर से प्राप्त किरणों के मिलन से, भित्ति पर तेजोबिन्दु विशेष उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार प्राणियों के अदृष्टवश अपने में उपसंहृत सिसृक्षा से 'प्रकाश' रूप ब्रह्म अपनी शक्ति के दर्शनार्थ अभिमुख होकर उसके अन्तराल में तेज रूप से प्रविष्ट होकर 'शुक्ल बिन्दु' बन जाता है । फिर शुक्ल बिन्दु में रक्तरूप शक्ति प्रविष्ट होती है । इससे संमिश्रित बिन्दु विकसित होता है । यही 'हार्धकला' कहलाता है । यह बिन्दु (शिवशक्ति सामरस्य नामक अग्नीषोमात्मक) काम या 'रवि' कहलाता है । व्यष्टि रूप में ये दो हैं—(१) शुक्ल बिन्दु = चन्द्र (२) रक्त बिन्दु = अग्नि । इस विन्दुद्वय को ही 'विसर्ग' कहते हैं । समष्टि बिन्दु ही रवि है । सारांश—काम नामक बिन्दु, विसर्ग एवं हार्धकला—इन ३ अवयवों से युक्त अखण्ड पदार्थ ही 'कामकला' है । 'कामकला' में प्रथम तुरीय बिन्दु, उसके नीचे विसर्गाख्य बिन्दुद्वय एवं उसके नीचे 'हार्धकला' स्थित है तुरीय एवं विसर्ग के मध्य में स्थित 'काम' ही मध्य बिन्दु है । काम एवं विसर्ग के अन्तर्गत चैतन्य रूप से अकार एवं हकार स्थित हैं । 'कामकला' अकार एवं हकार की एक स्वरूपता में स्थित है ।

१. भा० सं० और सा० (पृ० ३१८)

"वरिवस्यारहस्यम्" में भास्करराय ने इन्हीं तथ्यों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'अहकारौ शिवशक्ति शून्याकारौ परस्पराश्लिष्टौ । स्फुरणप्रकाशरूपा वुपनिषदुक्तं परं ब्रह्म । विश्वसिसृक्षावशतः स्वार्थां शक्तिं विलोकयत्ब्रह्म । बिन्दू भवति तमिन्दुं प्रविशति शक्तिस्तु रक्तबिन्दुतया । एतत्पिण्ड द्वितयं विसर्गद्वयं हकार चैतन्यम् मिश्रस्तु तत्समष्टिः कामाख्यो रविरकार चैतन्यम् । एषाहम्पदतुर्यस्वर कामकलादिशब्दनिर्देश्या । वागर्थसृष्टिबीजं तेनाहन्तामयं विश्वम् ॥'[१]

अहन्तामय त्रिबिन्दुतत्त्वस्वरूप वर्णात्मा 'कामकला' त्रिगुणात्मक त्रिकोणरूप में परिणत होकर जगज्जननी बनती है—"एवं कामकलात्मा त्रिबिन्दुतत्त्वस्वरूप वर्णमयी। सेयंत्रिकत्रिकोणरूपं याताः त्रिगुण स्वरूपिणी माता ॥"[२] यह मिश्र, शुक्ल एवं आरक्त त्रिबिन्दु से युक्त सिङ्घाड़े के आकार का सुरम्य त्रिकोण है । इसे ही प्रणव भी कहा गया है—बिन्दुत्रयात्मकं स्वात्मशृङ्गारं विद्धि सुन्दरम् । मिश्र शुक्लं च रक्तं च पुराणं प्रणवात्मकम् ॥"[३] काम कलाक्षर बिन्दुत्रयात्मक है । ये तीन बिन्दु हैं—(१) सूर्य (२) सोम (३) अग्नि । सोम-सूर्य-अग्नि अकार-उकार-मकार से एकरूप हैं ।—'कामकलाक्षरस्य बिन्दुत्रयात्मकत्वेन बिन्दुत्रयस्य सूर्य सोमाग्नित्वेन, सोमसूर्याग्नी नाम कारोकारमकारात्मता सर्वत्रागमेषु दृष्टेत्येत्सर्वं त्रिकात्मकं कामकलाक्षरे विश्रान्तमिति प्रणवेनापि कामकलाक्षरमेव गीयते ॥"[४]

भास्करराय द्वारा 'सेतुबंध' में वर्णित् कामकला के स्वरूप को अमृतानन्द ने 'दीपिका' में स्वीकार नहीं किया है ।

भास्करराय एवं अमृतानन्द की दृष्टियों में भेद—भास्करराय ने 'बिन्दुं सङ्कल्प्य वक्त्रं तु' (नित्याषोडशिकार्णव १। विश्राम । श्लोक २०१) की व्याख्या करते हुए इसे भिन्न रूप में दिखाते हुए कहा है कि—"ऊर्ध्वं कामाख्यो बिन्दुरेकः तदधोग्नीषोमात्मक बिन्दुद्वितयरूपोन्यः । तदधो हकारार्धरूपः कलाख्य स्तृतीयः तदिदं प्रत्याहारन्याद्येनकामकलेत्युच्यते ॥"

"मध्यबिन्दुः ऊर्ध्वबिन्दुः अकारहकारसामरस्यरूपः । कामाख्यः । तदुक्तं कामकला विलासे—बिन्दुरहङ्कारात्मा रविरेतन्मिथुन समरसाकारः । मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधोहरार्धं ध्यायेद्यो हममहिषि ते मन्मथ कलाम् ॥"[५] तुरीयबिन्दु ही अतितुर्य तत्त्व है ।

हकाररूपा शक्ति ही 'कला' कहलाती है—"हकार रूपा शक्तिरेव च कलेत्युच्यते ॥"[६] 'हकारोऽन्यः कला रूपः ॥'[७] सेयं 'कामकला' भवति ॥ काम विशिष्टा कलेति मध्यम पदलोपी समाप्त' कामश्चासौ कला चेति कर्मधारयो वा ॥[८]

---

१. वरिवस्यारहस्यम् (६९-७२)
२-३. कामकलाविलास
४. त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र टीका
५. सौन्दर्यलहरी
६. सेतुबन्ध
७. संकेत पद्धति
८. सेतुबन्ध

दीपिकाकार कहते हैं—'बिन्दोः प्रस्पन्दसंविदः बिन्दुरग्नीषोमात्मकः कामाख्यो रविः शिवशक्तिसामरस्य वाच्यात्मा जातः ॥[१] 'कामकला' चक्ररूपात्मक भी है—'चक्रं कामकलारूपं प्रसार परमार्थतः ॥'' 'कामकलाविलास' में कामकला का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—'सितशोणबिन्दुयुगलं विविक्त शिवशक्तिसंकुच्त्प्रसरम् । वागर्थसृष्टिहेतु परस्परानुप्रविष्ट विस्पष्टम् । बिन्दुरहङ्कारात्मा रविरेतन्मिथुनसमसाकारः । कामः कमनीयतया कला च दहनेन्दुविग्रहौ बिन्दू । इति 'कामकलाविद्या' देवी चक्रक्रमात्मिका सेयम् । विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुर सुन्दरी रूपा ॥इस प्रकार 'कामकला' चक्ररूपात्मिका एवं महात्रिपुरसुन्दरीरूपा भी है ।[२]

(कामकला एवं शाक्त दर्शन)

'कामकला'—पराभट्टारिका भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का नामान्तर 'कला कला' है । 'ललितासहस्रनाम' में भगवती महात्रिपुरसुन्दरी को 'कामकला' की भी आख्या दी गई है—

> काम्या कामकलारूपा कदम्ब कुसुमप्रिया ।
> कल्याणी जगतीकन्दा करुणारससागरा ॥' (२।७३)

ललितासहस्रनाम भाष्य में आचार्य भास्कराय मखिन कहते हैं कि तीन बिन्दु है और एक 'हार्धकला' है । इनमें प्रथम बिन्दु 'काम' एवं अन्तिम 'कला' है । प्रत्याहार के नियमानुसार 'कामकला' के भीतर चारों का अंतर्भाव है । 'त्रिपुरा-सिद्धान्त' में कहा गया है—ओ पार्वती ! 'कला' कामेश्वर एवं कामेश्वरी की अभिव्यक्ति है अतः उन्हें 'कामकला' कहा जाता है । वे 'काम' (इच्छा) की 'कला' (अभिव्यक्तिकरण) हैं इसीलिए वे 'कामकला' कहलाती हैं ।

'शिव' प्रकाशस्वरूप एवं 'शक्ति' विमर्शस्वरूप हैं । प्रकाशस्वरूप शिव विमर्शस्वरूप (स्फूर्तिरूप) शक्ति में प्रविष्ट होते हैं । फिर वे 'बिन्दु' का रूप धारण कर लेते हैं । इसी प्रकार विमर्शरूपात्मिका शक्ति शिव में अनुप्रविष्ट होती है । परिणामतः 'बिन्दु' संवर्धित होता है । इसके फलस्वरूप 'नाद' (स्त्री तत्व) निर्गत होता है । 'बिन्दु' एवं 'नाद' दोनों मिलकर 'मिश्रबिन्दु' के रूप में परिणत हो जाते हैं । यह मिश्रबिन्दु स्त्री-पुरुष शक्तियों का योग है और 'काम' कहलाता है । 'श्वेत बिन्दु' एवं 'रक्तबिन्दु' (जो कि पुरुष तत्त्व एवं स्त्री तत्व के प्रतीक हैं) उसकी कला विशेष हैं । ये तीनों फिर एक 'संयुक्त बिन्दु' बन जाते हैं । 'श्वेतबिन्दु', 'रक्तबिन्दु' एवं 'मिश्रबिन्दु' जब मिलकर एक हो जाते हैं तब 'कामकला' कहलाते हैं । इस प्रकार 'कामकला' में चार शक्तियों का सामरस्य है जो निम्नांकित हैं—(१) मूलबिन्दु (विश्व का उपादान ।) (२) 'नाद' (जिसके आधार पर बिन्दु के संवर्धित होने से जन्म लेने वाले तत्वों का नामकरण होता है । बिन्दु एवं नाद दोनों में उत्कट पैंम् रहता है, कितने इतने मात्र से सृष्टि का समारंभ नहीं हो पाता क्योंकि वे केवल अर्थ एवं वाक् के उपादान हैं) अतः उनके साथ ही—(३) 'श्वेत

---

१. दीपिका २. कामकलाविलास

पुरुषबिन्दु' एवं (४) 'रक्त स्त्रीबिन्दु' (जिसमें दो उत्पादक शक्तियों का योग होता है) जब ये चारों तत्व मिलते हैं तब 'कामकला' का रूप धारण करते हैं और तभी वागर्थमय सृष्टि का समारंभ होता है ।

शास्त्रकारों का कथन है कि जब स्त्रीतत्त्व 'बिन्दु' में प्रथम बार प्रविष्ट होता है तब नाद के साथ 'हार्धकला' नामक एक अन्य तत्त्व भी विकसित होता है । ग्रन्थांतर में कहा गया है कि पराशक्ति का ही अभिधान है—'कामकला' । 'सूर्य' (संयुक्त बिन्दु) उसका मुख है । 'अग्नि' एवं 'चन्द्र' (रक्तबिन्दु एवं श्वेत बिन्दु) उसके पयोधर हैं और 'हार्धकला' उसकी योनि है जिससे कि सृष्टि का समारंभ होता है । वह सृष्टि-विधात्री देवी समस्त देवताओं में उच्चतमा है और वही 'परा', 'ललिता', 'भट्टारिका', 'पराभट्टारिका' एवं त्रिपुरसुन्दरी कहलाती है ।

शिव 'अ' अक्षर एवं शक्ति 'ह' अक्षर है । यह 'ह' 'अर्धकला' कहलाता है। अतः उपर्युक्त स्त्रीतत्त्व या 'योनि' 'ह' के आकार का अर्धभाग (हार्धकला है । यह अर्धकला या 'ह' शिव के प्रतीक 'अ' अक्षर से मिलकर 'कामकला' या 'त्रिपुरसुन्दरी' का प्रतीकात्मक रूप है जो शिव एवं शक्ति के संयोग का परिणाम है। वह 'अहं' कहलाती है और स्वयमेव अहं से युक्त है । इसी कारण उसका समस्त विकास (समस्त सृष्टि) अहङ्कारयुक्त है । समस्त आत्माएँ इसी 'त्रिपुरसुन्दरी' की रूपमात्र हैं । जब आत्मायें देवी-चक्रों के साथ कामकलाविद्या एवं ज्ञान का अभ्यास कर लेती हैं तब वे स्वयमेव 'त्रिपुरसुंन्दरी' हो जाती हैं । त्रिपुरसुन्दरी से ही समस्त शब्द (सम्पूर्ण वाक्) एवं उनके अर्थ (जगत् एवं समस्त जागतिक पदार्थ या तत्व) उत्पन्न होते हैं । यह त्रिपुरादेवी ही पराशक्ति है । 'अहंदेवी न चान्योस्मि' की भावना एवं त्रिपुरादेवी के रूप में आत्मरूपान्तरण ही शाक्तों की साधना एवं साधना की चरम परिणति है ।

तांत्रिक दर्शन में शिव को 'प्रकाश' एवं शक्ति को 'विमर्श' कहा जाता है । प्रकाश का विमर्श के साथ संयोग होने पर ही जगत् की सृष्टि होती है । इस संयोग की नारी एवं पुरुष के संयोग की उपमा दी गई है । जिस प्रकार स्त्री एवं पुरुष के संयोग से मैथुनी सृष्टि होती है उसी प्रकार 'प्रकाश' (शिव) एवं 'विमर्श' (शक्ति) के संयोग से 'बिन्दु' का जन्म होता है 'बिन्दु' शिवशक्ति के एकीकरण, मिलन या संयुक्तावस्था, युगनद्धावस्था का द्योतक है । 'बिन्दु' की अवस्था में शक्ति एवं शिव दोनों में सामरस्य रहता है और इसी अवस्था को 'स्वायंभूलिङ्ग' पद अभिव्यंजित करता है । शक्ति एवं शिव के इस सामरस्य या समागम को 'कामरूप पीठ' की आख्या दी गई है । कविराज जी ने ठीक ही कहा है कि 'प्रकाश' एवं 'विमर्श' सर्वातीता शक्ति के रूपद्वय हैं । उपनिषदों का परब्रह्म शैव-शाक्त दर्शन में 'परमशिव' कहलाता है और इस 'परमशिव' की शक्ति 'सर्वातीता शक्ति' कहलाती है । शिव एवं क्रियाशक्तिरूपा विमर्शशक्ति उस सर्वातीत शक्ति के दो रूप हैं । अतः 'परमशिव' विश्वोत्तीर्ण अवस्था का अभिवयञ्जक है । शिव (प्रकाश) को 'अम्बिका शक्ति' एवं शक्ति (विमर्श) को 'शान्ता' भी कहा जाता है । इनके

सामरस्य के अनन्तर 'वामा' (इच्छा) 'ज्येष्ठा' (ज्ञान) एवं 'रौद्री' (क्रिया) शक्तियों का विकास होता है ।

परिभाषिक शब्दावली में इन्हीं का नामान्त है—'पूर्णगिरि पीठ' 'जालंधर पीठ' एवं 'उड्डीयान पीठ' । ये ही 'पश्यन्ती' 'मध्यमा' एवं 'वैखरी' वाक् की स्थितियाँ भी हैं । इन सबसे परे हैं—सर्वातीता शक्ति या 'परावाक्' ।

उपर्युक्त प्रकाशबिन्दु जब 'विमर्शबिन्दु' में प्रविष्ट होता है तब 'बिन्दु' में उच्छूनता (Swelling) आती है और इसके परिणामस्वरूप बिन्दु से 'नाद' का उदय होता है । इसी 'नाद' में समस्त 'तत्त्व' समाहित रहते हैं । यही नाद व्यक्तावस्था में 'त्रिकोण' रूप धारण करता है । त्रिकोण का एक कोण (एक बिन्दु) 'प्रकाश' है, दूसरा 'बिन्दु' 'विमर्श' है एवं इन दोनों के संयोग से 'रवि' या 'काम' नामक 'मिश्रबिन्दु' व्यक्त होता है । 'अग्नि' एवं 'सोम' इसी 'काम' की 'कला' के रूप में गृहीत हैं । इस प्रकार 'कामकला' शब्द से 'प्रकाश' एवं 'विमर्श' तथा 'काम' या 'रवि'—इन तीनों का द्योतन होता है । त्रिकोणात्मक पद्धति द्वारा सृष्टि-विकास की यही अवधारणा 'कामकला' द्वारा प्रतिपादित की गई है । तांत्रिक दर्शन में प्रत्येक देवता के मूल तत्व के संधान में लिङ्गयोन्यात्मक त्रिकोण में स्थित 'मध्यबिन्दु' की स्थिति प्रतिपादित की गई है । यही कारण है कि तांत्रिक दर्शन में भोग एवं मोक्ष दोनों को एक ही प्रक्रिया द्वारा निरूपित किया गया है ।

त्रिकोणात्मक अभिव्यक्ति के मध्य मध्यबिन्दु में दिव्य मिथुन (शिव-शक्ति) का शृङ्गारादिक विलास चलता रहता है ।

'हंस' ही त्रिकोणात्मक 'कामकला' है । 'कामकला' मन्त्रों का मूल तत्व है । तांत्रिक समाम्नाय में शब्दब्रह्म अपनी शक्तियों एवं त्रिविधात्मक पक्षों सहित जिस स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है और जिसे "अबलालयम्" (शक्ति का गृह) कहा गया है—वही 'कामकला' के नाम से प्रसिद्ध है । 'कामकला' सर्वोच्च त्रिकोण है । त्रिकोण के द्वारा देवी को इसलिए व्यक्त किया जाता है क्योंकि इसकी अभिवयक्ति की दिशायें भी तीन हैं जो निम्न हैं—(१) इच्छा (२) क्रिया (३) ज्ञान ॥

'कामकला' की वास्तविक प्रकृति या स्वरूप—'कामकलाविलास' में 'पराशक्ति अंकुराकारा है और उसने शिव-शक्ति के सामरस्य से विस्तार प्राप्त किया है ।' इस श्लोक से प्रारम्भ करके-काम का अर्थ है इच्छा—मध्यस्थ दो बिन्दु सूर्य एवं चन्द्रमा का प्रतिनिधित्व करते हैं । इस श्लोक के अन्ततक कामकला को बहुत सुचारु रूप से समझाया गया है । 'कामकला' तत्व के अन्तर्गत बिन्दुत्रय का विवरण है ।

शक्ति का परमधाम 'कामकला' कहलाता है । सहस्त्रार में स्थित द्वादशदल संयुक्त श्वेतपद्म में शक्ति का निवास है और इसे 'कामकला' कहा जाता है । अकार रूप 'प्रकाश' के साथ हकार रूप विमर्श का (अग्नि के साथ सोम का) साम्यभाव ही 'काम' या 'रवि' कहलाता है शास्त्रोक्त 'अग्निषोमात्मक बिन्दु' यही है ।

'कालिकापुराण' में कहा गया है कि 'काम' द्वारा केवल देवी को द्योतित किया जाता है। देवी को 'काम' इसलिए कहा गया है क्योंकि देवी कामेच्छावश मेरे साथ नीले शिखरों वाले कैलास पर्वत के गुप्त स्थान में आई। उन्हें 'काम' इसलिए भी कहा गया है क्योंकि वे इच्छा—इच्छाकर्ता, इच्छित एवं सुन्दर की पूर्ति करती हैं, कामदेव (मन्मथ) के शरीर को संरक्षण देती हैं एवं काम के शरीर को नष्ट भी करती हैं। इन्हीं कारणों से उन्हें 'काम' कहा जाता है।

निखिलप्रपञ्चगर्भा विमर्शशक्ति के संसर्ग से अक्षरस्वरूप 'प्रकाश' बिन्दुरूप धारण करता है अर्थात् 'प्रकाश' विमर्शशक्ति में अनुप्रविष्ट होता है। इस विन्दु का नाम है- 'प्रकाशबिन्दु' (जो कि विमर्शशक्ति के गर्भ में स्थित रहता है।) इसके उपरान्त विमर्शशक्ति भी प्रकाश बिन्दु में अनुप्रविष्ट होती है जिसके कारण गर्भस्थ बिन्दु 'उच्छून' हो उठता है और उससे तेजोमम बीजस्वरूप 'नाद' उत्पन्न होता है, (इस 'नाद' में संमस्त तत्व सूक्ष्मरूप से निहित है)। नाद निर्गत होकर त्रिकोणाकार रूप ग्रहण करता है। यही 'अहम्' संज्ञक बिन्दुनादात्मक प्रकाश-विमर्श का कलेवर है। इसमें 'प्रकाश' शुक्लबिन्दु है एवं विमर्श रक्तबिन्दु है तथा दोनों की पारस्परिक अनुप्रवेशात्मक समता 'मिश्रबिन्दु' है। इसी समता (साम्यभाव) का नामान्तर है परमात्मा, 'रवि' या 'काम'॥ अग्नि एवं सोम इसी 'काम' की विशेष कलायें हैं।

तांत्रिक समाम्नाय में सूर्य को 'कामतत्व' कहा गया है। 'कामाख्यों रविः॥' इसी 'काम' की एक कला है—'अग्नि' एवं दूसरी कला है 'चन्द्र'। 'कामकला' के बिन्दुत्रय ये ही हैं। सृष्टि एक ही महाशक्ति के दो विरुद्ध स्वरूपों की महाक्रीड़ा है जो कि परस्पर विषम भाव ग्रहण करके परस्पर एक दूसरे के ऊपर क्रिया करने लगती है इन दो शक्तियों में एक का नाम है—'अग्नि' एवं दूसरी का नाम है—'सोम'॥ 'अग्नि' = तापमय, दुःखप्रद, मृत्युस्वरूप (क्योंकि काल अग्नि का ही रूप है)। अविभक्त को विभक्त करके प्रकाशित करने वाला। 'सोम' = शीतली, सुखप्रद, अमृतस्वरूप, विभक्त को अविभक्त करके प्रकाशित करने वाला॥ 'अग्नि' = प्रकाशस्वरूप, अग्निक्रिया का नाम है—संहार। 'सोम' = विसर्गस्वरूप, सोमक्रिया का नाम है सृष्टि।

अग्नि + सोम की साम्यावस्था—इस अवस्था में दोनों निष्क्रिय रहते हैं अतः न सृष्टि होती है और न प्रलय। यही है नित्यस्थिति। इसी का नाम है 'रवि' या 'सूर्य'। सूर्य को ही 'कामतत्व' कहा गया है। यह अग्नि एवं नित्य, समरस, अद्वय स्थिति है।

'कामकला' का ध्यान करते समय यह चिन्तन किया जाता है कि तीन बिन्दु एवं 'हार्धकला' देवी त्रिपुरसुन्दरी का शरीर हैं। यह कल्पना की जाती है कि त्रिपुरसुन्दरी के शरीर में तीन बिन्दु (इच्छा-ज्ञान-क्रिया; चन्द्र-अग्नि-सूर्य; रजस्-तमस्-सत्व; एवं ब्रह्मा-रुद्र-विष्णु) स्थित हैं। योगिनी तन्त्र में इसकी ध्यान-प्रक्रिया इस प्रकार बताई गई है—'कला के ऊपर तीन बिन्दुओं की कल्पना

करनी चाहिए और फिर यह कल्पना करनी चाहिए कि एक षोडशवर्षीया कन्या इससे उदित हो रही है जो कि लाखों नवोदित सूर्यों के प्रकाश से प्रकाशित है। यह भी कल्पना करनी चाहिए कि उसका मुकुट से कण्ठ तक का शरीरावयव ऊर्ध्व बिन्दु से एवं स्तनद्वय तथा त्रिवली बिन्दुद्वय से उत्पन्न हो रहे हैं। फिर यह कल्पना करनी चाहिए कि शेष शरीर (जननेन्द्रिय से पादपर्यंत का शेष भाग) 'काम' से उत्पन्न हो रहा है। इस प्रकार पूर्ण शरीर के निर्मित हो जाने पर उसे समस्त आभूषणों एवं परिधानों से समलंकृत रूप में स्थित शक्ति के रूप में सोचना चाहिए। इसके बाद साधक को कल्पना करनी चाहिए कि मेरा शरीर भी 'कामकला' से अभिन्न है।' 'श्रीक्रम' नामक ग्रन्थ में इसके स्वरूप के चिन्तन के विषय में इस प्रकार निर्देश दिया गया है। 'ओ देवों की शासिका देवी ! इन तीन बिन्दुओं में से प्रथम को उसका 'मुख' और शेष दो बिन्दुओं को उसके पयोधर द्वय के रूप में चिन्तित करना चाहिए और हार्धकला को उसकी योनि में कल्पना करनी चाहिए ॥'

'त्रैपुरत्रिकोण' मूलाधार में **'कामकला' का स्थूल पक्ष है।**

आदिविद्यातत्व का आदि वाग्भव कूट 'कादि' है जबकि द्वितीय **कामकला युक्त** हादिमत है। (त्रिपुरातापि०) परमात्मा का उज्जृंभण कामकलामय है— "कामकलामयं जात इत्यनेन परमात्मनोज्जृंभणम् ॥" (त्रिपुरातापि०)

'त्रिपुरातापिन्योपनिषद' में **'कामकला चक्र'** का इस प्रकार विवेचन किया गया है—"अथातः **कामकला** भूतं चक्रं व्याख्यास्यामो। क्लीं मैं ब्लूँ स्त्रौं एते पञ्च कामाः सर्वचक्रंव्याप्त वर्तन्ते ॥" आदि।

'मूलमन्त्रात्मिका' शब्द का प्रयोग देवी के लिए किए जाने पर यह उसके सूक्ष्म शरीर को सङ्केतित करता है जिसे **'कामकला'** कहा जाता है।

कामबीज एवं त्रिपुर भैरवी—शिवसंहिताकार का मत—जिस स्थान पर कुण्डलिनी देवी अधिष्ठित हैं इसी योनिमण्डल में बंधूक (गुलदुपहरिया) के पुष्प के समान **'कामबीज'** विद्यमान है। इस बीज का स्वच्छ स्वर्ण के समान रूप में स्मरण करना चाहिए। 'तन्त्र बंधूक पुष्पाभं **कामबीज** प्रकीर्तितम्।' इसी बीज से सुषुम्ना नाड़ी संश्लिष्ट है। यह बीज शरदऋतु के चन्द्रमा के समान प्रभा से मण्डित, तेजस्वरूप, करोड़ों सूर्यों के समान दमकता हुआ एवं करोड़ों चन्द्रों के समान सुशीतल है। तेज, सूर्य एवं चन्द्र इन तीनों के मिलने से इस **बीज की संज्ञा "त्रिपुरभैरवी"** है। यह **'कामबीज'** अग्नि की शिखा के समान रूप वाला है। यह सूक्ष्म है और उसमें योनिस्थित परमतेजस्वरूप स्वयंभूलिङ्ग स्थित है। यह **'कामबीज'** क्रियाशक्ति एवं विज्ञानशक्ति के साथ मिलकर देह में विचरण करता है, कभी ऊर्ध्वगामी होता है और कभी लिङ्गान्तर्गत सलिल में प्रविष्ट हो जाता है। मूलाधार पद्म की भीतरी कली में योनिमण्डल है। इस योनि में कुण्डलिनी निवास करती है। इसके ऊपर दीप्तिमान तेजःस्वरूप **'कामबीज'** जगमगा रहा है—

"सुषुम्नापि च संश्लिष्टा बीजं तन्त्र परं स्थितम् ।
शरच्चन्द्रनिभं तेजस्त्रयमेतत् स्फुरत् स्थितम् ॥

सूर्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटि सुशीतलम् ।

एतत्त्रयं मिलित्वैव देवी त्रिपुरभैरवी ।
बीजसंज्ञं परं तेजस्तदेवं परिकीर्तितम् ॥

तत्पद्ममध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनी स्थिता ।
तस्या ऊर्ध्वे स्फुरत्तेजः कामबीजं भ्रमन्मतम् ॥"

षट्चक्रनिरूपणकार ने **"त्रैपुरत्रिकोण"** एव 'कंदर्पवायु' का विवरण इस प्रकार दिया है ।

"वज्राख्या वक्त्रदेशे विलसति सततं कर्णिकामध्यसंस्थं ।
कोणं तत् त्रैपुराख्यं तड़िदिव विलसत् कोमलं कामरूपम् ॥

कन्दर्पोनाम वायुर्निवसति सततं तस्य मध्ये समन्तात् ।
जीवेशो बंधु जीव प्रकरमभिहसन् कोटि सूर्यप्रकाशः ॥"

वज्रानाड़ी के मुखप्रदेश में जो कर्णिका है उसके मध्य में **'त्रैपुरत्रिकोण'** स्थित है और त्रिकोण के मध्य में **'कामबीज'** स्थित है । त्रिकोण के भीतर **'कंदर्प'** नामक वायु भी स्थित है । **'शाक्तानन्द तरंगिणी'** में कहा गया है कि मूलाधार पद्म की कर्णिका में **'परमेश्वरी कामाख्या योनि'** स्थित है । यह योनि इच्छा-ज्ञान एवं क्रियाशक्ति से युक्त है । इसी आधारचक्र के मध्य में (त्रिकोण यंत्र में) **'अपर'** नामक **'कन्दर्प'** स्थित है । उसी में स्वयंभूलिङ्ग पश्चिमाभिमुख होकर स्थित है ।

विपरीत रति—शाक्तगण सृष्टि की विवेचना के प्रसङ्ग में मिथुन परक् भाषा का प्रयोग तो करते ही हैं साथ ही साथ विपरीत रति का भी प्रतिपादन करते हैं । परब्रह्म मूलतः निश्चेष्ट एवं निस्पंद है । केवल शक्ति ही सक्रिय होकर शब्दब्रह्म को उत्पन्न करती है अतः महाकाल एवं महाकाली की विपरीत रति का (जिसमें महाकाल निश्चेष्ट एवं महाकाली सचेष्ट रहती है) शाक्तागम में शृङ्गारिक विवेचन किया गया है । तन्त्रग्रन्थों में कुण्डलिनी को 'महामातृका सुन्दरी' कहा गया है और मूलाधार से प्रस्थान करके सहस्रारस्थ पति के ऊपर उस आरोहण का शृङ्गारपूर्ण वर्णन किया गया है ।

इसी विपरीत रति को बोधित कराने के लिए 'बिन्दु' शब्द का प्रयोग किया गया है और कहा गया है कि 'बिन्दु' प्रकृति या महाशक्ति के गर्भ में पालित होकर कुण्डली के रूप में प्रकट होता है । यहाँ 'बिन्दु' शुक्र का प्रतिरूप है ।

शाक्त तन्त्रों में स्त्री-पुरुष के रति कर्म के माध्यम से कुण्डलिनी योग का निरूपण किया गया है । जिस प्रकार की कोई रमणी किसी राजमार्ग पर अभिसार के लिए चलती हुई किसी गुप्तस्थान में अपने प्रियतम से मिलती है और आलिङ्गन

के उपरान्त अमृत (रजस्) गिराती है उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना के राजमार्ग पर अभिसार के लिए चलकर चक्रों के गुप्तस्थानों में प्रियतम के विभिन्न रूपों (शिवलिङ्गों) से मिलती हुई सहस्रार में परम प्रियतम (परशिव) से आलिंगित होकर अमृत गिराती है ।

"लाक्षाभं परमामृतं परशिवात् पीत्वा ततः कुण्डली ।
नित्यानन्द महोदयात् कुलपथान्मूले विशेत् सुन्दरी ।।

तद्दिव्यामृधारया स्थिरमतिः सन्तर्पयेद्दैवतं ।
योगी योग परम्परा विदितया ब्रह्माण्डभाण्डेस्थितम् ।।"

'देवीपुराण' में कुण्डलिनी को '**शृङ्गारक**' के माध्यम से निरूपित करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार स्त्री-पुरुष के मिलने पर पुरुष के भीतर अग्नि जागृत हो उठती है उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति के अपने प्रियतम से मिलने पर अग्नि से चन्द्रमा द्रवित हो उठता है और अमृत टपकने लगता है ।

जिस प्रकार नर-नारी के सङ्घट्ट (मैथुन) से सन्तानोपत्ति होती है उसी प्रकार शिवशक्ति के सङ्घट्ट (सामरस्य) द्वारा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है । इस **मथ्यमंथकभाव** में शक्ति मथ्य एवं शक्तिमान् मंथक है । इसके द्वारा शक्ति इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के रूप प्राप्त करती है । यही रूप त्रिकोण था, श्रङ्गार (सिङ्घाड़ा) द्वारा सङ्केतित है । यह 'यामल', 'सङ्घट्ट' या सामरस्य, ही सृष्टि का मूल कारण हैं। जगत् में स्त्री-पुरुष का संयोग इसी पारमार्थिक यामल का पिण्डस्वरूप है । बौद्ध दार्शनिकों ने भी युगनद्धता के सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है ।

मूलाधार में 'त्रैपुरत्रिकोण' है जो कि सहस्रार के नीचे समस्त मन्त्रों का मूल है। इसे 'त्रैपुर' इसलिए कहते हैं क्योंकि इस त्रिकोण में स्थित 'क' (काम बीज का प्रथमाक्षर एवं प्रधान अक्षर) में देवी त्रिपुरा निवास करती हैं । 'कं' कामिनी-बीज है और यह मूलाधार चक्र में त्रिपुरसुन्दरी की विद्यमानता का सङ्केतक है । यहाँ 'वामा' 'ज्येष्ठा' एवं 'रौद्री' (इच्छा-ज्ञान-क्रिया) तीन रेखायें हैं । त्रैपुर त्रिकोण सहस्रार के नीचे 'कामकला' के रूप में स्थित सूक्ष्माशक्ति का स्थूल पक्ष है ।

कामतत्व—

"कामोस्मि भरतर्षभ" कहकर भगवान श्रीकृष्ण ने 'गीता' में काम का दिव्यीकरण करते हुए उसको अपना स्वरूप घोषित किया है । 'त्रिपुरातापिन्युपनिषद' में ईश्वर को काम से अभिन्न स्वीकार किया गया है—'स एष निरञ्जनोऽकामत्वेनो-जृंभते अ क च ट त प य शान् सृजते । तस्मादीश्वरः कामोऽभिधीयते ।।"—इस परिभाषा से 'काम' 'क' को भी व्याप्त करता है—'एतत् परिभाषया कामः ककारं व्याप्नोति । काम एवेदं तत्तदिति ककारो गृह्यते ।।"[१]

---

१. त्रिपुराता०

उच्चारंण-काल का विवरण

(१) 'कामकला' (ई) एवं त्रिकोण (ए) की मात्राएँ : २ मात्राएँ ।
(२) बिन्दु-शून्य ह्रीङ्कार की मात्राएँ : ३ मात्राएँ ।
(३) अन्य वर्णों की मात्राएँ : १(१/२) मात्राएँ ।
(४) बिन्दु की मात्रा : १/२ मात्रा ॥
(५) नाद की मात्रा : १ लव कम १ मात्रा

२५६ लव = ? मात्राः 'षट्पञ्चाशदुत्तर शतद्वय लवैरेका मात्रा ।' १२८ = लव = 'बिन्दु' । ६४ लव = 'अर्धचन्द्र' । ३२ लव = 'रोधिनी' । १६ लव = 'नाद' । ८ लव = 'नादान्त' । लव = 'शक्ति' । २ लव = 'व्यापिका' । १ लव = 'समना' । 'उन्मना' में काल है ही नहीं अतः वहाँ लव कल्पना ही व्यर्थ है ।[1]

'योगिनीहृदय' के 'चक्रसङ्केत' में दिया गया विवरण निम्नानुसार है—(१) अर्धचन्द्र = १/२ मात्रा, इसके बाद 'शक्ति' पर्यन्त (२) अर्धचन्द्रादिक सभी आगे के नादों की मात्रा उत्तरोत्तर पूर्ववर्ती नादों की तुलना में १/४; १/८; १/१६;— इस प्रकार द्वैगुण्यकाल—'पूर्वपूर्वद्विगुणांश कालवत्वं सामान्येनोक्तं 'चतुःषष्टिस्तदूर्ध्वं तु द्विगुणं द्विगुणं ततः ॥' इसके अनुसार तो—५१२ वाँ भाग 'उन्मनाकाल' होगा 'द्वादशोत्तर पञ्चशततमो' भाग उन्मना कालः । मात्रास्वरूपं च द्वादशोत्तरपञ्चशत लवात्मक त्वमेव प्रतीयते ॥' अर्थात् इस दृष्टि से उन्मना की माया ५१२ होगी । 'देश-कालानवच्छित्र तदूर्ध्वं, परमं महत्' कहकर उन्मना को कालानवच्छेद से परे, कालातीत माना गया है । किन्तु 'चतुःषष्टि' इस श्लोक में 'शक्ति' ६४ वाँ भाग ('शक्तेश्चतुः षष्टितमो मात्राभागः') उसके ऊपर 'व्यापिका' द्विगुणित (अष्टाविंशत्युत्तर-शततमो भागः) १२८ वाँ भाग, उसके ऊपर द्विगुण । कहा गया है—'शक्त्यादीनां च मात्रांशो मनोन्मन्यास्तथोन्मनी' यहाँ 'मनोन्मनी' पद समना का पर्याय मान लिया गया है । एक मात्रो भवेद ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ॥ किमात्रस्तु प्लुतोज्ञेयो व्यञ्जनं त्वर्धमात्रकम् ॥''

'कालपरमाणुर्लवः' ॥ 'लव' कालगणना की सूक्ष्मतम इकाई है जो स्वरूपतः निम्नानुसार है—'नलिनीपत्रसंहत्याः सूक्ष्म सूच्यभिवेधने । दले-दले तु यः कालः स कालो लवसंज्ञितः । अतः सूक्ष्मतमः कालो नोपलभ्यो भृगूद्वह ॥'

कमल को सुई से आर-पार वेधने के समय (अर्थात् यदि किसी कमल को एक ओर से दूसरी ओर वेधने हेतु उसमें कोई सुई डाल कर उसे कमल के आर-पार कर दी जाय तो उसमें लगने वाले समय) प्रत्येक दल को बेधने में जो समय लगता है वही (प्रत्येक दल-बेधन का) वेधन-काल ही 'लव' है । षट्पञ्चाशतदुत्तरशतद्वयलवों की एक 'मात्रा' होती है ।

---

१ आचार्य भास्कर : 'वरिवस्यारहस्यम्' 'प्रकाश'

लव = 'बिन्दोरष्टाविंशत्युत्तरशतं लवा: ।।' 'अर्धचन्द्र' = ६४; 'रोधिनी' = ३२; 'नाद' = १६; 'नादान्त' = ८; 'शक्ति' = ४; 'व्यापिका' = २ लव; 'समना' = १ लव; 'उन्मना' = 'उन्मनादास्तु नास्त्येव काल: ।।' 'उन्मना' में काल रहता ही नहीं अत: 'लव' (कालमात्रा) होना संभव ही नहीं है ।

'योगिनीहृदय' के चक्रसङ्केत में बताया गया है कि—दीपाकार 'बिन्दु' अर्धमात्रा वाला है । अर्धचन्द्रादिक से शक्तिपर्यन्त चतुरांश-षोडशांश आदि उच्चारण काल है। यो०हृ० में कहा गया है—

"दीपाकारोऽर्ध मात्रश्च ललाटे वृत्त इष्यते ।। २८ ।।

अर्धचन्द्रस्तथाकार: पादमात्रस्तदूर्ध्वके ।
ज्योत्स्नाकारा तदष्टांशा रोधिनी त्र्यस्रविग्रहा ।।२९ ।।"

'अर्धमात्रा' = 'ह्रस्वस्य उच्चारणकालो मात्रेत्युच्यते' 'मात्राया अर्धमुच्चारण कालो यस्य सोऽर्धमात्र: ।। दीपाकारोऽर्धमात्रोच्चारणकालो वृत्तसन्निवेशो बिन्दुरित्यर्थ: ।।[1] अर्धचन्द्रो बिन्दोरर्धभाग:' तथाकारो दीपाकार एव । 'पादमात्रो' मात्राकालस्य चतुर्थभागोच्चारण काल इत्यर्थ: ।।[2] 'तदूर्ध्वके'—बिन्दु के ऊर्ध्वभाग में चतुर्थभागोच्चारण काल ।।

'रोधिनी' में मात्राष्टांशोच्चारण काल ('तदष्टांशा') है । उपर्युक्त विवरण के अनुसार तो 'उन्मना' का भी उच्चारण काल सिद्ध होता है जो कि निम्न है— 'मात्रास्वरूपञ्च द्वादशोत्तर पञ्चशतलात्मक त्वमेव प्रतीयते ।।'[3]

अर्थात् अर्धमात्रा बिन्दु का वेग है । उसके बाद प्रत्येक परवर्ती की गति अर्ध-अर्ध मात्रा के हिसाब से कम होती जाती है यथा (१) बिन्दु में अर्धमात्रा (२) उसके बाद १।४ मात्रा (३) उसके बाद १।८ मात्रा ।

सूक्ष्मतम मात्रा = १।२५६ है या १।५१२ है ।[4] यह सूक्ष्मता की चरम मात्रा है । काल की सूक्ष्मता के अनुसार ही मन भी उतना ही सूक्ष्म होता जाता है। शक्ति की मात्रा १।६४ कही गई है । व्यापिनी की मात्रा १।१२८ समना की १।२५६; नाद की १।१६, नादान्त की १।३२, निरोधिका की १।८ अर्धचन्द्र की १।४, बिन्दु की १/२ मात्रा है ।

काल की इकाइयाँ निम्न हैं—त्रुटि, लव, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वत्सर, युग, मन्वन्तर, कल्प, मुद्राकल्प ।। कुछ आचार्यों के मतानुसार उन्मना में मात्रा एवं काल है नहीं किन्तु कुछ आचार्यों के मतानुसार उसकी मात्रा है ।

---

१. योगिनी हृदय (च०सं०), अमृतानन्द : 'दीपिका'
२. योगिनी हृदय : 'दीपिका'
३. भास्कर-प्रकाश (श्लो० १५-१६)
४. समना की मात्रा - १।२५६, उन्मना की १।५१२ मात्रा है ।

एकादश वाक्कूटे सार्धा एकादशोदिता मध्ये ॥ १७
सार्धा अष्टौ शक्तावेकैकलवोनिता मात्राः ।
संहत्यैकत्रिंशन्मात्रा मन्त्रे लवत्रयन्यूनाः ॥ १८ ॥

(नाद, वाग्भवकूट, कामराजकूट एवं शक्तिकूट का मात्रा-काल)

इस प्रकार गणना करने पर (यह ज्ञात होता है कि) इस नाद का काल कुल मिलाकर मात्रा काल होता है जिसमें एक लव न्यून रह जाता है । (इस प्रकार) वाक्कूट में ग्यारह, मध्य वाले (कामराज कूट) में साढ़े ग्यारह ॥ १७ ॥

(एवं) शक्तिकूट में साढ़े आठ मात्राएँ होती हैं जिनमें एक लव की न्यूनता सभी में होती है । (इस प्रकार) मन्त्र में सब मिलाकर तीन लव कम इकतीस मात्रायें होती हैं ॥ १८ ॥

*** प्रकाश ***

शक्तौ तृतीयकूटे ॥ १७-१८॥

*** सरोजिनी ***

'नाद' का उच्चारण-काल मात्र 'मात्रा' है जिसमें कि एक लव न्यून रह जाता है । 'मात्रा' क्या है? 'मात्रा लध्वक्षरस्य कालः ॥' लघु अक्षर के उच्चारण में जितना समय लगता है उस समय को 'मात्रा' कहते हैं । 'गुरु' अक्षर में द्विगुणित मात्रायें होती हैं ।

(१) 'वाक्कूट'—११

(२) 'कामराजकूट'—साढ़े ग्यारह मात्रा

(३) 'शक्तिकूट'—साढ़े आठ मात्रायें (एक लव शून्य साढ़े आठ मात्रायें)—मात्रा नाम ह्रस्वस्योच्चारण कालः स च षट्पञ्चाशदुत्तर शतद्वयलवैर्भवति । लवो नामकाल परमाणुः । मात्रा एवं लव की परिभाषा यही है ।[1]

'नादस्य'—नाद का जिस विमर्श शक्ति में प्रपञ्च विलीन रहता है उसके संसर्ग से प्रकाश बिन्दु का रूप धारण करता है । यह संसर्ग क्या है? विमर्श शक्ति में प्रकाशानुप्रवेश । यह बिन्दु ही प्रकाश बिन्दु (जो विमर्श के गर्भ में स्थित रहता है ।) फिर प्रकाशबिन्दु में विमर्शशक्ति का प्रवेश होता है उससे तेजोमय बीजस्वरूप 'नाद' निर्गत होता है । इस 'नाद' में समस्त तत्त्व बीजात्मना स्थित रहते हैं । 'नाद' निर्गत होकर त्रिकोण का रूप धारण करता है । यही है । 'अहं' नामक बिन्दुनादात्मक प्रकाश विमर्श का शरीर । इसमें प्रकाश है—श्वेत बिन्दु एवं विमर्श है—लोहित बिन्दु । दोनों का पारस्परिक अनुप्रवेशात्मक साम्य है—

१ सेतुबन्ध

'मिश्रबिन्दु' । इसी साम्य का नाम है—परमात्मा । यही 'रवि' या 'काम' । अग्नि एवं सोम इसी काम की कलायें हैं । अतः 'कामकला' का अर्थ है—त्रिबिन्दु । इन तीन बिन्दुओं का समष्टिभूत महात्रिकोण ही आधा शक्ति का स्वस्वरूप ॥ इसके मध्य में रवि बिन्दु देवी के मुख के रूप में; अग्नि एवं सोम बिन्दु स्तनद्वय के रूप में, हकार की हार्धकला या अर्धकला के योनिरूप से कल्पित हैं । शिवशक्ति के मिलन से उत्पन्न पीयूषधारा प्रवाहित होने पर जिस लीला तरङ्ग की उत्पत्ति होती है । वही है—'हार्धकला' । 'सच्चिदानन्द विभवात् सकलात परमेश्वरात । आसीच्छक्तिः स्ततो नादो नादाद्बिन्दु समुद्भूत कहकर—सकल परमेश्वर से शक्ति, शक्ति से नाद, नाद से बिन्दु का उद्भव भी बताया गया है ।

कण्ठे च कण्ठतालुनि तालुनि दन्तेषु मूर्ध्नि नासायाम् ।
स्पृष्टविवाराद्यान्तर बाह्यैर्यलैस्तदक्षरोत्पत्तिः ॥ १९ ॥

(मन्त्राक्षरों के उच्चारण-स्थान)

(मन्त्र के उपर्युक्त) वर्णों की उत्पत्ति कण्ठ, कण्ठतालु, तालु, दाँत, मूर्धा एवं नासा आदि उच्चारण-स्थानों में स्पृष्ट आदि आभ्यन्तर एवं विवारादिक बाह्य प्रयत्नों द्वारा होती है ॥ १९ ॥

*** प्रकाश ***

ककारत्रयमकारदशकं हकारपञ्चकं च कण्ठे । द्वितीयमक्षरं कण्ठतालुनि । प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः ईकारचतुष्टयं तालुनि । लाकरत्रयं सकारद्वयं च दन्तेषु । रेफत्रयं तु मूर्ध्नि । बिन्द्वादिनवकत्रयं नासायाम् । स्पृष्टेति । ककाराः स्पृष्टयत्नाः । अकाराः संवृताः । ईकारा एकारश्च विवृताः । रेफा लकाराश्चेषत्स्पृष्टाः । हकाराः सकारौ चेषद्विवृताः । बिन्द्वादयः संवृततमाः । इत्याभ्यन्तरो यत्नः । ककारा विवार-श्वासाघोषवन्तोऽल्पप्राणवन्तश्च । सकारौ महाप्राणवन्तौ विवारादिमन्तौ च । स्वराः सर्वेऽप्युदात्ताः । रेफा लकाराश्च संवारनादघोषाल्पप्राणवन्तः । हकारास्तु संवारादि-त्रयवन्तो महाप्राणवन्तश्च । बिन्द्वादयस्त्वात्यन्तिकसंवारादिचतुष्कवन्तः । इति बाह्यः प्रयत्नः ॥ १९ ॥

*** सरोजिनी ***

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार-प्रयत्न एवं उच्चारण का स्वरूप—प्रयत्न—(१) 'बाह्य प्रयत्न' (२) 'आभ्यन्तर प्रयत्न' ।

(१) **'बाह्य प्रयत्न'**—(१) विवार (२) संवार (३) श्वास (४) नाद (५) घोष (६) अघोष (७) अल्पप्राण (८) महाप्राण (९) उदान्त (१०) अनुदान्त (११) स्वरित ॥ (१) वर्गों के प्रथम, द्वितीय वर्ण एवं श, ष, स (खर) = 'विवार', श्वास, अघोष शेष 'हश' का संवार, नाद एवं घोष । स्वरों का प्रयत्न = उदात्त-अनुदात्त स्वरित । 'सवर्ण' = एक ही उच्चारण स्थान वाले वर्ण । 'असवर्ण' = भिन्न स्थानों से उच्चारण किए हुए वर्ण । 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्'

(२) **आभ्यन्तर प्रयत्न**—वर्गाणां प्रथमतृतीय पञ्चमाः यणाश्चाल्प प्राणाः । वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौशलश्च महाप्राणः ॥' स्पृष्टःविवृत, संवृत आदि ।

प्रयत्न एवं वर्ण—(१) स्पर्श वर्णों का प्रयत्न 'स्पृष्ट' (२) अन्तस्थ वर्णों का प्रयत्न = ईषत्स्पृष्ट । ऊष्म वर्णों का प्रयत्न = ईषद् विवृत । स्वरों का प्रयत्न = विवृत । ह्रस्व अ का प्रयत्न = संवृत । (सिद्ध प्रयोग रूप में) अन्यथा अन्य स्वरों की भाँति उसका भी प्रयत्न = 'विवृत' ॥

(३) **उच्चारण-स्थानः**—

(i) अकुह विसर्जनीयानां कण्ठः । (अ,आ,विसर्ग,क,ख,ग,घ,ङ,ह) = कण्ठ ।

(ii) इचुयशानां तालु । (इ,ई,य,च,छ,ज,झ,ञ,श) = तालु ।

(iii) ऋटुरषाणां मूर्द्धा । (ऋ,ॠ,र,ट,ठ,ड,ढ,ण,ष) = मूर्द्धा ।

(iv) ऌतुलसानां दन्ताः । (ऌ,ल,त,थ,द,ध,न,स,) = दन्त ।

(v) उपध्मानीयानाम् ओष्ठौ । (उ,ऊ,उपध्मानीय,प,फ,ब,भ,म) = ओष्ठ ।

(vi) ञमङणनानां नासिका च । (मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः) = नासिका ।

(vii) एदैतौः कण्ठतालु ॥ (ए,ऐ) = कण्ठ और तालुः

(viii) ओदौतौः कण्ठोष्ठम् । (ओ और औ) = कण्ठ और ओष्ठा

(ix) वकारस्य दन्तोष्ठम् । (व) = दाँत और ओष्ठ ।

(x) जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम् । (जिह्वा की जड़ से ध्वनित) ॥

(xi) नासिकानुस्वारस्य ॥ (अनुस्वार) = नासिका

वर्णोच्चारण में द्विविध प्रयत्न—(१) वर्णों के स्फुट उच्चारित होने के पूर्व (२) उनके स्फुट उच्चरित होने के बाद ।

प्रथमोच्चारण की प्रयत्न = 'आभ्यन्तर प्रयत्न ।'

द्वितीयोच्चारण की प्रयत्न = 'बाह्य प्रयत्न ।'

आभ्यन्तर प्रयत्न—१. स्पृष्ट २. ईषतस्पृष्ट ३. ईषदविवृत ४. विवृत ५. संवृत ।

(१) ककार त्रयमकार दशकं हकार पञ्चकं च कण्ठे । (२) द्वितीयमक्षरं कण्ठतालुनि । (३) प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । ईकार चतुष्टयं तालुनि ॥ (४) लकार त्रयं सकारद्वयं च दन्तेषु । (५) रेकत्रयं तु मूर्ध्नि । (६) बिन्द्वादि नवक त्रयं नासायाम् ।—स्पृष्टेति । (७) ककाराः स्पृष्टयत्नाः । (८) अकाराः संवृताः । (९) ईकारा एकारश्च विवृताः । (१०) रेका लकाराश्चेषत्स्पृष्टाः । (११) हकाराः सकारौ चेषद्विवृताः । (१२) बिन्द्वादयः संवृततमाः । (१३) इत्याभ्यन्तरो यत्नः । (१४) ककारा विवार श्वासाघोषवन्तोऽल्पप्राणवन्तश्च । (१५) सकारौ महाप्राणवन्तौ विवारादि-

मन्तौ च ॥ (१६) स्वराः सर्वेऽषुदात्ताः ।(१७) रेका लकाराश्च संवार नाद घोषाल्प प्राणवन्तः । (१८) हकारास्तु संवारादित्रयवन्तो महाप्राणावन्तश्च । (१९) बिन्द्वादयस्त्वात्यन्तिक संवारादिचतुष्कवन्तः । इति बाह्यप्रयत्नः ॥[1]

प्रलयाग्निनिभं प्रथमं मूलाधारादनाहतं स्पृशति ।
तस्मादाज्ञाचक्रं द्वितीय कूटं तु कोटि सूर्यायम् ॥ २० ॥

तस्माल्ललाटमध्यं तार्तीयं कोटिचन्द्राभम् ।
मालामणिवद्वर्णाः क्रमेण भाव्या उपर्युपरि ॥ २१ ॥

प्रथम कूट एवं द्वितीय का स्वरूप

प्रलयाग्नि के सदृश दृष्टिगत होने वाला 'प्रथम कूट' मूलाधार से आरंभ करके अनाहत चक्र को स्पर्श करता है । उससे (अर्थात् उस अनाहत चक्र से) आरंभ करके यह कोटिसूर्य के समान आभा वाला द्वितीय कूट आज्ञा चक्र को स्पर्श करता है ॥ २० ॥

उससे (अर्थात् इसके आगे आज्ञा चक्र से) आरंभ होने वाला, (एवं) ललाट के मध्य में कोटि चन्द्र के समान आभा वाला तीसरा कूट है । (उपर्युक्त कूट त्रय के) वर्णों को माला के दानों के रूप में क्रमानुसार (एक के ऊपर) स्थित मानना चाहिए ॥ २१ ॥

* प्रकाश *

मूलाधारादित्यादि पञ्चमीत्रयं ल्यब्लोपे । मूलाधारमारभ्येत्यर्थः । तस्मादनाहतमारभ्य । तस्मादाज्ञाचक्रमारभ्य । इदं च स्थानत्रयं बिन्द्वादिरहितकूटत्रयस्यैव। सुषुम्णाख्यनाडीमूलाग्रयोर्द्वै सहस्रदलकमले, मध्ये चाष्टदलषड्दलादीनि त्रिंशत्पद्मानि सविस्तरं स्वच्छन्दसंग्रहादौ प्रपञ्चितानि । तत्र गुदोपरि द्व्यङ्गुलोर्ध्वे लिङ्गे नाभौ हृदि कण्ठे भ्रूमध्ये च मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहतविशुद्ध्याज्ञानामकानि चतुःषड्दशद्वादशषोडशद्विदलानि द्विद्विग्रन्थिमध्यसंदष्टानि चक्रपदवाच्यान्यपि षट् पद्मानि सन्तीत्यन्यत्र विस्तरः ॥ २०-२१ ॥

* सरोजिनी *

मूलाधारात 'शिवसंहिता' में 'मूलाधार' का परिचय देते हुए कहा गया है कि यह वह चक्र है जिसके चार दल हैं, जिसके मध्य वाग्भव बीज स्थित हैं जो विद्युत की भाँति दीप्तिमान है ।

'मूलाधारेऽस्ति' यत्पद्म चतुर्दलसमन्वितम् । तन्मध्येवाग्भवं 'बीजं विस्फुरन्तं तडित्प्रभम । हृदये काम बीजं तु बंधूककुसुमप्रभम् ॥ 'मूलाधारात्' = मूलाधार से आरंभ करके ।

---

१. भास्करराय : 'प्रकाश' टीका

'मूलाधारात्' = मूलाधार चक्र से । यहाँ पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' इस वार्तिक के नियमानुसार हुआ है जिसका अर्थ यह है कि जब ल्यप् या क्त्वा प्रत्ययान्त क्रिया वाक्य में प्रकट नहीं की जाती, किन्तु छिपी रहती है तो उस क्रिया के कर्म एवं आधार पञ्चमी में होते हैं यथा— 'श्वसुराज्जिह्रेति'—श्वसुर से लज्जा करती है । अर्थात् श्वसुर को देखकर लज्जा करती है । यहाँ 'श्वसुरं वीक्ष्य जिह्रेति' के स्थान पर 'श्वसुराज्जिह्रेति' कहा गया है अतः यहाँ पञ्चमी का प्रयोग 'ल्यब्लोपे०' सूत्रानुसार कहा जाएगा । 'अनाहतं' 'आज्ञाचक्रं' का अर्थ = अनाहत से आरंभ करके एवं आज्ञा चक्र से आरंभ करके। ('ल्यब्लोपे०' वार्तिक के प्रयोग से निकले अर्थ को यहाँ द्योतित किया गया है ।) 'मूलाधार' 'अनाहत' एवं 'आज्ञाचक्र' के स्थानत्रय बिन्दु आदि रहित कूटत्रय के स्थान हैं ।

'स्वच्छन्द तन्त्र' के अनुसार सुषुम्णा नामक नाड़ी के मूलाग्र भाग में दो सहस्रदल कमल हैं; मध्य में अष्टदलपद्म आदि कमल स्थित हैं—और सब मिलाकर तीस कमल स्थित हैं । गुदा के ऊपर दो अंगुल ऊपर, लिङ्ग देश में, नाभिदेश में, हृदय प्रदेश में, कण्ठ में एवं भ्रूमध्य में—'मूलाधार', 'स्वाधिष्ठान', 'मणिपूर', 'अनाहत', 'विशुद्ध', 'आज्ञा' नामक कमल हैं जिनमें चार, छः, दश, द्वादश, षोडश, दो दल हैं । यद्यपि दो दो ग्रन्थियाँ मध्य भाग में संदष्ट हैं और वे चक्र भी कहलाती हैं तथापि 'षड्पद्म' (६ कमल) का ही कथन प्रायः होता है ।

'मूलाधार' 'अनाहत' एवं 'आज्ञा' चक्र—

(क) 'मूलाधार चक्र'—गुदा एवं लिङ्ग के मध्य चार दलों से युक्त एक कमल है । उसके दलों में स्वर्ण सदृश दमक है । इस पर ही ऋतु (६ कोणों वाला) पीली कान्ति युक्त पृथ्वी मण्डल है । चारों कोणों में वज्र आदि स्थित हैं । वहीं लं बीज है । यहीं पृथ्वी के रूप में ऐरावत हाथी पर स्थित, स्वर्णिम कान्ति वाले वेदपाणि ब्रह्मा स्थित हैं । वे अक्षसूत्र, कमल एवं कमण्डल धारण किए हुए हैं । उनके बाएँ भाग में सूर्यवत डाकिनी है । स्थित है । मूलचक्र के ऊपर चतुर्भुजी, अक्षसूत्र एवं जलपात्र धारण किये हुए, अम्बिका देवी का ध्यान करने पर वे योग-विद्या का प्रदर्शन करती है । चतुर्दल की कर्णिका में ऊर्ध्वकोण त्रिकोण है, उसके ऊर्ध्व कोण में सुषुम्णा एवं बायीं-दायीं ओर क्रमशः इड़ा एवं पिङ्गला नाड़ियाँ स्थित हैं । इड़ा चन्द्रनाड़ी एवं पिङ्गला सूर्यनाड़ी है । सुषुम्णा सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि के स्वरूप का है । सुषुम्णा के भीतर ही ब्रह्म नाड़ी है । उसमें ही ब्रह्मरंध्र है । इसी ब्रह्मरंध्र में कुण्डली के गमन का स्थान है । मूलचक्र से साढ़े तीन करोड़ नाड़ियाँ निकली हैं । त्रिकोण के ऊर्ध्वकोण में अनार के फूल के समान स्वयंभूलिङ्ग है । यह लिङ्ग दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं पञ्च प्राणों से युक्त है ।[१] यह अपञ्चीकृत भूतों से निर्मित है तथा 'लिङ्गदेह' कहा जाता है । यह लिङ्ग शरीर में वासनाओं से युक्त होकर जीव की मृत्यु के बाद देहान्तर प्राप्त करता है । जीवों

१. चक्र कौमुदी

की वासनाओं के नष्ट होने पर इस लिङ्ग का भी नाश हो जाता है ।[१] इस लिङ्ग के आश्रयीभूत साढ़े तीन वलयों से युक्त, सर्पाकृतिवाली नित्या एवं प्रकृतिरूपा कुण्डली स्थित हैं ।[२] यह प्रकृतिरूपा कुण्डली जब सत्व, रज एवं तम गुणों के साम्य से युक्त हो जाती है तब इसे 'चित्कला' कहते हैं । इसके अर्द्धांश में ब्रह्म का संश्लेष होने पर यह मूल प्रकृति 'ईश्वरी' कही जाती है । इसके वलय त्रय सतोगुण रजोगुण एवं तमोगुण हैं । इस वलय का ऊपर उठा हुआ अंश ही 'ब्रह्मपुच्छ' एवं 'ब्रह्मांश' कहलाता है ।[३] कुण्डली द्वारा ही जीव को धारण किया जाता है । पञ्चाशद्वर्णात्मिका, मूलाधारोत्थिता, यह विद्या, जो समस्त प्राणियों का चैतन्य है शब्दब्रह्म है । कुण्डली समस्त प्राणियों के मूलचक्र में 'शब्दब्रह्म' को प्राप्त करके वर्णों के रूप में प्रकट होती है । गद्य-पद्य उसी के भेद हैं । ये गद्य-पद्य हंस रूप आत्मा में आश्रित होकर प्रकट होते हैं । यह आत्मारूप हंस प्राण के एवं प्राण नाड़ी-पथ के आश्रित हैं । बिन्दु एवं सर्ग ही पुरुष-प्रकृति है । पुरुष-प्रकृति रूप हंसों में 'हं' पुरुष एवं 'सः' प्रकृति है अतः 'हंस पद' पुरुष-प्रकृति का वाचक है ।[४] जीव जिसे प्राप्त करता है वह है हंस रूप अजपा जप ।[५] 'हं' के साथ प्राण को बाहर निकालते हुए 'सः' के साथ प्राण को प्रवेश कराते हुए प्राणी को नित्य हंस पद का जप करना चाहिए । जब 'प्रकृति' पुरुषाश्रय प्राप्त करके पुरुष रूप बन जाती है उस समय 'सोऽहं' स्थिति निर्मित होती है । 'सोऽहं' पद में सकार एवं हकार का लोप करने पर यह 'ओं' बन जाता है यह ओङ्कार ही एकाक्षर शब्द ब्रह्म है ।[६] साधक को चाहिए कि वह प्रातः उठकर मूलाधारचक्रस्थ शक्ति-गणेश को ६००, स्वाधिष्ठानचक्रस्थसावित्री-ब्रह्मा को ६००, मणिपरस्थ लक्ष्मीनारायण को ६००, अनाहतचक्रस्थ उमा-महेश्वर को ६००, प्राण-शक्ति युक्त जीवात्मा को १०००, आज्ञाचक्रस्थ पराशक्ति युक्त 'विशुद्ध' संज्ञा वाले परमात्मा को १००० एवं सहस्रारचक्रस्थ गुरु को १००० अजपा मन्त्रों का समर्पण करें ।[७]

'मूलाधार चक्र' चार अंगुल चौड़ा है तथा यह गुदा से दो अंगुल ऊपर एवं लिङ्ग से दो अंगुल नीचे स्थित है ।[८] इसी पद्म में कलियों (कर्णिकाओं) के मध्य परमरमणीय त्रिकोणात्मक 'योनिमण्डल' स्थित है ।[९] वहीं 'विद्युल्लताकारा, सार्ध-

---

१-७. चक्र कौमुदी

८. 'मूलाधार पद्म' लिङ्ग स्थान से दो अंगुल नीचे है या कि एक ?—यह विवादास्पद है ।

'शिवसंहिता' में दो स्थलों पर दो बातें कहीं गई हैं—१. गुदा से दो अंगुल ऊपर एवं लिंग से दो अंगुल नीचे २. गुदा से दो अंगुल ऊपर एवं लिङ्ग से एक अंगुल नीचे—'मूलाधार पद्म' है ।

'गुदात्तु द्वयंगुलादूर्ध्वं मेढ्रैकांगुलतस्त्वधः ।' (शिवसंहिता २।२१)

'गुदाद् द्वयंगुलतश्चोर्ध्वं मेढ्रैकांगुलतस्त्वधः ।' (शिवसंहिता ५।५६)

९. शिवसंहिता

त्रिकारा, कुटिला, सुषुम्ना मार्गसंस्थिता पर देवता कुण्डली'—स्थित है । यह कुण्डली जगत् संसृष्टिरूपा, निर्वाणसततोद्यता, वाच्यामवाच्या, देवनमस्कृता वाग्देवी है।[१] इडा-पिङ्गला के मध्य जो सुषुम्णा है उसके छः शक्तियाँ विद्यमान हैं जिन्हें 'षट्पद्म' कहते हैं ।[२] मूलाधार से साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ निकली हुई हैं ।[३] गुदा-लिङ्ग के मध्य स्थित 'योनिमण्डल' ही 'कन्द' है जो कि पश्चिमाभिमुखी है । इसी के मूल में 'कुण्डली' स्थित है । यह नाड़ी-समूह से घिरी हुई, अपनी पूँछ को मुख में डालकर सुषुम्णा छिद्र को घेरे हुए साढ़े तीन वलयों में स्थित है ।[४] यह 'नागोपमा, सुप्ता, स्फुरन्ती, अहिवत संधिसंस्थाना, वाग्देवी एवं बीजसंज्ञका' है।[५] यह 'स्वर्णभास्वरा, गुणत्रय प्रसूति का विष्णु शक्ति कुण्डली, 'कामबीज' समन्वित इस योनिमण्डल में अधिष्ठित है । योनिमण्डल में स्थित यह 'कामबीज' स्वच्छ स्वर्ण के समान है तथा इस बीज से सुषुम्ना भी जुड़ी है । यह 'कामबीज' शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान तेजवान, सूर्यकोटि प्रतीकाश एवं चन्द्रकोटि सुशीतल है ।[६] तेज, सूर्य एवं चन्द्र तीनों मिलकर यह 'कामबीज' 'त्रिपुरभैरवी' की संज्ञा प्राप्त किए हैं । 'एततत्रयंमिलित्वैव देवी त्रिपुरभैरवी ॥'[७] यह 'कामबीज' अग्निशिखावत है, सूक्ष्म है, क्रिया शक्ति एवं विज्ञानशक्ति के साथ यह 'काम बीज' देह में ऊर्ध्व दिशा में एवं कभी नीचे, सदा घूमता रहता है (कभी लिङ्ग सलिल में प्रविष्ट हो जाता है ।) इसी को 'आधार पद्म' कहते हैं एवं इसी के मूल में 'योनि' स्थित है—'आधारपद्ममेतद्धियोनिर्यस्यास्ति कंदतः ।' तेज (अग्नि) सूर्य एवं चन्द्रमा लं, खं एवं ठं—ये तीनों एकत्रित होकर 'त्रिपुरभैरवी' देवी 'कामबीज' नाम प्राप्त करके मूलाधार में स्थित हो गई हैं ।

'आधारपद्म' कुल संज्ञक है काञ्चनवर्ण है, स्वयंभूलिङ्ग से अधिष्ठित है । इस पद्म में 'द्विरण्ड' नामक सिद्धलिङ्ग एवं डाकिनी देवी भी स्थित हैं । इसी पद्म की भीतर की कली (कर्णिका) में 'योनिमण्डल' है जिसमें कि कुण्डलिनी स्थित है एवं जिसके ऊर्ध्वदेश में दीप्तिमान एवं तेजःस्वरूप 'कामबीज' दमक रहा है—'तस्या ऊर्ध्वे स्फुरतेजः कामबीजं भ्रमन्मतम् ॥'[८]

इडा (चन्द्रमा)—पिङ्गला (सूर्य) के मध्य सुषुम्णा (अग्नि) स्थित है । इन तीनों के मध्य चित्रानाड़ी है । इसके मध्य में ही सूक्ष्मातिसूक्ष्मब्रह्मरंध्र है । यह 'सुषुम्ना मध्यचारिणी, पञ्चवर्णोज्ज्वला, विशुद्धा, अमृतानन्ददायिनी एवं दिव्यमार्ग-स्वरूपा 'चित्रा' नाड़ी ध्यान मात्र से पापराशि नष्ट कर देती है तथा इसी के मध्य में ब्रह्मरंध्र है जिसमें कुण्डली यात्रा करती है ।[९]

मेरूदण्ड के बाहर वामभाग में इड़ा (शशि) एवं दक्षिण भाग में पिङ्गला (सूर्य) स्थित है किन्तु मेरूदण्ड के मध्य में 'त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा' सुषुम्णा स्थित है और सुषुम्णा के मध्य 'वज्रा', 'वज्रा' के मध्य 'चित्रिणी' और उसके मध्य में 'ब्रह्मनाड़ी' स्थित है ।[१०] इसके मुख में ही 'ब्रह्मद्वार' है । (इसी

१-९. शिवसंहिता

१०. षट्चक्रनिरूपण

ब्रह्मद्वार को ढके हुए कुण्डलिनी स्थित है ।) 'कन्द' (गुदा से ऊपर एवं लिंग से नीचे जो कन्द है) वहीं सुषुम्णा भी स्थित है । उसी सुषुम्णा में अधोमुख, चतुर्दल युक्त, लाल, व, श, ष, स वर्णों से अंकित कमल-दलों वाला मूलाधार पद्म है । मूलाधार चतुष्कोण चक्र है ।[१] इस पद्म की कर्णिका में चतुष्कोण पृथ्वीमण्डल है । पृथ्वीमण्डल की आठों दिशाओं में सुदीप्त अष्टशूल हैं । पृथ्वीमण्डल एवं इस मण्डल का बीज दोनों पीले हैं । बीज के मध्य स्थित इन्द्र भी पीले हैं । ये वज्रपाणि हैं । यहाँ स्थित ऐरावत पर प्रात:कालीन सूर्यवत ब्रह्मा स्थित हैं जो कि चारों वेद, दण्ड, कमण्डल, अक्षसूत्र एवं अभयमुद्रा हाँथों में धारण किए हैं । 'वज्रा' के मुख में स्थित कर्णिका में स्थित 'त्रिकोण' ('कामरूप') एवं 'त्रैपुर' जो विद्युतवद है । यहाँ सर्वत्र 'कन्दर्पवायु' (अपानवायु का एक रूप) है जो कि बंधुजीव की भाँति लाल, कोटिसूर्य प्रतीकाश एवं जीवेश है । 'त्रिकोण' के मध्य में 'स्वयंभूलिङ्ग' स्थित है जो कि पिघले सोने की भाँति सुन्दर है और निम्नाभिमुखी है। यह ज्ञान एवं ध्यान से प्रकट होता है और नई पत्ती के रङ्ग-रूप का है । यह विद्युत की शीतल किरणों एवं पूर्णचन्द्र के समान सुन्दर है ।[२] (यह कामबीज-परिचालित है ।) 'शाक्तानन्द तरंगिणी' के अनुसार यह श्यामवर्ण का है । उसके ऊपर विसतन्तुसूक्ष्मा, जगन्मोहिनी, ब्रह्मद्वार के मुख को स्वमुख से ढककर उस पर सोने वाली, नवीन चपलाकारा, शङ्खावर्तनिभा, सर्पसमा, शिवोपरिस्थिता, मतवाले भ्रमरों के समान कूजन करने वाली, कोमलकाव्य का सृजन करने वाली, श्वासोच्छ्वास द्वारा समस्त प्राणियों का पालन करने वाली, प्रोद्दाम दीप्तावलि के समान दीप्तिवती वह कुण्डली मूलाम्बुज गह्वर में स्थित है । (कुण्डलिनी में 'परावाक्' स्थित है ।)[३] कुण्डलिनी के ऊपर एक सीधे सूत्र के समान 'पराशक्ति' विद्यमान है । वह नित्य प्रबोधोदया, सूक्ष्मातिसूक्ष्मा, नित्यानन्दपरम्परातिविगलत्पीयूष धाराधरा श्रीपरमेश्वरी रूप 'पराशक्ति' परमा कला है ।[४]

(ख) **'अनाहत चक्र'**[५]—स्थान—हृदय । भूषण—दिव्यलिङ्ग से भूषित । वर्ण—क से ठ पर्यन्त द्वादश वर्ण । वायु—इस पद्म में अनादिकर्म-संसृष्ट, अहङ्कारोपेत, अनेक वासना-पंकिल 'प्राणवायु' स्थित है । दल = १२ । इस पद्म का नामान्तर[६] प्रसादस्थान (प्रसाद का स्थान = प्रसन्न लो) बीज = वायु बीज 'यं' । लिङ्ग = परम तेज:स्वरूप 'बाणलिङ्ग' । पिनाकी सिद्धलिङ्गा देवी = काकिनी ।[७] **ध्यान-फल**—कामिनी वशीकरण, दूरदर्शन, दूरश्रवण, आकाश में स्वेच्छा सञ्चरण, देवों-योगिनियों के दर्शन, खेचरी-सिद्धि, भूचरी-सिद्धि ॥[८] रङ्ग = बंधूककान्त्युज्ज्वल । वायु = धूम्रवर्ण का ॥ कोण = छ: । (मध्य में जो वायुमण्डल है उसमें बीज-स्थिति है । मण्डल का रङ्ग = धूम्रावली धूसर ॥[९]) देवी = काकिनी जो त्रिनेत्रा हैं, सर्वालङ्कारभूषिता, नवतडितवतपीता है और कङ्कालमालाधरा हैं । त्रिकोण = पद्म-कर्णिका में कोटि विद्युतप्रभान्वित त्रिकोण । लिङ्ग—त्रिकोण में चमकते सोने

१-४. षट्चक्रनिरूपण

५-८. शिवसंहिता

९. षट्चक्रनिरूपण

की भाँति 'बाणलिङ्ग' ।[१] पीठ = भगवान शर्व का पीठ । अलङ्कारक उपादान[२]—दीपकलिकावत दीप्तिमान हंस से सुशोभित ।। यह हंस ही जीवात्मा है । ध्यान का फल—वाणी का ईश्वर हो जाता है, ईश्वरवत रक्षा एवं विनाश कर सकता है ।[३] कर्णिका का आन्तर भाग—कर्णिका में त्रिकोण सूर्यमण्डल है ।[४] लिङ्ग का आन्तर भाग—लिङ्ग में जीवात्मा निवास करती है । जीव—जीव दीपकलिकावत है । अन्तःकरण के ऊपर ५४ दल कमल हैं ।[५] ध्यान का फल—अणिमादि आठ सिद्धियों की प्राप्ति एवं कविराजत्व ।[६]

(ग) **'आज्ञा चक्र'**—'आज्ञाचक्र' छठवाँ चक्र है । चक्राक्षर ह + क्ष । दल—दो । स्थान—भ्रुवद्वय का मध्यभाग । शक्ति—शुभ्रवर्णा हाकिनी । कर्णिका—अमृतस्राविी 'ल' से युक्त कर्णिका ।। मन—प्रदीप्तकलिकाकृति वाला मन यहाँ रहता है । लिङ्ग—कर्णिका में स्थित, त्रिकोण में लिङ्ग स्थित है । आत्मा—(उसमें ही) प्रदीपवत आत्मा भी स्थित है । दल—इस च्रक्र के ऊपर ६४ दलों का ध्यान करणीय । ६४ दलों में शिवशक्ति स्थित हैं । उत्पत्ति क्रम-परा—इच्छाशक्ति—ज्ञानशक्ति—भूतक्रिया । कुण्डली—मातृका ।। शंभु की रश्मियाँ—३६० ।।[७] लिङ्ग—'शुक्ल' नामक महाकाल ही यहाँ शिवलिङ्ग हैं । स्वरूप—परमतेज स्वरूप । देशगत स्थान—इड़ा (वरणा नदी) असी (असी नदी), आज्ञाचक्र—वरणा + असी का सङ्गम = 'वाराणसी' । 'वरणा' = इड़ा नाड़ी । 'असी' = पिङ्गला नाड़ी । 'गङ्गा' = इड़ा । 'यमुना' = पिङ्गला । 'इड़ा' = अमृत नाड़ी ।[८] 'त्रिवेणी' = आज्ञा पद्म । त्रिवेणी = (१) 'युक्तत्रिवेणी' (२) 'मुक्तत्रिवेणी' पुरुषाङ्ग के नीचे है—'युक्तत्रिवेणी' । भ्रूमध्य में स्थित है—'मुक्तत्रिवेणी' ।। भ्रूमध्य तक आकर वहाँ इड़ा; पिङ्गला एवं सुषुम्णा त्रिवेणी रूप ग्रन्थिभाव प्राप्त करके नासारंध्र तक पहुँचती हैं । आज्ञा पद्म के भीतर शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान चन्द्रबीज 'ठं' स्थित है ।[९]

मूलाधार के चतुर्दल पद्म की योनि में 'सूर्य' रहता है । सूर्यमण्डल से सतत् विषजल बहता है । यह विष पिङ्गला में बहता है । आज्ञाचक्र के वामभाग से यह 'असी' या 'पिङ्गला' नाड़ी प्रस्थान करती है ।[१०] 'द्विदल आज्ञापद्म' के ऊपरी भाग में तीन पीठ हैं—(१) बिन्दु (२) नाद (३) शक्ति ।। ये तीनों आज्ञाचक्र में स्थित हैं ।[११] ध्यान-फल—पूर्व जन्मों के कर्मों का क्षय । यक्ष, राक्षस, गंधर्व, अप्सरा एवं किन्नर आदि का वशीभूत होना । जिह्वा को उलटकर एवं तालुमूल में लगाकर आज्ञा कमल आधा क्षण भी चित्तस्थैर्य से पापपहाड़ का विनाश ।[१२] आज्ञापद्म का ज्ञान—समस्त पद्मों के फल की प्राप्ति । ध्यान—वासना क्षय ।। परमानन्दाप्ति । मृत्यु के समय इस चक्र का ध्यान—परमात्मा में लय ।। इस पद्म का अहर्निश ध्यान—समस्त पापों से मुक्ति ।। समस्त बंधनों से मुक्ति ।।[१३]

आज्ञाचक्र हिमकर (चन्द्रमा) के समान है । 'ध्यानधाम प्रकाश' है । इस चक्र के भीतर स्थित 'हाकिनी' के छः मुख चन्द्रमा के समान है । इस पद्म के भीतर

१-३. षट्चक्रनिरूपण ४-७. चक्र कौमुदी

८-९-१३. शिवसंहिता

'सूक्ष्मरूप मन' रहता है । पद्म की कर्णिका में स्थित 'योनि' में 'इतर' नामक शिव निवास करते हैं । वे विद्युन्मालावत दीप्तिमान हैं ।[१] वेदों का प्रथम या आदि बीज (ब्रह्मसूत्रों को अपने प्रकाश से प्रकट करने वाली शक्ति का निलय) भी यहाँ है । इस चक्र में स्थित त्रिकोण में ओङ्कार है । यही प्रदीपाभज्योति शुद्धबुद्धान्तरात्मा है। इसके ऊपर अर्धचन्द्र है और इसके ऊपर 'बिन्दु' के रूप में प्रकाशित 'मकार' है ।[२] इसके ऊपर चन्द्रकिरणों को फैलाने वाला श्वेतवर्ण 'नाद' है । (प्रणव प्रकाश किरणों से घिरा है । इसके ऊपर दीपवत आत्मा स्थित है ।) यह चक्र दीप्तिमान प्रातः के दीप्त सूर्य के समान है । यही परमात्मा अपनी पूर्ण शक्तियों के साथ व्यक्त होता है। यह अतुल्य एवं परमामोदपूर्ण विष्णु-धाम है। ध्यानफल—परशरीर में प्रवेश, सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता, सर्वशास्त्रज्ञान, ब्रह्मात्मैक्य प्राप्ति आदि[३] ।। २०-२१ ।।

अथावशिष्टस्य बिन्द्वादिनवकस्य स्थितिस्थानरूपाकारा नाह—

आधारोत्थित नादो गुण इव परिभाति वर्णमध्यगतः ।
मध्येफालं बिन्दुर्दीप इवाभाति वर्तुलाकारः ॥ २२ ॥

तदुपरि गतोऽर्धचन्द्रोऽन्वर्थः कान्त्याकृत्या ।
अथ रोधिनी तदूर्ध्वं त्रिकोणरूपा च चन्द्रिकाकान्तिः ॥ २३ ॥

नादस्तु पद्मरागवदण्डद्वयमध्यवर्तिनीव सिरा ।
नादान्तस्तडिदाभ सव्यस्थितबिन्दुयुक्तलाङ्गलवत् ॥ २४ ॥

निर्यबिन्दुद्वितये वामोद्गच्छत्सिराकृतिः शक्ति ।
बिन्दूदगच्छत्त्र्यश्राकारधरा व्यापिका [४]प्रोक्ता ॥ २५ ॥

ऊर्ध्वाधोबिन्दुद्वयसंयुतरेखाकृतिः समना ।
सैवोर्ध्वबिन्दु हीनोन्मना तदूर्ध्वे महाबिन्दुः ॥ २६ ॥

शक्त्यादीनां तु वपुर्द्वादश रवि कान्ति पुञ्जाभम् ।
इत्येवं वर्णानां स्थानं ज्ञात्वोच्चरेद्यत्नात् ॥ २७ ॥

नादः प्राथमिकस्तु द्वितीय कूटेन साकमुच्चार्यः ।
द्वितीयीकं नादं तार्तीयेनोच्चरेन्न पृथक् ॥ २८ ॥

बिन्द्वादिनवकयोस्तु प्राक्त न कूटस्थ योर नयोः ।
संमेलनेन शबलं तार्तीयीकं विभावयेत् कूटम् ॥ २९ ॥

बिन्द्वादि कसमनान्तं क्रमेण तार्तीयमुच्चरेन्नादम् ।
उन्मन्यन्तर्लीनं विभावयेदेतदुच्चरणम् ॥ ३० ॥

१-३. षट्चक्रनिरूपण

४. कथिता

(नाद एवं बिन्दु का स्वरूप)

मूलाधार-चक्र से ऊर्ध्वोत्थित 'नाद' वर्णों के मध्य सञ्चरण करता हुआ ऐसा प्रतीत होता है मानों (किसी पुष्प-माला के मध्य सञ्चरण करता हुआ कोई) सूत हो । मस्तक के मध्य स्थित 'बिन्दु' ऐसा प्रतीत होता है मानों कोई वृत्ताकार दीपक हो ॥ २२ ॥

(अर्द्धचन्द्र एवं रोधिनी का स्वरूप)

उसके (बिन्दु के) ऊर्ध्व में स्थित 'अर्द्धचन्द्र' अपनी प्रभा एवं आकार में अन्वर्थक (आकार एवं दीप्ति दोनों दृष्टियों से समतुल्य) है । उसके उपरान्त स्थित त्रिभुज की आकृति वाली 'रोधिनी' ज्योत्स्नावत दीप्तिमान है ॥ २३ ॥

(नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना एवं उन्मना का स्वरूप)

'नाद' पद्मराग मणि की दीप्ति वाला, अण्डद्वितय के मध्य वर्तमान नाडिका के समान है । 'नादान्त' विद्युत के समान उद्दीप्त है और वामभागवर्ती बिन्दु से युक्त हल की भाँति आकृति वाला है ॥ २४ ॥

'शक्ति' दो बिन्दुओं के वाम भाग से उदित होने वाली सिरा के आकार वाली है । 'व्यापिका' बिन्दु एवं उसके ऊपर आरूढ़ त्रिकोण के समतुल्य आकार वाली कही गई है ॥ २५ ॥

'समना' का आकार रेखा के ऊर्ध्व एवं अधोभाग में स्थित बिन्दु द्वय (के आकार के समान) है । ऊर्ध्ववर्ती बिन्दु द्वय से रहित वही ('समना') 'उन्मना' है । उसके ऊर्ध्व भाग में 'महाबिन्दु' स्थित है ॥ २६ ॥

'शक्ति' आदि (शक्ति, व्यापिका, समना एवं उन्मना) का शरीर (स्वस्वरूप) बारह सूर्यों के प्रकाश-समूह के समान देदीप्यमान है । इस प्रकार वर्णों के स्थान का ज्ञान प्राप्त करके उनका यत्न (आभ्यन्तर एवं बाह्य) के अनुसार उच्चारण करना चाहिए ॥ २७ ॥

(नादोच्चारण की प्रक्रिया)

प्राथमिक कूट के नाद का उच्चारण द्वितीय कूट के साथ करना चाहिए । द्वितीय कूट के नाद का उच्चारण तृतीय कूट के साथ करना चाहिए, अलग नहीं ॥ २८ ॥

तृतीय कूट को पूर्ववर्ती कूटद्वय के बिन्द्वादि नवों के गण के संमेलन द्वारा शबल रूप में कल्पित करना चाहिए ॥ २९ ॥

'बिन्दु' से आरंभ करके क्रमानुसार 'समना' में पर्यवसित होने वाले तृतीय कूट के नाद का उच्चारण करना चाहिए एवं इसे 'उन्मनी' में अन्तर्लीन कल्पित करना चाहिए ॥ ३० ॥

* प्रकाश *

अत्रेयं शब्दसृष्टिप्रक्रिया—वटबीजान्तर्गतवटवृक्षीयसूक्ष्मरूपतुल्यशब्दसृष्टिसूक्ष्मरूपशालिनी पूर्वोक्तरूपा त्रिपुरसुन्दर्यैव तादृशसूक्ष्मरूपवत्त्वप्रवृत्तिनिमित्तकपरापदवाच्या। सैव च माति तरति कायतीति च व्युत्पत्त्या मातृकेत्युच्यते । तस्यां च निर्विकाराया- मप्यनादिसिद्धप्राण्यदृष्टवशात् स्वान्तः-संहृतविश्वसिसृक्षोत्पद्यते । ततः स्रष्टव्यपदार्थाना- लोचयति, 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' इति श्रुतेः । तादृशमीक्षणमेव प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य तस्यां पश्यन्तीति पदं प्रवर्तते । सैव च पश्यन्त्याख्या मातृका करणसरणित उत्तीर्णत्वादुत्तीर्णेत्युच्यते । तदवयवाश्च वामादयोऽष्टौ शक्तयोऽन्यत्र प्रपञ्चिताः । अतः सैव व्यष्टिसमष्टिवेषेण नवविधा । ततो नव नादा अविकृतशून्यादयो जाताः । तत्समष्टिश्च नादध्व न्यादिपदवाच्या नातिसूक्ष्मा परावन्नातिस्थूला वैखरीवदतो मध्यमाख्या मातृका मध्यमावयवरूपमविकृत-शून्यस्पर्शनादध्वनिबिन्दुशक्तिबीजाक्षराख्यं नादनवकं मूला- धारादिषट्के नादे नादान्ते ब्रह्मरन्ध्रे च स्थितम् । नवभिर्नादैरकचटतपयशळाख्यवर्ग- नवकवती वैखर्याख्या मातृका जाता, वै निश्चयेन स्पष्टतरत्वात् खं कर्णविवरवर्तिन- भोरूपश्रोत्रेन्द्रियं राति गच्छति, तज्जन्यज्ञानविषयो भवतीति व्युत्पत्तेरित्याद्यन्यतो विस्तरः । एवं च ककारादौ कत्वादिवर्णधर्माणां षड्जत्वादिध्वनिधर्माणां चानुभूयमान- त्वात् परिणामे परिणामिनो ऽनुस्यूततताया मृद्घटे दर्शनाच्च वर्णेषु नादोऽनुस्यूतः । तन्तु- विशेषजन्यः पटविशेषो वर्णकपदवाच्यः । तत्र कप्रत्यय-परित्यागेन प्रयोगस्त्वक्षर- वाचकवर्णपदेन श्लेषार्थः । गुण इव वर्णकाख्यपटविशेषेपादानभूततन्तुविशेषवन्माला- मण्याधारसूत्रवच्चेत्यर्थः । वर्णमध्यगत इत्यस्य द्वयोर्वर्णयोर्मध्यभागे वर्णशरीरान्तर्भागे च स्थित इत्यर्थः । अयं भावः—द्वयोर्वर्णयोर्मध्यभागे मणिद्वयमध्यभागस्थशुद्धसूत्रवच्छुद्ध- नादस्य भानम्, वर्ण-शरीरान्तर्भागे तु पटाभेदेन संवलिततन्तुवद्धटान्तर्मृद्वच्च तत्तद्वर्णा- भेदेनैव नादस्य भानम्, न पुनस्तत्र मण्यन्तर्गतसूत्रदृष्टान्तः, तस्य मणितोऽत्यन्तभिन्न- त्वादिति ॥ २१- ॥

मध्येफालं फालस्य मध्ये । 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इति समासः । कान्त्या, आकृत्या चान्वर्थः; अर्धचन्द्रवत्कान्तिराकारश्चेत्यर्थः । अण्डस्थानीयौ द्वौ बिन्दू सिरा- स्थानीया मध्यरेखा चेति त्रयं संहत्य नादस्याकारः, 'बिन्दुद्वयान्तरे दण्डः शेवरूपो मणिप्रभः' इति चक्रसङ्केतोक्तेः । शेवो मुष्कद्वयमध्यवर्तिनी नाडी, मणिः पद्मराग इति तु सांप्रदायिकी व्याख्या । दण्डस्य शेवरूपत्वविशेषणं घनतादार्ढ्ययोर्निरासाय, केशतुल्य- पिष्टविकारेषु पायसोपयुक्तेषु शेवपदप्रयोगादित्यपि व्याख्या नातीव विरुद्धा । ऊर्ध्वाग्रं दक्षिणारं लाङ्गलम्, वामभागे बिन्दुरेक इति नादान्ताकारः । विसर्जनीयवदूर्ध्वाधो बिन्दुद्वयमिति भ्रमनिरासायाह—तिर्यगिति । वामाद्वामभागस्थबिन्दुमारभ्योर्ध्वं गच्छन्ती निःसरन्ती या सिरा रेखा तदाकारेत्यर्थः । 'शक्तिर्वामस्थबिन्दूद्यत्सिराकारा' इति चक्र- सङ्केते । आर्षत्वात् समस्तस्यापि बिन्दुपदस्य पूर्वपदेन सह बहुव्रीह्यवयवत्वेन, उत्तरपदेन सह पञ्चमीतत्पुरुषावयवत्वेनापि काकाक्षिन्यायेनान्वय इति सांप्रदायिकैर्व्याख्यानात् । उद्यत्पदस्य सामान्यवाचकस्यापि बिन्दूद्यदिति विशेषे लक्षणायां वामस्थाद्बिन्दोरुद्यत्याः सिराया आकारो यस्या इत्येव विगृह्य बिन्दोर्वामस्थत्वविशेषणबलादेव दक्षिणदिग्भागे निःसिराक एको बिन्दुरस्तीति गम्यत इति व्याख्यायां वा न कोऽपि क्लेशः । बिन्दु- संस्पृष्टाग्रकत्रिकोणाकारा व्यापिका । 'बिन्दुद्वयान्तराळस्थऋजुरेखामयी पुनः । समना'

इति वचने शक्तिवद्बिन्दुद्वयं तिर्यग्रूपं मा भूदित्यतः संप्रदायमनुसरन्नाह—ऊर्ध्वाध इति । संयुता अग्रमूलभागयोः संश्लिष्टा, न त्वस्पृशन्ती स्थिता । इयं च ब्रह्मरन्ध्रसंस्थाना । इयमेव च मनोन्मनीत्यपि व्यवह्रियते । मनसो यथावस्थितरूपस्यैवाभ्यासविशेषेणै-तावत्पर्यन्तवृत्त्युद्गमः सुसाध इत्यतः समनेत्युच्यते । एतदुपरि तु रूपान्तरं प्राप्तस्यैव मनसो धृतिविषयतेत्यत उत्क्रान्तमनस्कत्वादुन्मना । प्रकृतानुपयुक्तमप्युन्मनोपरिस्थानं चक्रराजस्य त्रिविधभावनान्तर्गतनिष्कलभावनायामुपयुक्तत्वेन प्रसङ्गादाह—तदूर्ध्वं महा-बिन्दुरिति ॥ शक्त्यादीनामिति । समनान्तानां तिसृणामिति संप्रदायः । 'शक्त्यादीनां तिसृणां द्वादशरवितुल्य कान्तयस्तनवः' इति पाठो युक्तः । बिन्द्वादिस्वरूपाङ्गविस्तरः स्वच्छन्दसंग्रहे द्रष्टव्यः ॥ २२-२६ ॥

स्थानं कण्ठाद्युत्पत्तिस्थानं मूलाधारादि स्थितिस्थानं च । यत्नादान्तरबाह्ययत्न-पूर्वकम् । इदं च मानसजपातिरिक्तविषयम् । तत्र तत्तत्स्थानयत्नविभावनमात्रस्योपयोग इति द्रष्टव्यम् । नादो बिन्द्वादिनवकम् । पूर्वपूर्वकूटस्थनादस्योत्तरोत्तरकूटोच्चारणे-नैवोच्चरितप्रायत्वान्न तत्र पार्थक्येन यत्नः कालविलम्बो वा कार्य इत्यर्थः । तृतीयकूटे तूत्तरकूटाभावात्तदुभयमपेक्षितमित्याह—बिन्द्वादिकेति ॥ २७—३० ॥

* सरोजिनी *

'बिन्दु'—क्रियाशक्ति का दूसरा नाम ही 'बिन्दु' है । ज्योतिस्वरूप बिन्दु ही ईश्वर तत्त्व की अधिष्ठान भूमि है । बिन्दु ही शुद्धाशुद्ध अध्वा का उपादान है ।

बिन्दु से समना तक मात्रांश को जोड़ दिया जाय तो मात्र एक मात्रा होती है। उसी से 'बिन्दु' अर्धमात्रा एवं 'नाद' १।१६ मात्रा है । प्रणव के अवयवों की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो अ-उ-म-बिन्दु-अर्धचन्द्र-निरोधिनी-नाद-नादान्त-शक्ति-व्यापिनी-समना-उन्मना—ये प्रणव के अयवय हैं जिनमें 'बिन्दु' एवं 'नाद' दोनों हैं । इनकी मात्रायें निम्न हैं—बिन्दु १।२ मात्रा, अर्धचन्द्र—१।४ मात्रा, निरोधिनी—१।८ मात्रा, नाद—१।१६ मात्रा, नादान्त—१।३२ मात्रा, शक्ति १।६४ मात्रा, व्यापिनी १।१२८ मात्रा, समना—१।१२८ मात्रा । सबका योग = १ मात्रा।

'बिन्दु' का स्वरूप—'बिन्दु' वह अवस्था है जिसमें एक मात्रा का अर्धांश है। बिन्दु रूप ज्योति में समग्र विश्व अभिन्न रूप से भासमान होता है । यह प्रणव का चतुर्थावयव है । समस्त आगमों का प्रधान लक्ष्य 'बिन्दु' ही है । यह समस्त ज़गत् का आधार भी है । भ्रूमध्य के किंचित् ऊर्ध्वदेश में 'बिन्दु' अवस्थित है । 'Introduction To Tantraśāstra' में जान वुडरफ कहते हैं कि 'बिन्दु' शिव के नाद की प्रकृति एवं शक्ति का बीज है अतः इसे 'नाद' एवं 'बीज' का या शिव-शक्ति के अन्तर्संबंध का द्योतक कहा गया है—'Bindu is the nature of Nāda of Śiva and Bīja of Śakti and has been said to be the relation of these to be those who are viewed in all the Āagmas.'

आचार्य भास्कर 'सौभाग्यभास्कर' (ललिता स०भाष्य) में कहते हैं कि जगद्गुरु ही कन्दरूप होने के कारण 'बिन्दु' कहलाती है—'प्रलये मुज्यमान प्राणिकर्मनाम्

परिपाकदशायाम् तादृशकर्माभिन्न मायावच्छिन्नं ब्रह्म घनीभूतमित्युच्यते । स एव जगदंकुरु कन्दरूपत्वाद्बिन्दुपदेन व्यवह्रियते ॥''

आचार्य शङ्कर प्रपञ्चसार में कहते हैं कि सिसृक्षु एवं विचिकीर्षु परमात्मा की घनीभूता चितशक्ति ही 'बिन्दु' बन जाती है—

'विचिकीर्षुर्घनीभूता सा चिदभ्येति बिन्दुताम् ।'

सृष्टि का प्रथम चरण तो बिन्दु है किन्तु द्वितीय चरण का आरंभ करने हेतु शक्ति 'बिन्दु' से पृथक होकर नाद को जन्म देती है । यह 'बिन्दु' की शब्दात्मिका वृत्ति है जिसके 'परा', 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' एवं वैखरी, चार रूप हैं । दूसरी दृष्टि से विचार करने से प्रथम 'नाद' आता है और उसके बाद 'बिन्दु'—'आसीच्छक्तिस्ततो नादः, नादाद्बिन्दु समुद्भवः ॥'[१] चक्र की दृष्टि से विचार करें तो श्रीचक्र का नवमावरण ही 'बिन्दुचक्र' है । इसी का नाम है—'सर्वानन्दमय चक्र' बिन्दु ही सर्वातिशायी है । निर्गुण, निराकार, निरञ्जन ब्रह्म जो परमशिव या परा श्रीसुन्दरी हैं उनका जगन्निर्माण की दिशा में उठाया गया प्रथम कदम 'बिन्दु' ही है। परम तत्व में 'एकोऽहं बहुस्याम' रूप सिसृक्षा के उदय होते ही 'बिन्दु' का प्रादुर्भाव हो जाता है । 'बिन्दु' ही है कामेश्वर एवं कामेश्वरी के स्वारसिक सामरस्य का स्वरूप । यही सर्वोच्च सत्ता है और इसी के अन्तर में समस्त विश्व बीजात्मना अन्तर्गर्भित है । यह विश्वोत्तीर्ण है । यह अनुत्तर शक्तिसम्पन्न एवं समस्त रचना-शक्तियों का स्वगृह है। इसी घनीभूत तेज के पुञ्ज को ही 'चिद्घन' या 'परासंवित्' भी कहते हैं । इसी की द्वितीया आख्या है—

'अनुस्वार' जो कि समस्त वाङ्मय को जन्म देता है । महामन्त्र रूप मातृका का जप भी बिन्दु से युक्त करते ही किया जाता है । 'अहं' के 'अकार' (शिव) एवं 'हकार' (शक्ति) की एकात्मता का सम्पादक भी यही 'बिन्दु' है ।

तन्त्र-दर्शन में 'बिन्दु' की वही स्थिति है जो वेदान्त में ईश्वर की है ।[२] जिस प्रकार 'नाद' शक्ति का एक रूप है उसी प्रकार 'बिन्दु' भी शक्ति का ही एक रूप है ।[३] शक्ति के इन दोनों स्वरूपों (नाद एवं बिन्दु) में क्रिया-शक्ति निहित है । जो कि सृष्टि-विकास में सहायक हैं ।[४] राघवभट्ट ने 'शारदातिलक' की टीका में कहा है कि 'नाद' एवं 'बिन्दु' शक्ति की वे अवस्थायें हैं जो सृष्टि को जन्म देने के लिए समुत्सुक रहती हैं । 'बिन्दु' घनावस्था है । 'प्रपञ्चसार' में कहा गया है कि जब शक्ति में सिसृक्षा उत्पन्न होती है तब शक्ति घनीभूत हो जाती है और उससे सृष्टि का विकास उसी प्रकार होता है यथा दूध के घनीभूत होने पर दही, मक्खन, मट्ठा आदि का जन्म होता है ।

---

१. वाक्यपदीय (भर्तृहरि)

२. आर्थर एँवेलान—दि गारलैण्ड ऑफ लेटर्स, पृ० १११, ११६, १२२

३-४. तत्रैव (पृ० १२४, १२५)

'तोडल तन्त्र' में कहा गया है कि बिन्दु में शून्यता एवं गुण दोनों की एक साथ प्रतिष्ठा पाई जाती है ।[1] तन्त्र में बिन्दु की स्थिति वही है जिस प्रकार पुराणों के मत में महाविष्णु की है ।[2] तन्त्र मत में बिन्दु सत्यलोक की विभूति है और मानव पिण्ड में यह सहस्रार में स्थित है । इसमें शिव एवं शक्ति अपनी मायाशक्ति से उसी प्रकार आवृत्त रहते हैं यथा चने के छिलके में उसके दोनों दल आवृत्त रहते हैं ।[3]

तांत्रिक मतानुसार 'पराबिन्दु' सृष्टि-विकास का मूल कारण है । सृष्टि इसी का परिणाम है ।[4] 'पराबिन्दु' के दो भाग हैं—(१) दक्षिण भाग = पुरुषरूप = 'ह' (२) वामभाग = नारीरूप = 'सा'—दोनों मिलकर 'हंस' बन गए । हंस = पुरुष एवं प्रकृति संयोगावस्था है ।[5] अन्य तन्त्रों के अनुसार 'पराबिन्दु' काल के द्वारा तीन भागों में विभाजित कर दिया जाता है जो निम्न हैं—(१) 'बिन्दु' (२) 'नाद' (३) 'बीज' । 'शारदा तिलक' के मतानुसार 'हंस' एक प्रकार का वह सम्बंध है जिसे 'नाद' कहा जाता है । 'बीज' में बिन्दु एवं नाद दोनों रहते हैं । इस प्रकार एक ही 'परा बिन्दु' (क) नाद एवं (ख) बीज—में विभाजित हो जाता है ।[6] 'शारदातिलक' में इसी बात को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

'बिन्दुःशिवात्मको बीजशक्तिर्नादः तयोर्मिथः ।
सर्वागम विशारदैः समवायः समाख्यातः ॥'[7]

अर्थात् आगमिक बिन्दु को शिव एवं बीज को शक्ति एवं नाद को उन दोनों का समवाय स्वीकार करते हैं । 'पराबिन्दु' में बीज एवं बिन्दु (शक्ति एवं शिव) समवाय सम्बंध से रहते हैं । यह समवाय सम्बन्ध ही 'नाद' है । इसीलिए बहुत से आचार्य नादाविर्भाव मानते हैं । बीज बिन्दु एवं नाद की समन्वितावस्था ही 'त्रिबिन्दु' है । इसे ही अन्य तांत्रिकों ने 'कामकला' का अभिधान दिया है । 'कामकला'— मातृकाओं का उदय—स्थूल वर्ण—वर्णों से मन्त्र । इस प्रकार नाद से मन्त्रों का अविनाभाव सम्बंध है । 'त्रिबिन्दु' = सूर्य-चन्द्र-अग्नि । इच्छा-ज्ञान-क्रिया । सत्-रज-तम—इन त्रिकों की समष्टि ही त्रिबिन्दु है । पराबिन्दु—त्रिबिन्दु । त्रिबिन्दु (१) श्वेत बिन्दु (२) रक्त बिन्दु (३) मिश्र बिन्दु ॥ आर्थर एवेलॉन कहते हैं कि—'पराबिन्दु' शिव एवं शक्ति की अविभाजितावस्था है । विस्फोट होने पर इसके तीन भाग हो जाते हैं—(१) 'बिन्दु' (२) 'बीज' (३) 'नाद' । 'नाद', 'बिन्दु' एवं 'बीज' तीनों क्षोभावस्था के परिणाम हैं । क्षोभ-प्रक्रिया में बिन्दु एवं बीज में से एक क्षोभक एवं एक क्षोभ्य है ।

---

१. कालीचरण : षट्चक्र निरूपण की टीका
२. तत्रैव
३. दि गारलैण्ड ऑफ़ लेटर्स, पृ० १२६
४. तत्रैव (१२८)
५. प्रपञ्चसार तन्त्र
६. गा० आ० लें० (पृ० १२९)
७. शारदातिलक

'बिन्दु' की चार शब्दात्मिका शक्तियाँ हैं । इन वृत्तियों के भेद से ही जीवों में ज्ञान का भेद रहता है । इसका अतिक्रम करके ही साधक शिवत्व प्राप्त करता है। बिन्दु की शब्दात्मिका वृत्तियाँ निम्न हैं—(१) परा (२) पश्यन्ती (३) मध्यमा (४) वैखरी । कुछ लोग पश्यन्ती को ही 'अक्षर बिन्दु' कहते हैं । अधिकांश: तांत्रिक आचार्य 'परावाक्' से ही इच्छा-ज्ञान-क्रिया के रूप में स्थित त्रिबिन्दु का उद्भव मानते हैं । त्रिबिन्दु से ही ५ पञ्चाशत मातृकाओं का उद्भव होता है । इनमें स्वर वर्णों में 'बीज' (शिवांश) स्थित हैं तो व्यञ्जनों में (योनि शक्त्यांश) स्थित हैं । सारा विश्व इसी वर्णमाला से आबद्ध है ।

सृष्टि के मूल में 'बिन्दु' अवस्थित है । परमशिव के स्वातंत्र्य के कारण स्पन्दन जब इस बिन्दु का स्पर्श करता है तो यह बिन्दु रेखारूप में परिणत हो जाता है । इन तीन रेखाओं के संयोग से जो त्रिकोण उत्पन्न होता है वही सृष्टि का मूल योनिरूप है जो इस प्रकार है—

त्रिकोण का केन्द्र 'बिन्दु' है
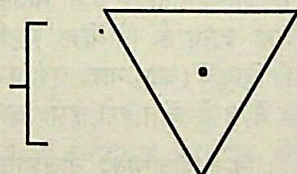
'नाद' का स्वरूप—शिव और शक्ति का प्रथम विकास 'नाद' के रूप में ही माना गया है ।[१] सर आर्थर एवलॉन कहते हैं "From the union of Śiva and Śakti arrises creative ideation This union and mutual relation is called"—'नाद' अर्थात् शिव एवं शक्ति के संयोग से जो सृष्टि की कल्पना की गई है उसमें शिव-शक्ति का संयोग एवं उन दोनों का पारस्परिक सम्बंध 'नाद' कहलाता है । जब शिव और शक्ति स्थिर शक्ति से क्रियात्मक रूप में रूपान्तरित होने लगते हैं तभी नाद का उदय होता है । उनमें विकास की चेतना जाग्रत होती हैं इसीलिए नाद क्रियारूप माना जाता है । इसी नाद से विश्व का विकास होता है। शिव-शक्ति में नादोद्भव तब होता है जब उसमें विकास की चेतना जागती है। तात्विक धरातल पर जिसे 'सदाख्यतत्त्व' कहते हैं मन्त्रक्षेम में उसे ही 'नाद' कहा जाता है ।[२] जिस प्रकार शिव-शक्ति से 'सदाख्यतत्त्व विकसित होता है उसी प्रकार क्रियाशक्ति रूप पर नाद (ब्रह्म) से 'नाद' विकसित होता है । 'प्रयोगसार' में कहा गया है कि—"हे देवि ! अंतरात्मा नाद के रूप में प्रस्फुटित होती है वही वायु (जीवों में प्राणवायु) से पैंरित होकर अक्षरों का रूप धारण करती है ।"

तन्त्र शास्त्र के मन्त्र पक्ष में 'नाद' एवं 'बिन्दु' अहं एवं इदं के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुंए हैं ।[३] कतिपय तन्त्रग्रन्थों में 'नाद' को विराट शक्ति के रूप में

---

१. तन्त्राज़ देयर फिलॉसफी एण्ड औकल्ट सीक्रेट्स (डी०एन० बोस) पृ० ११९
२. दी गारलैण्ड ऑफ लेटर्स (पृ० ११२, ११४)
३. आर्थर एवेलॉन : 'सर्पेण्ट पावर' (पृ० ३८)

स्वीकार करके उसे सृष्टि-विकास का केन्द्र माना गया है ।[१] कतिपय तन्त्रों के अनुसार सच्चिदानन्द सगुण परमात्मा शिव से शक्ति का एवं शक्ति से नाद-बिन्दु की उत्पत्ति हुई है । इसी बिन्दु से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है ।[२] अन्य द्वैतवादी तांत्रिकों के मतानुसार 'शिव' एवं 'शक्ति' नामक दो तत्त्व हैं । शिव शक्ति में प्रवेश करता है और बाद में बिन्दु का रूप धारण कर लेता है । बिन्दु का प्रथम विकास 'नाद' के रूप में होता है और फिर सृष्टि का विकास होता है ।[३] कुछ भेदवादी तांत्रिक शिव एवं शक्ति को समवाय सम्बन्ध से संयुक्त एक तत्त्व तथा बिन्दु का दूसरा तत्त्व मानते हैं ।[४] बौद्धतन्त्रों में 'बिन्दु' ज्ञान के प्रतीक एवं हठयोगिक ज्योति के रूप में कल्पित किया गया है ।[५] शैव तन्त्रों में 'नाद' 'बिन्दु' को शिव-शक्ति के परिकल्पित स्वीकार किए गए हैं । बौद्ध तांत्रिकों ने इन्हें प्रज्ञा एवं उपाय का वाचक भी माना है । तांत्रिक एवं हठयौगिक ग्रन्थों में (क) 'बिन्दु' को—रसना, सूर्य, रवि, प्राण, शमन, काली, यमुना, रज, पुरुष, नाद एवं व्यञ्जन (ख) 'नाद' को—ललना, चन्द्रा, शशि, अपान, घमन, अली, गङ्गा, शुक्रा, तमस् अभाव, प्रकृति, ग्राहक एवं स्वर के रूप में गृहीत किया गया है ।[६]

'कौलज्ञाननिर्णय' में एक स्थल पर बिन्दु को महालिङ्ग की शक्ति एवं दूसरे स्थल पर उसे शिव की सृजन-शक्ति कहा गया है । इसमें बिन्दु से ही नादोत्पत्ति बताई गई है । योग उपनिषदों में 'बिन्दु' मन[७] वायु[८] बुद्धि[९] एवं महेश्वर[१०] के अर्थ में स्वीकार किया गया है ।

'शारदातिलक' के अनुसार—शब्दब्रह्मरूपिणी कुण्डलिनी से शक्ति, शक्ति से ध्वनि, ध्वनि से नाद, नाद से निरोधिका, निरोधिका से अर्द्धेन्दु, अर्द्धेन्दु से बिन्दु की उत्पत्ति होती है । 'शक्ति' = शुद्ध सत्त्व में प्रविष्ट चित्, रजोनुबिद्ध एवं सत्व प्रविष्ट चित् शक्ति = 'ध्वनि' तमोनुविद्ध चित् शक्ति = 'नाद' । तमसप्राचुर्याचित् शक्ति = निरोधिका । सत्वप्राचार्या चित् शक्ति = 'अर्द्धेन्दु' । सत्व + तमस से विशिष्ट होने पर वही चित् शक्ति 'बिन्दु' कहलाती है । बिन्दु का स्थान सहस्रार है। बिन्दु ही शब्दब्रह्म है । मन्त्र में नाद एवं बिन्दु दोनों प्रतिष्ठित हैं । इनमें 'नाद' नीचे एवं 'बिन्दु' ऊपर स्थित होता है । 'नाद' रूपा कुण्डलिनी मूलाधार में (नीचे) एवं 'बिन्दु' रूपी शब्द ब्रह्म (ऊपर) सहस्रार में रहते हैं । ये ही दोनों शक्ति एवं शिव हैं और इनका सम्मिलत कराना ही तान्त्रिकों का लक्ष्य है ।

नाद के कई स्वरूप हैं यथा—

(क) 'महानाद' या नादान्त = शब्दब्रह्म का प्रथम क्रियात्मक विकास

१-२. तन्त्राज़ देयर फिलॉसफी एण्ड ऑकल्ट सीक्रेट्स (पृ० १०७)
३. कलेक्टेड वर्क्स आफ आर० जी० भण्डारकर, पृ० २१९
४. गोपीनाथ कविराज—'तान्त्रिक दृष्टि' ५-६. इन्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज़्म
७. योगकुण्डल्योपनिषद ८. योगशिखोपनिषद
९-१०. ध्यानबिन्दूपनिषद

(ख) 'नाद' = नादान्त की पूर्वावस्था। जो विश्व को नादान्त से भरे हुए हैं।

'निरोधिनी'—नाद की वह अवस्था निरोधिनी है जिसमें बिन्दु का विकसित करने की क्षमता निहित हो।[१] नाद की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्थायें हैं उनमें 'निष्कल उन्मनी' अन्यतम हैं। 'उन्मनी' निराकार निरुच्चार, निरूप एवं विशेषणशून्य वह अव्यक्तवस्था है जो अवाङ्मनसगोचरा है। यह अनुत्पन्न निष्पन्द वाक् है। यह कारणरूपा शक्ति की अवस्था है। इस अवस्था में काल, कला एवं देवता आदि का भान नहीं होता॥ "उन्मनी is Nirākār and Niruchchār (निराकार, निरुच्चार) roundless and without ulternate defind by any adjective, being for beyound mind and speech and universe"[२] यह निर्वाणपद है एवं निर्विकल्प निरञ्जन शिवशक्ति है।[३]

बिन्दु से नादाविर्भाव—कतिपय तांत्रिकों का कथन है कि बिन्दु से भी नादों का उदय होता है जो निम्न है—(१) 'सूक्ष्मनाद'—बिन्दु का प्रथम स्तर, अचिन्त्य तत्त्व एवं अभिधेय बुद्धि का कारण है। (२) 'अक्षरनाद'—यह परामर्श ज्ञान समन्वित एवं सूक्ष्मवाद का कार्य है। (३) 'वर्णवाद'—यह आकाश एवं वायु से उत्पन्न होता है। कुण्डलिनी को भी 'नाद' कहा गया है।[४]

तांत्रिकों के अनुसार 'नाद' से बिन्दु का उद्भव होता है। 'नाद' एवं 'बिन्दु' ये दोनों शक्ति के रूप हैं। शक्ति के इन दोनों रूपों में क्रिया शक्ति स्थित है।[५]

'अहं' द्रष्टा है और 'इदम्' दृश्य है। द्रष्टा की दृश्यरूपी शून्य पर दृष्टि पड़ने पर उस शून्य से एक अव्यक्त नाद ध्वनि झंकृत होती है जिसे 'आदिनाद' या 'परनाद' कहते हैं। नाद की स्फूर्ति के साथ ही ज्योति का भी विकास होता है। नाद एवं ज्योति दोनों एक ही महासत्य की दो अवस्थायें हैं। शक्ति की क्रियावस्था हीं नाद है और निष्क्रिय अवस्था 'कला' है। 'शक्ति' स्वरूपनिष्ठ क्रिया द्वारा कार्योन्मुख होकर 'नाद' के रूप में आत्मप्रकाश करती है। 'नाद' घनीभूत होकर साम्यावस्था में 'परमविन्दु' के रूप में प्रकाशित होता है। पर बिन्दु जब महानाद में से अपर बिन्दु में अवतीर्ण होता है तब बिन्दु जब बीज का स्पर्श करता है तब सारे बीज बिन्दुयुक्त होकर गुञ्जन करते रहते हैं—यही 'नाद' है। मानव-हृदय में अस्फुटभाव से जो चिन्ताएँ क्रीड़ा करती हैं वह नाद की ही क्रीड़ा है। किसी वृत्तिरूप में अन्तःकरण का जो परिणाम होता है वह 'नाद' से व्याप्त होता है। महानाद पर 'प्रणव' है। शक्ति की बहिर्मुख अवस्था ही नाद एवं ज्योति है। 'बिन्दु' ही क्षुब्ध होकर नादरूप में परिणत होता है। 'नाद' वायु के सङ्घर्ष के कारण वर्णमाला रूप में प्रकाशित होता है। 'पादुकापञ्चक' में कहा गया है कि— 'पराशक्ति' ही बिन्दु है और उसका रूपान्तरण है—बिन्दु, नाद एवं 'बीज' 'बिन्दु'—रक्तवर्ण है और सूर्य है। 'नाद'—श्वेतवर्ण है और चन्द्रमा है। ये दोनों ही मिलकर आनन्दमय कोश का निर्माण करते हैं 'कारणबिन्दु' जब प्रस्फुटित होता

१-५. दी गारलैण्ड ऑफ़ लेटर्स (पृ० ११४।१३०)

है सृजनार्थ तीन भागों में विभक्त हो जाता है जो निम्न है—१. 'बिन्दु' २. 'नाद' ३. 'बीज' । वाचकों की महासमष्टिरूप से एकीभूत स्थिति का नाम नाद है ।

(१) मूलाधार से समुत्थित 'नाद' वर्णों के मध्य सञ्चरण करता हुआ माला के सूत की भूमिका का निर्वाह करता है । जिस प्रकार मनकों की पृथकता को एकता में रूपान्तरित करने वाला सूत्र मनकों के मध्य रहता है उसी प्रकार प्रत्येक वर्ण की विभिन्नता को नाद एकता में रूपान्तरित करके उन सभी को आपस में एकसूत्रता में पिरो देता है । 'बिन्दु' मस्तक के मध्य वृत्ताकाररूप में दीपक की भाँति प्रकाशित रहता है ।। २२ ।।

(२) उसके ऊपर 'अर्धचन्द्र' स्थित है । वह आकृति एवं कान्ति दोनों दृष्टियों से अर्धचन्द्रमा की भाँति है ।

(३) इसके ऊपर त्रिभुज के आकार की 'रोधिनी' शक्ति विद्यमान है । यह चाँदनी के सौन्दर्य से मण्डित है ।। २३ ।।

भास्कर कहते हैं—वट बीज के अन्तर्गत वटवृक्षीय सूक्ष्मरूप के तुल्य शब्दसृष्टि सूक्ष्मरूपशालिनी पूर्वोक्तरूपा त्रिपुरसुन्दरी ही तादृशसूक्ष्मरूपवत् प्रवृत्ति-निमित्त क परा पद वाच्या है । वही त्रिपुरसुन्दरी—'माति तरति कायतीति च व्युत्पत्या मतृकेति'—मातृका है । उसके भीतर निर्विकार होने पर भी अनादिसिद्ध अदृष्ट के कारण स्वान्तः संहृतविश्व की सिसृक्षा उत्पन्न होती है । अतः वह स्रष्टव्य पदार्थों का आलोचन करती है—'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' तादृश इक्षरम ही प्रवृत्ति का निमित्त बनकर 'पश्यन्ती' बन जाता है । वही पश्यन्ती मातृकाकरण को उत्तीर्ण करने कारण 'उत्तीर्ण' कही जाती है । उसके अवयव हैं—वामादिक अष्ट शक्तियाँ ; अतः वही व्यष्टि समष्टिवेष से नवविध हैं । उनसे अविकृत शून्यादिक नाद उत्पन्न होते हैं। उनकी समष्टि ही नादध्वनि आदि कहलाती है । 'मध्यमा मातृका'—मध्यमावयवरूप अविकृत शून्य स्पर्श नाद ध्वनि बिन्दु शक्ति बीजाक्षर नाम वाला नाद नवक मूलाधार आदि ६ चक्रों में नाद, नादान्त एवं ब्रह्मरंध्र में स्थित है । ९ नादों द्वारा अ-क-च-ट-त-प-य-श-ल नाम वाले ९ वर्गों वाली वैखरी मातृका उत्पन्न होती है । वर्णों में नाद अनुस्यूत है—"वर्णेषु नादो अनुस्यूतः ।।" दोनों वर्णों के मध्यभाग में मणिद्वय मध्यभाग में स्थित शुद्धसूत्र की भाँति शुद्ध नाद का मान है । वर्णशरीर के अन्तर्भाग में पराभेद द्वारा संवालित तन्तुबद्ध परान्तभृद्वत उन उन वर्णों के साथ अभेद के द्वारा ही नाद का मान है किन्तु यहाँ मण्यन्तर्गत सूत्र दृष्टान्त उचित नहीं है क्योंकि सूत्र तो मणि से पृथक् रहता है किन्तु इस प्रसङ्ग में तो मणि से सूत्र के अभिन्नत्व की प्रतीतिवत नाद के स्वरूप का वर्णन किया गया है ।

अर्द्धचन्द्र—बिन्दु से सहस्रार में उठने के मार्ग में कपाल में जो सोमरस दृष्टिगत होता है वही 'अर्द्धचन्द्र' है । इसके भीतर त्रिविधात्मक वर्णमाला (सौम्य, सौर, आग्नेय) चिद् बीज में सहस्रार के दलों में प्रकाश पाता है । स्थान की दृष्टि से बिन्दु के अनन्तर अर्धचन्द्र है । अर्थात् यह द्वितीय भूमि है और इसकी मात्रा १।४ है यदि बिन्दु पूर्णचन्द्र या चन्द्रबिन्दु है तो अर्धचन्द्र उसका अर्धांश है । यह

बिन्दु के ऊपर स्थित है । इसके चतुर्दिक चार एवं मध्य में एक अर्थात् सब मिलाकर पाँच कलाएँ स्थित हैं । अर्धचन्द्र में जो कि ललाट में स्थित है ज्ञेय प्रधानभाव नहीं है । यह शून्य भी नहीं है । यह आकार में अर्धचन्द्र के समान एवं प्रकाश में चन्द्रमा के समान है—

'तदुपरि गतोऽर्धचन्द्रोऽन्वर्थः कान्त्या तथा कृत्या ।' (वरि०र०)

यद्यपि बिन्दु ही वास्तविक अर्धमात्रा है किन्तु बिन्दु के पश्चात् प्रत्येक परवर्ती मन्त्रावयव में उसके पूर्ववर्ती की अर्धमात्रा (अर्धांश) निहित है । जैसे बिन्दु में एक मात्रा का अर्धांश है तो अर्धचन्द्र में बिन्दु का अर्धांश है, निरोधिका में अर्धचन्द्र का अर्धांश है, नाद में निरोधिका का, नादान्त में नाद का, शक्ति में नादान्त का, व्यापिनी में शक्ति का, समना में व्यापिनी का अर्धांश निहित है । 'अर्धचन्द्र' में काल की स्थिति है किन्तु इसकी मात्रा ६४ लवों की है—'चन्द्रे तद्विगुणा लवाः ।' जब सृष्टिकारक 'शिवामृत' मूर्धा में गिरता है तब वह अवस्था 'अर्धचन्द्र' कहलाती है—

'यदा शिवामृतं मूर्ध्नि पतति सृष्टिकारणम् ।
आप्यायस्तु भवेत्तेन सोऽर्धचन्द्र इति स्मृतः ॥[१]

यह समस्त भूतों की सृष्टि एवं संहार का भी कारक है—"संहारः सर्वभूतानां सृष्टिः कारणमेव च ॥"[२]

अर्धचन्द्र की कलायें निम्नांकित हैं—ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती चैव सुप्रभा विमला शिवाः 'ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती चैव सुप्रभा विमला शिवा । अर्धचन्द्रकला ह्येताः सर्वज्ञपद संस्थिताः ॥ विद्यावरणसंबद्धा मन्त्रकोटि विभूषिताः । क्रिया शक्तिस्वरूपास्तु संस्थिता विमला शुभः ॥"[३]

यहाँ नादात्मक शिव का सदाशिव सम्बन्धी, स्फुट इदन्ताभासात्मक सृष्टिवीर्यरूपात्मक पीयूष का उन्मेष होता है ।

'अर्द्धचन्द्र' दीपक के समान प्रभास्वर है । इसका अवस्थान ललाट में ही बिन्दु के क्िंचित ऊर्ध्वदेश में है । इसका उच्चारणकाल मात्रा का चतुर्थभाग है । बिन्दु के ऊपर 'अर्धचन्द्र' दीप्ति एवं आकृति में अन्वर्थक (आकृति एवं कान्ति दोनों ही दृष्टियों से अर्द्धचन्द्र के समान) है ।

"तदुपरि गतोऽर्धचन्द्रोऽन्वर्थः कान्त्या तथाकृत्या ।"[४]

'अर्द्धचन्द्र' की कलायें निम्नांकित हैं—

ज्योत्स्नावती चैव सुप्रभा विमला शिवा ।
अर्द्धचन्द्रकला ह्येताः सर्वज्ञ पदसंस्थिता ॥[५]

१-५. दी गारलैण्ड ऑफ लेटर्स (पृ० ११४-१३०)
१-३. नेत्रतन्त्र
५. नेत्रतन्त्र ४. वरिवस्यारहस्यम्

दीपिकाकार अर्धमात्रा की व्याख्या करते हुए कहते है—अर्धमात्रः ह्रस्वस्य उच्चारण कालो मात्रेत्युच्यते । मात्राया अर्ध मुच्चारणकालो यस्य सोऽर्धमात्रः ॥" अर्थात् ह्रस्व वर्ण का उच्चारण काल मात्रा कहलाता है । इस मात्रा का अर्द्धांश 'अर्धमात्रा' है ।

आचार्य भास्करराय 'सेतुबंध' में अर्धमात्रा की व्याख्या करते हुए कहते हैं — 'अर्धामात्रा यस्य सोऽर्धमात्रः । मात्रा नाम ह्रस्वस्योच्चारण कालः स च षट्पञ्चाशदुत्तर शतद्वयलवैर्भवति । लवो नाम काल परमाणुः नलिनीपत्रसंहत्याः सूक्ष्मसूच्यभिवेधने । दले दले तु यः कालः स कालो लव संज्ञितः ॥'

'अर्द्धचन्द्र' की निम्न कलायें हैं—(१) ज्योत्स्ना (२) ज्योत्स्नावती (३) सुप्रभा (४) विमला (५) शिवा ॥

मन की मात्रा जितनी ही प्रसृत होती है उतना ही मन का अंश क्षुद्रतर होता है और उतना ही चिदालोक उज्ज्वलतर होता है अर्द्धमात्रादि में जो प्रतिफलित चैतन्य है वही 'मन्त्र' है । एक मात्रा ही अर्द्धमात्रा में परिणत हो जाती है । स्थूल विश्व अनुभूति मन की जिस मात्रा से होती है उसे एक मात्रा कहते हैं । जगत् की अनुभूति का आरंभ इसी एक मात्रा में होता है । मात्रा का अधिक्य जड़ता के अधिक्य का कारण है । साधक का कर्तव्य है कि वह मन को एकाग्र करे (केन्द्र में स्थापित करे) अर्थात् एक मात्रा में अवस्थित करे । सामान्यतः मन एक मात्रा में नही रहता । विक्षिप्त एवं क्षिप्त अवस्था में मात्राओं की बहुलता रहता है ।

'बिन्दु' मात्रा से मात्राहीन की ओर जाने का द्वार है । इस स्थान में ज्ञाता—ज्ञेय-ज्ञान एकाकार हो जाते हैं । मात्रा-भङ्ग के फलस्वरूप अर्द्धमात्रा का उदय होता है । बिन्दु से सहस्रार में उठने के मार्ग में कपाल प्रदेश में जो सोम दृष्टिगत होता है वही 'अर्द्धचन्द्र' है ।

'अर्धचन्द्र' एवं 'रोधिनी' आदि में पूर्व ध्वनि की आधी-आधी मात्रा समझना चाहिए । 'रोधिनी' = अर्द्धचन्द्र का१/२; 'नाद'—'रोधिनी' का १/२; इसी प्रकार परवर्ती ध्वनि अपने-अपने पूर्ववर्ती ध्वनि का १/२ भाग होती है । काल परमाणु ही 'लव' है । २५६ लव = १ मात्रा । बिन्दु का उच्चारणकाल १२८ लव है । अर्द्धचन्द्र का उच्चारण काल ६४ लव है । इसी प्रकार 'रोधिनी' का ३२; 'नाद' का १६; 'नादान्त' का ०८; 'शक्ति' का ४, 'व्यापिका' का ०२ एवं 'समना' का उच्चारण काल १ लव है ।

'उन्मना कालहीन है । 'उन्मना' में क्षण से परार्द्धान्तकाल, निवृत्ति से लेकर शान्त्यतीतादि कलायें, प्राणाचार, भुवन एवं देवों की गति नहीं है । 'उन्मना' = 'गुरुवक्त्र' है एवं परमशिव की प्राप्ति का द्वार है । इससे आगे अनामय पर तत्व मात्र शेष है—

'यावत्सा समना शक्तिः तदूर्ध्वे चोन्मना स्मृता ।
नात्र कालः कलाध्वारो न तत्वो न च देवताः ॥ १२७६ ॥

सुनिर्वाणं परं शुद्धं गुरुवक्त्रं तदुच्यते ।
तदतीतं वरारोहे परं तत्त्व मनामयम् ॥ १२७७ ॥[1]

'योगिनीहृदय' का मत—इसके अनुसार उन्मनी भी कालात्मक है—शक्त्यादीनां तु मांत्राशो मनोन्मन्यास्तथोन्मनी ।[2]

'स्वच्छन्दतन्त्र' का मत—उन्मनी में काल नहीं है—नात्र कालः कलाश्चारो न तत्वो न च देवताः ।।[3]

निरोधिका—अर्धचन्द्र के बाद तृतीय भूमि के रूप में 'निरोधिका' आती है। इसकी मात्रा १/८ है । समग्र विश्व के प्रशासक ब्रह्मादिक पञ्च कारणों की भी ऊर्ध्वगति को अग्रपद होने से रोकने वाली भूमि का नाम ही रोधिनी या निरोधिका है । यह भी बिन्द्वावरण की शेष प्रान्तभूमि है । इस भूमि का अतिक्रमण कर लेने पर विश्व प्रशासन का कार्य संभव नहीं रह जाता । यह योगिमात्रैक लंघ्य दुर्लंघ्य भूमि है । कपाल के ऊर्ध्व में (ब्रह्मरंध्र के नीचे त्रिकोण के मध्य) 'रोधिनी' स्थित है । इसका अभिधान 'रोधिनी' इसलिए है क्योंकि यह ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-ईश्वर-सदाशिव नामक कारण पञ्चक को उनकी ऊर्ध्व गति से रोके हुए है । रोधिनी तक ही 'बिन्द्वावरण' है । यह भी शून्य है । इस भूमि में दिशा एवं काल की पृथकता दृष्टिगत नहीं होती । यहाँ निम्नाभिमुखी मन एवं प्राण की भी अनुभूति नहीं होती । 'रोधिनी' में काल विद्यमान है किन्तु इसकी मात्रा ३२ लव है—'द्वात्रिंशदेव रोधिन्यां' । अध्वगत ध्वनि जहाँ विश्राम करने लगती है, जो सर्वदेवनिरोधिका है, जो ब्रह्मादिक, सुराधियों की गति को भी निरुद्ध कर देती है वही निरोधिकाख्यामांत्री कला है—

'ध्वनिरध्वगतो यत्र विश्राम्यत्यनिरोधतः ।
निरोधिनीति विख्याता सर्वदेव निरोधिका ॥ ६४ ॥

निरोधयति या देवान्ब्रह्मादींश्च सुराधिपे ।[4]
निरोधिकेति साख्याता......................॥

निरोधिका की कलायें निम्नांकित हैं—रुन्धनी, रोधनी, रौद्री, ज्ञानबोधा, तमोपहा । (रुंधनी रोधनी रौद्री ज्ञानबोधा तमोपहा । निरोधिका कला ह्येताः सर्वदेव-निरोधिकाः ॥ नेत्रतन्त्र) । यहाँ अनाहतनादात्मा सदाशिव विश्राम ग्रहण करते हैं । 'निरोधिका' या 'निरोधिनी' त्रिकोणाकार है और चन्द्रिकावत प्रभास्वर है । इसका उच्चारण-काल मात्रा का अष्टम भाग है ।

अर्धचन्द्र के अनन्तर त्रिभुज के आकार की 'रोधिनी' है—जो कि चन्द्रिका की कान्ति से समन्वित है । "अथ रोधिनी तदूर्ध्वं त्रिकोणरूपा च चन्द्रिका कान्तिः ।"[5] कपाल के ऊर्ध्व में (ब्रह्मरन्ध्र) के नीचे त्रिकोण के मध्य 'रोधिनी' स्थित है ।

---

१. स्वच्छन्दतन्त्र (१० पटल)
२. योगिनीहृदय
३. स्वच्छन्दतन्त्र
४. नेत्रतन्त्र
५. वरिवस्यारहस्यम्

निरोधिका की कलायें निम्न हैं—

रुन्धनी रोधनी रौद्री ज्ञानबोधा तमोपहा ।
निरोधका कला, ह्येताः सर्व देव निरोधिकाः ॥
'ब्रह्मादिपरमेशानां पर प्राप्ति निरोधनात् ।

'निरोधिनीतिसा प्रोक्ता'—निरोधिनी का यही अर्थ है । १. रुन्धनी २. रोधनी ३. रौद्री ४. ज्ञानबोधा ५. तमोपहा—यही हैं निरोधिका की कलाएँ ॥ २२ ॥

'व्यापिनी' के विषय में 'नेत्रतन्त्र' में कहा गया है—सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च ह्यमृतामृतसंभवाः ॥ ४२ ॥ व्यापिनी चैव विख्याता शक्तितत्व समाश्रिताः । अलुप्त शक्ति संबंधच्चिच्छक्तिसधिष्ठिताः ॥ ४३ ॥ शक्तितत्त्वे स्थिता ह्येताश्चिन्मात्रा डिप-लक्षिताः । व्यापिनी व्योमरूपा च ह्यनन्तानाथ संज्ञिता । अनाश्रिता महेशानि व्यापिकान्यास्तु कलाः स्मृताः ॥"

'समनाशक्ति'—सर्वज्ञा सर्वगा दुर्गा सवना स्पृहणा धृतिः। समना चेति विख्याता एताः शिवकलाः स्मृताः । इच्छाशक्तिसमधिष्ठाय इच्छा सिद्धि प्रदायिकाः ॥ ४६ ॥ शिवतत्त्व समाश्रित्य सुसम्पूर्णार्णवप्रभाः । अनन्तशक्ति संस्थानाः सूक्ष्माश्चात्यन्त-निर्मलाः ॥ समनान्तं वरारोहे पाश जालमनन्तकम् । वट्कारणा पदाक्रान्तं स्थूलसूक्ष्म प्रभेदतः ॥ शक्त्यादि समनान्तं हि सूक्ष्मविज्ञान गोचरम् । तदूर्ध्वे तु परं शान्तम-प्रमेयमनामयम् ॥ ४९ ॥

समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् (स्व० ४।४२९) मस्तक में इन्दु है उसके ऊपर है बोधिनी और उसके ऊपर है 'नाद' और उसके ऊपर है 'महानाद' उसके ऊपर है 'कला' (आज्ञी) और उसके ऊपर है 'उन्मनी'[१] । 'अर्धमात्रा' = बोधिनी ॥ 'बिन्दु' बोधिनी और नाद—बिन्दुमयी परा प्रकृति के पृथक् पृथक् पक्ष हैं। 'भूतशुद्धितन्त्र' में 'बोधिनी' के नीचे 'बिन्दु' माना गया है ।

कुण्डलिनी एवं नाद—वर्ण रूप १०० कुण्डलों को धारण करने से = 'कुण्डलिनी'—ॐकार—५२ मातृकायें—(१) ५० अक्षरमय (२) ५१वीं मातृका प्रकाशरूपा (३) ५२वीं मातृका—प्रकाश—प्रवाह : १७ वीं ५० मातृकायें जीवन कला = लोम + विलोम से १००/१०० मातृकायें = १०० कुण्डल

(१) **'चतुष्पदी नाद'**—(१) परा (२) पश्यन्ती (३) मध्यमा (४) वैखरी — पाद 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि । तानि विदुर्ब्राह्मणो ये मनीषिणः ॥'

(२) **'पञ्चपदी नाद'**—नाद—(१) सूक्ष्मा (२) परा (३) पश्यन्ती (४) मध्यमा (५) वैखरी ।[२] आचार्यपद्मपाद

(३) **'सप्तपदी नाद'**—(१) शून्य (२) संवित् (३) सूक्ष्मा (४) परा (५) पश्यन्ती (६) मध्यमा (७) वैखरी—आचार्य पद्मपाद ।

---

१. सम्मोहनतन्त्र २. प्रपञ्चसारतन्त्र विवरण-पद्मपादाचार्य

आदिनाद = आदि मन्त्र
"ॐ" शब्दब्रह्म परावाक्
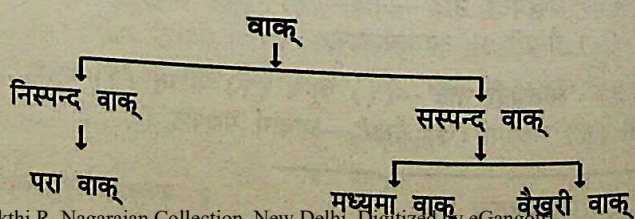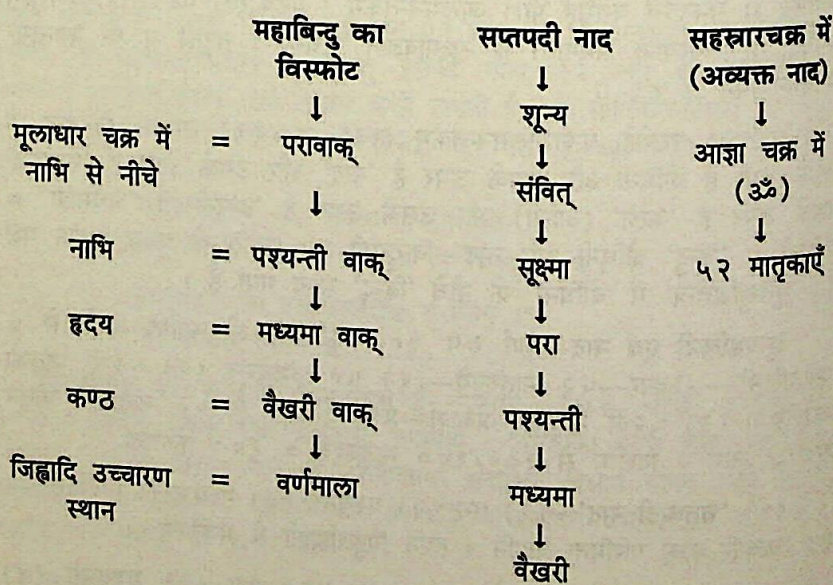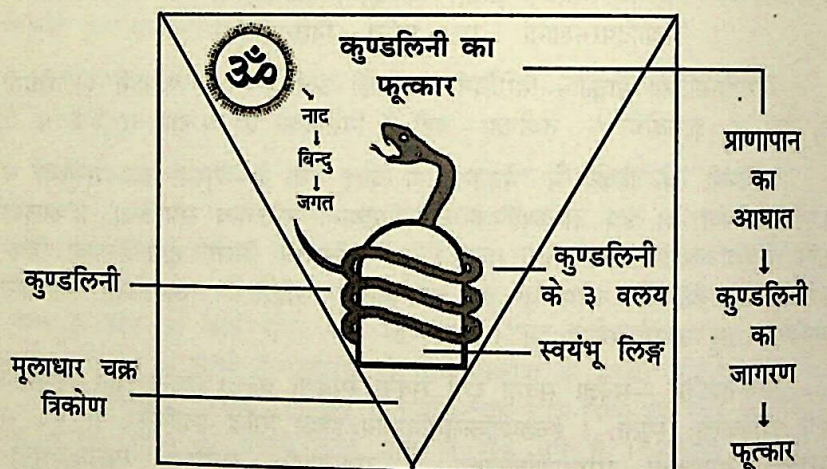
(१) चिदोस्तस्माद्‌भिद्यमाना द्रवोऽव्यक्तात्मको भवेत् । स र व: श्रुतिसम्पत्रैः 'शब्दब्रह्मेति । कथ्यते ॥

(२) मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः ।
पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः ॥

वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्ना ।
बद्धस्तस्माद् भवति पवन प्रेरितो वर्ण संङ्घः ॥ ४३ ॥[१]

(१) 'शून्य' = अनुत्पन्न, निस्पन्द (२) 'संवित' = वागुत्पित्सु (३) 'सूक्ष्मा' = उत्पत्यवस्था (४) परा मूलाधार से प्रथम उदित (५) 'पश्यन्ती'—नाभिस्थिता (६) 'मध्यमा' = हृदयस्थिता (७) वैखरी = कण्ठस्थिता ॥ अभिनव गुप्त पादाचार्य ने नादादिक का सूक्ष्म वर्णन किया है । 'तन्त्रालोक' में उनका स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया गया है ।

अर्धचन्द्र की कलायें—ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावली, कान्ति, प्रभा एवं विमला = (५ कलायें) ॥[२]

बिन्दूर्ध्वेऽर्धेन्दुरेतस्य कला ज्योत्स्ना च तद्वती ।
कान्तिः प्रभा च विमला पञ्चैता रोधिकास्ततः ॥ ३८।३८३ ॥[३]

रोधिका (रेखिनी/रोधिनी) की कलायें[४]—रुन्धिनी । रोधनी । रोदध्री । ज्ञानबोधा । तमोपहा = ५कलायें ॥ ये ५ कलायें निरोधिका के आवरण की हैं ।[५]

अर्धचन्द्र की अष्टमांश निरोधिका शक्ति होती है । निरोधिनी शक्ति ब्रह्मा आदि कारण तत्त्वों को भी आगे बढ़ने से रोक देती है । इसी कारण इसे 'निरोधिनी' कहते हैं । रुन्धनी रोधनी रोदेध्री ज्ञानबोधा तमोपहा एताः पञ्चकलाः प्राहुर्निरोधिन्यां गुरुत्तमाः ॥ ३८४ ॥[६]

इसके बाद सादाख्य परम भुवन का परिवेश आता है । सादाख्यपरा सदाशिव देव मन्त्र शरीर है । निरोधिका के ऊपर 'नाद' का आवरण आता है । 'बिन्दु' अर्धमात्र एवं चतुष्कल होता है उसका आधा 'अर्धचन्द्र' होता है—'अर्धमात्रःस्मृतो बिन्दुर्व्योमरूपी चतुष्कलः ।' अर्धचन्द्र का अष्टमांश 'निरोधिका शक्ति' होती है । 'तदर्धमर्धचन्द्रस्तदष्टांशेन निरोधिका'[७] ॥ ३८५ ॥

निरोधिका आवरण के ऊपर नाद का आवरण है । 'नाद' किञ्जल्क परागवत रमणीय है । मन्त्रमहेश्वर सदृश सूर्यप्रभ पुरुषों से यह भुवन भरा हुआ है । 'इन्धिका । दीपिका । रोचिका । मोचिका एवं ऊर्ध्वगा'—ये पाँच नायिकायें वहाँ सदा सक्रिय रहती हैं[८]—'नादः किञ्जल्कसदृशो महद्भिः पुरुषैर्वृतः । चत्वारि भुवनान्यत्र

१. शङ्कराचार्य—'प्रपञ्चसारतन्त्र'
२. हेतुन्ब्रह्मादिकान् रुन्द्धे रोधिकां तां त्यजेत्ततः ।
निरोधिकामिमां भित्वा सादाख्यं भुवनं परम् ॥ ३८६ ॥ (तन्त्रालोक)
३-८. तन्त्रालोक

दिक्षु मध्ये च पञ्चमम् ।। ३८८ ।। इन्धिका दीपिका चैव रोधिका मोचिकोर्ध्वगा । मध्येऽत्र पद्मं तत्रोर्ध्वगामी तच्छक्तिभिर्वृतः ।।' इनमें चार तो चारों दिशाओं को प्रकाशित करती है किन्तु 'ऊर्ध्वगा' मध्य में राजित रहती है ।[१]

ऊर्ध्वगामी, विकसित, सौषुम्न अरबिन्द कोश में स्थित नाद इन शक्तियों से आवृत रहते हैं । ये इड़ा-पिङ्गला से संवलित हैं । नाद के ऊर्ध्वभाग में ऊर्ध्वगा शक्तिधाम में ही ऊर्ध्वगेश नादान्त देव शाश्वत रूप में स्थित है ।[२]

नाद एवं नादान्त के ऊपर सौषुम्न भुवन का आवरण है । सुषुम्णा शशिप्रभा महादेवी है । इसके स्वामी सुषुम्नेश अनिशसुषुम्ना विहार करते हैं ।[३] सुषुम्नेश इड़ा-पिङ्गला से घिरे हैं । सुषुम्नेश के अङ्क में देवी सुषुम्ना स्थित है । यही शक्ति नाद की आश्रय शक्ति है । 'नादः सुषुम्नाधारस्तु भित्वा विश्वमयं जगत्'—नाद सुषुम्ना में दो काम करता है—प्रथम—अधः शक्ति के द्वारा मूलाधार से उद्गत होता है ।[४] फिर ऊर्ध्वरूपा प्राणात्मिका शक्ति का आश्रय लेकर ऊपर उठता है । ऊर्ध्वगामिनी शक्ति में ऊर्ध्वगेश स्थित हैं सारा विश्व-शरीर नाद शक्ति की अधः ऊर्ध्व शक्तियों से व्याप्त है ।

नाडया ब्रह्मविले लीनः सोडव्यक्त ध्वनिरक्षरः ।
नदन्सर्वेषु भूतेषु शिवशक्त्या ह्यधिष्ठितः ।।

नाडयाधारस्तु नादो वै भित्वा सर्वमिदं जगत् । अधः शक्त्या विनिर्गत्य यावद्ब्राह्मणमूर्ध्वतः । नाडया ब्रह्मबिले लीनस्त्व व्यक्तध्वनिरक्षरः । नदते सर्वभूतेषु शिवशक्त्या त्वधिष्ठितः ।। (स्व० १०।१२३३)

इनकी पराशक्ति ब्रह्माणी है जो कि मोक्षद्वार को अवरुद्ध करके स्थित है । किन्तु वह मोक्षदा भी है । इस आवरण का भेदन करके शक्ति व्यापिनी धाम समना में प्रवेश करती है ।[५]

समना के ऊर्ध्व में कुण्डली भूमि है । वह सुषुप्ता सर्पिणी की भाँति कुण्डली मारकर बैठी है । इसी शक्तितत्त्व में—सूक्ष्मा, सुसूक्ष्मा, अमृता, एवं अमिता नामक चार देवियाँ चारों दिशाओं में एवं व्यापिनी मध्योर्ध्व में स्थित है । व्यापिनी के स्वामी व्यापिनीश भी यहीं स्थित हैं । 'तस्यां सूक्ष्मा सुसूक्ष्मा च तथान्ये अमृतासिते । मध्यतो व्यापिनी तस्यां व्याजीशो व्यापिनीधरः ।।' 'सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च तथा चैवामृतामिता । व्यापिनी मध्यतो ज्ञेया शेषाः पूर्वादितः क्रमात् ।।' (स्व० १०।१२९०)[६]

शक्तितत्त्व में—(१) सूक्ष्मा (२) सुसूक्ष्मा (३) अमृता (४) अमिता—ये चार देवियाँ चार दिशाओं में एवं 'व्यापिनी' मध्योर्ध्व में स्थित हैं । वही व्यापिनी के स्वामी व्यापिनीश भी स्थित है ।[७]

'व्यापिनी' का अवस्थान शक्तितत्त्व में है । शक्ति अनाश्रित भुवन के रूप में भी स्वीकृत है । शक्ति का आश्रय लेकर शिवत्त्व भी विश्वोल्लास में संलग्न है ।

१-७. तन्त्रालोक

व्यापी, व्योमात्मक, अनन्त एवं अनाथ—ये चार दिग्देव हैं। ऊर्ध्व दिग्देव अनाश्रित है । इसी नाम से वहाँ देवाधिदेव भी स्थित हैं। अनाश्रित प्रभु अनन्त कोटि सूर्यों के प्रकाश से भासमान है और अपनी अङ्कशोभिता अनाश्रिता शक्ति से सुशोभित है अनाश्रित शक्तितत्त्व में स्थित है शिव में नहीं । ब्रह्मबिल—शक्ति—व्यापिनी—समना—उन्मना—का क्रम है ।[१]

अनाश्रित शिवतत्त्व से ऊर्ध्व आवरण 'समना' नामक पराशक्ति का भुवन है—

शिवतत्त्वोर्ध्वतः शक्तिः परा सा समनाह्वया ।
सर्वेषां कारणानां सा कर्तृभूता व्यवस्थिता ॥ ४०० ॥

विभर्त्यण्डान्यनेकानि शिवेन समधिष्ठता ।
तदारूढः शिवः कृत्य पञ्चकं कुरुते प्रभुः ॥ ४०१ ॥

(१) यह समस्त कारणों की कारणारूपा भूमि है ।[२]

(२) यह शिवाधिष्ठिता क्रियारूपा पराशक्ति अनन्त अण्डकराओं को धारण करती है और उनका पोषण करती है ।[३]

(३) समना में अधिष्ठित । शिव पञ्चकृत्य (सृष्टि। स्थिति। संहार तिरोधान। अनुग्रह) का सम्पादन करते हैं । इन्हें ही ३६ तत्त्वमय विभु शिव कहते हैं । पञ्चकृत्य करने का आधार यह है कि प्रमाता और कर्ता शिव की सृष्टि क्रिया में 'समना' ही कारणरूपा है—समना करणं तस्य हेतुकर्तुर्महेशितुः ।' परमात्मा शिव पहले स्वातंत्र्यवश शून्यात्मकता को अवभासित करता है और परिणामत अनाश्रित शिव हो जाता है ये उसी शिवेच्छा से पञ्चकृत्य का सम्पादन करते हैं—'अतश्चानाश्रितादिस्तदिच्छयैन सृष्टयादि करोति—अनाश्रित भूमिका स्थित शिव 'अनाथ' भूमिका का निर्वाह करते हैं । 'अनाश्रित' अनाथ को पैंरित करते हैं एवं 'अनाथ'—'अनंतेश' को पैंरित करते हैं । अनन्तेश व्योमविग्रह व्योमात्मा शिव को व्योमव्यापी, व्यापी शिव को पैंरित करते हैं ।[४] व्यापिनी ही इनकी करण शक्ति है । माया इनकी कर्मरूपा शक्ति है । उसी के अधिकार में विश्वगर्भा कुण्डलिनी स्थित है। नाद, निरोधिनी, अर्धचन्द्र एवं बिन्दु आदि इसी के कार्य हैं । अनाश्रित, अनाथ अनन्त, व्योमात्मा एवं व्यापी—ये ही पञ्चकारण हैं । ये क्रमशः बिलग्रन्थि, नादोर्ध्वांत, सुषुम्ना, बिन्दु एवं शक्ति के स्वामी है । अनाश्रित, ब्रह्मा, अनाथ विष्णु, अनन्त रुद्र, व्योम भट्टारक ईश्वर, व्यापी-सदाशिव रूप है[५] ॥ २४-२७ ॥

'नाद'—'शारदातिलक' में कहा गया है कि 'पर बिन्दु' जो कि पराशक्ति से समन्वित है अपने को तीन भागों में विभाजित करता है जो निम्न है—(१) बिन्दु (२) नाद (३) बीज । 'बिन्दु' शिवरूप 'बीज' शक्तिरूप एवं 'नाद' शिवशक्तिरूप है—शिव-शक्ति दोनों की प्रकृति से युक्त है—शिवशक्ति का पारस्परिक सम्बंध या दोनों का 'मिथःसमवायः' है । 'नाद'—शिव एवं शक्ति के पारस्परिक सम्बंध का

नाम है—'Nāda is thus the union of therse two in creation". 'Nāda is the first produced movement in the editing cosmic consciousness leading up to the Sound Brahman (Śabda Brahma) where all ideas the languege in which they are exrpressed (Śabda) and the objects (Artha) which they denote are demised".[2] Nāda is a mutual relation between Bindu and Bīja.[3]

'बिन्दुः शिवात्मको, बीजम् शक्तिर नादास्तयोर्मिथः ।
समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ।।'

'Nāda is Śiva Śakti—that is, their mutual relation or interaction (मिथः समवायः) or yoga (union) as 'Prayogo-Sana' call it.[4]

जब 'प्रकाशबिन्दु' 'विमर्शबिन्दु' में प्रविष्ट होता है तब बिन्दु में उच्छूनता (Swelling, सूजन) आती है तब इस बिन्दु से नाद उत्पन्न होता है । इसी नाद में सारे तत्त्व रहते हैं । यही नाद व्यक्त होकर त्रिकोण का रूप धारण कर लेता है ।। २८-३० ।।

पूर्व विद्यास्वरूपस्य काल उक्तः, इदानीमुच्चारणकालं निष्कृष्याह—

आद्ये दश मध्ये ताः सार्धास्तार्तीय कूटेष्टौ ।
एकलवोना ऊनत्रिंशन्मात्रा मनोर्जपे कालः ।। ३१ ।।

(कूटत्रय का उच्चारण-काल)

प्रथम (कूट) में दश (मात्रायें), मध्य (कूट) में साढ़े दस (मात्रायें) एवं तृतीय (कूट) में एक लव कम साढ़े आठ (मात्रायें)—कुल मिलाकर एक लव न्यून उन्तीस मात्रा-काल जप में होना चाहिए ।। ३१ ।।

*** प्रकाश ***

आद्ये कूटे दश मात्राः । मध्ये कामराजकूटे ता दश सार्धा मात्राः । तार्तीय-कूटेऽष्टाविति । यस्य पूर्वपरवर्ति पदद्वयं काकाक्षिन्यायेन द्विर्द्विरन्वयितव्यम् । तेनैकल-वोनाः सार्धा अष्टौ मात्रास्तृतीयकूटे यथापूर्वमवस्थिता इत्यर्थः । संहत्य त्वाह—एकल-वोना इति । ऊनत्रिंशदेकोनत्रिंशत् । जपे वाचिके । न तु मानसे पूर्वोक्तकालादयः । प्रथमद्वितीयकूटस्थास्तु यत्र न्यासादौ संध्याङ्गभूतै—कैककूटमात्रजपे च प्रातिस्विक-मुच्चारणेन कूटानां विनियोगविधिस्तत्रैव सार्थका इति विज्ञेयम् ।। ३१ ।।

*** सरोजिनी ***

'पञ्चदशाक्षरी मन्त्र के प्रथम कूट ('वाग्भव कूट') में १० मात्रायें, मध्य द्वितीय कूट ('कामराज कूट') में १० मात्रायें, एवं तृतीय कूट ('शक्ति कूट') में एक लव

1-4. Serpent Power (Sir John Woodroffe) p. 43

कम ८ ।। मात्रायें अर्थात् एक लव कम २९ मात्राकाल में मन्त्र का जप किया जाना चाहिए ।

'आद्ये'—आद्यकूट (वाग्भव कूट) में । "मध्ये" द्वितीय या कामराज कूट में । "सार्धा" = १/२ भाग ।

'तार्तीय कूटे'—तृतीय कूट, शक्ति कूट में ।

'मनोर्जपे'—मन्त्र के जप में । 'जपे' = वाचिक जप में ।

'कालः'—किसी भी मन्त्र या उसके कूट के उच्चारण में कितना समय लगना चाहिए इसका समयानुशासन ही 'काल' है । मन्त्रोच्चारण काल ही यहाँ 'काल' शब्द का अर्थ है ।। ३१ ।।

अथ कूटानां व्यष्टिसमष्टिभेदेन चतुर्धाभिन्नानां स्वरूपविशेषनाह—

व्यष्टि समष्टिविभेदादस्यां चत्वारि बीजानि ।
सृष्टि-स्थिति-संहारा नाख्यारूपाणि भवनीयानि ॥ ३२ ॥

पुटधामतत्त्वपीठान्वयलिङ्गकमातृ तत्समष्टीनाम् ।
रूपान्तराणि बीजान्यमूनि चत्वारि चिन्तनीयानि ॥ ३३ ॥

(कूटत्रय में बीज चतुष्टय)

इस (विद्या) में (तीनों कूटों पर) व्यष्टि (व्यक्तिगत) एवं समष्टि (सामूहिक) रूप से विचार करने पर (इसमें) सृष्टि, स्थिति संहार एवं अनाख्या रूप वाले चार बीजों (के अवस्थान) का चिन्तन करना चाहिए ।। ३२ ।।

(बीज चतुष्टय का)

पुट, धाम, तत्त्व, पीठ, अन्वय, लिङ्ग एवं मातृका आदि में इन चारों बीजों की भावना व्यष्टि-समष्टि भेद से करनी चाहिए ।। ३३ ।।

*** प्रकाश ***

अनाख्या तिरोधानानुग्रहयोः समष्टिः, कृत्यपञ्चकेष्वप्यौदासीन्यावलम्बनरूपावस्थानविशेषो वा । पुटादिष्ट्कं धामसप्तकं च त्रित्रिरूपं पृथक्पृथक् तत्समष्टिरेकैकेत्येवं चत्वारि चत्वारि । यथा—पुटानि ज्ञातृज्ञानज्ञेयानि तत्सामरस्यं च । धामानि चक्रनाथदशाशक्तित्रयात्मरूपाणि सप्त । तत्र चक्राण्यग्निचक्रसूर्यचक्रसोमचक्राणि ब्रह्मचक्रं च । नाथा मित्रेशनाथषष्ठीशनाथोड्डीशनाथाश्चर्यानन्दनाथश्च । दशा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयस्तुरीया¹ च । शक्तयः—वामाज्येष्ठारौद्र्यः शान्ता च; इच्छाज्ञानक्रिया अम्बिका च; कामेश्वरीवज्रेश्वरीभगमालिन्यो महात्रिपुरसुन्दरी च । आत्मान आत्मान्तरात्मपरमात्मानो ज्ञानात्मा च । तत्वान्यात्मतत्त्वविद्यातत्त्वशिवतत्त्वानि सर्वतत्त्वं च । पीठानि कामरूपपूर्णगिरिजालंधराण्योड्याणपीठं च । अन्वयाः प्राग्दक्षिणपश्चिमान्वया उत्तरान्वयश्च । एत एव समयपदेनाम्नायपदेन च कथ्यन्ते । लिङ्गानि स्वयंभूबाणेतराणि

परं च । मातृकाः पश्यन्तीमध्यमावैखर्यः परा च । धामपदार्थत्वेनोक्तं शक्तित्रयं मातृपदस्थ वार्थः ॥ ३२-३३ ॥

* सरोजिनी *

'समष्टि'—समूहात्मक । 'व्यष्टि'—व्यक्तिगत । 'बीज'—१. 'सृष्टि' २. 'स्थिति' ३. 'संहार' ४. 'अनाख्या' ।

'अनाख्या'—निरोधान एवं अनुग्रह की समष्टि । कृत्यपञ्चक में भी औदासीन्य का विशेषावलम्बन ।

'अस्यां चत्वारि बीजानि'—इसमें चार बीज हैं जो निम्न हैं—१. सृष्टि २. स्थिति ३. संहार ४. अनाख्या ॥ ३२ ॥

'पुट'—पुटादिष्ट्क । 'अनाख्या'—तिरोधान-अनुग्रह की सृष्टि कृत्य पञ्चक में भी औदासीन्यावलम्बनरूप अवस्थान विशेष ।

'धाम'—धामसप्तक ।

'पुट'—ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय एवं उनका सामरस्य ।

'धाम'—सामरस्यचक्र नाथ दशा शक्ति त्रयात्मकरूप सात ।

'चक्र'—अग्निचक्र । सूर्य चक्र । सोमचक्र । ब्रह्म चक्र ।

'नाथ'—मित्रेशनाथ, षष्ठीशनाथ, उड्डीशनार्थ, आश्चर्यानन्दनाथ ।

'दशा'—जाग्रत, स्वप्न, सुषुरित, तुरीय ।

'शक्ति'—वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, शान्ता । एवं—इच्छा, ज्ञान क्रिया, अम्बिका एवं कामेश्वरी, वज्रेश्वरी, भगमालिनी एवं महात्रिपुरसुन्दरी। आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा ।

'तत्त्व'—आत्मतत्त्व । विद्यातत्त्व । शिवतत्त्व । सर्वतत्त्व ।

'पीठ'—कामरूप, पूर्णगिरी, जालंधर, ओडयाण पीठ ।

'अन्वय'—प्राक्, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर । समय पद । आम्नाय पद ।

'लिङ्ग'—स्वयंभूलिङ्ग । बाणलिङ्ग । इतरलिङ्ग । परलिङ्ग ।

'मातृका'—पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, परा ।

'पुट'—ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय एवं उनका सामरस्य ।

'कामरूप पीठ' क्या है?—'कामरूप पीठ'—जब पराशक्ति आत्मगर्भस्थ एवं अपने साथ एकीभूत विश्व को देखने के लिए उन्मुख होती है तब शक्ति एवं शिव साम्यभावापन्न होकर एक बिन्दु के रूप में परिणत हो जाते हैं जिससे कि पारमार्थिक चैतन्य प्रतिकालित होकर ज्योतिलिङ्ग के रूप में प्रकट होता है । यही

बिन्दु 'कामरूप पीठ' कहलाता है । इस पीठ में अभिवयक्त चैतन्य 'स्वयंभूलिङ्ग' कहलाता है । यह शक्तिपीठ शक्ति एवं शिव से समभाव में एक-एक मात्रा लेकर सङ्घटित है । शिव-शक्ति का यह अंशद्वय—(१) 'शान्ताशक्ति' एवं (२) 'अम्बिका शक्ति' कहलाता है । इस पीठ में महाशक्ति की अभिव्यक्ति 'परावाक्' के रूप में होती है । यही प्रणव का परम रूप या वेद का स्वरूप है ।

'पूर्णगिरि पीठ'—शक्ति के क्रमिक विकास के क्रम में आगे 'शान्ताशक्ति' 'इच्छाशक्ति' के रूप में परिणत हो जाती है एवं शिवांश-अम्बिका शक्ति भी 'वामा' के रूप में परिणत हो जाती है । (शान्ता—इच्छा । अम्बिका—वामा ।) उभय शक्तियों के पारस्परिक वैषम्य के दूर होने पर एक अद्वय सामरस्यमय बिन्दु का आविर्भाव होता है जिससे कि तदनुरूप चैतन्य का स्फुरण होता है । इसी बिन्दु को 'पूर्णगिरि पीठ' कहते हैं । यही हैं 'पश्यन्तीवाक्' की अवस्था ।

'जालन्धर पीठ'—इच्छाशक्ति के उपराम होने पर जब 'ज्ञानशक्ति' का आविर्भाव होता है एवं शिवांश ज्येष्ठाशक्ति के साथ ज्ञानशक्ति अद्वैतभाव में मिलित होती है तब 'जालन्धर पीठ' रूप सामरस्य बिन्दु की सृष्टि करता है । इस बिन्दु से अभिव्यक्त चैतन्य 'इतरलिङ्ग' कहा जाता है । शक्ति के इस स्तर में 'मध्यमावाक्' आविर्भूत होती है

'उड्डीयान पीठ'—जब ज्ञान शक्ति 'क्रियाशक्ति' के रूप में परिणत होती है तब शिवांश रौद्री शक्ति के साथ साम्यभाव प्राप्त करती है । उसके द्वारा जिस अद्वैत बिन्दु का आविर्भाव होता है उसे 'उड्डीयान पीठ' कहते हैं । इस बिन्दु से चित् शक्ति महातेजोमय 'परलिङ्ग' के रूप में अभिव्यक्त होता है एवं यहाँ शब्द वैखरीवाक् के रूप में आविर्भूत होता है ।

समस्त विश्व का मूल महात्रिकोण है ।
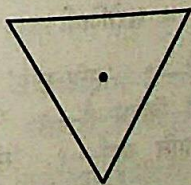
त्रिकोण कामध्य बिन्दु परावाक् या अम्बिकाशान्ता—इन दो शिवशक्त्यंश का साम्यभावापन्न स्वरूप है । बिन्दु में शिव+शक्ति दोनों का अंश स्थित है इसी प्रकार त्रिकोण में भी किन्तु 'बिन्दु' प्रधानतः शिव रूप में एवं त्रिकोण 'शक्ति' या योनि रूप में परिणत हो जाता है ।

त्रिकोण की ३ रेखायें = पश्यन्ती, मध्यमा वैखरी है । त्रिकोण की ३ रेखायें वाचक हैं—३ शब्दों, सृष्टि-स्थिति-संहार रूप ३ व्यापारों वामा-ज्येष्ठा-रौद्री, ब्रह्मा-विष्णु-महेश (शिवांश) की प्रतिनिधि है ।

अथ प्रत्यक्षरं स्वरूपमाह—

एकैकस्मिन् कर्मणि सृष्ट्यादिविभेद तस्त्रिविधे ।
ब्रह्माद्या अधिपतयो भारत्यादि स्वशक्तिभिः सहिताः ॥ ३४ ॥

ब्रह्मादयस्त्रयोऽमी भारत्याद्याश्च शक्तयस्तिस्त्रः ।
प्रत्यक्षरस्वरूपाः शाक्तार्थे वक्ष्यमाण रीत्या ॥ ३५ ॥

(ब्रह्मादिक देवत्रय एवं उनकी शक्तियों की मन्त्राक्षररूपता)

ब्रह्मादिक अधिपति भारती आदि अपनी शक्तियों के साथ सृष्टि आदि प्रत्येक कर्म के पक्ष त्रय के अधिपति होते हैं ॥ ३४ ॥

शाक्तार्थ में विवक्षित रीति के अनुसार ये ब्रह्मादिक देवत्रय एवं भारती आदि शक्तियाँ प्रत्येक मन्त्राक्षर के स्वरूप वाले हैं ॥ ३५ ॥

* प्रकाश *

सृष्टिकर्म त्रिविधं सृष्टिसृष्टिः सृष्टिस्थितिः सृष्टिसंहृतिश्चेति । एवं स्थितिकर्म स्थितिसृष्टिः स्थितिस्थितिः स्थितिसंहृतिश्चेति । एवं संहृति कर्मापि संहृतिसृष्टिः संहृति-स्थितिः संहृतिसंहृतिश्चेति । अत्र प्रतित्रिकं ब्रह्मादयस्त्रयो[१] ब्रह्मविष्णुरुद्रा भारतीपृथिवी-रुद्राणीसहिता अधिपतयः । एवं च प्रथमकूटे—ककारो ब्रह्मण एवं रूपान्तरम्, त्रिकोणा तु भारतीस्वरूपा, तुर्यः स्वरो विष्णुस्वरूपः, लकारः पृथिवीस्वरूपः, हकारो रुद्रस्वरूपः, रेफो रुद्राणीस्वरूपः, तुर्यः स्वरस्तु शान्ताम्बिकात्मकमिथुनस्वरूपः । द्वितीयकूटे मध्यमहकारं परित्यज्यावशिष्टाक्षरेष्वेषैव रीतिः । तृतीयकूटे तु द्वितीय-कूटस्थपरित्यक्तहकारस्य ब्रह्मस्वरूपत्वाद्भारतीमारभ्यैव सकारेणारम्भः । शक्तिकूट-त्वेन शक्तेः प्राधान्येन प्रथमं निर्देशः । तदेतदाह—शाक्तार्थे वक्ष्यमाणयेति ॥ ३४-३५ ॥

* सरोजिनी *

(क) सृष्टि कर्म त्रिविध है—१. 'सृष्टि-सृष्टि' २. 'सृष्टि-स्थिति' ३. 'सृष्टि-संहृति' ॥ (ख) स्थिति कर्म भी त्रिविध है—१. 'स्थिति-सृष्टि' २. स्थिति-स्थिति' ३. 'स्थिति-संहृति' ॥ (ग) संहृति कर्म—१. 'संहृति-सृष्टि' २. 'संहृति-स्थिति' ३. 'संहृति-संहृति' ॥

प्रत्येक त्रिक—में ब्रह्मादिक तीन—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र । भारती, पृथ्वी एवं रुद्राणी सहित उनके अधिपति ।

(क) प्रथम कूट में—'ककार'—ब्रह्म । 'त्रिकोण' (ए) = भारती ॥ 'तुर्य स्वर' ='ई' = विष्णु । 'ल' = पृथ्वी । 'ह्रीं' = में 'ह' = रुद्र । रेक = रुद्राणी । 'ई' = तुर्य स्वर = 'शान्ता'-'अम्बिका'-मिथुन रूप । ('क,ए,ई,ल,ह्रीं' = प्रथम कूट) ।
(ख) द्वितीय कूट में—('ह स क ह ल ह्रीं') ।
(ग) तृतीय कूट में—('स क ल ह्रीं') ॥ ३४ ॥

इस श्लोक का आशय यह घोषित करना है कि—ब्रह्मा-भारती, विष्णु-लक्ष्मी एवं रुद्र-रुद्राणी पञ्चदशाक्षरी मन्त्र के प्रत्येक वर्ण के साक्षात स्वरूप हैं।

सारांश—पञ्चदशाक्षरीमन्त्र के वर्ण = ब्रह्मा-भारती, विष्णु-लक्ष्मी, रुद्र-रुद्राणी। समस्त वर्णों का मूल केन्द्र 'परावाक्' है और परावाक् भगवती का स्वरूप है—

आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदासा परमा कला।
अम्बिका रूपमापन्ना परावाक् समुदीरिता॥ ३६ ॥[1]

अर्थात् विमर्श शक्तिरूपा 'परमाकला' जब अपने पर शिवरूप आत्मा का (पश्यन्ती आदि क्रम से वैखरीपर्यन्त) स्फुरण (विमर्शन) देखना चाहता है तो परमा शान्तात्मिका होकर अम्बिका रूप को प्राप्त करके (प्रकाशांश मात्रा वाली अम्बिका के साथ सामरस्यापन्न होकर) 'परावाक्' कहलाने लगती है। 'इच्छाशक्ति' ही पश्यन्ती वाक् बन जाती है एवं 'ज्ञानशक्ति' ही 'मध्यमावाक्' बन जाती है—

(१) इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्ती वपुषा स्थिता।[2]

(२) ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमावागुदीरिता।[3]

इसी वाक् से ही मन्त्र बनते हैं। वाक् देवी है तो मन्त्र एवं देवी में कोई भेद नहीं है।

मन्त्रों का सङ्घटन शिवशक्ति समायोग से होता ही है—

(१) शिवशक्तिसमायोगाज्जनितो मन्त्रराजकः।[4]

(२) तेषां समष्टिरूपेण पराशक्ति तु मातृकाम्।

(३) पञ्चभूतमयं विश्वं तन्मयी सा सदानघे।
तन्मयी मूलविद्या च तदद्य कथयामि ते॥

(४) शक्ति मूलाधार में वाणी बन गई है और मन्त्र वाणीमय हैं।

मूलाधारे तडिद्रूपे वाग्भवाकारतां गते।
अष्टात्रिंशत्कलायुक्त पञ्चादशद्वंशाविग्रहा॥[5]

विद्याकुण्डलिनीरूपा मण्डलत्रयविभेदिनी।[6]

(५) शिवशक्तिसमायोगाच्च मन्त्राणामुदयः परः।[7]

(६) समस्त मन्त्रों की योनि परमात्मा की ज्ञानशक्ति है।[8]

१-६. योगिनीहृदय ७. नेत्रतन्त्र

८. ज्ञानशक्ति परा सूक्ष्मा मातृकां तां विदुर्बुधाः।
सा योनिः सर्वमन्त्राणां सर्वत्रारणिवत्स्थिता॥
मन्त्रसृष्टिर्भवेदेषा शिवस्य परमात्मनः।
अस्मादेव समुत्पन्ना मन्त्राश्चामोघ शक्तयः॥ (नेत्रतन्त्र)

अथावशिष्टानां बिन्द्वानां बिन्द्वादीनां स्वरूपमाह—

हृल्लेखा कामकला सपरार्धकलाख्य कुण्डलिन्युत्थः ।
नादाश्चक्रत्रितय त्रितयात्मनो विभावनीयाः स्युः ॥ ३६ ॥

प्रकाश

अत्र प्रथमकूटे या हृल्लेखा, तदन्तर्गता या कामकला, तस्यां गुरुमुखैकवेद्या या सपरार्धकला, सा वह्निकुण्डलिनीत्युच्यते । सैव द्वितीयकूटे सूर्यकुण्डलिनीति, तृतीयकूटे सोमकुण्डलिनीति च कथ्यते । बिन्द्वादिसमष्टिरूपो नादस्तु तत एवोत्पन्नो दीपशिखाग्रवर्तिकज्जललेखावत् । एवं चानाहतमारभ्योत्थितो नादस्त्रैलोक्यमोहन-सर्वाशापरिपूरकसर्वसंक्षोभणचक्रत्रयस्य त्रिविधसृष्टिरूपस्यापरं रूपम्; भ्रूमध्यमारभ्योत्थितो नादः सर्वसौभाग्यदायकसर्वार्थसाधकसर्वरक्षाकरचक्रत्रयस्य त्रिविधस्थिति-रूपस्यापरं रूपम्; बिन्दुस्थानमारभ्योत्थितो नादः सर्वरोगहरसर्वसिद्धिप्रदसर्वानन्दमय-चक्रत्रयस्य संहृतित्रयरूपस्यापरं रूपमिति विभावनीयाः ॥ ३६ ॥

हृल्लेखाओं में स्थित कामकला (ई) की सपरार्ध कला नाम वाली (तीन) कुण्डलिनियों से आविर्भूत नादों को तीनों चक्रों के त्रिक के रूप में कल्पित किया जाना चाहिए ॥ ३६ ॥

सरोजिनी

कुण्डलिनी के तीन रूप हैं—'वह्नि', 'सूर्य' एवं 'सोम' कु० ॥ हृल्लेखा में स्थित कामकला (ई) ह्रीं 'सपरार्धकला' हैं । इन कुण्डलिनियों से उत्पन्न ९ नादों को तीनों चक्रों के त्रिक समझना चाहिए ।

(क) 'वह्नि कुण्डलिनी'—प्रथम कूट में—जो 'हृल्लेखा' है उसके अन्तर्गत जो 'कामकला' है उसके अन्तर्गत गुरुमुखैकवेद्या जो 'सपरार्धकला' है वही 'वह्निकुण्डलिनी' है ।[1]

(ख) 'सूर्य कुण्डलिनी'—प्रथम कूट में स्थित वह्निकुण्डलिनी ही द्वितीय कूट में 'सूर्यकुण्डलिनी' कहलाती है ।[2]

(ग) 'सोम कुण्डलिनी'—प्रथम कूट की वह्निकुण्डलिनी, द्वितीय कुण्डलिनी की सूर्य कुण्डलिनी ही तृतीय कूट में 'सोमकुण्डलिनी' कहलाती है । 'नाद' बिन्द्वादिसमष्टिरूप है ('बिन्द्वादि समष्टिरूपो नादः') उसी से दीपशिखाग्रवर्ती कज्जल-लेखा की भाँति उत्पन्न होता है ।[3]

इसी प्रकार अनाहत चक्र से—

(क) समारब्ध होकर उठने वाला 'नाद'—त्रैलोक्यमोहन-सर्वाशा परिपूरक-सर्वसंक्षोभण चक्र की त्रिविधात्मक सृष्टि का अपर रूप है ।

१-३. भास्कर—प्रकाश

(ख) भ्रूमध्य से समारब्ध एवं वहाँ से उठने वाला 'नाद'—सर्वसौभाग्य दायक, सर्वार्थसाधक, सर्वरक्षाकर चक्रत्रय के त्रिविध स्थिति रूप का अपर रूप है ।[1]

(ग) बिन्दुस्थान से समारब्ध एवं वहाँ से उठने वाला 'नाद'—सर्वरोगहर-सर्वसिद्धिप्रद-सर्वानन्दमय चक्रत्रय के संहृतित्रय का अपर रूप है ।[2] श्रीविद्या के चतुर्थखण्ड में १५ कलाओं का अन्तर्भाव है । इन सभी का निवास ह्रीङ्कार में है क्योंकि—

श्री विद्यात्मके चतुर्थे खण्डे पञ्चदशकलानां अन्तर्भावं निश्चित्य भुवनेश्वरी प्रभृतीनां योगिनीविद्यानां नवानां त्रिकस्य त्रिकस्य एकैक ह्रीङ्कारेण अन्तर्भावं अङ्गीकृत्य, सर्वभूतात्मकं, सर्वमन्त्रात्मकं, सर्वतत्त्वात्मकं, सर्वावस्थात्मकं, सर्वदेवात्मकं, सर्ववेदार्थात्मकं, सर्वशब्दात्मकं, सर्वशक्त्यात्मकं, त्रिगुणात्मकं, त्रिखण्डं, त्रिगुणातीतं, सादाख्यापरपर्यायं, षड्विंशशिवशक्तिसंपुटात्मकं निश्चित्य वर्णपञ्चदशकेन मूलविद्यां असीव्यत् ॥[3]

सारांश—(१) ३ कुण्डलिनियाँ मुख्य हैं जो कि हृल्लेखा-स्थित कामकला की कलायें हैं (२) इन कुण्डलिनियों से उत्पन्न नादों की तीनों चक्रों के त्रिक के रूप में समझना चाहिए । प्रथम कूट (क ए ई ल ह्रीं) में जो हृल्लेखा (ह्रींकार) है उसके अन्तर्गत जो 'कामकला' स्थित है उसके अन्तर्गत गुरुमुखैकवेद्या जो 'सपरार्धकला' है उसे तो 'वह्निकुण्डलिनी' कहते हैं और द्वितीय कूट में इसे 'सूर्यकुण्डलिनी' एवं तृतीय कूट में 'सोमकुण्डलिनी' कहते हैं । बिन्दु आदि समष्टि रूप 'नाद' इन्हीं से उत्पन्न होते हैं ।

कुण्डलिनी, के ३ रूप है : (१) 'कुमारी' (२) 'योषित' (३) 'पतिव्रता'

(क) 'कुण्डलिनीशक्तेखस्थात्रयं विद्यते । यस्मिन् चक्रे 'कुमारी' कौमारावस्थामापन्ना प्रथमं सुप्तोत्थिता मन्द्रयते मन्द्रस्वरं करोति । कुण्डलिन्याः सर्पात्मकत्वात् । सर्पोहि सुप्तोत्थाने मन्द्रस्वरं करोति, तद्वदित्यर्थः ॥

(ख) योषित कुण्डलिनी—'यद्योषित यस्मिन् चक्रे कुलयोषित् विष्णु ग्रंथिपर्यन्तं गत्वा रातीति शेष—'कुलयोषित् कुलं त्यक्त्वाराति विष्णोः प्रभेदने ॥'' (सनत्कुमार)

(ग) 'पतिव्रता कुण्डलिनी'—यत् यस्मिन् चक्रे पतिव्रतापत्या सदाशिवेन सार्धं सहस्रदलकमले विहरमाण । रिष्टं शुभाभावं 'रिष्टं क्षेमे शुभाभावे' 'इत्यभिधानात्' तदन्यदरिष्टं शुभं' अमृतास्वादमिव्यर्थः । यत्किंचित्क्रियते तत् स्वाधिष्ठानगतोऽग्निः अनुबेधति सहायं करोति । अतश्च अभ्यासवशात् वायुना अग्निप्रज्वाल्य अग्निशिखानुविद्धविलीन चन्द्रमण्डलगलत्पीयूषधारानुभवे पञ्चविंशतितत्त्वातीता परमेश्वरी इति ज्ञातुं सुशकमित्युपदेशः ॥

'यत्कुमारी मन्द्रयंते' यद्योषिद्यत्पतिव्रतां ।
अरिष्टं यत्किञ्चं क्रियते अग्निस्तदनुवेधति ॥[4]

१-२. भास्कर—प्रकाश
३. लक्ष्मीधर—लक्ष्मीधरा (सौ०ल० श्लोक ३२) ४. लक्ष्मीधरा
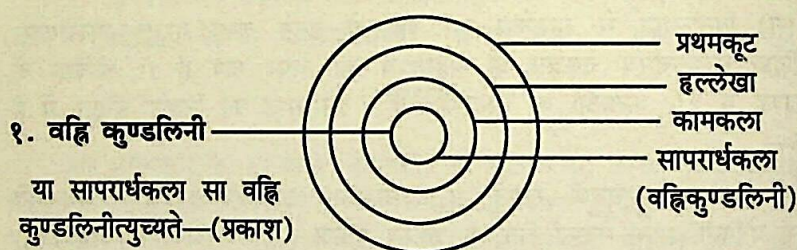
कुण्डलिनीत्रय

त्रैलोक्यमोहन आदि चक्र के आधार में स्थित वह्नि मण्डल में स्थित वाग्भव बीज शिखरवर्ती कामकला के अन्तर्गत स्थित हार्धकला ही वह्नि कुण्डलिनी हैं।
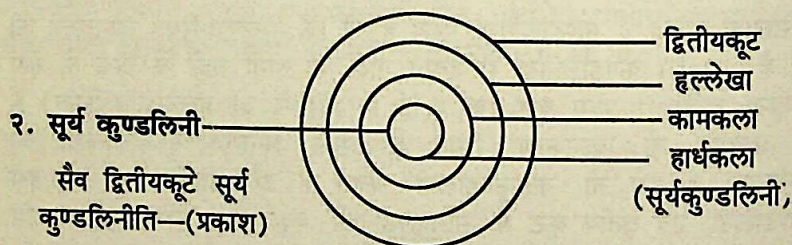
द्वितीय कूट में स्थित हल्लेखा के अन्तर्गत स्थित कामकला में स्थित हार्ध-कला ही सूर्य कुण्डलिनी है। सर्वसौभाग्यदायक आदि चक्रत्रय के हृदय में स्थित सूर्यमण्डल में स्थित कामराजशिखरिवर्ती कामकलान्तर्गत हार्धकला सूर्यकुण्डलिनी है।
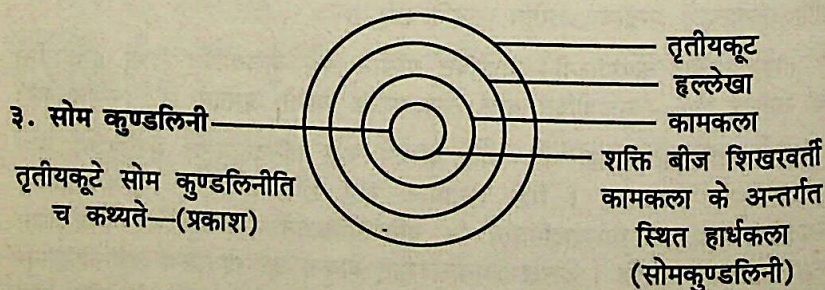
सर्वरोगहर आदि चक्रत्रय के बिन्दु स्थान के इन्दुमण्डल के अन्तर्गत शक्तिबीज शिखरवर्ती कामकला के अन्तर्गत स्थित हार्धकला ही सोमकुण्डलिनी है।

१. त्रैलोक्यमोहन आदि चक्रों का त्रिक =
२. सर्वसौभाग्यदायक आदि चक्रों का त्रिक =
३. सर्वरोगहर आदि चक्रों का त्रिक =

— कुण्डलिनीत्रयोत्पन्न नादों की तीनों चक्रों के त्रिक में भावना करनी चाहिए।

(१) 'अनाहत चक्र से उत्थितनाद एवं त्रिक का सम्बंध—चक्र-त्रिक = (१) त्रैलोक्यमोहन (२) सर्वाशापरिपूरक चक्र (३) सर्वसंक्षोभरम चक्र ॥ सृष्टि-त्रिक = (१) सृष्टि-सृष्टि (२) सृष्टि-स्थिति (३) सृष्टि-संहृति ॥

(२) 'भ्रूमध्य' (आज्ञाचक्र) से उत्थित नाद एवं त्रिक का संबंध चक्र-त्रिक—(१) सर्वसौभाग्यदायक (२) सर्वार्थसाधक (३) सर्वरक्षाकर चक्र । स्थिति-त्रिक (१) स्थिति-सृष्टि (२) स्थिति-स्थिति (३) स्थिति-संहृति ।

(३) 'बिन्दु स्थान' से उत्थित नाद एवं त्रिक का संबंध—चक्र-त्रिक—(१) सर्वरोगहर (२) यर्वसिद्धिप्रद (३) सर्वानन्दमय चक्र ॥

संहृति-त्रिक—(१) संहति सृष्टि (२) संहृति-स्थिति (३) संहृति-संहृति ॥

त्रिदेवों के त्रिकर्म
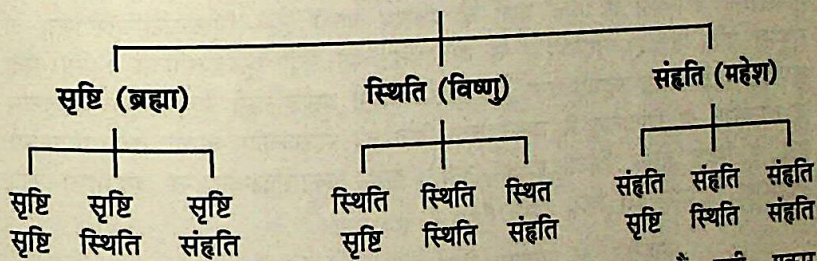
इस प्रत्येक त्रिक के साथ ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र सम्बद्ध हैं—इसी प्रकार भारती-पृथिवी-रुद्राणी भी सम्बद्ध हैं ।

'नादाश्चक्रचितयात्मकनो विभावनियाः स्युः'

"The Nāda-s which emanate from the (three) Kuṇḍalinīs which are othrewise known as Sāparārdha Kalā-s (Hrīṁ) (of the three groups) should be regarded as the three triads of chakra-s."

सारांश—(१) अनाहतारब्ध को (त्रैलोक्यमोहन-सर्वाशापरिपूरक-सर्वसंक्षोभण नामक ३ चक्रों के त्रिविध सृष्टि रूप) (१) सृष्टि-सृष्टि (२) सृष्टि-स्थिति (३) सृष्टि-सहृति का अपर रूप मानना चाहिए ॥

(२) भ्रूमध्याख्य नाद को (सर्व सौभाग्यदायक-सर्वार्थसाधक-सर्वरक्षाकर नामक चक्र त्रय के त्रिविध स्थिति रूप अर्थात्-) (१) स्थिति-सृष्टि (२) स्थिति-स्थिति (३) स्थिति संहृति का अपर पर्याय मानना चाहिए ।

(३) बिन्दुस्थानारब्ध नाद को (सर्वरोगहर-सर्वसिद्धिप्रद-सर्वनन्दमय चक्र त्रय के संहृतित्रय रूप अर्थात् (१) संहृति सृष्टि (२) संहृति-स्थिति (३) संहृति-संहृति का अपर पर्याव मानना चाहिए ।

(१) चक्रत्रयस्य त्रिविध सृष्टिरूपस्यापरंरूपम् ।

(२) चक्रत्रयस्य त्रिविध स्थितिरूपस्यापरं रूपम् ।

(३) चक्रमयस्य त्रिविध संहतित्रयरूपस्यापरं रूपंमिति विभावनीया: (क) 'अनाहतमारभ्योत्थितो नाद' (ख) 'भ्रूमध्यमारभ्योत्थितो नाद: (ग) 'बिन्दुस्थानमारभ्योत्थितो नाद: ।।'[१]

कुण्डलिनी का स्वरूप—कुण्डलिनी 'परमाकला' है—'सर्पाकारा कुण्डलिनी या देवी परमाकला ।'[२] यह समस्त गुणों से युक्त एवं सूर्य, चन्द्र तथा अग्निरूपिणी है—'गुण युक्ता कुण्डलिनी चन्द्रसूर्याग्निरूपिणी ।'[३] यह एक उचिन्त्य शक्ति है और भुजगाकाररूपिणी है—'मूलाधारे तुया शक्तिर्भुजगाकाररूपिणी ।' जीवात्मा इसी कुण्डलिनी के मध्य निवास किया करता हैं (जीवात्मा परमेशानि तन्मध्ये वर्तते सदा ।)[४] इस शक्ति का निवास पाताल में है और उसके प्रियतम शिव का निवास ब्रह्माण्ड में है—'पाताले वसते शक्ति ब्रह्माण्डे वसते शिव:'[५] यह वासुकी या महामाया है । भुजगाकाररूपिणी । सार्धत्रिवलयाकारा पाताल तल वासिनी ।।[६] कुण्डलिनी वर्णमाला के ५० वर्णों के स्वरूप वाली है—"मूलचक्राच्छिरोऽन्ता च सुषुम्ना परिकीर्तिता । तद्गर्भस्था च या शक्ति: सा देवी कुण्डरूपिका । सा सदा कुण्डलिनी देवी पञ्चाशद्वर्याभूषिता ।।'[७] यह कामिनी कुण्डलिनी महापत्रात्मक सहस्रार के बीजकोष या शिवालय में जाकर तथा शिव का साक्षात्कार करके तथा मालाकार रूप में स्थित होकर शिवलिङ्ग को अपने इसी अकारादिक्षकारान्त वर्णमाला रूप अक्षमाला से परिवेष्टित किये रहती है—

'सहस्रारं तु सम्प्राप्य शिवं दृष्ट्वा तु कामिनी ।
मालाकारेण तल्लिङ्गं संवेष्टय कुण्डली सदा ।।'[८]

यह अन्तर्माला ही महामाला है जो ५० वर्णों से निर्मित है ।[९] 'अन्तर्माला महामाला पञ्चाशद्वर्णरूपिणी' और स्वयंभूलिङ्ग पर सुशोभित है । यही कुण्डलिनी सहस्रार महापद्म में 'महाकुण्डलिनी' कही जाती है—'सहस्रारे महापद्मे विश्वरूप पर: शिव: । महाकुण्डलिनी तत्र स्थिता नित्या सुरेश्वरि ।।'[१०] यह विद्युल्लता के आकार की, सोते हुए सर्प की आकृति वाली, सार्द्ध त्रिवलयों से अलंकृत, भगवान शिव को आवेष्टित करके स्थित 'परमेश्वरी' कुण्डली 'परदेवता' है—'तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली पर देवता । प्रसुप्तभुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ।।'[११] सहस्रार में शिव शून्यरूप एवं करोड़ों विद्युत के समान देदीप्यमान कुण्डली इन्दुरूप है और यहाँ 'परमकुण्डली' कहलाती है—'शून्यरूपं शिवं साक्षादिन्दुं परमकुण्डलीम् ।।'[१२] यह नादरूपा, योनिरूपा सनातनी शक्ति है—'नादरूपेण सादेवी योनिरूपा सनातनी ।'[१३] परदेवता कुण्डली हुङ्कार वर्ण से उत्पन्न होती है—'हुंकार वर्ण संभूता कुण्डली परदेवता ।'[१४] 'परदेवता', 'कुण्डली', 'महादेवी' रूपा यह 'रूपवती' देवी अपने

---

१. आचार्य भास्करराय
२-४. मातृकाभेद तन्त्र
५. ज्ञानसंकलिनी तन्त्र
६-१०. तोडल तन्त्र
११-१२. शाक्तनन्दतरंगिणी, कुब्जिकातन्त्र
१३. यामल
१४. गंधर्वमालिका

मुखपद्म की सुगंधि से शिव को आह्लादित कर देती है और शिव के ऊपर लेटती हुई शिव के मुखपद्म का चुम्बन लेती है और क्षणमात्र के लिए सदाशिव के साथ रमण करती है जिससे कि उसी क्षण लाक्षारस के समान रङ्ग वाला अमृतक्षरित होता है—इसी अमृत से परदेवता एवं षट्चक्रस्थित देवों की पूजा की जानी चाहिए ('उन्हें सन्तृप्त करना चाहिए') 'सङ्केतपद्धति' में पिण्ड को ही कुण्डलिनी शक्ति कहा गया है, 'पिण्डं' कुण्डलिनी शक्तिः ।'[१] स्वायंभूलिङ्ग के साथ रमण करनवाली इस कुण्डलिनी को मूलाधार से सहस्रार में लाना चाहिए । और वहाँ से शंभु के साथ एकीकृत (अभिन्न) रूप में देखकर तथा पीनोन्नतपयोधरा, षोडशवर्षीया, नवयौवनसम्पन्ना, सर्वाभरणभूषिता, पूर्णचन्द्रनिभा, नानारत्नयुता, नुपूरशोभिता, कन्दर्पकोटिलावण्या, रक्तकङ्कणमण्डिता, किंकिणीशोभिता, मधुरहासिनी कामिनी के रूप में परिकल्पित करना चाहिए ।

अवरोहण क्रम—सहस्रार में स्थित देवी कुण्डलिनी का इस रूप में ध्यान करके फिर १०८ बार मातृका-माला से मन्त्र का जप करना चाहिए ।

परमात्मा और कुण्डली—नांथ योगियों का कथन है कि 'परमशिव' में सिसृक्षा उत्पन्न होते ही उसे 'सगुण शिव' (वेदान्तियों का अपरब्रह्म) कहा जाने लगता है क्योंकि वह इच्छायुक्त होता है । यह सिसृक्षा है । शक्ति है । परमशिव से एक साथ ही दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं—१. शिव २. शक्ति । यह शक्ति पाँच अवस्थाएँ पार करती हैं—

(१) 'निजा'—परमशिव की अवस्था मात्र धर्म से युक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्तिनी और स्फुरणोन्मुखी यह अवस्था ही 'निजा' है । शक्ति की इस निजा अवस्था में जो शिव रहते हैं वे उनकी अवस्था 'अपरंपदम' है । वे अव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शरीर से युक्त होकर रहते हैं ।

(२) 'परा'—यह शक्ति की स्फुरणोन्मुखी अवस्था है । इस अवस्था के शिव को 'परम' कहते हैं ।

(३) 'अपरा'—यह शक्ति स्पन्दावस्था है । शक्ति की इस अवस्था के साथ रहने वाले शिव 'शून्य' कहलाते हैं ।

(४) 'सूक्ष्मा'—इस अवस्था में शक्ति सूक्ष्म अहन्ता भाव से युक्त होती है । इसके साथ रहने वाला शिव निरञ्जन कहा जाता है ।

(५) 'कुण्डली'—शक्ति की यह अवस्था वह है जिसमें वह पृथकता का भाव लेकर प्रस्तुत होती है । इस अवस्था से उत्पन्न शिव 'परमात्मा' कहलाते हैं—

निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा ।
शक्ति चक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे ॥'[२]

---

१. संकेत पद्धति २. सिद्धसिद्धान्त संग्रह (१।१३)

इस प्रकार शिव पाँच अवस्थाओं को पार करते हुए 'परमात्मा' के रूप में एवं शक्ति 'कुण्डली' के रूप में आविर्भूत होती है । यही 'कुण्डली' समस्त विश्व में व्याप्त है किन्तु पिण्ड में रहने पर 'कुण्डली' एवं समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहने पर 'महाकुण्डलिनी' कही जाती है । इसी 'कुण्डली' की सहायता से शिव सृष्टि-पालन-संहार कर पाने में समर्थ हो पाते हैं । इसका स्वरूप निम्नानुसार है—

'स्वयं' (पर शिव)—निजा + अपर शिव; परा + परमशिव; अपरा + शून्य शिव; सूक्ष्मा + निरञ्जन शिव एवं कुण्डली + परमात्मा रूप शिव ।।

'कुण्डली' शक्ति चिच्छीला, चिद्रूपिणी, अनन्तरूपा, अनन्त एवं शक्तिस्वरूपा है । जगत् इसी का परिणाम है अर्थात् इसका परिणमन ही जगत् है । इसके उपरान्त आविर्भूत होते हैं—अहं प्रधान सदाशिव, इदं प्रधान ईश्वर एवं उभयप्रधान शुद्धविद्या ।

स्फोट—योगी सुचिरनिद्रिता कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने का प्रयास करता है । अधोमुखी कुण्डलिनी जैसे ऊर्ध्वमुखी होती हे वैसे ही 'स्फोट' होता है। यह स्फोट ही 'नाद' है । नाद से प्रकाश होता है और इस प्रकाश का व्यक्त रूप ही 'महाबिन्दु' कहा जाता है । यह 'बिन्दु' तीन प्रकार का होता है । १. इच्छा, २. ज्ञान, ३. क्रिया । इसे ही योगी सूर्य चन्द्र-अग्निद्य ब्रह्मा-विष्णु-महेश कहते हैं।

यह 'नाद' एवं 'बिन्दु' ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनाहत नाद का व्यष्टि में व्यक्त रूप है । अनाहत भाव से समस्त विश्व में व्याप्त नाद व्यक्ति में प्रकाशित होने पर 'नाद' एवं 'बिन्दु' कहलाते हैं ।

प्रस्तुत श्लोक ३६ में जिस कुण्डलिनी का एवं 'प्रकाश' में—१. 'वह्नि कुण्डलिनी' २. 'सूर्य कुण्डलिनी' एवं ३. चन्द्र कुण्डलिनी' का वर्णन किया है उसका स्वरूप क्या है?

भास्करराय कहते हैं—

(१) 'वह्निकुण्डलिनी' = 'अत्र प्रथमकूटे या हल्लेखा तदन्तर्गता या कामकला' तस्यां गुरुमुखैकवेद्या या सपरार्धकला सा 'वह्नि कुण्डलिनी' इत्युच्यते ।'

(२) 'सूर्यकुण्डलिनी'—'सैव द्वितीय कूटे सूर्यकुण्डलिनी इति' ।

(३) 'सोमकुण्डलिनी'—तृतीय कूटे सोमकुण्डलिनी इति कथ्यते ।

'बिन्दादि समष्टिरूपो नादस्तु तत एवोत्पन्न दीपशिखाग्रवर्तिकज्जल-लेखावत् ।'

'नाद' कुण्डलिनी रूप दीपशिखा की वर्तिकाग्रवर्ती कज्जललेखावत स्थित है।

मूलाधार से भी नीचे वाग्भवाकार त्रिकोण में 'समष्टिकुण्डलिनी' का वास है ।

कुण्डलिनी

(मूलाधार के नीचे)	(मूलाधार में)	(हृदय में)	(भ्रूमध्य में)
वाग्भवाकार त्रिकोण में 'समष्टिकुण्डलिनी' (समष्टिप्रणव)	'अग्निकुण्डलिनी' (उकार)	'सूर्यकुण्डलिनी' (अकार)	'सोमकुण्डलिनी' (मकार)

'कुण्डलिनी' ही उन्मना है ।

नित्यानन्द कृत श० महिम्नस्तोत्र की व्याख्या में 'कुण्डलिनी' के ४ रूप बताए गए हैं ।

(१) भास्कराचार्य : कूटत्रय में ३ कुण्डलिनियाँ हैं—

(क) (प्रथम कूट की हृल्लेखा में स्थित कामकला में स्थित सपरार्ध कला) 'वह्निकुण्डलिनी' (ख) द्वितीय कूट में 'सूर्यकुण्डलिनी' (ग) 'तृतीय कूट' में 'सोमकुण्डलिनी'

(२) नित्यानन्दकृत महिम्नस्तोत्र की व्याख्या—इसके अनुसार कुण्डलिनी के ४ रूप हैं—

(१) मूलाधार में—'अग्निकुण्डलिनी'

(२) हृदय में—'सूर्यकुण्डलिनी'

(३) भ्रूमध्य में—'सोमकुण्डलिनी'

(४) वाग्भवाकार त्रिकोण में—(जो कि मूलाधार चक्र के नीचे स्थित है)— 'समष्टि कुण्डलिनी'

(चतुर्विधतनु अग्निसूर्य सोम समष्टिरूपेण, अग्निकुण्डलिनी मूलाधारे, सूर्यकुण्डलिनी हृदये, सोमकुण्डलिनी भ्रूमध्ये, समष्टिकुण्डलिनी मूलाधाराधोगत वाग्भवाकार त्रिकोणे')[1]

कुण्डलिनी के अन्य स्वरूपों का भी दिग्दर्शन कराया गया है यथा (१) 'शक्ति कुण्डलिनी'—जब 'अमाकला' विसर्गहीन हो जाती है तब इसी भुजङ्गाकार, स्वात्मविश्रान्त, प्रसुप्त परासंवित को 'शक्तिकुण्डलिनी' कहते हैं । 'अ' नाम्नी पराशक्ति (या 'सप्तदशीकला' अर्थात् 'अमा') तिरोधान शून्य होने के कारण नित्योदित है और 'अमृतकला' कहलाती है और अन्तःकरण आदि षोडश कलाओं की उद्भाविका है—वही 'अमाकला' विसर्ग शून्य होने परबहिरुन्मुख न रहने पर— 'शक्तिकुण्डलिनी' की आख्या धारण करती है ।

१. नित्यानन्द कृत श० महिम्नस्तोत्र, व्याख्या, पृ० ६

(२) 'प्राण कुण्डलिनी' (३) 'पराकुण्डलिनी'—

विसर्ग के दो प्रकार हैं—(१) पर विसर्ग (आनन्द) (२) अपर विसर्ग (हकार या प्राण)। विसर्ग के दोनों छोटों पर दो कुण्डलिनियों का अवस्थान है—(१) 'प्राण कुण्डलिनी' (२) 'परा कुण्डलिनी'। प्रथम कोटि में अवस्थित 'कुण्डलिनी' ही प्राण कुण्डलिनी' एवं द्वितीय कोटि कोटि में स्थित कुण्डलिनी परा कुण्डलिनी कहलाती है। विसर्ग के दूसरे प्रान्त भूमि में—अनन्त कोटि में—जो कुण्डलिनी अवस्थित है वह स्वात्मविश्रान्त, अन्तरोन्मुरती परासंवित ही 'परा कुण्डलिनी' है।
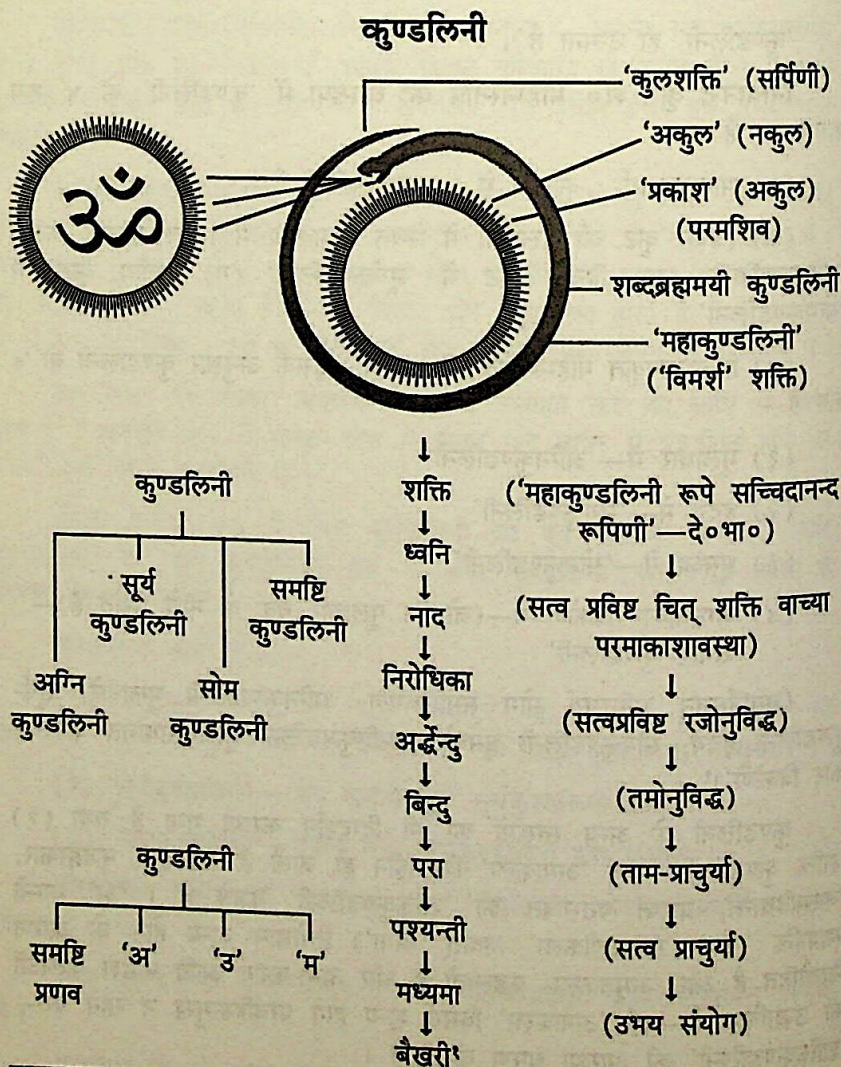
१. शारदातिलक (त० प्र० पटल)

अधः कुण्डलिनी (मूलाधार के अधोप्रदेश में मेरुदण्ड के सबसे निचले भाग में स्थित त्रिकोणाकार अग्निचक्र (कुलकुण्ड) में स्थित है। यही शक्ति की विकास भूमि है—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्)

ऊर्ध्व कुण्डलिनी (मूलाधार से उन्मना तक की यात्रा पार करके परमशिव के साथ एकीभूत)

ध्यातव्य बिन्दु—'बिन्दु' के बाद 'परा' के उद्भव का क्रमसङ्गत नहीं है क्योंकि कुण्डलिनी एवं परा को असकृत (एक) कहा गया है। "सैषा परावाग्लक्षणा कुण्डलिनी। तस्यास्तिस्रोऽवस्थाः पश्यन्त्याद्याः ता एव इह पर परापर अपर कुण्डलिन्य उक्ताः।"[1]

कुण्डलिनी के मध्य में ज्योतिमात्र, सूक्ष्म, परा की अवस्थिति है। राघव भट्ट ने इसे स्वीकार किया है—'सूक्ष्मा कुण्डलिनीमध्ये ज्योतिर्मात्रात्म रूपिणी। अश्रोत्र-विषया तस्यादुद्गच्छत्यूर्ध्वगामिनी॥'[2] यहाँ पर यह 'सूक्ष्मा' परा का ही वाचक है। सार्द्धत्रिवलयाकार 'कुण्डलिनी' एवं सार्द्धत्रिमात्रिक प्रणव एक ही है—'उध्युष्ट-वलयाकार प्रणवत्मुपागता।'[3]

१. प्रयोगक्रमदीपिका (पृ० ४०६) २-३. 'पदार्थादर्श' (पृ० ६०)

अथावस्थापञ्चकं शून्यषट्कं विषुवत्सप्तकं च जपकाले विभागव्यमाह— इन्द्रियदशकेत्यादिना, एवमवस्थेत्यन्तेन श्लोकषोडशकेन ।

इन्द्रियदशकव्यवहृतिरूपा या जागरावस्था ।
तत्र प्रकाशरूपो हेतुर्भाव्यस्तृतीयगे रेफे ॥ ३७ ॥

(जागृतावस्था और रेफस्थ प्रकाश के अंतर्संबन्ध का प्रतिपादन)

जिसमें दस इन्द्रियाँ व्यवहार (जागतिक क्रियाओं का निष्पादन) करती हैं उसके स्वरूपवाली जो जागृतावस्था है उसमें, तृतीयकूट के रेकस्थान में होने वाले, उस प्रकाश की कल्पना करनी चाहिए जो कि जागृतावस्था का कारण है ॥ ३७ ॥

*** प्रकाश ***

कर्मेन्द्रियाणि पञ्च वाक्पाणिपादपायूपस्थानि; ज्ञानेन्द्रियाण्यपि पञ्च घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि; एतेषां दशानां स्वस्वविषयोत्पादकत्वं व्यवहारः; स एव जागरावस्था । तत्र हेतुरूपं ज्ञानमरूपत्वाद्भावनादशायां प्रकाशरूपत्वेन तृतीयकूटस्थरेफस्थाने विभावनीयम् ॥ ३७ ॥

*** सरोजिनी ***

'इन्द्रिय दशक'—(१) कर्मेन्द्रियाँ (२) ज्ञानेन्द्रियाँ ॥

कर्मेन्द्रियाँ = ५ वाक्पाणिपादपायूपस्थ । ज्ञानेन्द्रियाँ = ५ घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् श्रोत्र ॥ इन दशों इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों का उत्पादन ही 'जागरावस्था' है—'एतेषां दशानां स्वस्वविषयोत्पादकत्वं व्यवहारः स एव जागरावस्था ।[1]

ग्रन्थकार का कथन है कि जागृतावस्था का कारण एक दिव्य प्रकाश है और प्रकाश हैं तृतीयकूट का रेफ । 'तत्र हेतुरूपं ज्ञानमरूपात्वाद्भावनादशायां प्रकाशरूपत्वेन तृतीयकूटस्थरेकस्थाने विभावनीयम् ।'[2]

तांत्रिक दार्शनिकों ने चैतन्य को (चेतन तत्त्व को) पञ्चस्तरीय स्वरूप में देखा था जो निम्न हैं—(१) जागर (२) स्वप्न (३) सुषुप्ति (४) तुरीय (५) अतितुर्य—

(१) इन्द्रिय दशक व्यवहृतिरूपा या जागरावस्था ॥ ३७ ॥[3]

(२) अन्तःकरण चतुष्क व्यवहार स्वाप्निकावस्था ॥ ३८ ॥

१-३. वरिवस्यारहस्यम्

(३) आन्तरवृत्तेर्लवतो, लीनप्रायस्य जीवस्य । वेदनमेव सुषुप्तिः ॥ ३९ ॥

(४) तुर्यावस्थाचिदभि व्यञ्जकनादस्य वेदनं प्रोक्तम् ॥ ३९ ॥

(५) आनन्दैकघनत्वं यद्वाचामपि न गोचरो नृणाम् । तुरीयातीतावस्था ॥ ४१ ॥

शब्द की भी (१) जागर (२) स्वप्न (३) सुषुप्ति (४) तुरीय—चार अवस्थायें बतायी गई हैं । 'तुरीय' शब्द ही 'शब्दब्रह्म' है । इसका अतिक्रम करके अतितुर्य या पर ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है । यह परब्रह्म ही 'परमशिव' है । आचार्य शङ्कर ने 'प्रपञ्चसार तन्त्र' के टीकाकार पद्मपादाचार्य ने चेतन तत्त्व को इन पाँच स्तरों पर स्थित देखा है—(१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, (३) कारण, (४) सामान्य, (५) साक्षी ।[१] ग्रन्थान्तर में यह भी कहा गया है कि शब्द का सघोष एवं अघोष बाह्य व्यवहार उसकी 'जागरावस्था' है । समष्टिरूप से हम इसे 'विराटशब्द' कह सकते हैं । पर श्रूयमाण शब्द सघोष शब्द या वाचिक शब्द हैं । अघोष (उपांशु = स्वयं मात्र को श्रुत) अघोष है । जाग्रत दशा में सर्वत्र सघोष एवं अघोषात्मक वाग्व्यवहार रूप शब्दानुविद्धता ही प्रधानतः दृष्टिगोचर होती है । यह स्थूल शब्द वैखरी वाक् कहा जाता है । कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों का व्यवहार ही जागृतावस्था है ।[२]

अन्तःकरणचतुष्कव्यवहारः स्वाप्निकावस्था ।
सा तार्तीयेकाराद्बध्यापि गलस्थले चिन्त्या ॥ ३८ ॥

(स्वप्नावस्था एवं मन्त्राक्षर 'ई' में स्थित प्रकाश के अंतर्संबंध का विवेचन)

अन्तःकरणचतुष्टय का व्यवहारस्वरूप (जागतिक क्रियानिष्पादनरूप) जो स्वप्नावस्था है (उसका कारणरूप जो प्रकाश है) उसे तृतीय कूट की हल्लेखा में स्थित ईकार रूप कामकला के द्वारा (उस स्वप्नावस्था में विद्यमान) समझना चाहिए। द्वितीय कूट के लकार को भी वैसे ही समझना चाहिए ॥ ३८ ॥

*** प्रकाश ***

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चितं चेत्यन्तःकरणानि चत्वारि । तैरेव व्यवहारः स्वप्नः । तज्जनकः प्रकाशस्तृतीयहल्लेखास्थकामकलया[१] बोध्यः । अथापि गलस्थले द्वैतीयीकलकारे चिन्त्यः । गलस्थश्चासौ लश्चेति विग्रहः ॥ ३८ ॥

*** सरोजिनी ***

प्रस्तुत श्लोक में स्वप्नावस्था एवं उससे पञ्चदशी मन्त्र का सम्बंध क्या है?—इसका निरूपण किया गया है । उनका कथन है कि—अन्तःकरण चतुष्टय के व्यवहार का अपर पर्याय है 'स्वप्न' । इस स्वप्नावस्था का मूलभूत (केन्द्रीय) कारण कौन हैं? इसका कारण है वह अचिन्त्य दिव्य प्रकाश जो कि तृतीय कूट की हल्लेखा में स्थित ईकार रूप कामकला । भास्कराचार्य कहते हैं—'मनो

---

१. पद्मपादाचार्य—प्रपञ्चसार की टीका २. भास्करराय—प्रकाश

बुद्धिरहङ्कारश्चितं चेत्यन्तः करणानि चत्वारि । तेरैव व्यवहारः "स्वप्नः" । तज्जनकः प्रकाश स्तृतीय ह्ल्लेखास्थकामकलया बोध्यः ।।'

द्वितीय कूट के लकार को भी वैसा ही समझना चाहिए । 'स्वप्नावस्था' की केन्द्रीय शक्ति है 'ह्रीं' में स्थित ईकार स्वरूप 'कामकला' ।। ३८ ।।

आन्तरवृत्तेर्लयतो लीनप्रायस्य जीवस्य ।
वेदनमेव सुषुप्तिश्चिन्त्या तार्तीयबिन्दौ सा ।। ३९ ।।

(सुषुप्ति का स्वरूप)

तृतीयकूट के बिन्दु में उस सुषुप्ति की भावना करनी चाहिए जो कि सुषुप्ति का कारण है और जिसमें समस्त अन्तःकरण एवं जीव निद्रामग्न हैं ।। ३९ ।।

*** प्रकाश ***

विवरणमत आत्मसुखाज्ञानविषयिकास्तिस्रोऽविद्यावृत्तयः स्वीकृता इत्यत आह— आन्तरवृत्तेरिति । अन्तःकरणपरिणामरूपवृत्तेरित्यर्थः । वार्त्तिकमते वृत्तिसामान्याभाव एव सुषुप्तिः । तार्तीयबिन्दौ ललाटस्थाने ।। ३९ ।।

*** सरोजिनी ***

'सुषुप्ति'—जिस समय अपने व्यापार-सहित बुद्धि अपने कारण अज्ञान में विलीन हो जाती है उसी को विज्ञ पुरुषों ने 'निद्रा' कहा है ।[१] सुषुप्ति-काल में घोर निद्रा में सकल इन्द्रियाँ एवं मन, बुद्धि इत्यादि तथा इनकी वृत्तियाँ अपने उपादान कारण अविद्या में विलीन हो जाती हैं और उस समय आत्मा की जाग्रत-स्वप्न अवस्थाओं के अभाव होने के कारण विश्व तैजस आदि संज्ञा नहीं रहती, उस समय तो वह तमावृत अपने स्वरूप सुख का बिना किसी साधन की सहायता के ही स्वयं भोग करता है ।[२]

वृत्तियाँ एवं सुषुप्ति—

(१) विवरणकार का मत—आत्मसुख के अज्ञानविषयिक तीन अविद्या वृत्तियाँ हैं । अन्तःकरण का परिणाम रूप ही वृत्तियाँ हुआ करती हैं ।
(२) वार्तिककार का मत—वृत्ति सामान्य का अभाव ही सुषुप्ति है ।

तुर्यावस्था चिदभिव्यञ्जकनादस्य वेदनं प्रोक्तम् ।
तद्भावनार्धचन्द्रादिकं त्रयं व्याप्त कर्तव्या ।। ४० ।।

(तुरीयावस्था का स्वरूप)

चैतन्य को अभिव्यक्त करने वाली जो नादावस्था है (वह अवस्था जिसमें 'नाद' पूर्ण चैतन्य को अभिव्यक्त करता है) 'तुरीयावस्था' कहलाती है । उसकी

१. वराहोपनिषद्

भावना अर्द्धचन्द्र एवं (उसके आगे के) वर्णत्रय तक की जानी चाहिए ॥ ४० ॥

*** प्रकाश ***

अर्धचन्द्ररोधिनीनादेषु व्याप्तस्तुर्यावस्थाप्रकाशो भाव्यः ॥ ४० ॥

*** सरोजिनी ***

ज्ञान की सात भूमिकायें

शुभेच्छा | विचारणा | तनुमानसा | सत्वापत्ति | असंसक्ति | पदार्थ भावना | तुरीयगा

ज्ञान की सात भूमिकायें हैं। उनमें अन्तिम भूमिका है 'तुरीयगा'। 'शुभेच्छा प्रथमा भूमिका भवति। विचारणा द्वितीया तनुमानसी तृतीया। सत्वापत्तिस्तुरीया। असंसक्तिः पञ्चमी। पदार्थ भावना षष्ठी। तुरीयगा सप्तमी ॥'

(१) अकार, उकार, मकार एवं अर्धमात्रा वाली प्रणवात्मिका भूमिका होती है।

(२) उन अकार, उकारादि चार मात्राओं के प्रत्येक के स्थूल, सूक्ष्म कारण एवं साक्षी भेद से चार-चार प्रकार के होते हैं। उसमें भी अकारादि के जो स्थूलादि चार भेद हैं उनके प्रत्येक के जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय—ये चार भेद से अवस्थायें होती हैं। आत्मा के भी चार भेद हैं—विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तुरीय। 'तदवस्था जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति तुरीयाः।'

अकार का स्थूल अंश में—जाग्रत-विश्व, उनके सूक्ष्म अंश में जाग्रत तैजस, उसके बीज अंश में जागृत-प्राज्ञ एवं उसके साक्षी अंश में जागृत-तुरीय है।

उकार के स्थूल अंश में स्वप्न-विश्व, उसके सूक्ष्म अंश में स्वप्न-तैजस, उसके बीजांश में स्वप्न-प्राज्ञ एवं उसके साक्षी अंश में स्वप्न-तुरीय है। प्रणव की तृतीय मात्रा मकार के स्थूल अंश में सुषुप्ति-विश्व, उसके सूक्ष्म अंश में सुषुप्ति-तैजस उसके बीजांश में सुषुप्ति-प्राज्ञ एवं उसके साक्षी अंश में सुषुप्ति-प्राज्ञ और उसके साक्षी अंश में सुषुप्ति-तुरीय हैं। प्रणव की चौथी अर्धमात्रा के स्थूल अंश में तुरीय-विश्व उसके सूक्ष्म अंश में तुरीय तैजस, उसके बीज अंश में तुरीय-प्राज्ञ एवं उसके साक्षी अंश में तुरीय-तुरीय है।

(३) अकार के स्थूलांश से तुरीयांश तक जो चार अवस्थायें हैं, उनमें तीन भूमिकायें हैं—प्रथमा—'शुभेच्छा', द्वितीय—'विचारणा', तृतीय—'तनुमानसा'।

उकार के स्थूलांश से लेकर तुरीय तक—चौथी 'सत्त्वापत्ति' भूमिका होती है। मकार के स्थूलांश से लेकर तुरीयांश तक पाँचवी अंससक्ति नामक भूमिका होती है। अर्धमात्रा के स्थूलांश से लेकर उसके तुरीयांश तक छठवीं 'पदार्थभावना' नामक 'भूमिका' होती है। इन समस्त भूमिकाओं के अनन्तर जो अवस्था होती है। वही सप्तमी 'तुरीयगा' भूमिका है।

'ज्ञानभूमिः शुभेच्छास्यात्प्रथमा समुदीरिता ।
विचारणा द्वितीया तु, तृतीया तनुमानसा ।
सत्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसाक्तिनामिका ।
पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगास्मृता ।।'

'तुरीयगा' का स्वरूप क्या है?

यत्र नासन्त सद्रूपो, नाहं नाप्य न हंकृतिः ।
केवलं क्षीणमनन आस्तेऽद्वैतेडित निर्भयः ।।

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्य कुंभइवाम्बरे ।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्ण कुंभ इवार्णवे ।। १८ ।।

मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावना मखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ।।

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह ।
दर्शन प्रथमाभासमात्मानं केवल भज ।।[१]

१. वराहोपनिषद्
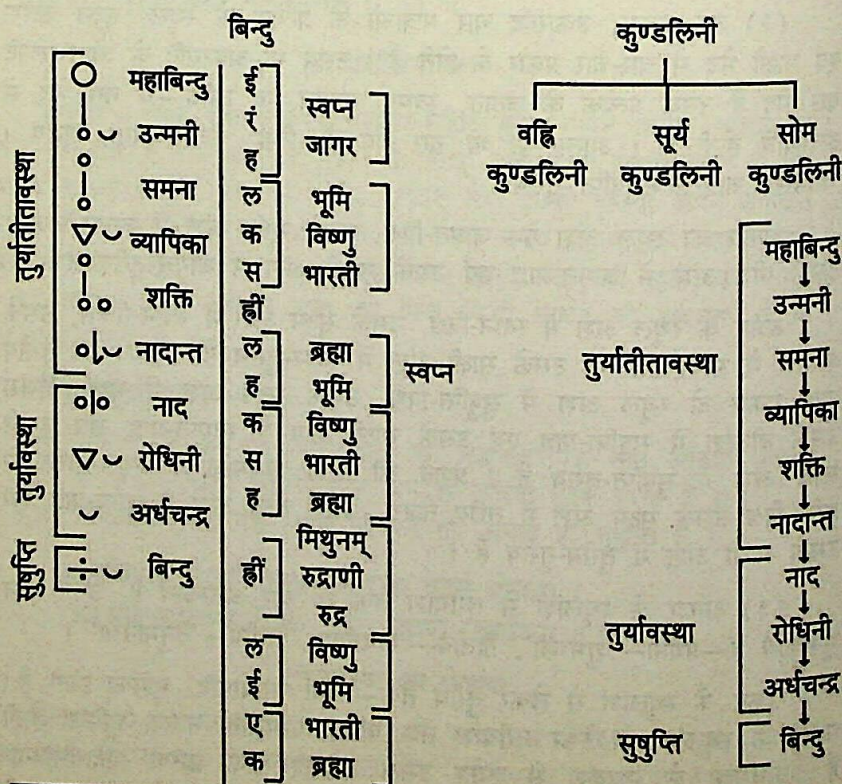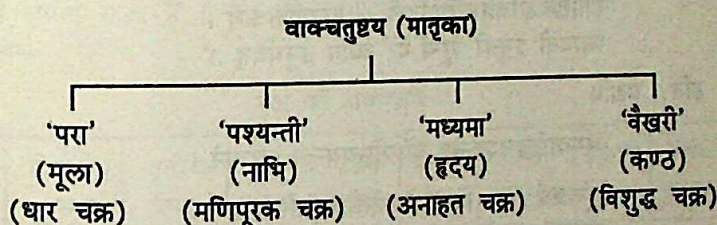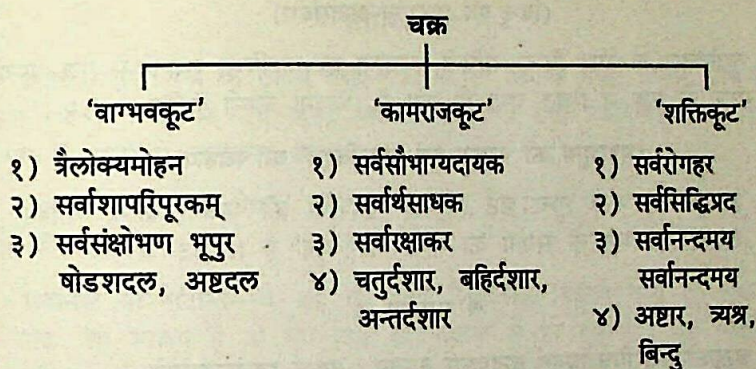
आनन्दैकघनत्वं यद्वाचामपि न गोचरो नृणाम् ।
तुर्यातीतावस्था सा नादान्तादिपञ्चके भाव्या ॥ ४१ ॥

(तुर्यातीतावस्था का स्वरूप)

(वह) आनन्दैकघन अवस्था जो मनुष्यों की वाणी से परे है 'तुर्यातीतावस्था' (कहलाती) है । उसकी 'नादान्त' आदि पञ्चवर्णों में भावना करनी चाहिए ॥ ४१ ॥

*** सरोजिनी ***

इस श्लोक में 'तुर्यातीतावस्था' के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है ।

(१) 'तुर्यातीतावस्था' आनन्दैकघन, अवांमनसगोचर अवस्था है ।

(२) 'तुर्यातीतावस्था' नादान्त आदि पाँच वर्णों में स्थित है ।

अवस्थापञ्चकं निरूप्य शून्यषट्कं निरूपयति—

तार्तीयीके रेफस्थाने बिन्दो च रोधिन्याम् ।
नादान्तव्यापिकयोश्चन्द्रकतुल्यानि पञ्च शून्यानि ॥ ४२ ॥
उन्मन्यां नीरूपं षष्ठं चिन्त्यं महाशून्यम् ।

क्रमात् प्राप्तानि सप्त विषुवन्त्याह—

प्राणापानसमानानां संयोगः प्राणविषुवाख्यः ॥ ४३ ॥

(बिन्दु एवं पञ्चशून्य-अन्तर्संबंध)

तृतीयकूट के रेफ, बिन्दु, रोधिनी, नादान्त एवं व्यापिका स्थानों में पञ्च शून्यों की, मयूर के पङ्ख में स्थित चन्द्र के रूप में, भावना करनी चाहिए ॥ ४२ ॥

(महाशून्य की भावना एवं 'प्राणविषुव' का स्वरूप)

'उन्मनी' में रूप शून्य छठे (शून्य) महाशून्य की भावना करनी चाहिए । प्राण, आत्मा एवं मन के संयोग का नाम 'प्राणविषुव' है ॥ ४३ ॥

* प्रकाश *

चन्द्रको मयूरपिच्छाग्रगतं चन्द्राकारं शून्यम् । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

'शिखिपक्षचित्ररूपैर्मण्डलैः शून्यपञ्चकम् ।
ध्यायतो ऽनुत्तरे शून्यं परं व्योम तनुर्भवेत् ॥'

इति । यद्यपि

'अग्न्यादिद्वादशान्तेषु त्रींस्त्रींस्त्यक्त्वा वरानने ।
शून्यत्रयं विजानीयादेकैकान्तरितं प्रिये ।
शून्यत्रयात् परे स्थाने महाशून्यं विभावयेत् ॥'

इति पूजासङ्केते रेफादिमहाबिन्द्वन्तेषु द्वादशसु स्थानेषु मध्ये त्रयं त्रयं त्यक्त्वा, एकैकमन्तरितं मध्यस्थितं शून्यत्रयं विजानीयादित्यर्थादर्धचन्द्रशक्तिमहाबिन्दुषु शून्यत्रयं तदूर्ध्वं चतुर्थमित्यर्थः; अथ वा, आदावन्ते च त्रयं त्रयं त्यक्त्वा मध्यस्थे ऽर्धचन्द्रादि-व्यापिकान्तषट्क एकैकव्यवधानेन शून्यत्रयं तत्परे चतुर्थमित्यर्धचन्द्रनादशक्तिषु त्रीणि शून्यानि व्यापिकायां महाशून्यमिति वार्थः स्पष्टं प्रतीयते; तथापि

'शून्यषट्कं सुरेशानि अवस्थापञ्चकं पुनः ।
विषुवत्सप्तरूपं च भावयन्मनसा जपेत् ॥'

इत्युपक्रमविरोधादन्यथार्थः । तथा हि—अग्न्यादीति भिन्नं पदं शून्यत्रये ऽन्वेति । अन्तशब्दश्चरमावयववाची । अर्थाच्चरमहृल्लेखासंबन्धिषु द्वादशस्ववयवेषु हकारा-द्युन्मनान्तेषु, अग्न्यादि रेफमारभ्य शून्ययोस्त्रयं शून्यषट्कं विजानीयात् । तच्च न रेफादिसांतत्येन, किं त्वेकैकव्यवधानेनेति । अत आह—एकैकान्तरितमिति । त्रथम-शून्यस्य रेफस्थानीयत्वे कथिते व्यवधानमर्थाद्धकारेकारार्धचन्द्रनादशक्तिसमनाभिः षड्भिरिति सिध्यति । तदेवाह—त्रींस्त्रीनिति । द्विगुणतांस्त्रींस्त्यक्त्वेत्यर्थः । शून्यत्रयात् शून्ययोस्त्रयस्य, तत्षट्कस्येत्यर्थः । 'सुपां सु—' इति सुपो ङस आदादेशः । निर्धारणे षष्ठी । तेषां मध्ये परे चरम उन्मन्यां महाशून्यमिति । एतद्विभावनस्य परमरहस्यत्वादित्थं क्लेशेनोक्ति- रित्यन्वयितव्यम् ॥ ४२ ॥

क्रमात् प्राप्तानि सप्त विषुवन्त्याह—

ककारात्मकवायुः प्राणः । आत्मा प्राणा मनश्चेत्येतेषामैक्यं प्राणविषुवसंज्ञमिति केचित् । यथाश्रुतमन्ये ॥ ४३ ॥

* सरोजिनी *

पञ्चदशाक्षरी मन्त्र के तृतीय कूट—'स क ल ह्रीं' के रेफ, बिन्दु, रोधिनी, नादान्त एवं व्यापिका में पाँच शून्य अवस्थित हैं । ये उसी प्रकार स्थित हैं जैसे कि मोर के पङ्खों में चन्द्राकार आकृति ॥

'स क ल ह्रीं' के 'रेफ', 'बिन्दु', 'रोधिनी', 'नादान्त' एवं 'व्यापिका' में ५ शून्यों की अवस्थिति ।

महानाद या नादान्त—ये ब्रह्म का प्रथम क्रियात्मक विकास कहा जा सकता है। 'नाद' वह स्वरूप है जो सारे विश्व को नादान्त से भरे हुए हैं । यह नादान्त की पूर्णावस्था है । निरोधिनी नाद की वह अवस्था है जिसमें बिन्दु को विकसित करने की क्षमता रहती है । नाद की सूक्ष्मावस्थायें भी हैं—इनमें निष्कल उन्मनी अन्तिम है—

नाद की अवस्थायें

प्रथमा-वस्था	द्वितीयां-वस्था	तृतीया-वस्था	चतुर्थ अवस्था	पञ्चम अवस्था	छठवीं अवस्था	सातवीं अवस्था	आठवीं अवस्था	नवीं अवस्था
'बिन्दु'	'अर्धचन्द्र'	'रोधिनी'	'नाद'	'नादान्त'	'शक्ति'	'व्यापिका'	'समना'	'उन्मना'

बिन्दु के बाद शक्तियाँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप धारण करती चली जाती हैं और अन्त में उन्मनी अवस्था (अनुत्पन्न निस्पंद वाक्) आ जाती है । 'उन्मनी' = कारणरूपा शक्ति की अवस्था है । इस अवस्था में—काल, कला, देवता आदि किसी का भी आभास नहीं रह जाता । यह 'स्वनिर्वाणपदं' है—निर्विकल्प निरञ्जन शिवशक्ति है ।[1] "Unmani is Nirākār and Nirucchār soundless and without ulterance defined by any adjective, being beyond mind and speech and universe"[2] यह अवाङ्मनसगोचरा, निराकार, निरुच्चार, निरूप अवस्था है ।

कुछ तांत्रिकों ने बिन्दु से भी ३ नादों की उत्पत्ति बतायी है—ये निम्न है—(१) 'सूक्ष्मवाद' (२) 'अक्षरनाद' (३) 'वर्णनाद' । (क) 'सूक्ष्मनाद' = अचिन्त्य, अभिधेय बुद्धिका कारण एवं बिन्दु का प्रथम प्रसार है । (ख) 'अक्षरनाद' = यह सूक्ष्मनाद का कार्य है और परामर्श ज्ञान समन्वित है । (ग) 'वर्णनाद' = इसकी उत्पत्ति आकाश एवं वायु से होती है । कुण्डलिनी भी नादरूपा है । नाद-बिन्दु । बिन्दु = वेदान्त का ईश्वर । 'नाद' शक्ति का एक रूप है । बिन्दु भी शक्ति का एक रूप है । नाद-बिन्दु में क्रिया शक्ति है ।

१-२ गारलैण्ड ऑफ लेटर्स (आर्थर एवेलॉन)

नाद-बिन्दु—जगत् की सृष्टि ।[1]

नाद, बिन्दु और कला—'बिन्दु' शिवात्मक है और 'बीज' शक्त्यात्मक है तथा 'नाद' दोनों (बिन्दु एवं बीज) के समवाय से उत्पन्न होने के कारण उभयात्मक हैं। नादोत्पत्ति—बिन्दु + बीज—'नाद'

'सच्चिदानन्द विभवात् सकलात् परमेश्वरात'—(१) आसीच्छक्तिः (२) ततो नादो (३) नादाद् बिन्दुसमुद्भवः ॥ सच्चिदानन्द सकल परमेश्वर—शक्ति—नाद—बिन्दु ॥

'शक्ति' क्या है? परमेश्वर का 'स्पन्द' ही 'शक्ति' है । इसी 'बिन्दु' से (१) बिन्दु (२) बीज (३) नाद उत्पन्न होते हैं । 'बिन्दु' का फटना—बिन्दु, बीज एवं नाद ॥ 'बिन्दु'—रौद्री । 'नाद'—ज्येष्ठा । 'बीज'—वामा ॥ 'बिन्दु नाद कला ब्रह्मन् विष्णु महेश देवताः ॥'' (योगशिखोपनिषद ६-७०) । विष्णु = 'बिन्दु' । ब्रह्मा = 'नाद' । रुद्र (ईश) = 'कला' ॥

'श्रीचक्र' = भगवती का स्थूल शरीर । पञ्चदशाक्षरी मन्त्र' = भगवती का सूक्ष्मशरीर 'बीज' = शक्त्यात्मिका कला ॥

शिव (पर बिन्दु)—शक्ति—सदाख्यशिव (नाद)—ईश्वर (बिन्दु)—शुद्धविद्या (बिन्दु) ॥

शुद्धविद्या	नाद-ज्येष्ठा ॥	ब्रह्मा-इच्छा ॥	ब्राह्मी-क्रिया ॥	सूर्य-प्राण ॥
	बीज-वामा ॥	विष्णु-क्रिया ॥	वैष्णवी-ज्ञान ॥	अग्नि-चिति ॥
	बिन्दु-रौद्री ॥	रुद्र-ज्ञान ॥	गौरी-इच्छा ॥	चन्द्र-मन ॥

बिन्दु—रौद्री । नाद—ज्येष्ठा । बीज—वामा । बिन्दु—ज्ञान । बीज—क्रिया । नाद—इच्छा ॥ नाद = सूर्य । बीज = अग्नि ॥ बिन्दु = चन्द्रमा ॥ इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान = गौरी, ब्राह्मी वैष्णवी ॥ बीज = शक्त्यात्मिका कला ॥

ह्ल्लेखा के उच्चारण होने पर अनुनासिक ध्वनि उक्त ९ स्तरों से होती हुई उन्मनी में समाप्त हो जाती है । नौ स्तर निम्न हैं—

शिव (पर बिन्दु)
↓
शक्ति
↓
सदाख्यशिव (नाद)
↓

---

१. गारलैण्ड ऑफ लेटर्स (राघव भट्ट : 'शारदातिलक')—नाद-बिन्दु शक्ति की वे अवस्थाएँ हैं जो सृष्टि को जन्म देने के लिए उत्सुक रहती हैं । 'बिन्दु' एक घनावस्था है। बिन्दु में शून्यता + गुण दोनों की [illegible] है । (कालीचरण : ष.च.नि. की टीका)
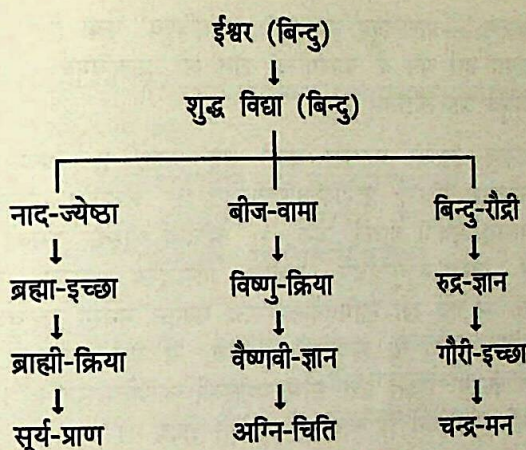
(१) ब्रह्म को बिन्दु, शक्ति को कला एवं जीव को नाद समझकर ५ प्रकार का ऐक्य भी स्थापित किया जाता है।

(क) जीव—ब्रह्मैक्य भाव ।
(ख) ब्रह्म—सृष्टि-प्रभव ।
(ग) तृतीय—देहाध्यास ।
(घ) चतुर्थ—प्रलय ।
(ङ) पञ्चम—जीवोत्पत्ति ।

बिन्दु से नाद का सम्बंध न बताने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म कभी जीव नहीं बनता, आत्मा सदा ब्रह्मस्वरूप है, जीवभाव एक मिथ्या प्रतीति मात्र है ।

(१) हृल्लेखा के उच्चारण होने पर जो अनुनासिक ध्वनि उक्त ९ स्तरों से होती हुई उन्मनी में समाप्त हो जाती है । उसके उच्चारण काल की मात्रा उत्तरोत्तर आधी होती जाती है ।

(२) सभी के योग का काल १/२ मात्रा होता है जो बिन्दु की आधी मात्रा सहित पूरी एक मात्रा बनती है अर्थात्—

$$\frac{१}{२} + \frac{१}{४} + \frac{१}{४} + \frac{१}{१६} + \frac{१}{३२} + \frac{१}{६४} + \frac{१}{१२८} + \frac{१}{२५६} + \frac{१}{२५६} = १ \text{ मात्रा}$$

(३) पञ्चदशी के ३ अनुस्वार ३ बिन्दु हैं ।

(४) हृल्लेखा, नाद एवं १५ अक्षर १५ कलायें हैं ।

(५) नाद, बिन्दु, कला = 'त्रिबिन्दु'

(६) श्रीचक्र त्रिधा विभक्त—नाद । बिन्दु । कला ।

(७) बिन्दु को शिवशक्ति भेद से दो प्रकार का माना जाय तो शक्त्यात्म बिन्दु ही 'बीजि' है । दोनों से शब्दब्रह्म, नादोत्पत्ति एवं शब्द से कला (अर्थात्मक सृष्टि) की उत्त्पत्ति होती है ॥ ४२ ॥

'प्राणविषुवाख्यः'—प्राणविषुव नामक ।। 'प्राणविषुव' क्या है?

प्राण, आत्मा एवं मन के पारस्परिक योग को 'प्राणविषुव' कहते हैं । 'योगः प्राणात्ममनसां विषुव प्राणसंज्ञितम् ।।'[१]

अमृतानन्दनाथ इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—'प्राणस्य हकारात्मनो वाटवात्मनो यष्टुर्मनसश्च संयोगः प्राणविषुवमित्युच्यते ।।[२] 'शैवतन्त्र' में कहा गया है—'शिष्यात्म प्राणमनसां संयोगं प्राणकं बिन्दुः ।।' आचार्य भास्कर इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—'वस्तुतस्तुमूलाधारे ब्रह्मेति प्रसिद्धस्य खस्य वायु कुण्डली संयोगात्तदव्युत्पत्तिः स एव खो नाभिपर्यन्तमागत्य पवनेन मनसा च युज्यते । स एव हृदयमागतः पवनेन बुद्धया च संयुज्यते । अतः स एव स्थानत्रये परा-पश्यन्ती-मध्यमेति नामत्रयं क्रमेण मजत इति सौभाग्यभास्करे कर्णितमस्माभिः । इदमेव प्राण-विषुवपद वाच्यमिति स्थानत्रये मिलित्वैका भावनेति ज्ञेयम ।।'

'उन्मन्यां नीरूपं षष्ठं चिन्त्यं महाशून्यम्'[३]—उन्मनी षष्ठ शून्य है । यह 'महाशून्य' कही जाती है ।

स्वच्छान्दागम के मतानुसार शून्यों की स्थिति इस प्रकार है—(१) 'ऊर्ध्व शून्य'—शक्तिप्रद जहाँ नादान्त तक निःशेष पाश प्रशान्त हो गए हैं । (२) 'अधः शून्य' = हृदयक्षेत्र; जहाँ अभी तक प्रपञ्चोल्लास नहीं हुआ है । (३) 'मध्यशून्य' = कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट एवं ब्रह्मरंध्र ही शक्तिस्थान है । व्यापिनी चतुर्थ शून्य है । तीन शून्य चल एवं हेय है । 'समना' में पञ्चम शून्य एवं 'उन्मना' में षष्ठ् शून्य है । ये भी चल एवं हेय हैं । उन्मना में भी यत्किंचित चलत्व है । परमशिवाधिष्ठित होने से सभी शून्य सिद्धिप्रद है । स्वच्छन्द शास्त्र के अनुसार ६ शून्यों का त्याग करके सातवें में प्रवेश आवश्यक है । वही वास्तविक परमपद है । ६ शून्य अवस्थायें हैं—सातवाँ ही योगियों का लक्ष्य है—'अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते । अभावः स समुद्दिष्टः यत्र भावाः परं गताः ।।' यह सप्तम शून्य ही अखण्ड महासत्ता महाशून्य है ।

मन्त्रविषुवमाह—

प्राथमिककूटनादे त्वनाहताद् ब्रह्मरन्ध्रान्ते ।
व्यष्टिसमष्टिविभेदाद् बीजचतुष्कस्य च स्वस्य ।। ४४ ।।
ऐक्येन नादमयताविभावनं मन्त्रविषुवाख्यम् ।

('मन्त्रविषुव' का स्वरूप)

प्रथम कूट के नाद एवं व्यष्टि-समष्टि के भेद से अनाहत से आरंभ करके ब्रह्मरंध्र तक उत्पन्न होने वाला नाद एवं चारों बीज तथा आत्मा के नादमय विभावना की 'मन्त्रविषुव' संज्ञा है ।। ४४, ४४- ।।

---

१. योगिनीहृदय (१८२)   २. दीपिका
३. सेतुबन्ध (श्लो० १८५)

* प्रकाश *

प्राथमिककूटनादे बीजचतुष्कस्यैक्यम्, स्वस्यात्मनस्त्वाधारोत्थितनादेन सहैक्यं न प्राथमिकेनानाहतादारब्धेन सह,

> 'आधारोत्थितनादे तु लीनं बुद्ध्वात्मरूपकम् ।
> संयोगेन वियोगेन मन्त्रार्णानां महेश्वरि ॥
> अनाहताद्याधारान्तं नादात्मत्वविचिन्तनम् ।
> विषुवम् .... ॥'

इति कादिमतीयवचनात् । संयोगेन समष्ट्या । वियोगेन व्यष्ट्या । चतुर्विधानामिति शेषः । आधाराणामन्तो ब्रह्मरन्ध्रम् । आधारान्तान्तमिति तन्त्रेणान्तपदद्वयसत्त्वाद्- ब्रह्मरन्ध्रान्तमित्यर्थकत्वेन व्याचक्षते । आ आधारान्तादित्यर्थक आङ्प्रश्लेषे तु सर्वं सुस्थम् ॥ ४४, ४४- ॥

* सरोजिनी *

मन्त्र सङ्केत एवं मन्त्र के विविध अर्थ—'योगिनीहृदय' के 'मन्त्र-सङ्केत' नामक द्वितीय पटल में 'मन्त्रसङ्केत' के नाम से मन्त्रार्थों का निरूपण किया गया है। 'मन्त्रसङ्केत' के ६ प्रकार हैं—

(१) मन्त्रसङ्केतस्तस्या नानाकारो व्यवस्थितः ।

(२) षड्विधस्तं तु देवेशि कथयामि तवानघे ।

(३) (क) भावार्थ (ख) सम्प्रदायार्थ (ग) निगर्मार्थ (घ) कौलिकार्थ (ङ) सर्वरहस्यार्थ (च) महातत्त्वार्थ ।। योगिनीहृदय (मन्त्रसङ्केत निरूपणम्)

मन्त्रविषुव का तात्पर्य है अभिव्यज्यमान नाद को जापक की अपनी आत्मा मानकर भावना करना ।।

'योगिनीहृदय दीपिकाकार' कहते हैं—मूलाधारस्थित वाग्भव शिखरवर्तिनं नादं हृदयपर्यन्तमुच्चार्य तत्र स्वयं लीनो भूत्वा स्वात्मनस्तन्मयतानुसंधानं मन्त्रविषुव- मित्यर्थः ।।'[१] मूलाधारस्थित वाग्भवशिखरवर्ती नाद को हृदयपर्यन्त उच्चारित करके वहीं स्वयं लीन होकर अपनी आत्मा की उसके साथ की गई तन्मयता का अनुसन्धान करना 'मन्त्रविषुव' है ।[२] 'शैवतन्त्र' में कहा भी गया है—

> आत्मना नादमध्ये तु लयं सञ्चार्य तत्त्वतः ।
> अकारोकार वर्णादिसंयोगेन वियोगतः ।
> हृदयादि बिलान्तं च विषुवमन्त्र संज्ञकम् ।।[३]

हृदय से ब्रह्मरंध्रपर्यन्त इसकी व्याप्ति है—"हृदयाद ब्रह्मरंध्रान्तं विषुवमन्त्र संज्ञकम् ।।" भास्कराचार्य कहते हैं—'नादं वाग्भवान्त्यस्थानमारभ्य हृदयस्थं कामराज-

---

१-२. अमृतानन्द योगी—'दीपिका' ३. शैवतन्त्र

कूटान्त्याक्षरपर्यन्त मुद्गतं विभाव्य तस्मिन् स्वजीवात्मनो लयं विचिन्त्य ततः कवलित जीवात्मानं नादमूर्ध्वमुदगमय्य ब्रह्मरंध्रान्तं प्राप्तं विचिन्तयेत् । तदिदं मन्त्र विषुव-मुच्यते ।।'[१]

नाडीविषुवमाह—

आधारोत्थितनादस्योच्चाराद् ब्रह्मरन्ध्रान्तम् ।। ४५ ।।
षट्चक्राणां ग्रन्थीन् द्वादश भिन्दन् सुषुम्णयैव पथा ।
नाडीनादार्णानां संयोगो नाडिकाविषुवम् ।। ४६ ।।

(नाडिकाविषुव' का स्वस्वरूप)

मूलाधार चक्र से उठने वाले नाद के उच्चारण से ब्रह्मरंध्रपर्यन्त षट्चक्रों की द्वादश ग्रन्थियों को सुषुम्णा के पथ से ही ग्रन्थि उद्भेदन करता हुआ नाड़ी नाद एवं वर्णों के संयोग की 'नाड़िका विषुव' कहते हैं ।। -४५, ४६ ।।

* प्रकाश *

मूलाधारादिचक्रषट्कस्याप्यध ऊर्ध्वं चैकैको ग्रन्थिरिति द्वादश ग्रन्थयः । तद्-भेदनमार्गेणैव सुषुम्णानाडी मूलाधाराद् ब्रह्मरन्ध्रं व्याप्नोति । तेनैव मार्गेण नादस्य वर्णपङ्क्तेश्च नाडीसंयुक्तत्वेन भावनयोच्चारणं नाडीविषुवमित्यर्थः ।। -४५, ४६ ।।

* सरोजिनी *

'नाड़ीविषुव' किसे कहते है? 'मूलाधारोत्पत्र' नाद का सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश करके द्वादशग्रन्थियों का भेदन करते हुए मन्त्र के वर्णों के साथ संयोग होना ही 'नाड़ी-विषुव' कहलाता है । मूलाधार से ब्रह्मरंध्र तक बीज शिखरवर्ती नाद के उच्चारित होने से नाड़ीविषुव स्पर्श उद्भूत होता है । 'योगिनीहृदय' में इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—'आधारोत्थित नादे तु लीनं बुद्धयात्मरूपकम् । संयोगेन वियोगेन मन्त्रार्णानां महेश्वरि ।। १८३ ।। अनहताद्या-धारान्त नादात्मत्वविचिनम् । नादसंस्पर्शना-तस्यनाड़ी विषुवमुच्यते । द्वादशग्रन्थिभेदने वर्णानामन्तरे प्रिये ।।[२]

शैवतन्त्र में कहा गया है—'मूल मन्त्रत्रिशूलेन भित्वा ग्रन्थीननुक्रमात् । नादनाड़ीसमायोगान्नाड़ीविषुव भावनम् ।। (१८३-८५) अमृतानन्दयोगी इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—'वर्णाद बीजत्रयशिखरवर्तिनो नादस्य कामकलाक्षराद् द्वादशग्रन्थि भेदेन मूलादिषट्चक्र द्वादश ग्रन्थीन् भित्वा तेन नाड्यन्तरे सुषुम्ना मध्यमार्गे नाद संस्पर्शात् त्रिबीजशिखरवर्तिनो नादस्य मूलादि ब्रह्मरंध्रान्तमुच्चारतः 'संस्पर्शोम्नाडी-विषुवमुच्यते ।।'

श्रीभास्कराचार्य कहते हैं कि इस प्रकार के नाद का द्वादशग्रन्थिभेदन पूर्वक जो

---

१. सेतुबन्ध (श्लो० १८५) २. योगिनीहृदयदीपिका (श्लो० १८४)

यह सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश हैं वही नाड़ी विषुव है—'अथेदृशस्य नादस्य द्वादशग्रन्थिभेदनपूर्वकं योऽयं सुषुम्णानाड़ी-प्रवेशः स एव नाड़ी विषुवमुच्यते ॥'[१]

'आधारोत्थित' = आधार चक्र से ऊपर उठने वाले ॥ 'आधार' क्या है—आधार पद्मं सुषुणास्य लग्नं, ध्वजाधोगुदोर्ध्वं चतुःशोणपत्रम् । अधोवक्त्रमुद्यत्सुवर्णा-भवर्णैर्वकारादि सान्तैर्युतं वेदवर्णैः ॥ अमुष्मिन धरायाश्चतुष्कोण चक्रं समुदभासित शूलाष्टकैरावृतं वत् । लसत्पीतवर्णां तडित्कोमलागे तदङ्के समास्ते धरायाः स्वबीजम् ॥[२]

'नाद'—समस्त प्राणियों के मूल चक्र में विद्यमान कुण्डलिनी शब्द ब्रह्म के रूप में अवतरित होकर वर्णों के रूप में प्रकट होती है और अव्यक्त ओङ्कार ध्वनि करती है वही नाद है—

तत्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां मूलचक्रगम् ।
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ॥ २७ ॥[३]

'नाद'—नाडयाधास्तु नादो वै भित्वा सर्वमिदं जगत् ।
अधः शक्त्या विनिर्गत्य ऊर्ध्वशक्त्यवसानकः ॥[४]

'नाडीनादवर्णानां संयोगो'—नाड़ी में उद्भूत अनाहत नाद एवं पञ्चदशी मन्त्र के वर्णों का संम्मिलन ।

उपरोक्त नादतत्त्व को आगे पृष्ठ १९४ पर चित्रित किया गया है ।

'षट्चक्राणां'—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत विशुद्धाख्य एवं आज्ञाचक्र नामक ६ चक्रों की । पिण्डस्थ ६ चक्र एवं उनकी स्थिति पृ० १९५ पर चित्रित है ।

'षट्चक्राणां ग्रन्थीन्'—६ चक्रों के ग्रन्थियों को ।

(१) **'अनाहत चक्र'**—'ब्रह्मग्रन्थि'—ब्रह्मग्रन्थि का भेदन—हृदयाकाशरूप शून्य में भूषणों के कणन की अनाहत ध्वनि का प्रवण—दिव्यदेह, दिव्यगंध, आरोग्य ॥

(२) **'विशुद्धाख्य चक्र'**—'विष्णु ग्रंन्थिः'—परमानन्द (ब्रह्मानन्द)—कण्ठाकाश में भेरी का नादोत्थान ।

(३) **'आज्ञाचक्र'**—'रुद्रग्रन्थि'—वेणु के शब्द के तुल्य ध्वनि ('हठयोग प्रदीपिका'—स्वात्माराम मुनीन्द्र)

प्रथम—प्राण का ब्रह्मरंध्र में प्रवेश—समुद्र, मेघ, भेरी, झर्झरी

मध्य में—प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश—मर्दल, शङ्ख, घण्टा, काहल

अन्त में—प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश—किंकिणी, वंशी, वीणा, भ्रमट के समान नादोत्थान ।

---

१. सेतुबन्ध (पृ० ३२२, श्लो० १८५) २. श्रीतत्त्वचिन्तामणि (६।७)
३. चक्रकौमुदी ४. स्वच्छन्दतन्त्र

(१) अम्बिका और (१) शान्ता का सामरस्य → 'परावाक्'

(२) वामा और (२) इच्छाशक्ति का सामरस्य → 'पश्यन्तीवाक्'

(३) ज्येष्ठा और (३) ज्ञानशक्ति का सामरस्य → 'मध्यमावाक्'

(४) रौद्री और (४) क्रियाशक्ति का सामरस्य → 'वैखरीवाक्'
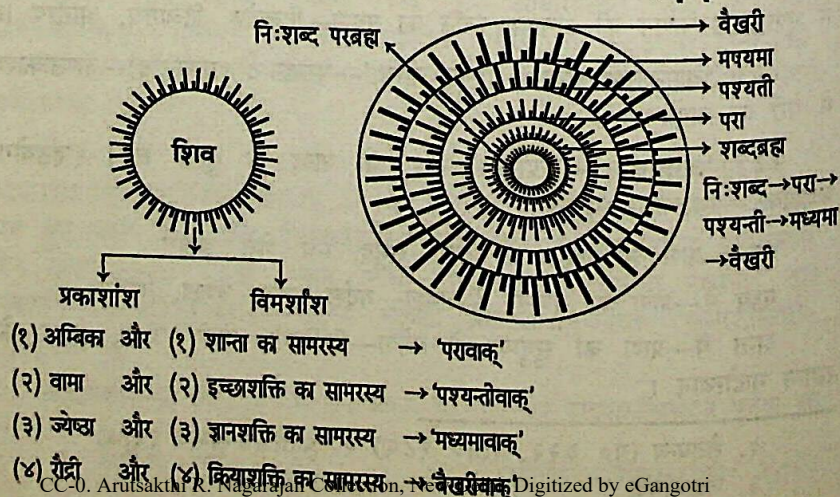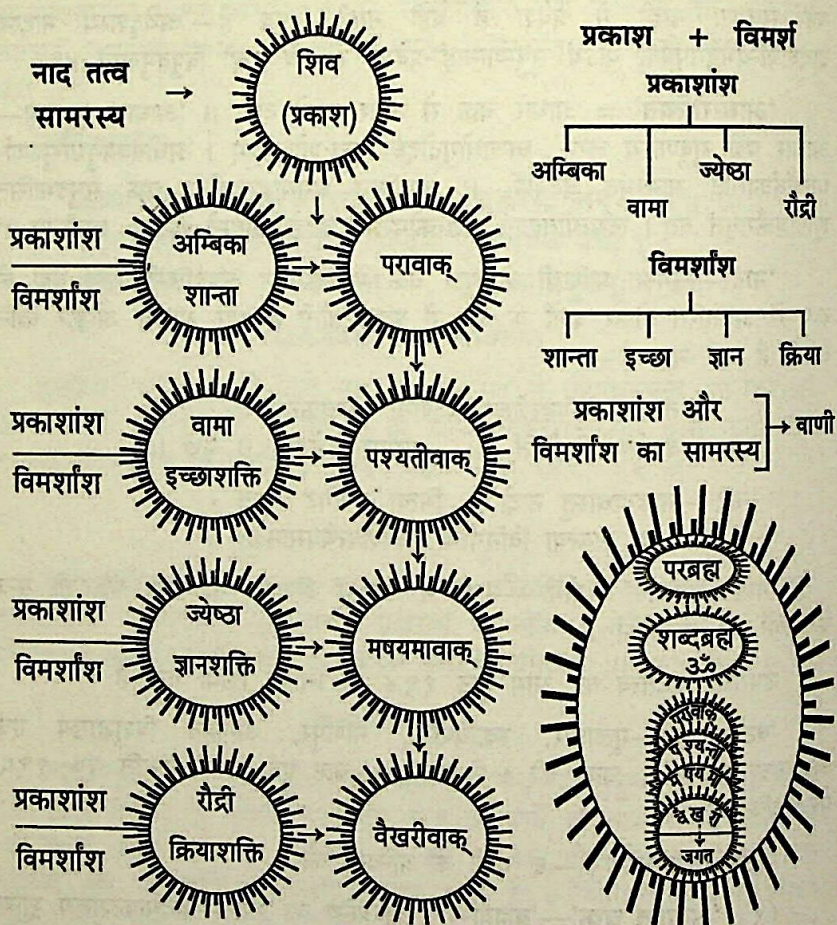
षट्चक्रमूर्त्तिः
(THE NATURE OF THE SIX PLEXUS)
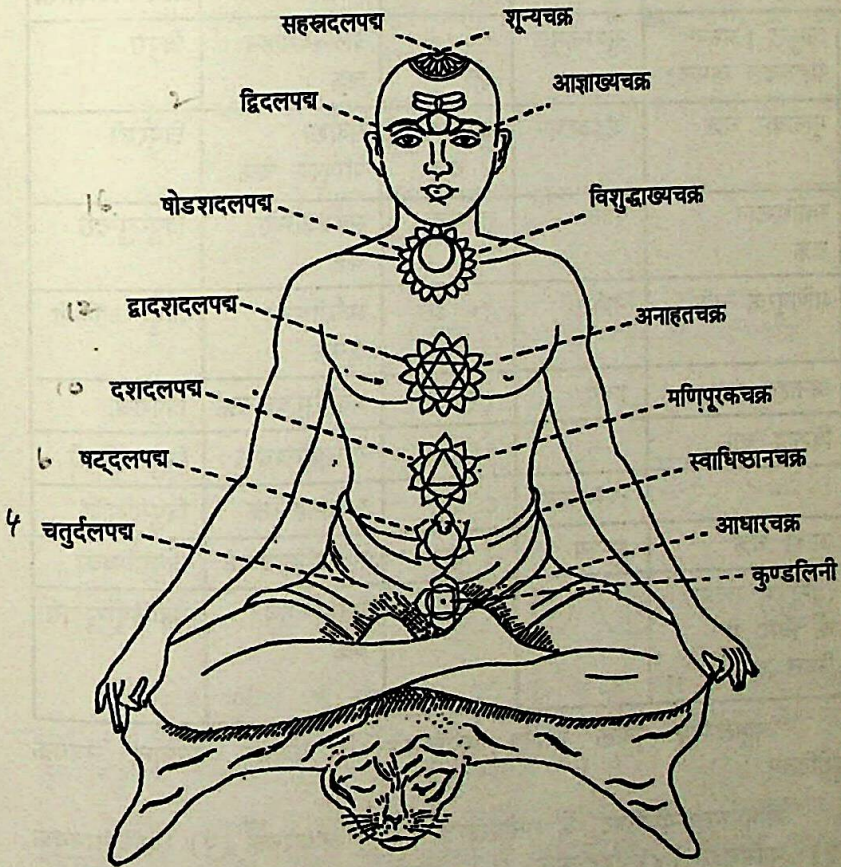
१२ ग्रन्थियाँ : 'ग्रन्थीन् द्वादश'—माया, पाशव, ब्रह्म, विष्णु रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, इन्धिका, दीपिका, बैन्दव, नाद, शक्ति—(ये पाश भी हैं।)—(नेत्रतन्त्र)

"मूलाधारादिचक्रषट्कस्याप्यध ऊर्ध्व चैकैको ग्रन्थिरिति द्वादश ग्रन्थयः । तद्भेदनमार्गेणैव सुषुम्णानाड़ी मूलाधाराद् ब्रह्मरन्ध्र व्यापनोति । तेनैव मार्गेण नादस्यवर्ण पंक्तेश्च नाडीसंयुक्तत्वेन भावनयोच्चारणं नाड़ी विषुवमित्यर्थः ।।" (भास्कराचार्य—'प्रकाश') ।।

'ब्रह्मरंध्र'—सुषुम्ण के मध्य-वज्रा, वज्रा के मध्य चित्रिणी, चित्रिणी के मध्य ब्रह्मनाड़ी, ब्रह्मनाड़ी का मुख द्वार 'ब्रह्मद्वार' । सहस्रार में ब्रह्मरंध्र है—महावायुं ततो ध्यायेत ब्रह्मरंध्रन्ततः परम् ।।

*** पिण्डस्थ चक्र श्री चक्र एवं अधिष्ठात्री देवी ***

चक्र	स्थान	दल	श्रीचक्र	अधिष्ठात्रीशक्ति
अकुल (अरुण सहस्रदल कमल)	सुषम्नामूल	१००० दल	त्रैलोक्यमोहन चक्र	त्रिपुरा
मूलाधार चक्र	वह्निआधार	चतुर्दल ४ दल	सर्वाशा परिपूरक चक्र	त्रिपुरेशी
स्वाधिष्ठान चक्र	शक्ति	छ दल	सर्वसंक्षोभण चक्र	त्रिपुरसुन्दरी
मणिपूरक चक्र	नाभि	१० दल	सर्वसौभाग्य दायक	त्रिपुर वासिनी
अनाहत चक्र	हृदय	१२ दल	सर्वार्थसाधकचक्र	त्रिपुराश्री
विशुद्ध चक्र	—	१६ दल	सर्वरक्षाकरचक्र	त्रिपुरमालिनी
—	लम्बिकाग्र	८ दल	सर्वरोगहरचक्र	त्रिपुरासिद्धि
आज्ञा चक्र	भ्रूमध्य	२ दल	सर्वसिद्धिप्रदचक्र	त्रिपुराम्बिका
(इन्दु में ललाट के बिन्दु में स्थित चक्र		—	सर्वानन्दमय चक्र	महात्रिपुरसुन्दरी

"अकुलादिषु पूर्वोक्त स्थानेषु परिचिन्तयेत् । चक्रेश्वरी समायुक्तं नवचक्रं पुरोदितम् ।।"[१]

'सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद' के तृतीयखण्ड में (१) आधारचक्र (२) स्वाधिष्ठानचक्र (३) नाभिचक्र (४) हृदयचक्र (५) कण्ठचक्र (६) तालुचक्र (७) भ्रूचक्र (८) ब्रह्मरंध्रचक्र (९) आकाशचक्र—९ चक्र बताए गए हैं ।

आधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्धि-आज्ञाचक्र से 'श्रीचक्र' युक्त है—'आधार स्वाधिष्ठान मणिपूरानाहतविशुद्धयाज्ञाचक्रात्मकं श्रीचक्रं त्रिखण्डं सोमसूर्य नलात्मकम् ।।' 'श्रीचक्र' त्रिखण्डात्मक है—(क) 'सोमखण्ड' (ख) 'सूर्यखण्ड' (ग) 'अनलखण्ड'

(१) प्रथमखण्ड — मूलाधार-स्वाधिष्ठान : २ चक्र ।
(२) द्वितीयखण्ड — मणिपुर-अनाहत : २ चक्र ।
(३) तृतीयखण्ड — विशुद्धि-आज्ञा : २ चक्र ।

१. योगीअमृतानन्द—योगिनीहृदयदीपिका

प्रथमखण्ड के ऊपर — अग्निस्थान : 'रुद्रग्रन्थि'
द्वितीयखण्ड के ऊपर — सूर्यस्थान : 'विष्णुग्रन्थि'
तृतीयखण्ड के ऊपर — चन्द्रस्थान : 'ब्रह्मग्रन्थि'

प्रथम खण्ड के ऊपर—वह्नि अपनी ज्वालाओं से प्रथम खण्ड को ढके हुए हैं।

द्वितीय खण्ड के ऊपर—स्थित सूर्य—अपनी किरणों से द्वितीय खण्ड को ढके हुए है।[1]

तृतीय खण्ड के ऊपर—स्थित चन्द्रमा अपनी कलाओं से तृतीय खण्ड को ढके हुए है।
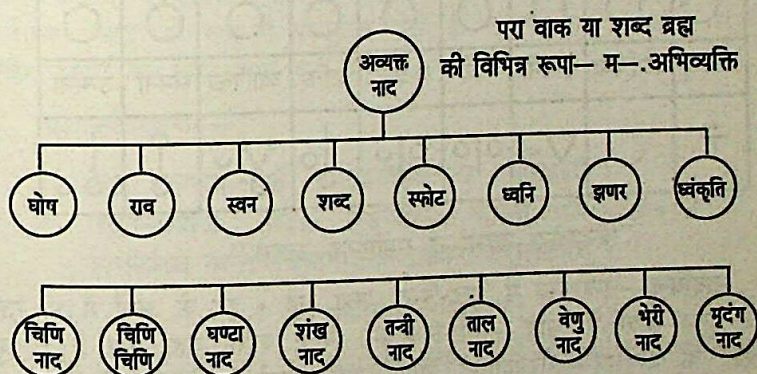
स्वात्माराम मुनीन्द्र के मतानुसार नादों के अनेक स्तर हैं और उनमें स्तरानुकूल सूक्ष्मता की कोटि बढ़ती जाती है। इसीलिए स्वात्माराम कहते हैं—'तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥' (हठयोग प्रदीपिका) ॥

प्राथमिक अवस्था में श्रूयमाण नाद—जलधि-जीमूत-भेरी-झर्झर। मध्यमावस्था में श्रूयमाण नाद—मर्दल, शङ्ख, घण्टा काहल। अन्तिमावस्था में श्रूयमाण नाद—किंकिणी, वंश, वीणा, भ्रमरनिःस्वनः

"आदौ जलधि भीमूत भेरी झर्झर संभवाः। मध्ये मर्दल शङ्खोत्था घण्टाकाहलास्तथा। अन्ते तु किंकिणीवंशवीणा भ्रमरनिःस्वनाः। इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ॥"

योग की आरंभावस्था—ब्रह्मग्रन्थि का भेदन—हृदयाकाशरूप शून्य में 'क्वणक' (आभूषणों की ध्वनि) की अनाहत ध्वनि ॥

योग की घटावस्था—विष्णु ग्रन्थि का भेदन—अतिशून्य रूप कण्ठाकाश में विमर्द एवं भेरी की ध्वनि ॥

१. स्वच्छन्दतन्त्र

योग की निष्पत्ति अवस्था—वेणु के समान ध्वनि ।।[१]

"झिञ्झी नाद-वंशीनाद-मेघ, झर्झर, भ्रमरी, घण्टा, कांस्य नाद—तुरी, भेरी, मृदङ्ग, आनक, दुंदुभी नाद[२]

'प्रथमं झिञ्झीनादं च वंशीनादं ततः परम् । मेघझर्झरभ्रमरीघंटाकांस्यं ततः परम्। तुरीभेरीमृदङ्गादिनिनादानकदुंदुभिः ।।" एवं नानाविधं नादं जायते नित्यमभ्यसात् ।।"

'आधारोत्थित नादस्य'—मूलाधार चक्र से निःसृत नाद का ।। यहाँ 'नाद' का क्या अर्थ है? भास्कराचार्य का कथन है कि 'नाद' ९ हैं और उनका स्वरूप निम्नांकित है—

बिन्दु	अर्द्धचन्द्र	रोधिनी	नाद	नादान्त	शक्ति	व्यापिका	समना	उन्मना
ॱ̆	◡	▽◡	०।०	०ꓯ◡	।०	▽◡	०।०	।०◡

"बिन्द्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते"[१]

नादबिन्दु—तन्त्रशास्त्र में 'नाद-बिन्दु' शब्द अहं + इदं के अर्थों में भी गृहीत है ।[३] कुछ तन्त्रों में 'नाद'—सृष्टि-विधायिनी विराट शक्ति कहा गया है ।[४] कुछ तांत्रिकों के अनुसार—सच्चिदानन्द विभव सकल परमेश्वर से 'शक्ति' एवं उससे नाद—बिन्दु का आविर्भाव हुआ । कुछ तांत्रिकों (भेदवादी तांत्रिकों) के मतानुसार—दो तत्त्व हैं (क) शिव (ख) शक्ति । 'शिव' विमर्श शक्ति में प्रवेश करता है और बाद में बिन्दु का रूप धारण कर लेता है । बिन्दु का प्रथम विकास ही 'नाद' है ।[५] कुछ भेदवादी तांत्रिक शिवशक्ति को समवाय रूप से परिव्याप्त एक तत्त्व मानते हैं एवं बिन्दु को दूसरा तत्त्व मानते हैं ।[६] बौद्ध तन्त्रों में = 'बिन्दु' = अपरिवर्तनीय ज्ञान का प्रतीक है ।[७] उनसे 'बिन्दु' = हठयौगिक ज्योति के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है ।[८] शैवतन्त्रों में 'नाद-बिन्दु' = शिव-शक्ति के प्रतीक भी माने गए हैं ।[९] बौद्धतन्त्रों में नाद-बिन्दु = प्रज्ञा + उपाय के प्रतीक माने गए हैं ।

---

१. हठयोगप्रदीपिका (प्राण के ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचने पर वेणु की ध्वनि श्रुतिगोचर होती है ।)
२. घेरण्ड संहिता
३. सर्पेण्ट पावर—जान वुँडरफ
४. तन्त्राज़—देयर फिलासफी एण्ड आकल्ट सीक्रेट्स
५. कलेक्टेड वर्क्स आफ आर०जी०भण्डारकर
६. गोपीनाथ कविराज—'तान्त्रिक दृष्टि' : 'साधनांक'
७-८. इन्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म
९. प्रिंसिपल्स आफ तन्त्र—आर्थर एँवेलान

तन्त्रों एवं हठयौगिक ग्रन्थों में—'बिन्दु' शब्द के अर्थ में—रसना, सूर्य, रवि, प्राण, शमन, काली, यमुना, रज, पुरुष, नाद, व्यञ्जन शब्दों का, 'नाद' शब्द के अर्थ में—ललना, चन्द्रा, शशि, अपानु, धमन, अली, गङ्गा, शुक्रा, तमस्, अभाव, प्रकृति, ग्राहक एवं स्वर शब्दों का प्रयोग मिलता है ।[1]

'ध्यानबिन्दूपनिषद' आदि में—'हठयोग प्रदीपिका' में नाद बिन्दु का प्रयोग—
'नाद' = परब्रह्म + अनाहत नाद ॥ 'बिन्दु' = जीवात्मा + वीर्य ॥ (४।७२;४।१०५)

तन्त्र मन्त्र के अनुसार शिव-शक्ति का प्रथम विकास 'नाद' के रूप में मिलता है ।[2] शिव-शक्ति का संयोग एवं उन दोनों का पारस्परिक संबंध नाद है ।[3] 'नाद' क्रिया रूप है । तात्विक क्षेत्र का सदाख्य तत्त्व ही मन्त्र क्षेत्र में—'नाद' है ।[4] अतंरात्मा 'नाद' के रूप में प्रस्फुटित होती है वही जीवों में प्राणवायु से पैंरित होकर अक्षरों का रूप धारण कर लेती है ।[5]

प्रशान्तविषुवमाह—

रेफे कामकलार्णे हार्दकलायां च बिन्द्वादौ ।
नादान्तावधि नादः सूक्ष्मतरो जायते तत्र ॥ ४७ ॥
शक्तेर्मध्ये तल्लयचिन्तनमुदितं प्रशान्तविषुवाख्यम् ।

(प्रशान्तविषुव' का स्वरूप)

रेफ में कामकला (ई) एवं बिन्द्वारब्ध तथा ह्रीं के नादान्त में समाप्त (अवयवों में) एक सूक्ष्मतर 'नाद' उत्पन्न होता है । वहाँ इस सूक्ष्मनाद की शक्ति में लय होने के चिन्तन का नाम 'प्रशान्तविषुव' है ॥ ४७, ४७- ॥

*** प्रकाश ***

तृतीयकूटस्थरेफादिषु सप्तसु स्थानेष्वाधारादारब्धस्य नादस्य तत्र सूक्ष्मतरता-दशा, अभिघातादुत्तरोत्तरक्षणेषु कांस्यतालध्वनिवत् । तस्य शक्तौ लयो भाव्य इत्यर्थः ॥ ४७, ४७- ॥

*** सरोजिनी ***

'प्रशान्त विषुव'—नादान्त पर्यन्त मन्त्रावयवों की शक्ति से लय भावना 'प्रशान्तविषुव' है ।[6]

---

१. इन्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज़्म
२. तन्त्राज़—देयर फिलासफी एण्ड आकल्ट सीक्रेट्स
३. भास्कराचार्य—'वरिवस्यारहस्यम्'
४. गारलैण्ड आफ लेटर्स—आर्थर एवेलॉन
५. प्रयोगसार
६. योगिनीहृदय

तृतीयकूट में स्थित रेफ आदि वर्णों में, सात स्थानों में, मूलाधार चक्र से प्रारंभ होने वाले नाद की सूक्ष्मतर दशा है । रेफ एवं कामकला (ई) एवं बिन्दु से आरंभ करके ह्रीं के नादान्त तक एक सूक्ष्मतर नाद उत्पन्न होता है । इस सूक्ष्मनाद का शक्ति के साथ विलय 'प्रशान्तविषुव' कहा जाता है ।

रेफ (र), कामकला (ई) एवं बिन्द्वारब्ध एवं हार्धकला के नादान्त में पर्यवसित बिन्दु के उच्चारण से एक अत्यन्त सूक्ष्म नाद उत्पन्न होता है ।

'योगिनीहृदय' में 'प्रशान्तविषुव' का स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया गया है—'नादयोगः प्रशान्तं तु प्रशान्तेन्द्रियगो चरम् । वह्निं मायां कलां चैव चेतनामर्धचन्द्रकम् । रोधिनी नादनादान्तान् शक्तौ लीनान् विभावयेत् ॥'[१]

'शैवतन्त्र' में भी इसकी परिभाषा इसी प्रकार दी गई है—

अकारोकारवर्णौं च मकारो बिन्दुरेव च ।
नादनादान्त संज्ञे तु त्यक्त्वा ब्रह्मादिभिः क्रमात् ।
सप्तमे शक्तिमध्ये तु शिष्यात्मानं विचिन्तयेत् ॥
प्रशान्तं तद्विजानीयात् प्रशान्तेन्द्रियगोचरम् ॥[२]

'शक्ति' के मध्य सञ्चरित नाद 'समना' तक सञ्चार करता है—'शक्तिमध्यगतो नादः समनान्तं प्रसर्पति ।'

भास्कराचार्य प्रशान्तविषुव की परिभाषा देते हुए कहते हैं—'नादयोगो नाड़ी सम्बद्धो नादो यस्मात् कारणाच्छक्तौ प्रशान्तो लीनो भवति तत्तस्मात् करणादिदं—'प्रशान्तविषुवमित्युचते ॥[३] अमृतानन्दनाथ कहते हैं—अर्धचन्द्र-निरोधिनी-नाद-नादान्तांश्चा पूर्वोक्तलक्षणायांशक्तौ लीनान् विभावयेत् । यतोऽयं नादो यष्टुस्तदीतशक्ति-लयलक्षणः, अतः प्रशान्तेन्द्रियगोचरं सकलेन्द्रियातीत विषये, तत्प्रशान्ते विषुव-मित्यनुषङ्गः ॥'[४] 'प्रशान्तविषुवं प्रशान्तेद्रियाणां नियमितेन्द्रियाणां गोचरो विषयः' ॥

अन्य सम्प्रदायों से तुलनीय नाद-प्रपञ्चीकरण आगे पृ० २०१ पर चित्रित है ।

शक्तिविषुवमाह—

शक्त्यन्तर्गतनादं समनायां भावयेल्लीनम् ॥ ४८ ॥
समनागतमुन्मन्यामेत द्वे शक्तिकालविषुवाख्ये ।

('शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' का स्वस्वरूप)

शक्ति के अन्तर्गत स्थित नाद की समना में लय होने की भावना करनी चाहिए । समना एवं उन्मनी में लयीभूत नाद की इन दोनों अवस्थाओं की क्रमशः 'शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' संज्ञा है ॥ ४८, ४८- ॥

---

१. शैवतन्त्र
२. सेतुबन्ध (श्लो० १८५)
३. अमृतानन्दनाथ— योगिनीहृदयदीपिका
४. सेतुबन्ध

सूक्ष्मता और अन्तर्मुखता की दृष्टि से शब्द-स्तर (नाद-स्तर)

जीव और मन का शब्द
वैराट पुरुष का शब्द
माया और ब्रह्म शब्द
ब्रह्म शब्द
पारब्रह्म का शब्द
सोहं पुरुष का शब्द
सत्त पुरुष का शब्द
अननुमेय, अत्यन्त गुप्तशब्द

प्रलयोन्मुखीशब्द धारा—

(केन्द्र की ओर प्रवाहित)

मुक्ति-क्रम

बाहर से भीतर की ओर प्रवाहित
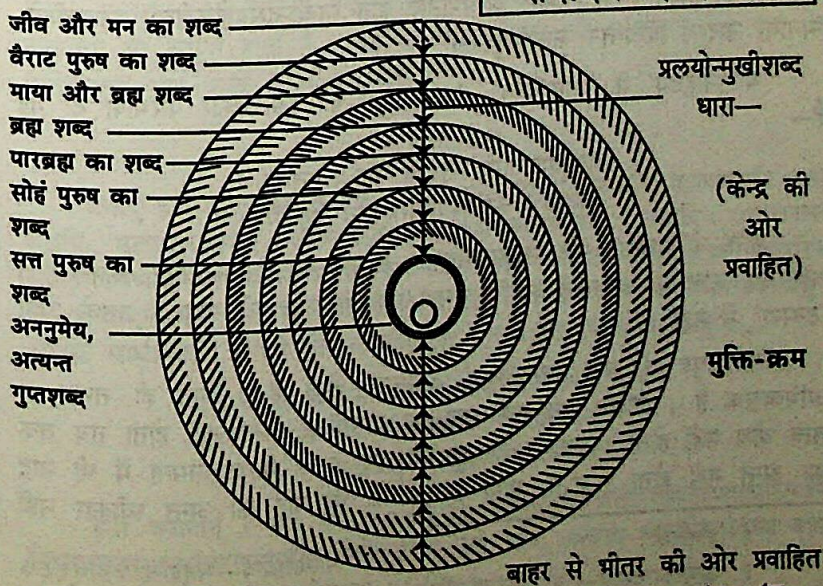
*** प्रकाश ***

शक्तिस्थानादूर्ध्वं पुनरुज्जीवितस्य नादस्य सूक्ष्मतमस्य व्यापिकामुल्लङ्घ्य समनायां लयः शक्तिविषुवमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

*** सरोजिनी ***

शक्तिविषुव काल विषुव—प्राण, आत्मा एवं मन के परस्पर योग की 'प्राणविषुव' एवं नाद को अपनी निजी आत्मा समझकर भावना करना 'मन्त्रविषुव' कहलाता है । शक्तिमध्यागत नाद के समना पर्यन्त चिन्तन की 'शक्तिविषुव' कहते हैं । शक्ति में नादान्त पर्यन्त मन्त्रावयवों की लय भावना 'प्रशान्तविषुव' है । कालातीत उन्मनापर्यन्त नाद के चिन्तन को 'कालविषुव' कहते हैं ।

'शैवतन्त्र' में 'शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'शक्तिमध्यगतो नादः समनान्तं प्रसर्पति । तच्छक्तिविषुवं प्रोक्तमुन्मन्यां कालसंज्ञितम् ॥'[१]

आचार्य भास्कर 'शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—'अथ लीयमानस्य दीपादेः सूक्ष्मीभूय पुनः स्थूलीभावदर्शनान्तदनुसारेण शक्तौ लीनस्य नादस्य पुनरुज्जीवनेन व्यापिकामुत्क्रम्य समनायां लय चिन्तनं शक्तिविषुवम्। ततः पुनरुज्जीव्योन्मन्यांलयः 'कालविषुवः' ।[२]

आचार्य अमृतानन्दनाथ 'शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' को परिभाषित करते हुए कहते हैं—तदूर्ध्वं शक्तेरुर्ध्वं समनान्तं नादस्य विचिन्तनं 'शक्तिविषुवं । तदूर्ध्वं समनाया अप्यूर्ध्वम् । 'नात्र काल कलाभानम्' इति स्वच्छन्दसंग्रहोक्तरीत्या कालातीतोन्मनान्तं नादस्य विचिन्तनं कालविषुवं ॥[३]

'योगिनीहृदय' में 'शक्तिविषुव'—'कालविषुव' की इस प्रकार परिभाषा दी गई है—

'विषुवंशक्तिसंज्ञं तुदूर्ध्वं नाद चिन्तनम् ।
तदूर्ध्वं कालविषुवमुन्मनान्तं महेश्वरि ॥'[४]

शक्ति के मध्यगत नाद से समनापर्यन्त चिन्तन को 'शक्ति विषुव' कहते हैं । यहाँ तक काल की क्रीड़ा है क्योंकि समना तक ही काल की सीमा है उसके आगे 'उन्मना' में नहीं ।

कालविषुव के बाद 'तत्त्वविषुव' अङ्गीकृत होता है । नाद ही तत्त्व का अभिव्यञ्जक है । लेकिन जब तक नाद का वास्तविक अन्त नहीं होता तब तक तत्त्व बोध नहीं होता । नादान्त तो दूर की बात शक्ति में या समना में भी नाद का अन्त नहीं होता । शाक्त योगी उन्मना को भी नाद का अन्त स्वीकार नहीं

---

१. शैवतन्त्र
२. भास्कराचार्य—सेतुबन्ध श्लो० १८७
३. अमृतानन्दनाथ—योगिनीहृदयदीपिका
४. योगिनीहृदय

करते । उन्मना के ऊपर—उन्मना को भेद करने के साथ-साथ नाद लीन होता है। उस स्थिति में तत्त्वबोध या आत्मसाक्षात्कार स्वभावतः होता है । अतः 'तत्त्वविषुव' को ही चैतन्य का अभिव्यक्ति स्थान कहना सङ्गत है । ६ शून्यों, ५ अवस्थाओं एवं ६ विषुवों से परे है—विश्व की परम विश्रान्ति या परम शिव की अवस्था । उन्मना तक सभी मन्त्रावयव १०८१७ बार उच्चरित होने से नाद का अन्त एवं तत्त्वज्ञान का उदय होकर परमपद की प्राप्ति होती है ।

समनोर्ध्वं पुनरुज्जीवितसयात्यन्तं सूक्ष्मतमस्य नादस्योन्मन्या लयः कालविषुवमित्याह—

समनागतमुन्मन्यामेते द्वे शक्तिकालविषुवाख्ये ।
श्रीविद्याकूटावयवेषु ककारादिषून्मनान्तेषु ॥ ४९ ॥

अकुलादिकोन्मनान्तप्रदेशसंस्थेषु सकलेषु ।
अध्युष्टनिमेषोत्तरसप्तदशाधिकशतत्रयत्रुटिभिः ॥ ५० ॥

उच्चरिते नादे सति तस्यान्ते तत्त्ववेदनं भवति ।
तदिदं चैतन्याभिव्यक्तिनिदानं तु तत्त्वविषुवाख्यम् ॥ ५१ ॥

('तत्त्वविषुव' का स्वरूप)

समना एवं उन्मनी में लयीभूत नाद की इन दोनों अवस्थाओं की आख्या क्रमशः 'शक्तिविषुव' एवं 'कालविषुव' है । ककार से लेकर उन्मना तक एवं अकुल से लेकर उन्मना तक प्रदेशों में विद्यमान श्रीविद्याकूटों के भागों (अङ्गों) को व्याप्त करके समस्त ३१७ त्रुटियों एवं साढ़े तीन निमेषों को व्याप्त करता हुआ नाद तत्त्वज्ञान का कारण होता है । वह यह शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति का मूल हेतु 'तत्त्वविषुव' नाम वाला है ॥ ४९-५१ ॥

*** प्रकाश ***

उक्तेषु द्वात्रिंशत्पद्मप्वधस्तनद्वयं चरमं चाकुलपद्मानि । शेषाणि कुलपद्मानि । तेषु यद्यपि मूलाधाराख्यात् कुलपद्मादेव विद्याक्षराणामारम्भः, तथापि चक्रराजस्य सकलाख्यभावनाया अधस्तनसहस्रदलकमलमारभ्यैव 'अकुले विषुसंज्ञे च' इत्यादिना चतुःशत्यामुक्तत्वात् कुलाकुलविद्ययोरभेदेन श्रीविद्याया अपि तत आरम्भोक्तिस्तन्त्रेषु । अध्युष्टं सार्धत्रयम् । निमेषो लोचनस्पन्दकालः । तस्य त्रिसहस्रतमो ऽंशस्त्रुटिः,

'स्वस्थे नरे समासीने यावत् स्पन्दति लोचनम् ।
तस्य त्रिंशत्तमो भागस्तत्परः परिकीर्तितः ।
तत्परस्य शतांशस्तु त्रुटिरित्यभिधीयते ॥'

इति वचनात् । एवं च (१०८१७) अयुतोत्तराष्टशतोत्तरसप्तदशशत्रुटिपर्यन्तं विद्यावयवस्थानसंलग्नतापूर्वकं नादोच्चारणे कृते सति, तत्त्वस्य स्वसंविदभेदस्य बोधो भवति । तदिदमुच्चारणं तत्त्वविषुवम् ॥ -४९-५१ ॥

*** सरोजिनी ***

'योगिनीहृदय' में 'तत्त्वविषुव' इस प्रकार व्याख्या है—'मुनिचन्द्राष्टदशभिस्त्रुटितभिर्नादवेदनम् । चैतन्यव्यक्तिहेतुश्च विषुवं तत्त्वसंज्ञितम् ॥ १८८ ॥ परं स्थानं महादेवि निसर्गानन्दसुन्दरम् ॥'[१]

आचार्य अमृतानन्द 'तत्त्वविषुव' की व्याख्या करते हुए कहते हैं—अनन्तरोक्तरीत्या चैतन्यस्य स्वात्मतत्त्वस्य व्यक्तेः प्रकाशस्य हेतुस्तत्त्वविषुवम् ।[२] कोऽर्थः। उन्मनोर्ध्वेऽनन्तरोक्तसंख्यावत्त्रुटिभिर्नादलयात् स्वात्मामनुसन्धानं तत्त्वविषुवम् ॥[३]

'शैवतन्त्र' में कहा गया है—'स्वाधिकारे परे धाम्निविषुवं तत्त्वसंज्ञकम् ॥'[४]

आचार्य भास्कर की व्याख्यानुसार 'तत्त्वविषुव' का स्वरूप इस प्रकार है—'अथायमेव नादो यद्यविच्छिन्नतया सार्धनिमेषत्रयोत्तरं सप्तदशाधिक शत त्रय त्रुटि परिमित काल पर्यन्तश्चेत्तदन्ते चैतन्याभिव्यक्तिर्भवति । तदिदं तत्त्वविषुवं तत्त्वव्याप्तिकारित्वात् ॥'[५]

कालविषुव के बाद 'तत्त्वविषुव' अङ्गीकृत होता है । नाद ही तत्त्व का अभिव्यञ्जक है । लेकिन जब तक नाद का वास्तविक अन्त नहीं होता तब तक तत्त्व बोध नहीं होता । नादान्त तो दूर की बात शक्ति में या समना में भी नाद का अन्त नहीं होता । शाक्त योगी उन्मना को भी नाद का अन्त स्वीकार नहीं करते । उन्मना के ऊपर—उन्मना को भेद करने के साथ-साथ नाद लीन होता है। उस स्थिति में तत्त्वबोध या आत्मसाक्षात्कार स्वभावतः होता है । अतः 'तत्त्वविषुव' को ही चैतन्य का अभिव्यक्ति स्थान कहना सङ्गत है । ६ शून्यों, ५ अवस्थाओं एवं ७ विषुवों से परे है—विश्व की परम् विश्रान्ति या परम् शिव की अवस्था । उन्मना तक सभी मन्त्रावयव १०८१७ बार उच्चरित होने से नाद का अन्त एवं तत्त्वज्ञान का उदय होकर परम्पद की प्राप्ति होती है ।

उपसंहारपूर्वकं जपं लक्षयति—

एवमवस्थाशून्यविषुवन्ति चक्राणि पञ्च षट् सप्त ।
नव च मनोरर्थांश्च स्मरतोऽर्णोच्चारणं तु जपः ॥ ५२ ॥

(जप का लक्षण)

(मन्त्रगत) वर्णों की अवस्थाओं (अर्थात् ५), शून्यों (अर्थात् ६) विषुवों (अर्थात् ७) एवं चक्रों (अर्थात् ९) का स्मरण रखते हुए, (जो कि संख्या में क्रमशः) पाँच, छः, सात एवं नौ हैं—एवं मन्त्र के अर्थ का चिन्तन करते हुए (मन्त्रगत) वर्णों का उच्चारण करना 'जप' (कहलाता) है ॥ ५२ ॥

---

१. योगिनीहृदय
२-३. अमृतानन्द—'दीपिका'
४. शैवतन्त्र
५. भास्कराचार्य—सेतुबन्ध

* प्रकाश *

अवस्थादिचतुष्टये संख्याचतुष्टयस्य क्रमादन्वयः । नादत्रयस्य चक्रत्रयात्मकत्व-भावनं प्रागुक्तम् । चक्रसङ्केते त्वन्यदपि त्रयमुक्तम्—चक्रभावनं त्रिविधं सकलं निष्कलं सकलनिष्कलं चेति । अकुलसहस्रारं मूलाधारादिपञ्चकं सूक्ष्मजिह्वा भ्रूमध्यं बिन्दुस्थानं चेति नवसु स्थानेषु त्रैलोक्यमोहनादिचक्रनवकभावनं सकलम्, बिन्द्वाद्युन्मन्यन्तं तद्भावनं द्वितीयम्, महाबिन्दावेव तद्भावनं तृतीयमिति । मनोर्मन्त्रस्यार्थाननुसंदधानस्य विद्याया अर्णानामक्षराणामष्टपञ्चाशतो मध्य आद्यकूटद्वितयबिन्द्वादिनवकद्वयप्रहाणेना-वशिष्टानां चत्वारिंशतोऽक्षराणामुच्चारणं जपो जपपदवाच्यमित्यर्थः ॥ ५२ ॥

* सरोजिनी *

'अवस्था'—अवस्थायें पाँच हैं—(१) जाग्रत (२) स्वप्न (३) सुषुप्ति (४) तुरीय, (५) तुरीयातीत । **'शून्य'**—प्रणव रूप मन्त्र के बारह अङ्गों में प्रति द्वितीय अङ्ग शून्य कहलाता है । **'विषुवन्ति'**—सात विषुव हैं । यथा—'प्राणविषुव', 'मन्त्रविषुव', 'नाड़ीविषुव', 'प्रशान्तविषुव', 'शक्तिविषुव', 'कालविषुव' एवं 'तत्त्व-विषुव' । 'चक्र' नौ हैं—(१) त्रैलोक्यमोहन (२) सर्वाशापरिपूर्ण (३) सर्वसंक्षोभण (४) सौभाग्यदायक (५) सर्वार्थसाधक (६) सर्वरक्षाकर (७) सर्वरोगहर (८) सर्वसिद्धिप्रद (९) सर्वानन्दमय चक्र ॥

'चक्राणि' = १. 'सकल' २. 'निष्कल' ३. 'सकलनिष्कल' ॥ अकुल सहस्रार, मूलाधारादिपञ्चक, सूक्ष्मजिह्वा, भ्रूमध्य बिन्दु स्थान—नौ स्थानों में—त्रैलोक्यमोहनादि चक्र नवक भावन तो 'सकल' हैं । बिन्द्वादि उन्मन्यन्त चक्रों में उनका भावन 'निष्कल' है । महाबिन्दु में उनका भावन 'सकलनिष्कल' है । मन्त्रार्थानुसंधानपूर्वक 'वर्णों' (अक्षरों), का उच्चारण 'जप' कहलाता है किन्तु उसके साथ अवस्था, शून्य, विषुव एवं चक्रों का भी ध्यान रखना, आवश्यक होता है ।

'अर्थांश्च'—मन्त्रार्थ के प्रकार पन्द्रह हैं—(१) प्रतिपाद्यार्थ (२) भावार्थ (३) संप्रदायार्थ (४) निगर्भार्थ (५) कौलिकार्थ (६) रहस्यार्थ (७) महातत्त्वार्थ (८) नामार्थ (९) शब्दरूपार्थ (१०) नामैकदेशार्थ (११) शाक्तार्थ (१२) सामरस्यार्थ (१३) समस्तार्थ (१४) सगुणार्थ (१५) महावाक्यार्थ ॥

'जप'—'योगिनीहृदय' में भी जप-विधान है—'पुष्पाञ्जलिं ततः कृत्वा जपं कुर्यात् समाहितः ॥'[1] इस 'जप' का लक्षण क्या है? 'समाहितो नियतेन्द्रियों नादरूपमन्त्रोच्चारणलक्षणं जपं कुर्यात् ॥' 'मन्त्र' नादरूपात्मक है । अतः नादोत्थानपूर्वक मन्त्राक्षरों का उच्चारण ही 'जप' है ।[2]

'योगिनीहृदय' में जप-विधान में भी शून्यषट्क, अवस्थापञ्चक एवं विषुव सप्तक के योग को महत्व दिया गया है—

---

१. योगिनीहृदय

२. अमृतानन्द—'दीपिका'

भास्कराचार्य के अनुसार मन्त्र-जप का स्वरूप
परब्रह्म
शब्दातीत स्तर
ध्वन्यात्मक मन्त्र (नाद)
परावाक (शब्द ब्रह्म) चेतन शब्द
पश्यन्ती वाक्
मध्यमा वाक्
'शब्द ब्रह्मणि निष्णात : परब्रह्माधि गच्छति'
ध्वन्यात्मक नाम (मन्त्र)
उन्मना
समना
व्यापिका
शक्ति
नादान्त
नाद
निरोधिका
अर्धचन्द्र
बिन्दु
आज्ञाचक्र
विशुद्धाख्यचक्र
अनाहतचक्र
मणिपूरचक्र
स्वाधिष्ठानचक्र
मूलाधारचक्र
मन्त्र के ९ नादों की समष्टि = 'नाद'
मन्त्र के अङ्ग = 'नाद'
पिण्डस्थ चक्र
मन का यन्त्र के साथ ऐक्य
मन का मन्त्र के साथ ऐक्य
मन का आत्मा के साथ ऐक्य
मन का गुरु के साथ ऐक्य
मन का देवता के साथ ऐक्य
मन का देवी के साथ ऐक्य
मन का मन्त्रार्थ के साथ ऐक्य
मन का नाद के साथ ऐक्य
मन का शून्य के साथ ऐक्य
मन का अवस्थाओं के साथ ऐक्य
मन का बिन्दुओं के साथ ऐक्य
मन का चक्र के साथ ऐक्य
मन का प्राण के साथ ऐक्य
वर्णात्मक मन्त्र
बैखरीगत मन्त्र
(जड़ शब्द)
मन्त्र
नाद
वर्णोच्चारण
निस्पन्द नि:शब्द (परब्रह्म)
जप के विभिन्न स्तर
शब्दब्रह्म
परावाक
पश्यन्ती
मध्यमा
वैखरी
वैखरी विश्व विग्रहा
विश्व
ऊर्ध्वारोहण का स्तर
जप के विभिन्न स्तर
अजपा जप
मानस जप
उपांशु जप
वैखरी जप
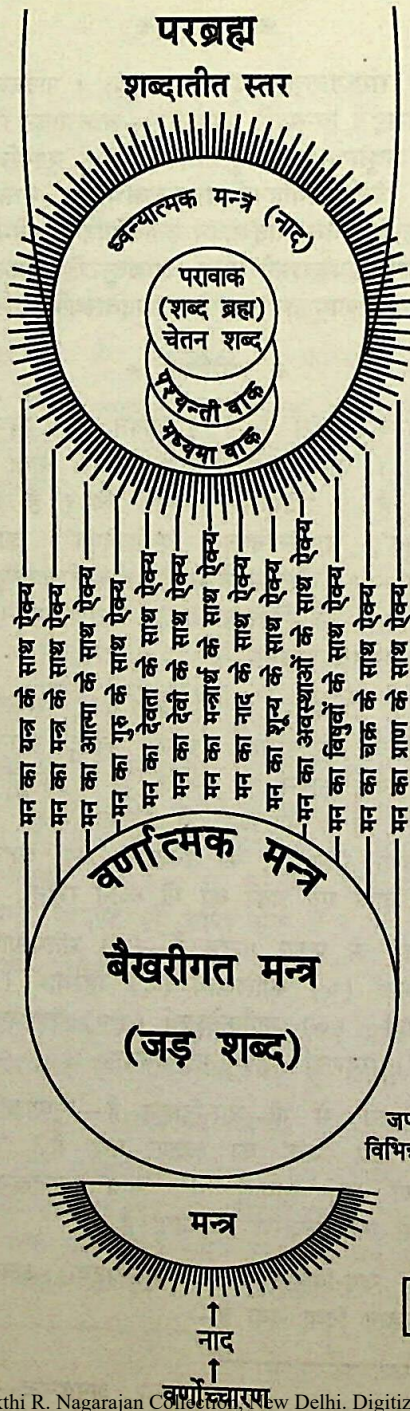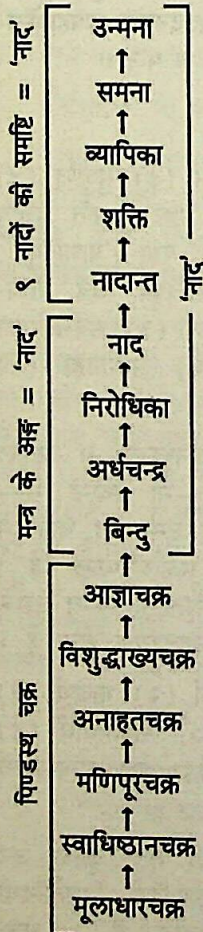
'शून्यषट्कं तथा देवि! ह्यवस्थापञ्चकं पुनः ॥ १०६ ॥
विषुवं सप्तरूपं च भावयन् मनसा जपेत् ॥'[1]
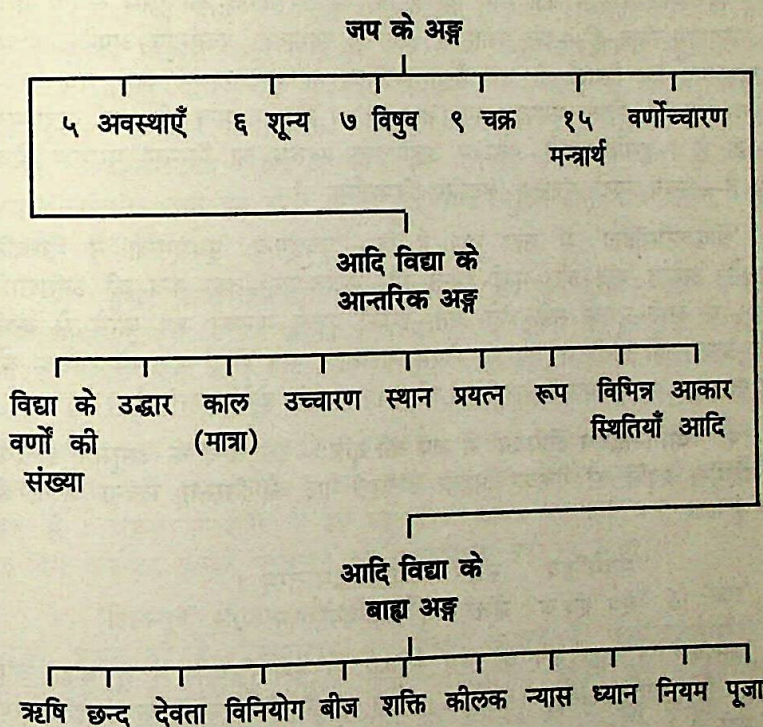
'मन्त्र' = वाचक । देवता = (वाच्य) ॥

'सर्वेश्वरी सर्वमयी सर्वमन्त्रस्वरूपिणी' ('ललिता सहस्रनाम') 'परावाक्' चैतन्यरूपा है—पराप्रत्यकचितीरूपा । पश्यन्ती परदेवता । मध्यमा वैखरी रूपा भक्तमानस हंसिका ॥ (ल०स०) 'मन्त्र' अपने मूल स्वरूप में परावाक् के रूप में रूपान्तरित हो जाते हैं इसीलिए मन्त्रों को चैतन्य की किरणें कहा गया है—"मन्त्राश्चिन्मरीचयः ॥" जहाँ चैतन्यत्व नहीं वहाँ मन्त्रत्व नहीं ।

१. 'विज्ञान भैरव' में जप की दृष्टि—'विज्ञानभैरव' में मन्त्राक्षरों के उच्चारण की अखण्ड आवृत्ति को ही 'जप' का पर्याय स्वीकार न करके जप के वैज्ञानिक स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

भूयोभूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या ।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ॥ १४२ ॥[2]

---

१. योगिनीहृदय

२. विज्ञान भैरव (शिव)

इस दृष्टि के अनुसार—'मैं ही ब्रह्म हूँ' मैं ही शिव हूँ, इस अनाहत नादरूपी शब्द (सोऽहं, हंस:) की निरन्तर भावना ही 'जप' है ।

'स्वच्छन्दतन्त्र'[१] में कहा भी गया है कि 'मैं इस जगत् का परम कारण परम हंस, प्राणमय शिव हूँ'—इस प्रकार से अहर्निश स्वभावत: प्रवर्तमान अपने प्राणमय अजपास्वरूप का विमर्श ही जप है । इसीलिए स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है—अहमेव परो हंस: शिव: परमकारणम् (४।३९९) । जपनीय मन्त्र भी स्वयं नादात्मक ब्रह्म ही है । इसमें अपने अकृत्रिम अहमात्मक स्वरूप का निरन्तर परामर्श होता रहता है—'स्वयं नादो मंत्रात्मा अकृत्रिमाहंविमर्शात्मा ।'

'श्रीकण्ठीसंहिता' में कहा गया है कि—'पृथङ्मन्त्र: पृथङ्मन्त्री न सिध्यति कदाचने' अर्थात् मन्त्र और मन्त्री (मन्त्र और मन्त्रजापक) तथा मन्त्र की अधिष्ठात्री देवता—ये कभी पृथक् नहीं होते अत: इनको पृथक् मानकर जप करने से कभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती ।। जप का विषय नादात्मक मन्त्र ही है । इसमें साधक को परम तत्त्व के साथ अपनी प्रत्यभिज्ञा की स्पष्ट प्रतीति होने लगती है ।

२. **'योगिनीहृदय दीपिका' में जप की दृष्टि**[२]—इस ग्रन्थ के अनुसार इन्द्रियों की बहिर्मुख प्रवृत्ति को रोककर आन्तर अनाहत नाद की निरन्तर भावना करना ही जप' है —

"संयमेन्द्रिय सञ्चारं - प्रोचरेन्नादमान्तरम् ।
एष एव जप: प्रोक्ता न तु बाह्य जपो जप: ।।"

ग्रन्थकार ने बाह्य जप को जप स्वीकार ही नहीं किया—'न तु बाह्य जपो जप: । विकल्पात्मक विविध वर्णों के संघात से विनिर्मित मन्त्रों का बाह्योच्चारण जप नहीं है ।

३. **'तन्त्रालोक' में जप की दृष्टि**[३]—इस ग्रन्थ में कहा गया है कि 'तत्स्वरूपं जप: प्रोक्तो भावाभावपदच्युत: ।।' अर्थात् 'उस परम कारण शिव का आत्मस्वरूप ही जप है । भावाभाव (प्राणापान आदि गत्यात्मक) पद की सीमा को अतिक्रान्त कर जाने की दशा (जहाँ चिदैक्य परामर्श हो) ही जप है—"तस्य शिवस्य स्वरूपं परावाक्स्वभावम् आत्मरूपम् अर्थात् भूयो भूय: परादृश्यमानं जप: अतएव भावाभावपदच्युत: ।। तन्मध्यस्फुरत्संवित्परामर्शमात्रसार इत्यर्थ: ।।'[४] शिव का स्वात्मरूप परावाक् है । परावाक् का शाश्वत परामर्श ही जप है । इस परामर्श दशा में भावाभावात्मक पद में स्थिति नहीं रहती प्रत्युत् मध्यावस्थान की दशा प्राप्त हो जाती है । भाव एवं भावाभाव दोनों की स्थितियाँ सङ्कोचात्मक होती है अत: साधक 'इसका त्रोटन करता है और मध्य में विराजमान होता है । वहीं पर संवित् का अमृत परामर्श होता है । यही अमृतात्मक परामर्श ही 'जप' है ।

---

१. स्वछन्दतन्त्र (४।३९९)
२. योगिनीहृदय दीपिका (पृ० १९५)
३. तन्त्रालोक (२।२०)
४. जयरथ-विवेक (तन्त्रालोक टीका)

४. **'त्रिशिरोभैरव' में जप की दृष्टि**—त्रिशिरोभैरवकार कहते हैं—क्षीरात्कल्मषमन से विकल्पात्मक अंशांशिक कल्पनाओं के निरोध से और मध्यावस्थान के माध्यम से वह परम शिव ध्यातव्य है। न केवल ध्यान से ही प्रत्युत् जप से भी भैरव रूप शिव में समावेश होता है। भावाभावपद से ऊपर उठकर उसका परामर्श करते रहना ही 'जप' है—"कल्मषक्षीणमनसा स्मृतिमात्रनिरोधनात्। ध्यायते परमं ध्येयं गमागपदे स्थितम्। परं शिवं तु व्रजति भैरवाख्यं जपादपि। तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभाव पदच्युतः॥"[१] शिव के परावाक् स्वभाव, अनाहतनादमय स्वरूप का पुनः पुनः परामर्श करना ही 'जप' है। इसमें भावाभावविनिर्मुक्त तथा इन दोनों दशाओं के मध्य स्फुरित होने वाले संवित् स्वरूप का बोध होता है।

५. **'ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृति विमर्शिनी' में जप की दृष्टि**[२]—उक्त ग्रन्थ में अभिनवगुप्तपादाचार्य ने यह शङ्का प्रस्तुत की है कि शब्दों की आवृत्ति से ही तो जप की सिद्धि होती है। परावाक्स्वभाव इस अनाहतनाद का जप कैसे किया जा सकता है?—इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अभिनवगुप्त ने स्वयं ही कहा है कि स्वात्मस्वरूप एक बार ही प्रकाशित होता है। उसको बार-बार प्रकाशित होने की आवश्यकता नहीं हुआ करती। उसी प्रकार यह जप भी एक बार ही प्रत्यभिज्ञात होता है। अपनी प्राणशक्ति के इस स्वाभाविकं व्यापार को एक बार पहचान लेने पर फिर बार-बार इसको पहचानने की आवश्यकता नहीं रह जाती॥

६. **'शिवसूत्र' में जप की दृष्टि**—शिवसूत्रकार ने 'कथा' को ही 'जप' की आख्या प्रदान की है—"कथाजपः"।[३] आचार्य क्षेमराज ने 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में 'स्वच्छन्दतन्त्र' के 'अहमेव परोहंसः शिवः परमकारणम्' वाक्य को उद्धृत करके कहा है कि स्वच्छन्दतन्त्र की इस उक्ति के अनुसार ही मैं यह मानता हूँ कि पराहंभावनामयत्व एवं उसकी अनुभूति ही 'जप' है। उनका कथन है कि 'श्रीकालिका क्रम' ग्रन्थ में जो यह कहा गया है कि—

'तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः।
विमर्शः परमाशक्तिः सर्वज्ञ ज्ञानशालिनी॥'

इसके अनुसार महामन्त्रात्मकाकृतकाहंविमर्शारूढ़ व्यक्ति के जो आलाप आदि हैं वे सभी इस स्वात्मदेवताविमर्शन के अनवरत आवर्तन से युक्त होने के कारण 'जप' ही है क्योंकि उनसे जप समुत्पन्न होता है—'महामन्त्रात्मदेवताविमर्शानवरतावर्तनात्मा जपो जायते॥"[४] भाव यह है कि अनुत्तर ज्ञानी होने के कारण योगियों का जो आलापादि लौकिक व्यवहार हैं, उनके अहं परामर्श सारस्वात्मदेवता भावनामय होने के कारण जप ही है।

७. **श्रुति-प्रतिपादित जप-दृष्टि**—वेदों के 'मन्त्रयोग' के अनुसार प्रत्येक प्राणी

---

१. त्रिशिरो भैरव
२. ई०प्र०वि०वि० (भाग-२)
३. शिवसूत्र (३।२७)
४. शिवसूत्रविमर्शिनी

अहोरात्र में २१ हजार छः सौ बार श्वास-प्रश्वास के माध्यम से जो श्वसन-क्रिया सम्पादित करता है उसमें अपानवायु के साथ 'सकार' बाहर फेंकता है एवं 'हङ्कार' के साथ प्राणवायु ग्रहण करता हुआ अहोरात्र 'हंसः' मन्त्र का जप किया करता है—इस "हंसः हंसः हंसः हंसः" के स्वरूप वाले इस स्वाभाविक श्वासप्रश्वासात्मक मन्त्र की आवृत्ति का नाम ही 'जप' है—यही मन्त्र उलट कर जपने से 'सोऽहं' बन जाता है—

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत्पुनः ।
हंस हंसेत्यतो मन्त्रं जपो जपति नित्यशः ।।

षट् शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
जपो देव्या विनिर्दिष्टः सुलभो दुर्लभो जडैः ।।

यह जप स्वयमेव उच्चरित है—इसका कोई जापक नहीं है और न तो इस जप का कोई प्रतिहन्ता ही है—

'नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवि प्राणिनामुरसि स्थितः ।।'

विश्वपूरण परभाव स्वस्वभाव में जो भावना (विमर्शना) भावित (संपादित) होती है वही 'जप' है । यह जप अकृताहंविमर्शात्मा नाद है और इसका जप्य है स्वात्मदेवता ।।

८. **'शिवसूत्रवार्तिक' में जप की दृष्टि**—वार्तिककार वरदराज का कथन है कि 'जनिपालनधर्मत्व के कारण' जिसे 'जप' कहा जाता है वह अकृत्रिम अहं के आमर्श से परिप्लावित, स्वात्मावमर्शी, याथार्थ्यवादी, स्वात्मपरामर्श संपदा से युक्त योगियों की 'स्वैरअभिलापात्मा कथा' है । वही योगीन्द्रविषया कथा 'जप' है—

अकृत्रिमाहमामर्शमयस्वात्मावमर्शिनः ।। १११ ।।

'या या स्वैराभिलापात्मा कथा याथार्थ्यवादिनः ।
भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या ।। ११२ ।।

जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ।। ११३ ।।
जनिपालनधर्मत्वाज्जप इत्यभिधीयते ।

अथेदृग्विधयोगीन्द्र विषयापि च या कथा ।। ११५ ।।
जपः सोऽपि जनस्योक्तो जनिपालन योगतः ।।"

'जयसंहिता' में कहा गया है कि "एक ही मन्त्रनाथ अन्तर और बाह्य दोनों में उदित होकर एक हो जाता है तब उस 'जप' को लक्ष संख्या से भी अधिक समझना चाहिए ।।" अर्थात् 'जप' मन्त्रनाथ के अन्तर एवं बाह्य में उदित होकर एक हो जाने की प्रक्रिया की संज्ञा है ।

'तत्त्वरक्षाविधान' में कहा गया है कि "आत्मसंवित् या परमपद में मन्त्र का

प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि वह शक्ति एवं क्रियारहित है । शक्ति के विषय में ही मन्त्र का प्रयोग (मन्त्र जप) करना चाहिए वही मन्त्र सफल होता है ।।''

'श्रीवैहायसी' में कहा गया है कि—सन्धिस्थल में नादोर्ध्वध्वनि से बोधित 'जप' करना चाहिए । सूत्र में ग्रथित मणि के समान शक्ति के ताने बाने से निर्मित मन्त्राक्षरों का ध्यान करते हुए जप करना चाहिए । वह शक्ति परम व्योम में रहती है और परमामृत से समृद्ध है । उक्त रीति से 'जप' करने पर ही मन्त्र अपने स्वरूप को प्रकट करता है अन्यथा अपने को गुप्त रखता है ।

'ध्यानं जपेन' (शाक्तदर्शन) कहकर आचार्य हयग्रीव ने कहा है कि जप का ध्यान से एवं ध्यान का जप से सम्बंध है । आचार्य अगस्त्य ने जप का बंध-क्षय से सम्बंध स्थापित करते हुए कहा है—'जपाद्बन्धो नश्यति ।।''

९. **'हंस पारमेश्वर' में जप की दृष्टि**—'जप' वर्णों के उच्चारण की प्रक्रिया नहीं है प्रत्युत् सुषुम्णा मार्ग में नादोच्चारण है । इसीलिए कहा गया है कि वर्णरूप मन्त्र 'पशुभाव' में स्थित हैं और जब वे सुषुम्णामार्ग से उच्चरित होने लगते हैं तो 'पशुपति' बन जाते हैं''—

'पशुभावेस्थिता मन्त्राः केवला वर्णरूपिणः ।
सौषुम्णेऽध्वन्युच्चरिताः पतित्वं प्राप्नुवन्ति ते ।।

९. **'त्रिकसार' में जप की दृष्टि**—'त्रिकसार' में कहा गया है कि चिच्छक्ति के बल का स्पर्श न होने के कारण मन्त्रों के वर्ण जड़ अक्षर ही रहते हैं—'चिच्छक्तिबला स्पर्शात् केवल वर्णरूप मात्रा रूपत्वान्मन्त्रपुत्रिकाकरण निष्फल चेष्टा भवन्ति ।।''[१]

वर्णातीत परतत्त्व के विदित हो जाने पर मन्त्राधिप भी मन्त्र के साथ मांत्रिक के किङ्कर हो जाते हैं

विदिते तु परे तत्त्वे वर्णातीते ह्यविग्रहे ।
किङ्करत्वं तु गच्छन्ति मन्त्रा मन्त्राधिपैः सह ।।[२]

तात्पर्य यह है कि चूँकि 'मन्त्र' चित्तत्त्व की रश्मियाँ हैं—''मन्त्राश्चिन्मरीचयः''—अतः 'जप' जापक द्वारा चैतन्य तत्त्व के साथ तादात्म्यप्राप्ति की एक प्रक्रिया है न कि जड़ अक्षरों की पुनरावृत्ति मात्र ।।

१०. **'स्पन्दप्रदीपिका' में जप की दृष्टि**—आचार्य उत्पलदेव 'स्पन्द प्रदीपिका' में कहते हैं कि मन्त्र का 'बल' है निरावरण चित् का उल्लास । इसी बल को लेकर मन्त्र सहज नादशक्ति से उद्बोधित होकर प्रदीप्त होते हैं । और उनमें सर्वज्ञता आदि का बल समाविष्ट होता है 'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः' (स्पं० का २६)

---

१. स्पन्द प्रदीपिका

२. त्रिकसार

'तद्‌बलं निरावरणचिदुल्लासरूपं परशक्त्याख्यमाक्रम्याधिष्ठाय मन्त्राः बीज पिण्ड पद नामरूपा मननत्राणधर्मिणः सहजनादशक्त्युद्‌बोधदीप्तत्वात् । सर्वज्ञत्वादिना बलेन श्लाघायुक्ता'—इसका अर्थ यह हुआ कि जब 'मन्त्र' नादशक्ति-उद्‌बोधित है तब 'जप' वह प्रक्रिया है जिसमें नादोत्थान हो एवं चित् का उल्लास हो ॥

११. योगसूत्रभाष्यकार व्यास की जप-दृष्टि—योगसूत्रकार पतंजलि कहते हैं—'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (१।२८) अर्थात् उस (प्रणव) का जप एवं उस प्रणव के अर्थभूत परमात्मा की भावना करनी चाहिए ॥ ('प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्')[१] 'ओंकार को जपते हुए एवं ओंकार के अर्थ 'ईश्वर' की भावना करते हुए योगी का चित्त एकाग्र होता है ।'[२] 'विष्णुपुराण' में कहा गया है कि ओंकार के पश्चात् योग-साधन एवं योग-साधन के पश्चात् जप करना चाहिए । जप एवं योग की सिद्धि से परमात्मा का साक्षात्कार होता है—

"स्वाध्यायाद्योग मासीत योगात्स्वाध्याय मामनेत् ।
स्वाध्याय योग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ॥"

अर्थात् जपपूर्वक ईश्वरार्थभावना एवं भावनापूर्वक ओंकार का जप करना चाहिए। ईश्वर-ध्यान से 'जप' को संपुटित करना चाहिए । सारांश—'जप' के बाद योग एवं योग के बाद 'जप' विधेय है । ('भावन' = 'भावनं पुनः पुनश्चित्ते निवेशनम्'—'तत्त्व वैशारदी' ।)[३] प्रणव जप के साथ ब्रह्मध्यान (प्रणिधान) करना चाहिए—'प्रणव जपेन सह ब्रह्मध्यानं प्रणिधानं' ॥[४] प्रणवेन परब्रह्म ध्यायीत नियतो यतिः ॥" ईश्वर-प्रणिधान के दो भेद हैं—(१) 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', तमेतमात्मानमोमिति ब्रह्मणैकीकृत्य ब्रह्म चात्मनोमित्येकीकृत्य । (२) प्रकृति-पुरुष दोनों का विलापन करके अपने अहं को ब्रह्मरूप समझना । (१) प्रथम प्रणिधान—उपासना । (२) द्वितीय प्रणिधान—तत्त्वज्ञान ॥[५]

अर्धमात्रादि में जो प्रतिफलित चैतन्य है वही 'मन्त्र' है । इसीलिए 'मन्त्राश्चिन्मरीचयः' कहा गया है । 'जप करना' एवं 'जप होना'—इस द्विविध रूप में जप द्विप्रकारी है—

१. 'जप करना'—वैखरी भूमि । वाचिक जप । उपांशु जप । मानसिक जप

२. 'जप होना'—(स्वाभाविक जप) (१) हृदय में जप, फिर (२) नाभि में जप, फिर (३) मूलाधार में जप ।

(बाह्य जप में मन्त्राक्षरों का पृथक्-पृथक् उच्चारण रहता है—वह विकल्पमय है—अतः वह मन्त्र नहीं है । मध्यमा में भूमि में मन्त्र नाद के साथ स्वतः ध्वनित

१-२. व्यास भाष्य
३. तत्त्व वैशारदी (वाचस्पति मिश्र)
४. योगवार्त्तिक (विज्ञान भिक्षु)
५. प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती-'जपसूत्रम्'—'भावन' का अर्थ भावना (चिन्तन करना) नहीं है 'भावन' (होने देना) है ।

हो उठता है । हृदय जप को ही मध्यमा मार्ग में प्रवेश समझना चाहिए क्योंकि इस स्थिति में नाद अपने आप चलता रहता है । बाह्य जप में नाद-श्रुति नहीं होती । मध्यमा भूमि में जब नाद के साथ मन्त्र स्वभावतः ध्वनित होने लगे तब उसे आन्तरिक जप समझना चाहिए ।) आभ्यन्तर नाद का उच्चारण होना ही जप का प्रधान लक्षण है—

'संयम्येन्द्रियग्रामं प्रोचरेन्नादमान्तरम् ।
एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः ॥'

'जप के साथ मन्त्रावय व समूह में ६ शून्यों, ५ अवस्थाओं ७ विषुवों की भावना भी करनी पड़ती है । 'जप'—ध्वनि (व्यक्त एवं अव्यक्त) संख्या एवं भाव (अर्थ) इन तीनों की त्रिपुरी है ।[१]

मन्त्र में चार बातें मुख्य हैं—(१) बीज (२) पिण्ड (३) पद (४) नाम । उनका धर्म है—मनन एवं त्राण । इन सभी का सम्बंध भी जप से है । जप के दो प्रकार है—(१) बाह्य (२) आभ्यन्तर । बाह्यजप = वैखरीनाद का विलास । आभ्यन्तर जप = मध्यमा नाद का विलास ॥

'शाक्तानन्दतरंगिणी' में अक्षरों की आवृत्ति को 'जप' की आख्या दी गई है— 'जपः स्यादक्षरावृत्तिः' किन्तु जप की यह परिभाषा वास्तविक जप की नहीं है क्योंकि वास्तविक जप की आवृत्ति करनी ही नहीं पड़ती प्रत्युत् उसकी आवृत्ति अपने आप होती रहती है ।

जप के द्वारा देवता प्रसन्न होते हैं एवं उससे सिद्धि मिलती है—

"जपेन देवता नित्यं स्तूयमाना प्रसीदति ।
जपात्सिद्धिजपात्सिद्धिर्न संशयः ॥"

जप के भेद—'स्वच्छन्दतन्त्र' में जप के ६ भेद बताए गए हैं—(१) वाचिक (२) मानस (३) यौगिक (४) योग वाचिक (५) योग मानसिक (६) वाङ्मानसिक यौगिक ॥

१. जप का प्रथम रूप (वाचिक) = देवी का ध्यान करते हुए वार्णा द्वारा मन्त्रोच्चारण "वाचा केवलयोच्चार्य मन्त्र देवी विभाव्य च ।"

२. जप का द्वितीय रूप (मानस) = सावधान चित्त से देवी के रूप का सम्यक् रीति से चिन्तन करते हुए मन्त्रानुसंधान 'देव्या रूपं च संचित्य सावधानेन चेतसा । मन्त्रस्याप्यनुसंधानं मानसं परिकीर्तितम् ॥'

३. जप का तृतीय रूप (यौगिक) = तीन स्थानों से क्रमशः तीन बीजों को यथामार्ग चिन्तित करके उनका आरोहण करना 'यौगिक जप' है ।

---

१. जपसूत्रम् (प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती)

४. जप का चतुर्थ रूप (योग वाचिक) = लक्ष्य के भीतर मन को केन्द्रित करके वाणी द्वारा जप करना योग वाचिक जप है ।

५. जप का पञ्चम रूप (योगमानसिक) = बीजानारोहण क्रम से मन के द्वारा जप करना योग मानसिक जप है ।

६. जप का छठवाँ रूप (वाङ्मानसिक यौगिक) = यह अनुत्तम जप है । वाचिक जप—वाक् प्रवर्तन; मानस जप—श्री एवं योगसिद्धियों की प्राप्ति; वाङ्मानस जप—वाग्ज्ञान, ऐश्वर्यसिद्धि अणिमादिक सिद्धियों की प्राप्ति ।[1]

जप और उसके अङ्ग—'एवमवस्था शून्यविषुवन्ति चक्राणि पञ्चषट् सप्त । न व च मनोरर्थांश्च स्मरतोऽर्णोच्चरणं तु जपः ।। 'जप' के साथ मन्त्रावयवों की अनुविद्धता अपरिहार्य है । जैसे माला के मनकों को एकीकृत करने के लिए सूत्र आवश्यक है उसी प्रकार भिन्न-भिन्न मन्त्राक्षरों को एकात्मता में पिरोने के लिए मन्त्रावयव रूप सूत्र की आवश्यकता होती है । मन्त्रावयव रूप सूत्र में पिरोये मन्त्राक्षरों का उच्चारण करना ही जप है इसीलिए भास्कराचार्य कहते हैं—

'एवमवस्था शून्यविषुवन्ति चक्रणि पञ्च षट् सप्त ।
नव च मनोरर्थांश्च स्मरतोऽर्णोच्चरणं तु जपः ।।'[2]

१. भास्कराचार्य के मत में जप के मूलभूत अङ्ग—आचार्य भास्कर कहते हैं कि मन्त्राक्षरों के उच्चारण की आवृत्तियाँ मात्र ही 'जप' नहीं है बल्कि मन्त्रावयवों के साथ मन्त्रोच्चारण 'जप' है उन्होंने मन्त्रावयवों को ही जप के अङ्ग के रूप में स्वीकार किया है जो निम्न है—(१) छः शून्य (२) पाँच अवस्थायें (३) सात विषुव (१८ अङ्ग) । सारांश यह है कि मन्त्र-जप के अवयवभूत अङ्ग निम्न हैं—

(क) मन्त्राक्षरों का 'उच्चारण'—'अणोच्चरणं तु जपः' (वरि० ५२)

(ख) मन्त्राक्षरों के 'अर्थचिन्तन' एवं मन्त्रार्थ—चिन्तन के साथ किया गया मन्त्रोच्चारण—

"मनोरर्थांश्च स्मरतोऽर्णोच्चरणां तु जपः ।।"

अर्थात् जप के साथ मन्त्रार्थ चिन्तन भी आवश्यक है । मन्त्रार्थ निम्न है—'षड्विधस्तं तु देवेशि कथयामि तवानघे । भावार्थः सम्प्रदायार्थो निगर्भार्थश्च कौलिकः । तथा सर्वरहस्यार्थो महातत्त्वार्थ एव च । अक्षरार्थो हि भावार्थः केवलः परमेश्वरि ।।' 'योगिनीहृदय' में मन्त्रार्थ के ये निम्न प्रकार है—(१) 'भावार्थ' (२) 'संप्रदायार्थ' (३) 'निगर्भार्थ' (४) 'कौलिकार्थ' (५) 'सर्वरहस्यार्थ' (६) 'महातत्त्वार्थ' ।।[3]

२. आचार्य भास्करराय के मतानुसार मन्त्रार्थ—'योगिनीहृदय' में तो मात्र मन्त्रार्थ के उक्त छः प्रकार ही बताए गए हैं किन्तु 'वरिवस्यारहस्यम्' में मन्त्र के

---

१. स्वच्छन्दतन्त्र
२. वरिवस्यारहस्यम् (श्लोक ५२)
३. योगिनीहृदय

पन्द्रह अर्थ बताए गए हैं जो निम्न हैं—(१) प्रतिपाद्यार्थ (२) भावार्थ (३) संप्रदायार्थ (४) निगर्भार्थ (५) कौलिकार्थ (६) रहस्यार्थ (७) महातत्त्वार्थ (८) नामार्थ (९) शब्दरूपार्थ (१०) नामैकदेशार्थ (११) शाक्तार्थ (१२) सामरस्यार्थ (१३) समस्तार्थ (१४) सगुणार्थ (१५) महावाक्यार्थ ।।[१] योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने भी—"तज्जपस्तदर्थभावनम्" सूत्र द्वारा इसी दृष्टि को प्रतिपादन किया है—

३. **योगियों की दृष्टि में 'अर्थभावन' (मन्त्रार्थ) का तात्पर्य**—(क) भाष्यकार व्यास का मत—योगभाष्यकार व्यास कहते हैं कि—'प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम् ।। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते तथा चोक्तम् 'स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्याय मामनेत् । स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ।।'[२] भाष्यकार आगे कहते हैं कि संप्रतिपत्ति (स सदृशव्यवहार परम्परा) के नित्य होने के कारण शब्द एवं अर्थ का संबंध भी नित्य होता है—ऐसा आगमशास्त्रकार मानते हैं ('सम्पत्तिपत्ति नित्य तथा नित्यः शब्दार्थसम्बंध इत्यागमिनः प्रतिजानते ।।')[३] वाच्य-वाचक के मध्य स्थित संबंध को जानने वाले योगी के लिए इसका जप और इसके तत्त्व का उद्‌घाटन (प्रणव का जप एवं प्रणव के अर्थ ईश्वर को प्रकाशित करना) संभव होता है ।[४]

प्रणव का जप करने वाले एवं इसके तत्त्व का उद्‌घाटन करने वाले योगी का चित्त एकाग्र होता है । इसीलिए कहा गया है । 'स्वाध्याय... प्रकाशते । व्यास फिर प्रश्न उठाते हैं (सूत्र २७)—'ईश्वर' औंकार का अभिधेय अर्थ है—'वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य' । क्या ओंकार का वाच्यवाचकत्व सङ्केतजन्म हैं या दीप से प्रकाशित पदार्थ के समान पहले से ही स्थित और सङ्केत द्योत्य है? इस वाच्य का वाचक के साथ संबंध स्थित (नित्य एवं सङ्केतद्योत्य) ही होता है सङ्केतजन्म नहीं है । ईश्वर का सङ्केत पहले से स्थित वाच्यवाचक सम्बन्ध रूप अर्थ को प्रकाशित मात्र करता है । जैसे पिता और पुत्र का संम्बंध पहले से स्थित रहता है और सङ्केत द्वारा प्रकाशित होता है कि—'यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र है ।' अन्य सर्गों में भी वाच्यवाचक शक्ति सहाय सङ्केत उसी प्रकार ईश्वर के द्वारा किया जाता है ।[५] आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि 'तज्जपस्तर्थभावनम्' में 'तत्' का अर्थ है—'तस्य प्रणवस्य'[६] अर्थात् 'प्रणव का' । 'भावनं' का अर्थ है—'भावनं पुनः पुनर्निश्चन्ते निवेशनम्' अर्थात् बार-बार चित्र में निवेशन ।[७] प्रणव के जप के साथ ब्रह्मध्यान ही प्राणिधान है । इस वाच्य-वाचक भाव को समझते हुए मन्त्र की आवृत्ति करना ही जप है । 'भावन का अर्थ है—प्रणवार्थ चिन्तन ।। यह प्रणवार्थ चिन्तन दो प्रकार का है—(१) 'अहं ब्रह्म' (२) 'सर्वं खलु ब्रह्म' ।। यह चिन्तन वाच्य वाचक भाव ज्ञात करके ही करना चाहिए—"प्रणव जपेन सह ब्रह्मध्यानं प्रणिधानम्, तच्च वाच्यवाचकभावं ज्ञात्व कर्तव्यम्' ।।[८]

---

१. वरिवस्यारहस्यम् (२१५७, ५८, ५९) २-५. व्यास-भाष्य
६-७. तत्त्ववैशारदी ८. योगवार्त्तिक (विज्ञानभिक्षु)

(ख) वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु का मत—वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि—'वाचकत्व' का अर्थ है प्रतिपादकत्व । अर्थात् 'तस्य वाचकः हि प्रणवः' में 'वाचक' पद—शब्द एवं अर्थ के स्वाभाविक संबंध को द्योतित करता है—'स्वाभाविकः शब्दार्थयो संबंधः सङ्केतेन असमात् शब्दात् अयमर्थः ।।'' यदि घर नहीं है तो हजारों दीपों के प्रकाश से भी घर उपस्थित नहीं होगा इसी प्रकार ॐ एवं उसके अर्थ (ईश्वरत्व) में जो सम्बंध है वह घर-दीपवत नहीं प्रत्युत् नित्य है ।[१] अर्थात् मन्त्र एवं उसके मन्त्रार्थ में भी इसी प्रकार नित्य सम्बंध है । अतः मन्त्र के साथ मन्त्रार्थ का चिन्तन न करना दोनों के नित्य सम्बंध की अवमानना है ।

आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि 'वाच्यवाचक भावं ज्ञात्वा' 'सह ब्रह्मध्यानं' (वाच्य वाचक भाव ज्ञात करके एवं ब्रह्मध्यान के साथ) मन्त्र का जप करना चाहिए ।।[२] 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' एवं 'एकः समस्तं यदि हास्ति किंचित्तदत्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत् । सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज् भेदमोहम ।। के अनुसार प्रणवार्थ चिन्तन के साथ जप करना चाहिए ।।[३]

(ग) 'अवस्थाओं' एवं मन्त्रार्थों के ज्ञान के सहित मन्त्रोच्चारण जप है—'अवस्थायें' क्या है? चेतना की निम्न अवस्थायें हैं—(१) जागृति (२) स्वप्न (३) सुषुप्ति (४) तुरीय (५) तुरीयातीत ।।

(१) जाग्रत अवस्था—दस इन्द्रियों के द्वारा जागतिक व्यापार सम्पन्न कराने वाली अवस्था ही 'जाग्रतअवस्था' है ।

(२) स्वप्नावस्था—जिस अवस्था में मन-बुद्धि-चित्त-अहङ्कार रूप आन्तर करणचतुष्टय द्वारा व्यवहार सम्पन्न होता है उसे स्वप्नावस्था कहते हैं ।

(३) सुषुप्त्यवस्था—स्वप्न में विद्यमान अन्तःकारण की वृत्तियों का लय हो जाने पर (इन्द्रियों के उपरमस्वरूप) जिस अवस्था का उदय होता है उसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं ।

४. तुरीय अवस्था—स्वात्म चैतन्य के अभिव्यक्त के हेतुभूत माद के आविर्भाव को ही 'तुरीय' कहते हैं ।

५. तुरीयातीतावस्था—यह परमानन्दावस्था है । यह मन के वाणी के अतीत अवस्था है । पञ्चावस्थाओं का अवस्थान इस प्रकार है—

(क) 'जाग्रतावस्था'—'अ'[४]
(ख) 'स्वप्नावस्था'—'उ'[५]

'अ' 'उ' एवं 'म' = जाग्रता, स्वप्न एवं सुषुप्ति के द्योतक हैं । अगले अवयव 'तुरीय' एवं 'तुरीयातीत' के द्योतक हैं ।

---

१. योगवार्त्तिक (विज्ञानभिक्षु) २. तत्त्ववैशारदी
३. योगवार्त्तिक (विज्ञानभिक्षु)
४. इन्द्रियशक्यव्यवहृतिरूपा या जागरावस्था
५. अन्तःकरणचतुष्कव्यवहारः स्वाप्निकावस्था

(ग) 'सुषुप्त्यवस्था'—'म'[१]	सुषुप्ति भावना का स्थान भ्रूमध्य के बिन्दु में हैं । यह बिन्दु हृल्लेखा को ऊर्ध्व बिन्दु है ।
(घ) 'तुरीयावस्था'[२]	अर्धचन्द्र, रोधिनी, और नाद इन तीन मन्त्रावयवों को तुरीयावस्था माननी चाहिए ।
(ङ) 'तुरीयातीतावस्था'[३]	नादान्त से शक्ति, व्यापिनी एवं समना में तथा उन्मना में तुरीयातीतावस्था है । उन्मना से परे कोई अवस्था है ही नहीं ।

अर्धमात्रा आदि में प्रतिकलित चैतन्य ही 'मन्त्र' है । मन की मात्रा जितनी ही प्रसृत होती है मन का उतना ही अंश क्षुद्रतर होता जाता है और उसी अनुपात में उतना ही चिदालोक शुभ्रतर होता जाता है । 'बिन्दु' मात्रा से मात्राहीन में जाने का द्वार है । यहाँ ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुरी एकाकार है—यह निरालम्ब भाव का स्थान है । मात्रा-भङ्ग के कारण अर्द्धमात्रा का उदय होता है ।

(घ) **'अवस्था', 'मन्त्रार्थ' के साथ 'शून्य'-ज्ञान सहित मन्त्रोच्चारण ''जप''** है—'जप' का एक अङ्ग शून्य-ज्ञान भी है । बीजमन्त्र (ओंकार) के १२ अवयव हैं । ज्योतिर्मय एकाकारता ही 'शून्य' है । द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम दशम एवं द्वादश अवयव 'शून्य' कहलाते हैं । इनमें प्रथम पाँच शून्य 'अवान्तर शून्य' एवं छठवाँ 'महाशून्य' कहलाता हैं ।

अ, उ, म, बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी समना एवं उन्मना—प्रणवरूप महामन्त्र के ये ही बारह अवयव हैं । इनमें से प्रति द्वितीय अवयव 'शून्य' कहलाता है । प्रथम पाँच शून्यों को तो निराकार कहना समीचीन नहीं किन्तु छठवाँ शून्य निराकार है । भास्कर कहते हैं कि—तृतीय कूट के रेफ, बिन्दु, रोधिनी, नादान्त एवं व्यापिका में पाँच शून्यों की भावना करनी चाहिए और उन्मनी में रूप शून्य महाशून्य की भावना करनी चाहिए ॥ रेफ, बिन्दु, निरोधिनी, नादान्त एवं नादान्त में पञ्च शून्यों की भावना करनी चाहिए । (दीपिका पृ० ३१२) । पाँचवे के बाद छठवें शून्य के रूप में उन्मनी को ग्रहण करना चाहिए । यह महाशून्य है और निराकार है । (दीपिका पृ० ३१२) जब तक मन जाग्रत नहीं होता तब तक मन्त्र का मन्त्रत्व उदित ही नहीं होता सुषुम्ना का स्रोत चैतन्य का प्रवाह है । मन को जगाकर ऊर्ध्वमुखी सुषुम्ना की धारा में डालना होगा । मन को चेतन करके उठाना होगा । यह जाग्रत मन ही मन्त्र है इसीलिए 'चित्तं मन्त्रः'

---

१. आन्तरवृत्तेर्लयतो लीनप्रायस्य जीवस्य । वेदनमेव सुषुप्तिश्चिन्त्या तार्तीय बिन्दौ सा ।—वरिवस्यारहस्यम्

२. तुर्यावस्था चिदभिञ्जक नादस्य वेदनं प्रोक्तम् ॥

३. आनन्दैकघनत्वं यद्वाचामपि न गोचरो नृणाम् । तुर्यातीतावस्था सा नादान्तादिपञ्चके भाव्या ॥—वरिवस्यारहस्यम्

(शिवसूत्र) कहा गया है । मन का भागांश इस प्रकार है— (१) बिन्दु में १/२ मात्रा (२) अर्द्धचन्द्र में १।४ मात्रा (३) निरोधिनी में १।८ मात्रा (४) नाद में १।१६ मात्रा (५) नादान्त में १।३२ मात्रा (६) शक्ति में १।६४ मात्रा (७) व्यापिनी में १।१२८ (८) समना में १।१२८ मात्रा = बिन्दु से समना तक की समस्त मात्राओं का जोड़ १ मात्रा है ।

(ङ) अवस्था, मन्त्रार्थ-विज्ञान, शून्य-ज्ञान एवं विषुवसप्तक के साथ मन्त्रोच्चारण करना जप है ।

इन विषुवों का निम्न इस प्रकार है—(१) 'प्राणविषुव' (२) मन्त्रविषुव (३) नाड़ीविषुव (४) प्रशान्तविषुव (५) शक्तिविषुव (६) कालविषुव (७) तत्त्वविषुव ॥

१. प्राणविषुव—प्राण, आत्मा एवं मन के संयोग को 'प्राणविषुव' कहते हैं ।[१]

२. मन्त्रविषुव—प्रथम कूट के नाद एवं व्यष्टि-समष्टि भेद से अनाहत से आरम्भ करके ब्रह्मरन्ध्र तक उत्पन्न होने वाले नाद एवं चारों बीज तथा आत्मा की नादमयी विभावना को 'मन्त्र विषुव' कहते हैं ।

३. नाड़ीविषुव—मूलाधार से उठने वाले नाद के उच्चारण से ब्रह्मरन्ध्र तक षट्चक्रों की द्वादश ग्रन्थियों को सुषुम्ना के मार्ग से ही ग्रन्थियों का भेदन करता हुआ नाडी, नाद एवं वर्णों का संयोग 'नाडिका विषुव' कहा जाता है ।

४. प्रशान्तविषुव—रेफ एवं कामकला (ई) एवं बिन्दु से आरम्भ करके ह्रीं के नादान्त तक एक सूक्ष्मतर नाद उत्पन्न होता है । इस सूक्ष्मनाद का शक्ति के साथ विलय की 'प्रशान्त विषुव' कहा जाता है ।

५. शक्तिविषुव—शक्ति के साथ लीन इस नाद की भावना को 'समना' में लीन करनी चाहिए । इसे 'शक्तिविषुव' कहा जाता है—

समनागतमुन्मन्याभेते द्वे शक्तिकाल विषुवाख्ये ॥[२]

इसमें, शक्त्यन्तर्गतनादं समनायां भावयेल्लीनम् ॥[३]

६. कालविषुव—उक्त नाद की भावना समना एवं उन्मनी में करना 'काल विषुव' कहलाता है ।[४]

७. तत्त्वविषुव—ककार से उन्मना तक एवं अकुल से उन्मना तक प्रदेशों में स्थित श्रीविद्याकूटों के अवयवों को व्याप्त करते हुए समस्त ३१७ त्रुटियों एवं साढे तीन निमेषों को व्याप्त करता हुआ 'नाद' तत्त्व ज्ञान का कारण होता है । यह शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति का मूल हेतु 'तत्त्व विषुव' कहलाता है ।[५]

---

१. प्राणात्ममानसानां संयोगः प्राणविषुवाख्याः ॥ (वरिवस्यारहस्यम् १।४३)
२. योगः प्राणात्म मनसां विषुवं प्राणसंज्ञितम् । (योगिनीहृदयम्)
३-५. वरिवस्यारहस्यम्

(च) 'अवस्था', 'मन्त्रार्थ', 'शून्य', 'विषुव' के साथ 'चक्रों के ज्ञान के साथ मन्त्रोंच्चारण करना 'जप' है ।

अकुल सहस्रार-मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरक-अनाहत-विशुद्धाख्य । सूक्ष्म जिह्वा; भ्रूमध्य एवं बिन्दुस्थान—इन नौ स्थानों में त्रैलोक्यमोहन आदि चक्रनवक का भावन करना भी जप का एक अङ्ग है—

१. अकुल सुषुम्नामूल अरुण सहस्रदल कमल में—त्रिपुराधिष्ठित त्रैलोक्यमोहन चक्र की भावना करना ।[१]

२. वह्नि के आधाररूप चतुर्दल कमल में—त्रिपुरेशी से अधिष्ठित सर्वाशापरिपूरक चक्र की भावना करना ।[२]

३. शाक्त स्वाधिष्ठान स्थित षड्दल कमल में—त्रिपुरसुन्दरी से अधिष्ठित सर्वसंक्षोभण चक्र की भावना करना ।[३]

४. नाभि प्रदेश में स्थित दशदलकमल में त्रिपुरवासिनी देवी से अधिष्ठित सर्वसौभाग्यदायक चक्र की भावना करना ।[४]

५. अनाहत प्रदेश के द्वादशदल कमल में त्रिपुरा श्रीसमधिष्ठित सर्वार्थसाधक चक्र की भावना करना ।[५]

६. विशुद्धचक्र के षोडशदल कमल में त्रिपुरमालिनी से अधिष्ठित सर्वरक्षाकर चक्र की भावना करना ।[६]

७. लम्बिकाग्र में तालुमूल के अष्टदलकमल में त्रिपुरासिद्धि से अधिष्ठित सर्वरोगहर चक्र की भावना करना ।

८. भ्रूद्वय के मध्य द्विदल पद्म में त्रिपुराम्बिका से अधिष्ठित सर्वसिद्धिप्रद चक्र की भावना करना ।[७]

९. इन्द्वात्मक ललाट के बिन्दु में महात्रिपुरसुन्दरी से अधिष्ठित सर्वानन्दमय चक्र की भावना करना[८] ही जप के साथ 'चक्रभावन' की पद्धति है ।

चक्रभावना का यह विधान 'योगिनीहृदय' में भी प्रतिपादित किया गया है—"अकुलादिषुपूर्वोक्त स्थानेषु परिचिन्तयेत् । चक्रेश्वरी समायुक्तं नवचक्रं पुरोदितम् ॥"[९]

आचार्य भास्कर का कथन है कि—'सङ्केतपद्धति' आदि ग्रन्थों में 'चक्रभावन' के तीन प्रकार कहे गए हैं—(१) सकल (२) निष्कल (३) सकल निष्कल ॥

शून्य—'विज्ञानभैरव' के ३२वें श्लोक में 'शून्यषट्क' एवं ४४वें श्लोक में शून्य त्रय की भावना का उल्लेख है इसी प्रकार—'योगिनीहृदय' में भी 'शून्यषट्क' एवं 'शून्यत्रय' का उल्लेख किया गया है—'शून्यषट्कं तथा देवि ह्यवस्था पञ्चकं पुनः' 'शून्यत्रयं विजानीयादेकैकान्तरतः प्रिये ॥' शून्यत्रयात् परे स्थाने महाशून्यं

१. अमृतानन्दनाथ—दीपिका

विभावयेत ।। (३।१७६-१७७) 'स्वच्छन्दतन्त्र' (४।२८९-२९६) में भी शून्यषट्कं का उल्लेख पाया जाता है । योगिनीहृदयदीपिका में अमृतानन्दनाथ ने कहा कि छ: शून्यों के स्वरूप को 'विज्ञानभैरव' के ३२वें श्लोक से जानना चाहिए ।

'स्वच्छन्दतन्त्र' के अनुसार—(१) ऊर्ध्वशून्य (२) अध:शून्य (३) मध्य शून्य-शून्यत्रय हैं । क्षेमराज ने—(१) शक्तिपद को—ऊर्ध्वशून्य (२) हृदय को अध: शून्य एवं (३) कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र को 'मध्यशून्य' माना है एवं 'व्यापिनी' में चतुर्थ, 'समना' में पञ्चम एवं 'उन्मना' में 'षष्ठ शून्य' माना है । उन्होंने इन सभी सहेतुक शून्यों का त्याग करके 'सप्तम शून्य' (परमसूक्ष्म शून्य) में लीन होने का विधान किया है । उन्होंने कहा कि शून्य दो प्रकार के हैं—(१) अभावात्मक शून्य ६ (२) भावात्मक शून्य—सप्तम शून्य ।। शास्त्रों में ६ शून्य ही माने गए हैं ।

सारांश—भास्करराय के मतानुसार मन्त्र-जप के निम्न लक्षण हैं—

१. अवस्थाओं का ज्ञान २. विषुवों का ज्ञान ३. शून्यों का ज्ञान ४. चक्रों का ज्ञान ५. मन्त्र के अर्थों का ज्ञान ६. मन्त्र के वर्णों का उच्चारण ।

५ अवस्थाओं, ६ शून्यों, ७ विषुवों, ९ चक्रों का स्मरण रखते हुए मन्त्र के विभिन्न अर्थों का चिन्तन करते हुए मन्त्र के वर्णों का उच्चारण करना ही 'जप' है ।
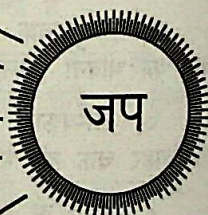
"एवमवस्था शून्य विषुवन्ति चक्राणि पञ्चषट् सप्त । नव च मनोरर्थांश्च स्मरतोऽर्णोच्चरणं तु जप: ।।" (—भास्करराय)

भास्कररायेण गुरोः करुणावशतः समुन्मिषिते ।
वरिवस्यातिरहस्ये पूर्वांशः [1]पूर्णतामगमत् ।। ५३ ।।

(ग्रन्थ के पूर्वांश की समाप्ति की अनुज्ञप्ति)

गुरुदेव की अनुकम्पा से प्रकाश में लाए गए 'वरिवस्यारहस्य' ग्रन्थ का पूर्वांश भास्करराय द्वारा पूर्ण हुआ ।। ५३ ।।

---

१. पूर्णतामाप्त

* प्रकाश *

इति श्रीनृसिंहानन्दनाथचरणाराधकेन भास्कररायापरनाम्ना भासुरानन्दनाथेनोम्नीते वरिवस्यारहस्ये तत्प्रकाशे च प्रथमोंऽशः

* सरोजिनी *

गुरोः करुणावशतः—गुरु की अनुकम्पा के कारण ॥ ग्रन्थकार प्रस्तुत ग्रन्थ-रचना का के कर्तृत्व एवं प्रणयन-गौरव का श्रेय स्वयं नहीं लेना चाहता प्रत्युत् इसे अपने गुरु को समर्पित करना चाहता है । इसका कारण क्या है? प्रथम कारण तो यह है कि ऐसा करके शिष्य गुरु द्वारा प्रयन्त ज्ञान के ऋण से मुक्त हो जाता है दूसरे अपने कर्तृत्व में गुरु के शक्ति-सञ्चार को अनुभव करने से ग्रन्थकार की अहङ्कार विमुक्त चेतना और अधिक निर्मल, व्यापक, सूक्ष्म, एवं शक्तिशाली होती जाती है । इसके अतिरिक्त 'गुरु' शब्द मङ्गलवाची भी है क्योंकि—'गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः । उकारः शम्भुरित्युक्त स्त्रितयात्मा गुरुः स्मृतः ॥"[१]

एक बात यह है कि प्रत्येक साधक ग्रन्थकार इष्टदेवता को प्रसन्न करना चाहता है । इस दृष्टि से देखें तो भी गुरु के प्रति निष्ठा आवश्यक है क्योंकि—

गुरुप्रीति समुत्पन्ने देवता प्रीतिमाप्नुयात् ।
देवताप्रीतिमापन्ने मन्त्रसिद्धिर्भवेद ध्रुवम् ॥[२]

"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
अतएव महेशानि साक्षाद् ब्रह्ममयो गुरुः ॥"[३]

॥ इस प्रकार वरिवस्यारहस्य के प्रथमोंऽश की डॉ० श्यामाकान्त द्विवेदी कृत 'सरोजिनी' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥

---

१. यामल

२-३. कुलार्णव—शाक्तानन्द तरंगिणी

द्वितीयोंऽशः

जपलक्षणशरीरघटकत्वेन

'यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिंचित् ॥'

इत्यर्थज्ञानरहितशब्दोच्चारणस्य निन्दया पापानुमानाच्चार्थज्ञानमावश्यिक-मित्याह—

नार्थज्ञानविहीनं शब्दस्योच्चारणं फलति ।
भस्मनि वह्निविहीने न प्रक्षिप्तं हविर्ज्वलति ॥ ५४ ॥

अर्थमजानानां नानाविधशब्दमात्रपाठवताम् ।
उपमेयश्चक्रीवान् मलयजभारस्य वोढैव ॥ ५५ ॥

(अर्थ-ज्ञान-शून्य अनुष्ठित जप की व्यर्थता)

अर्थ का सम्यक् ज्ञान हुए बिना शब्दोच्चारण कोई फल नहीं देता । (यथा) अग्निशून्य भस्म में समर्पित हविष्य नहीं जल पाता ॥ ५४ ॥

अर्थ को न जानते हुए भी विविध प्रकार के शब्दमात्र का पाठ करने वालों की उपमा चनदन के भार को ढोने वाले (किन्तु चन्दन के गुणों को न जानने वाले) गर्दन से ही दी जा सकती है ॥ ५५ ॥

* प्रकाश *

चक्रीवान् गर्दभः । यद्यपि 'यथा खरश्चन्दनभारवाही' इति श्रुतौ खरस्यैवोप-मानता, तथापि सादृश्यनिरूपकगुणाधिक्यवत एवोपमानत्वात् तदाधिक्यव्यञ्जनाय प्रतीपालङ्कार इवोपमानोपमेययोर्व्यत्यासः ॥ ५४-५५ ॥

* सरोजिनी *

'नार्थ............फलति''—अर्थज्ञान के अभाव में किसी भी मन्त्र का जप फलीभूत नहीं होता । चूँकि प्रत्येक मन्त्रजापी अपने देवता के साक्षात्कार को ही

अपना प्रधान लक्ष्य मानता है किन्तु मन्त्र अर्थ ही तो देवता होता है अतः मन्त्र का अर्थ जाने बिना देवता का साक्षात्कार कैसे हो सकता है ? 'शाक्तानन्दतरंगिणी' में कहा गया है—'मन्त्रार्थं देवतां रूपं चिन्तनं परमेश्वरि । वाच्यवाचक भावेन अभेदो मन्त्रदेवयोः ॥'[१] 'देवता' वाच्य है 'मन्त्र' वाचक है—'वाच्या हि देवता देवमन्त्रोहि वाचकः स्मृतः ॥'[२] वाचक के ज्ञात होने पर स्वतः वाच्य भी प्रसन्न होता है— "वाचकेऽपि च विज्ञाते वाच्य एव प्रसीदति ॥"

जिस-जिस मन्त्र का जो-जो देवता हो उसके आकार का चिन्तन करके ही— अर्थात् मन्त्र का देवता रूप अर्थ समझकर एवं उसका ध्यान करके जप करना चाहिए—

"यस्य यस्य च मन्त्रस्य उद्दिष्टा या च देवता ।
चिन्तयित्वा तदाकारं मनसा जप माचरेत ॥"[३]

'कुलार्णवतन्त्र' में तो यहाँ तक कहा गया है कि जिस भी मन्त्र का जप करना हो साधक को 'तन्निष्ठ' 'तद्गतप्राण' 'तच्चित्त' 'तत्परायण' होकर उस पदार्थ का अर्थानुसंधान करते हुए मन्त्र का जप करना चाहिए[४]—

तन्निष्ठस्तद्गत प्राणस्तच्चित्तस्तत् परायणः ।
तत्पदार्थानुसंधानं कुर्वन्मन्त्रं जपेत् प्रिये ॥

आदि में मन्त्र के अर्थस्वरूप देवता का ध्यान करना चाहिए । इसके बाद अंत में भी मन्त्र के अर्थस्वरूप देवता का ध्यान करना चाहिए एवं इस प्रकार ध्यानपूर्वक मन्त्र जप करना चाहिए ।

आदौ ध्यानं ततोमन्त्रं ध्यानस्यान्ते मनुं जपेत् ।
ध्यान मन्त्रसमायुक्तः शीर्घं सिध्यति साधकः ॥[५]

"यथा खरश्चन्दन भारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य" । खर की उपमानता । सादृश्य निरूपकगुणाधिक्यवत् उपमान से तदाधिक्य के भाव की अभिव्यञ्जना हेतु 'प्रतीपालङ्कार' का प्रयोग किया गया है जिसमें 'इव' शब्द द्वारा उपमानोपमेयों के व्यत्यास को व्यक्त किया गया है ।

पुरुषार्थानिच्छद्भिः पुरुषैरर्थाः परिज्ञेयाः ।
अर्थानादरभाजां नैवार्थः प्रत्युतानर्थः ॥ ५६ ॥

(मन्त्रार्थों का परिज्ञान आवश्यक क्यों?)

पुरुषार्थों (धर्मार्थ काम मोक्ष) की आकांक्षा रखने वाले लोगों को (मन्त्रों के) अर्थों का परिज्ञान होना चाहिए । (मन्त्रों के अर्थों के प्रति) तिरस्कार का भाव रखने वालों के लिए अर्थ (अभीष्ट) की प्राप्ति नहीं प्रत्युत् अनर्थ की प्राप्ति होती है ॥ ५६ ॥

१-५. शाक्तानन्द तरंगिणी

*** प्रकाश ***

एतेनार्थज्ञानस्य नित्यत्वमुक्तं भवति ॥ ५६ ॥

*** सरोजिनी ***

भास्करराय कहते हैं कि जो व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की आकांक्षा रखते हैं उन्हें अपने आकांक्षा की इस पूर्ति के लिए मन्त्रों के अर्थों को जानना अत्यावश्यक है । जो लोग मन्त्रार्थ के प्रति उपेक्षा दृष्टि रखते हैं उन्हें स्वाभीष्ट-प्राप्ति की बात तो दूर अनर्थों का सामना करना पड़ता है । आचार्य भास्कर श्लोकान्तर से इसकी पुष्टि करते हुए कहते हैं कि चन्दन की लकड़ियों का बोझ लादे हुए गधा जिस प्रकार चन्दन के बोझ मात्र को जानता है चन्दन के गुणों को नहीं अतः उसे चन्दन को बोझ की दृष्टि से देखने के कारण चन्दन से कष्ट ही प्राप्त होता है और चन्दन का अर्थ—'बोझ' (दुःख, पीड़ाकारक वस्तु) ही समझ में आता है उसे चन्दन के शीतलत्व, सुगंधि, मनमोहकता एवं मनः प्रसादत्व का गुण प्राप्त नहीं । होता ठीक उसी प्रकार मन्त्रार्थ ज्ञान-शून्य शब्दसङ्गठित मन्त्र के जाप से अनर्थ-ही प्राप्त होता है कोई लाभ प्राप्त नहीं होता—

"नार्थ ज्ञानविहीनं शब्दस्योच्चारणं फलति ।
भस्मनि वह्नि विहीने न प्रक्षिप्तं हविर्ज्वलति ।। ५४ ।।

अर्थमजानानानां नानाविधशब्दमात्रपाठवताम् ।
उपमेयश्चक्रीवान् मलयजभारस्य वोढैव ।। ५५ ।।"[१]

यह मन्त्रार्थविहीन मन्त्रों का उच्चारण भास्करराय की दृष्टि में उ 'शब्दस्योच्चारण' मात्र है । यह ऐसा प्रयास है यथा—वह्निविहीन भस्म में हवि डालना—'भस्मनि वह्निविहीने न प्रक्षिप्तं हविर्ज्वलति ।।'' इसके अतिरिक्त उसकी दशा गधे की भाँति है—"यथा खरश्चन्दन भारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य ।।"

निष्कर्ष—'यद धीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वालति कर्हिचित् ।।'

जो व्यक्ति मन्त्रार्थ—विरमित मन्त्र का जप करता है वह दरिद्रता, विपत्ति एवं नरक तीनों को आमंत्रित करता है—

श्रोत्रादीनां ज्ञानाभावे मन्त्रजापं करोति यः ।
दारिद्र्यं च विपत्ति च नरकं प्राप्नुयात्तु सः ।।[२]

'यामल' में कहा गया है कि "मन्त्र का अर्थ देवता है" और "मन्त्र एवं देवता में वाच्यवाचकभावेन अभेद है"—"मत्रार्थं देवतारूपं चिन्तनं परमेश्वरि । वाच्यवाचकभावेन अभेदो मन्त्रदेवयोः ।।"[३] 'मन्त्र' वाचक है और 'देवता' वाच्य है

---

१. वरिवस्यारहस्यम् २-३. शाक्तानन्द तरंगिणी

'वाच्या हि देवता देवमन्त्रो हि वाचकः स्मृतः । वाचकेऽपि च विज्ञाते वाच्य एव प्रसीदति ।।'' इसीलिए भगवान शिव पार्वती को सावधान करते हुए कहते हैं— ''मन्त्रार्थं परमेशानि सावधानावधारय''[१] 'योगशास्त्र' में अर्थभावन के साथ ही जप का विधान किया गया है—'तज्जपस्तदर्शभावनम्''[२]

ते चार्थास्तन्त्रोपनिषद्ग्रन्थभेदेन नानाविधाः शिवेनोक्ताः । तांश्च संजिघृक्षुरुद्दिशति—

अथातः पूर्णगायत्र्याः प्रतिपाद्योऽर्थ आदिमः ।
भावार्थः संप्रदायार्थो निगर्भार्थस्तुरीयकः ॥ ५७ ॥

कौलिकार्थो रहस्यार्थो महातत्त्वार्थ एव च ।
नामार्थः शब्दरूपार्थश्चार्थो नामैकदेशगः ॥ ५८ ॥

शाक्तार्थः सामरस्यार्थः समस्तसगुणार्थकौ ।
महावाक्यार्थ इत्यर्थाः पञ्चदश्याः स्वसंमिताः ॥ ५९ ॥

(अर्थों के विभिन्न भेद)

इसलिए इसके अनन्तर सर्वप्रथम पूर्ण गायत्री (चरणचतुष्टयसम्पन्ना गायत्री मन्त्र) के प्रतिपाद्य अर्थ फिर भावार्थ, संप्रदायार्थ, चौथा निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ, महातत्त्वार्थ, नामार्थ, शब्दरूपार्थ, नामैकदेशार्थ, शाक्तार्थ, सामरस्यार्थ, समस्तार्थ, सगुणार्थ एवं महावाक्यार्थ—अर्थात् उतने अर्थ जितने कि पञ्चदशी मन्त्र के अपने वर्ण हैं—की मीमांसा की जाएगी ।। ५७-५९ ।।

* प्रकाश *

अथानन्तरम्, अत उक्तरीत्या अर्थज्ञानस्यावश्यिकत्वात्, अर्थाः कथ्यन्त इति शेषः । पूर्णगायत्र्याश्चतुर्थचरणसहितायाः । स्व आत्मीया वर्णाः तैः संमिताः, तत्संख्यासमानसंख्याकाः । पञ्चदशेति यावत् । अथ वा, संप्रदायार्थप्रकरणे कादिविद्यायां सप्तत्रिंशद्वर्णाः स्फुटीकरिष्यन्ते, तत्संमिता अर्था इत्यर्थः ॥ ५७-५९ ॥

* सरोजिनी *

'भावार्थ'—मन्त्र के अवयवभूत अक्षर का अर्थ ही 'भावार्थ' है । 'संप्रदायार्थ' = (परमेश्वर ही मन्त्रों के मूल हैं) अतः गुरुमुख से स्वीय मन्त्र का उद्भव एवं उसका अवतरण-क्रम या परम्परा का ज्ञान मन्त्र का 'संप्रदायार्थ' है । 'निगर्भार्थ'— परमेश्वर, गुरु एवं निजात्मा का ऐक्यानुसन्धान ही निगर्भार्थ है । 'कौलिकार्थ' = (निष्कल परमेश्वर का जिन्होंने स्वात्मरूप में साक्षात्कार किया है वही गुरु है । अतः गुरु एवं परमेश्वर अभिन्न हैं ।) चक्र, देवता, विद्या, गुरु एवं साधक का

---

१. शाक्तानन्द तरंगिणी २. योगसूत्र

ऐक्यानुसन्धान ही मन्त्र का 'कौलिकार्थ' है । 'रहस्यार्थ'—मूलाधारस्थ कुण्डलिनीरूपा विद्या ही साधक की स्वात्मा है—इस रूप की भावना का नाम ही 'रहस्यार्थ' है । 'महातत्त्वार्थ' = निष्कल अणु से अणुतर, तथा महान से महत्तर, निर्लक्ष्य, भावातीत, व्योमातीत परमतत्त्व के साथ प्रकाशानन्द रूप में विश्वातीत एवं विश्वमय निज गुरु के द्वारा प्रबोधित निर्मलस्वभाव स्वकीय आत्मा का ऐक्यानुप्रवेश 'महातत्त्वार्थ' है । इन समस्त अर्थों के परिज्ञान से पाशात्मक विकल्प जाल सम्यक् प्रकार से निवृत्त हो जाते हैं ।[1]

१. **'भावार्थ'**—'वरिवस्यारहस्यम्' के अनुसार—अम्बा (देवी) मन्त्र एवं जगत् में अभेद का प्रतिपादन 'भावार्थ' है—'तेनाम्बामनुजगतामभेद एवात्र भावार्थः ॥''[2]

२. **'सम्प्रदायार्थ'**—'वरिवस्यारहस्यम्' के अनुसार—कार्य एवं कारण, वाच्य एवं वाचक, ब्रह्म एवं जगत् में अभेद होने के समान ही जगत् एवं विद्या में भेदाभाव का प्रतिपादन ही 'संप्रदायार्थ' है ।

'योगिनीहृदय' में षड्विध अर्थ—'योगिनीहृदय' में निम्न छः प्रकार के मन्त्रार्थों का विवेचन किया गया है जो निम्न है—''षड्विधस्तं तु देवेशि ! कथयामि तवानघे । भावार्थः सम्प्रदायार्थो निगर्भार्थश्च कौलिकः रहस्यार्थो गहातत्त्वार्थ एव च । अथरार्थो हि भावार्थः केवलः परमेश्वरि ॥'' (१५, १६) १. भावार्थ २. सम्प्रदायार्थ ३. निगर्भार्थ ४. कौलिकार्थ ५. सर्वरहस्यार्थ ६. महातत्त्वार्थ ॥ (मन्त्र सङ्केत) ॥

'नामार्थ' 'शब्दरूपार्थ' 'नामैकदेशार्थ' 'शाक्तार्थ' 'सामरस्यार्थ' 'समस्तार्थ' 'सगुणार्थ' एवं 'महावाक्यार्थ'—ये आठ अर्थ भास्करराय के स्वकल्पित नये अर्थ हैं जो कि 'योगिनीहृदय' में उल्लिखित नहीं है ।

जगत् एवं विद्या में अभेद है—यही 'संप्रदायार्थ' है[3]—

''जन्यजनकयोर्भेदाभावाद वाच्यस्य वाचकेनापि ।
ब्रह्मणि जगतो जगति च विद्याभेदस्तु संप्रदायार्थः ॥ ८१ ॥''

३. **'निगर्भार्थ'**—'वरिवस्यारहस्यम्' के अनुसार—'निगर्भार्थ' का स्वरूप इस प्रकार है—''सर्वातिशायी सत्त्व परमशिव में एकात्मकता या अन्य पदार्थों का अभाव (निष्कलता), अपने दीक्षा गुरु एवं उस परमशिव में अभेद तथा उस (गुरु) की कृपावश अपने एवं उस परमशिव में अभेद-दर्शन ही निगर्भार्थ है''—

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना (प्र०ख०) (पृ० ३३९-३४०)
२. 'अक्षरार्थो हि भावार्थः केवलः परमेश्वरि ।'
कूटत्रयात्मिका देवीं समष्टि व्यष्टि रूपिणीम् ।
आद्यां शक्ति भावयन्तो भावार्थमिति मन्वते ॥ २५ ॥ (योगिनीहृदय)
३. तथा मन्त्राः समस्ताश्च विद्यायामन्त्र संस्थिताः ॥ ४७ ॥ (योगिनीहृदय)
गुरुक्रमेण संप्राप्तः संप्रदायार्थ ईरितः ॥

"परमशिवे निष्कलता तदभिन्नत्वं स्वदेशिकेन्द्रस्य ।
तत्करुणातः स्वस्मिन्नपि तदभेदो निगर्भार्थः ।।"

४. **'कौलिकार्थ'**—वरिवस्यारहस्यम् के अनुसार—माता, विद्या, चक्र स्वगुरु एवं स्वयं में—(इस प्रकार पाँचों में) अभेदभावना ही मन्त्र का पञ्चनामपि भेदाभावो मन्त्रस्य कौलिकार्थोऽयम् ।। १०२ ।।[१]

५. **'रहस्यार्थ'**—कुण्डलिनी साक्षात् विद्या एवं माता से अभिन्न है । इससे अपने को अभिन्न देखना ही श्रीविद्या का रहस्यार्थ है—

"साक्षाद्विद्यैवैषा न ततोभिन्ना जगन्माता ।
अस्याः स्वाभिन्नत्वं श्रीविद्याया रहस्यार्थः ।। १०७ ।।"

६. **'महातत्त्वार्थ'**—वाणी, मन एवं इन्द्रियों द्वारा अगम्य (३६ तत्त्वों से अतीत्) महान से महत्तर, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, व्योम से भी ऊपर स्थित, विश्व से अभिन्न, चित् एवं आनन्दस्वरूप परब्रह्म में अपने आपको उस (ब्रह्म के साथ) अभेद की प्राप्ति के लिए नियुक्त करना चाहिए, यह श्रीविद्या का 'महातत्त्वार्थ' है[२]—

"ब्रह्मणि परे नियोज्यः स्वात्मा तदभेदसंप्राप्त्यै ।
एष भहातत्त्वार्थः श्रीविद्यायाः शिवेनोक्तः ।। १०९ ।।"

७. **'नामार्थ'**—एवं 'शब्दरूपार्थ'—यह विद्या स्वयं अपने घटक अक्षरों द्वारा व्यक्त अर्थों से अभिन्न है । उसका स्वरूप उसका प्रत्येक अक्षर है । श्रीविद्या के 'नामार्थ' एवं 'शब्दरूपार्थ' का यही स्वरूप है—

"तत्तद्वर्णार्थेयं तत्द्वर्णस्वरूपेयम् ।
इति तु श्रीविद्याया नामार्थः शब्दरूपार्थः ।।"

८. **नामैकदेशार्थ**—कल्याणी एकाक्षरी, ईशित्री, ललिता आदि देवी के तीन सौ नामों का तात्पर्य मन्त्र के आदि अक्षरों द्वारा व्यक्त होता है नाम के

---

१. कौलिकं कथयिष्यामि चक्रदेवतयोरपि ।। ५१ ।। (योगिनीहृदय)
विद्यागुर्वात्मनामैक्यं तत्प्रकारः प्रदर्श्यते ।।
'चक्र-देवता-गुरु-विद्या-साधकानामैक्यानुसन्धानं कौलिकार्थः ।। (दीपिका) ।। शिव-गुर्वात्मैक्यगोचरानुसंधानात्मको निर्गर्भार्थः ।। (दीपिका) 'श्रीचक्रं श्रीमाता श्रीविद्या श्रीगुरुरात्मा चेति पंचानामैक्यं कौलिकार्थ इत्युच्यते । (सेतुबन्ध : भास्करराय)

२. महातत्त्वार्थ इति यत्तच्च देवि ! वदामि ते ।
निष्कले परमे सूक्ष्मे निर्लक्ष्ये भाववर्जिते ।। ७३ ।। (योगिनीहृदय)
व्योमातीते परे तत्त्वे प्रकाशानन्द विग्रहे ।
विश्वोत्तीर्णे विश्वमये तत्त्वे स्वात्मनियोजनम् ।। ७४ ।। (योगिनीहृदय)
परमशिवरूपे निजगुरु प्रबोधित निर्मलस्वभाव स्वात्मनि ।
योजनं तदेकतानुप्रवेशो महातत्त्वार्थः । (अमृतानन्दनाथः—दीपिका)

एक देश (अंश) के ग्रहण द्वारा समस्त नाम ग्रहण का बोध लोक प्रसिद्ध है । अतः समस्त नाम का अर्थ नाम के एक अंश का अर्थ हुआ ॥ १११-११२ ॥ "नामैकदेशमात्रे नामग्रहणस्य लोकसिद्धत्वात । नामोपस्थितिगम्यः प्रोक्तो नामैकदेशार्थः ॥"

९. **'शाक्तार्थ'**—शाक्तों की मान्यतानुसार प्रत्येक अक्षर में शक्ति है तथा अक्षरों एवं वामा, इच्छा तथा अन्य शक्तियों में अभेद है—यही 'शाक्तार्थ' है ।[1]

१०. **सामरस्यार्थ**—'क' एवं 'ह' तथा 'ल' एवं 'स' का अर्थ है—'शक्ति' ॥ हल्लेखा (ह्रीं) का अर्थ शिव एवं शक्ति का सामरस्य रूप परब्रह्म है ॥ ११९ ॥ उक्त तीनों कूटों में से प्रत्येक का अर्थ है । "शिव एवं शक्ति के सामरस्य के कारण ब्रह्म ही शिव एवं शक्ति दोनों ही है ।" यह विद्या का 'सामरस्यार्थ' है ॥ १२० ॥[2]

११. **'समस्तार्थ'**—श्रीविद्या के 'समस्तार्थ' के अन्तर्गत अनेक पदों एवं गुणों का समास समस्त पुरुषार्थों के साधन का संक्षिप्त एवं सार कथन आता है ।[3]

१२. **'सगुणार्थ'**—समस्त गुण गण के कथन द्वारा विद्या का सगुणार्थ व्यक्त होता है—'इत्थं गुण गण कथनाद्विद्याया एष सगुणार्थः ॥"[4]

१३. **'महावाक्यार्थ'**—'ह' 'स' आनन्द, 'क' सत्य, 'ह' अनन्त एवं 'ल' ज्ञान है । इस प्रकार तटस्थ एवं स्वरूप लक्षणों द्वारा ब्रह्म का निर्णय करके (यह विद्या) तुरीय कूट के द्वारा ब्रह्म एवं जीव का तादात्म्य (अभिन्नता अभेदात्मकता) स्थिर करती है । 'स' 'क' 'ल' पद जीव का वाचक है जिसकी जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति नामक तीन कलायें हैं । शक्ति बीज 'ह्रीं' ब्रह्म का वाचक है । उक्त दोनों में सामानाधिकरण्य होने के कारण उनके द्वारा लक्षित शुद्ध वस्तुएँ अभिन्न हैं । तृतीय कूट होने के कारण उनके द्वारा लक्षित शुद्ध वस्तुएँ अभिन्न हैं । तृतीय कूट के 'स' 'क' 'ल' पदों का अभिप्राय है—यह सब ब्रह्म है ।' इस प्रकार जीव एवं ब्रह्म के स्वरूप का लाक्षणिक वाक्यों द्वारा वर्णन करके उनका अभेद स्थिर किया गया । यही 'महावाक्यार्थ' है ।

"अथातः"—'अथ' = इसके अनन्तर (अर्थात् उक्त रीति से अर्थ ज्ञान के अवश्रियकत्व के द्वारा अर्थों पर प्रकाश डाला जा रहा है ।) पूर्ण गायत्री = चतुर्थ चरण सहित गायत्री । 'स्व' = आत्मीय आत्मीय वर्ण । 'संमिताः' = उन-उन वर्णों से संमित । अर्थात् तत्संख्या समान संख्यक (१५) ॥ या संप्रदायार्थ के प्रकरण में समागत-'कादिविद्या' में सप्तत्रिंश (३७) वर्णों से स्फुरीकृत किया जायेगा और उस दिशा में अर्थ होगा—'तत्संमित' ॥

१-४. वरिवस्यारहस्यम्

त्रिपुरोपनिषदि प्रतिपादितं गायत्र्यर्थमाह—

कामयते स ककारः कामो ब्रह्मैव तत्पदस्यार्थः ।
सवितुर्वरेण्यमिति वै सवितुः श्रेष्ठं द्वितीयवर्णार्थः ॥ ६० ॥

(गायत्री मन्त्र एवं पञ्चदशी मन्त्र के मन्त्राक्षरो के अर्थ में साम्य का प्रतिपादन)

जो कामना करता है वह कामेश्वर ही 'ककार' है । 'तत्' पद का अर्थ है—ब्रह्म । द्वितीयाक्षर ('पञ्चदशी मन्त्र' का द्वितीयाक्षर) 'ए' 'सवितुर्वरेण्यम्' का अर्थ देता है जो कि जन्मदात्री कामेश्वरी का वाचक है ॥ ६० ॥

*** प्रकाश ***

'ॐ तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' इति स्मृतेः, 'तदिति ब्रह्म शाश्वतम्' इति श्रुतेश्च तत्पदार्थो ब्रह्म । तदेव च ककारार्थः, 'कं ब्रह्म' इति श्रुतेः । कामयत इत्यर्थो वा । कमेरौणादिको डः । 'कामयते कामी जायते स एव निरञ्जनोऽकामत्वेनोज्जृम्भते... कामोऽभिधीयते, तत्परिभाषया कामः ककारं व्याप्नोति' इति श्रुतेः । कामेश्वर इति तु पर्यवसितम् । सवितुरिति तुप्रत्ययान्तम् 'पुरा वत्सानामपाकर्तोः' इत्यादि-कल्पसूत्रीयप्रयोगवत् । प्राणिप्रसवकारणम् । योनिरिति यावत् । तच्च नान्य-साधारणमित्यतो वरेण्यमिति श्रेष्ठं भजनीयमित्यर्थः । तेन पदद्वयेनापि जगद्योनित्वं लब्धम् । तेन च कामेश्वरीत्यर्थः । स एव चार्थ एकारस्य, तस्य त्रिकोणत्वात् । तथा च श्रुतिः—'सवितुर्वरेण्यमिति षूञ् प्राणिप्रसवे, सविता प्राणिनः सूते' इत्युपक्रम्य 'त्रिकोणा शक्तिरेकारेण महाभगेन प्रसूते तस्मादेकार एव गृह्यते' इत्यादि ।

'यदेकादशमाधारं बीजं कोणत्रयात्मकम् ।
ब्रह्माण्डादि कटाहान्तं जगदद्यापि दृश्यते ॥'

इति वामकेश्वरतन्त्रे स्पष्टं दृश्यते[१] । सर्वेति । सर्वान्तर्यामित्वं देवपदस्यार्थः, 'देवो मध्यवर्ती' इति श्रुतेः । सोर्ऽस् । धत्त इति धीः । दधत् । जगदाधार इत्यर्थः, 'धरो धीत्येवं धार्यते' इति श्रुतेः । भर्ग इति स्पष्टार्थः । सर्वान्तर्यामी सर्वाधारः शिव इति पर्यवसितम् । ईकारस्याप्येतावानर्थः । 'भर्गो देवस्य' इत्याद्युपक्रम्य तुरीयमक्षरं सर्वान्तर्भूतम् । तुरीयाक्षरं पदानां मध्यवर्तित्वेन व्याख्यातम् 'तस्माद्भर्गो देवस्य धीत्येवमीकारः' इति श्रुतेः । तुर्यार्थः, मन्त्र तु तृतीयस्यापि मातृकाक्रमे तुरीयत्वादी-कारस्यार्थ इत्यर्थः । मही पृथ्वी महत्त्वात् काठिन्याच्च । पञ्चमहाभूतानामुपलक्षणमेतत् । 'मृद्घटः' इतिवदेकविभक्तिमत्त्वरूपसामानाधिकरण्यस्य तदात्मना परिणतत्वमर्थः । अयमेव च पृथिवीबीजस्य लकारस्यार्थः, महीत्यस्य व्याख्यानमुपक्रम्य 'ससागरं सपर्वतम्' इत्यादिना भूमण्डलं प्रतिपाद्य 'भूमण्डलमेवेक्तं लकारेण' इति श्रुतेः । तृतीयेति गायत्र्यास्तृतीयोऽङ्घ्रिः 'धियो यो नः प्रचोदयात्' इति । अस्मदादीनां धियो ध्यानादिरहिते वस्तुनि निष्प्रपञ्चे विषये प्रेरयतीत्यर्थः । परतत्त्वविषयकज्ञानजनक इति यावत् । तुरीयाङ्घ्रिः 'परोरजसे सावदोम्' इति । रजसः परं परे रजसे । सोः शे इत्यादेशः । रजेऽतीतम् । निर्मलमिति निर्गुणमिति वार्थः, रजःशब्दस्य धूलीवाचक-त्ववद् गुणत्रयोपलक्षकत्वसंभवात् । त्रिगुणातीतमिति यावत् । न पुनः पर इत्यत्र

भिन्नपदत्वभ्रमः कार्यः, सुब्रह्मण्यानिगदे 'परोरजास्ते पञ्चमः पादः' इति प्रयोगात् । सावदोमित्यस्य सवदोऽवदश्च यः प्रणवः । वक्तुं शक्यो वक्तुमशक्यश्चेत्यर्थः । शब्दैः शक्तिमर्यादया न बोध्यः, शक्यतावच्छेदकधर्ममात्रस्य परतत्त्वे विरहात् । लक्षणया तु बोध्यः, सत्यज्ञानादिपदशक्यविशिष्टतादात्म्यसंबन्धशालित्वात् । 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः, 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः, 'लक्ष्यार्था लक्षणागम्या' इत्यादिस्मृतेश्च । प्रणवार्थः परतत्त्वमकारोकारमकारैर्ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मकम् । एतावानप्यर्थो ह्रल्लेखायाः । ह्रकारस्य हृदयमर्थः । तत्र ई गतेत्यर्थः । 'इटकिटकटी गतौ' इत्यत्र प्रश्लिष्टोऽयं धातुः । अत एव 'हृदयागारवासिनी ह्रल्लेखा' इति श्रुतिः । एवं चायमर्थो गायत्र्याः प्रथमकूटस्य च संपन्नः—सर्वजगत्सिसृक्षारूपकामनावान् कामेश्वरः, जगत्कारणरूपा कामेश्वरी, शिवः सर्वान्तर्यामी सर्वाधारः पञ्चमहाभूताद्यात्मना परिणतः परवस्तुमात्रविषयकनिर्विकल्पक-ज्ञानजनको निरञ्जनो निर्गुणो वेदैर्लक्षणया गम्यः शक्त्या त्वगम्यो ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मा परतत्त्वमिति ॥ ६०-६१ ॥

* सरोजिनी *

(क)—वाग्भवकूट एवं गायत्री मन्त्र में समन्वय—पञ्चदशाक्षरी मन्त्र एवं गायत्री मन्त्र—अर्थात् दोनों में एकात्मता, एकार्थता, एकोद्देश्यता एवं अभिन्नता है—इसका प्रतिपादन उपनिषदों में भी किया गया है ।—त्रिपुरातापन्युपनिषद 'पञ्चदशी' के वाग्भवकूट के साथ गायत्री मन्त्र के समन्वय की पुष्टि निम्न रूप से करता है—

"महामनुसमुद्भवं तदिति ब्रह्म शाश्वतं परो भगवान् निर्लक्षणो निरञ्जनो निरूपाधिराधिरहितो देव उन्मीलते पश्यति विकासते चैतन्यभावं कामयत इति स एको देवः शिवरूपी दृश्यत्वेन विकासते यतिषु यज्ञेषु योगिषु कामयते कामं जायते । स एष निरञ्जनोऽकामत्वेनोज्जृंभते अ क च ट त प य शान् सृजते । तस्मादीश्वरः कामोऽभिधीयते । तत्परिभाषया कामः ककारं व्याप्नोति । काम एवेदं तत्त्दिति ककारो गृह्यते । तस्मात्तत्पदार्थ इति य एवं वेद ॥ 'क' = कामेश्वर ॥ 'तत्' (गायत्री मन्त्र का एक पद) = परमात्मा ।

'ए' = 'पञ्चदशाक्षरी मन्त्र' का 'ए' वर्ण एवं गायत्री मन्त्र

"ए" = कामेश्वरी ॥ (पञ्चदशाक्षरी)

"सवितुर्वरेण्यं"—(गायत्री मन्त्र)—सवितुर्वरेण्यमितिषूङ्प्राणिप्रसवे सविता प्राणिनः सूते प्रसूते शक्तिः सूते ॥ ८ ॥ त्रिपुरा शक्तिराद्येयं त्रिपुरा परमेश्वरी । महाकुण्डलिनी देवी जातवेदसमण्डलम् ॥ ९ ॥ योऽधीते सर्वं व्याप्यते । त्रिकोण शक्तिरेकारेण महाभागेन प्रसूते । तस्मादेकार एवा गृह्यते ॥ १० ॥

"वरेण्यं" श्रेष्ठं भजनीयमक्षरं नमस्कार्यम् । तस्माद्वरेण्य मेकाराक्षरं गृह्यत इति य एवं वेद ॥ ११ ॥

"भर्गो देवस्य धीमहि"—इत्येव व्याख्यास्यामः । धकारो धारणा ॥ धियैव धार्यते भगवान् परमेश्वरः । भर्गो देवो मध्यवर्ति तुरीयमक्षरं साक्षात्तुरीयं सर्वं

सर्वान्तरभूतं तुरीयाक्षरमीकारं पदानां मध्यवर्तीत्येवं व्याख्यातं भर्गोरूपं व्याचक्षते । तस्माद् भर्गो देवस्य धीत्येवमीकाराक्षरं गृह्यते ।। १२ ।।

महीत्यस्य व्याख्यानं महत्वं जडत्वं काठिन्यं विद्यते यस्मिन्नक्षरे तन्महि । लकारः परंधाम । कठिन्याढ्यं ससागरं सपर्वतं ससप्तद्वीपं सकाननमुज्जवलद्रूपं मण्डल मेवोक्तं लकारेण । पृथ्वी देवी महीत्यनेन व्याचक्षते ।। १३ ।।

'धियो यो नः प्रचोदयात'—परमात्मा सदाशिव आदिभूतः परः स्थाणुभूतेन लकारेणे ज्योतिलिङ्गमात्मानं धियो बुद्धयः परे वस्तुनि ध्यानेच्छारहिते निर्विकल्पके प्रचोदयात् पैंरदित्युच्चारं रहितं चेतसैव चिन्तयित्वा भावयेदिति ।। १४ ।।

परो रजसेऽसावदोमिति तदवसाने पर ज्योतिरमलं हृदिं दैवतं चैतन्यं चिल्लिङ्गं हृदयागारवासिनी हृल्लेखेत्यादिना स्पष्टं वाग्भवकूटं पञ्चाक्षरं पञ्चभूतजनकं पञ्चकलामयं व्यापठ्यत इति । य एवं वेद ।। १५ ।।

१. "क"—'ककार' = कामेश्वर	गायत्री मन्त्र का 'तत्' समानार्थक ।।
२. 'ए'—'एकार' = कामेश्वर (महा-कुण्डलिनीदेवी मूलाधार के त्रिकोण जो कि 'ए' के आकृति का होता है) में व्यष्टिरूप में कुण्डलिनी शक्ति के स्वरूप में निवास करती है । त्रिकोण शक्ति कुण्डलिनी एकार के द्वारा सभी को जन्म देती है । अतः 'सावित्री' है ।	'सवितुवरिण्यं' = 'सावित्री' = त्रिपुरा शक्ति ।। (मूलाधार में त्रिपुरा के निवास का प्रमाण भी पाया जाता है ।)
'एकार'—'एकार' सभी कारणों का कारण है । इसीलिए अन्य सत्ताओं से वरिष्ठ होने के कारण 'वरेण्य' है । जो इस प्रकार समझता है वह भी 'वरेण्य' है ।	'वरेण्य'—
३. 'ई'—'ई'	"भर्गो देवस्य धी"—'धी' में धकार = धारण 'भर्गो देवस्य' = स्वयं ज्योतिस्वरूप एवं दीप्यमान ।। उसका मध्यवर्ती तुरीय अर्धमात्रात्मक अक्षर सुदीप्त है । अतः 'भर्गो देवस्य' कहना उचित है ।
४. 'ल' = 'ल' (मही का बीजाक्षर है 'लं')	'धी' में भी 'ईकार' ।। 'धीमहि' । "महि" = पृथ्वीमण्डल

५. 'ह्रीं'—(गायत्री के तुरीय पद एवं हृल्लेखा में समन्वय)	'धियो यो नः प्रचोदयात' जो हमारी 'धियो' (ध्यानेच्छाशून्य निर्विकल्प परमात्मा के प्रति) प्रेरित करे । उस अनिर्वचनीय ज्योतिर्लिंग आत्मा के प्रति ब्रह्माकार परिणत चित द्वारा 'सोऽहं' के रूप में कल्पित करना चाहिए ॥

(ख) 'कामकूट' का 'गायत्री' के साथ समन्वय—अथ तु परं कामकलाभूतं कामकूटमाहुः । तत् सवितुर्वरेण्यमित्यादिद्वात्रिंशदक्षरीं पठित्वा तदिति परमात्मा सदाशिवोऽक्षरं विमलं निरूपाधितादात्म्यप्रतिपादनेन हकाराक्षरं शिवरूपं अनक्षरमक्षरं व्यालिख्यत इति तत्परागव्यावृत्तिमादाय शक्तिं दर्शयति ॥ १६ ॥[1]

तत् सवितुरित पूर्वेणाध्वना सूर्याधश्चन्द्रिकां व्यालिख्य मूलादिब्रह्मरन्ध्रगं साक्षरमद्वितीयमाचक्षत इत्याह भगवन्तं देवं शिवक्त्यात्मकमेवोदितम् ॥ १७ ॥[2]

शिवोऽयं परमं देवं शक्तिरेषा तु जीवजा । सूर्याचन्द्रमसोर्यो गाद्धंसस्तत्पद-मुच्यते ॥ १८ ॥ तस्मादुज्जृंभते कामः कामान् कामः परः शिवः । कार्णोऽयं कामदेवोऽयं वरेण्यं भर्ग उच्यते ॥ १९ ॥ तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवः क्षीरं सेवनीयमक्षरं, समधुघ्नमक्षरं परमात्म जीवात्मनोर्योगात तदिति स्पष्टमक्षरं तृतीयं ह इति तदेव सदाशिव एव निष्कल्मषो घो देवोऽन्त्यमक्षरं व्याक्रियते परमं पदम् ॥ २० ॥[3]

धीति धारणं विद्यते जडत्वधारणं महीति लकारः शिवाधस्तात्तु लकारार्थः स्पष्टमन्त्यक्षरं परमं चैतन्यं धियो योनः प्रचोदयात् ॥ २१ ॥

परोरजसेऽसावदोमित्येवं कूटं कामकलाऽऽलयं षडध्व परिवर्तको वैष्णवं परमं धामैति भागवांश्चैतस्माद्य एवं वेद ॥

(ग) 'शक्तिकूट' एवं गायत्री का समन्वय[4]—अथैतस्मादपरं तृतीयं शक्तिकूटं प्रतिपद्यते द्वात्रिंशदक्षर्यागायत्र्या ॥ २३ ॥

तत्सवितुर्वरेण्यं तस्मादात्मन आकाश आकाशद्वायुः स्फुरते तदधीनं वरेण्यं समुदीयमानं सवितुर्वा योग्यो जीवात्मपरमात्मसमुद्भवस्तं प्रकाशशक्तिरूपं जीवाक्षरं स्पष्टमापद्यते ॥ २४ ॥[5]

भर्गो देवस्य धीत्यनेनाधाररूपशिवात्माक्षरं गण्यते महीत्यादिना शेषं काम्यं रमणीयं दृश्यं काम्यं रमणीयं शक्ति कूटं स्पष्टीकृतमिति ॥ २५ ॥[6]

'गायत्री और पञ्चदशीविद्या' की नव्य मीमांसा और भास्करराय की दृष्टि—आचार्य भास्करराय ने गायत्री मन्त्र एवं पञ्चदशीविद्या की नव्य मीमांसा की है । उनकी अनेक स्थापनायें हैं जो निम्न हैं—

१-६. त्रिपुरातापनीयोपनिषद्

१. 'गायत्री' वेदमाता है और वैदिक मन्त्र है । इसके साथ ही साथ पञ्चदशाक्षरी मन्त्र भी वैदिक मन्त्र है क्योंकि—'कामो योनिः कमला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः । पुनर्गुहा.... विश्वमातादिविद्योम ॥ एक वैदिक मन्त्र है और वह पञ्चदशाक्षरी मन्त्र ही है ।

२. गायत्री मन्त्र और पञ्चदशाक्षरी मन्त्र का अर्थ एवं उसका अभिप्राय एक ही है । भिन्न-भिन्न शब्दों में एक ही मन्त्र को उद्घाटित किया गया है यथा—इस मन्त्र का अर्थ देखिए—

'कामोयोनिः कमला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः ।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरुच्यैषा विश्वमातादिविद्योम् ॥[१]

'कामो' = ('क'), योनिः ('ए'), कमला ('ई'), वज्रपाणि (इन्द्र) = ('ल'), गुहा (ह्रीं), 'ह', 'स', मातरिश्वा-वायु ('क'), अभ्र ('ह'), इन्द्र ('ल') पुनः 'गुहा' = ('ह्रीं'), 'स' 'क' 'ल' 'माया' (ह्रीं),—यह सर्वात्मिका जगन्माता की मूल विद्या है और यह ब्रह्मरूपिणी है । (यही पञ्चदशाक्षरी मन्त्र है ।)

'शिवशक्त्यभेदरूपा, ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मिका, सरस्वती-लक्ष्मी-गौरीरूपा' अशुद्ध-मिश्र-शुद्धोपासनात्मिका, समरसीभूत शिवशक्त्यात्मक ब्रह्मस्वरूप का निर्विकल्प ज्ञान प्रदान करने वाली, सर्वतत्त्वात्मिका महात्रिपुरसुन्दरी'—यही है पञ्चदशाक्षरी मन्त्र का भावार्थ ।

यह मन्त्र समस्त मन्त्रों का मुकुटमणि है और मन्त्र शास्त्र में 'पञ्चदशी' 'कादि श्रीविद्या' के नाम से प्रख्यात है । इसका केवल एक ही अर्थ नहीं प्रत्युत् अनेक अर्थ हैं ।

३. पञ्चदशाक्षरी मन्त्र का एक ही अर्थ नहीं है प्रत्युत् अनेक अर्थ हैं— 'योगिनीहृदय' नामक ग्रन्थ में इसके छः अर्थ बताये गए हैं—(१) भावार्थ (२) संप्रदायार्थ (३) निगर्भार्थ (४) कौलिकार्थ (५) सर्वरहस्यार्थ (६) महातत्त्वार्थ ॥[२]

'सेतुबंध' 'प्रकाश' आदि में इसके और भी अर्थ बताए गए हैं । भास्करराय ने 'वरिवस्यारहस्यम्' में इसके निम्न पन्द्रह अर्थ बताए हैं जो निम्न हैं[३]—

(१) प्रतिपाद्यार्थ (२) भावार्थ (३) संप्रदायार्थ (४) निगर्भार्थ (५) कौलिकार्थ (६) रहस्यार्थ (७) महातत्त्वार्थ (८) नामार्थ (९) शब्दरूपार्थ (१०) नामैकदेशार्थ (११) शाक्तार्थ (१२) सामरस्यार्थ (१३) समस्तार्थ (१४) सगुणार्थ (१५) महावाक्यार्थ ॥

४. 'ह्रीं' या हल्लेखा अतिगुप्त है और यह ओंकार का ही दूसरा नाम है ।[४]

---

१. श्रीदेव्यथर्वशीर्षम्
२. 'योगिनीहृदय' (मन्त्रसंकेत १५-१६)
३. वरिवस्यारहस्यम् (द्वि०अंश ५७-५९)—भास्कराचार्य
४. वरिवस्यारहस्यम् (श्लोक १२-१३)

इसे 'देवी प्रणव' भी कहा जाता है । इसका अर्थ देखिए । 'ह्रीं' में चार वर्ण हैं— (१) ह (२) र (३) ई (४) बिन्दु । ये तो स्पष्ट वर्ण हैं किन्तु व्यापक दृष्टि से देखें तो इसके बारह अवयव हैं—(१) ह (व्योम) (२) र (अग्नि) (३) ई (वामलोचना) (४) बिन्दु (ं) (५) अर्धचन्द्र (६) रोधिनी (७) नाद (८) नादान्त (९) शक्ति (१०) व्यापिका (११) समना (१२) उन्मनी । (ह्रीं में नौ नाद भी अंतर्निविष्ट हैं । अतः इसकी अनन्त महिमा है ।)

५. अथर्वशीर्ष में भी 'ह्रीं' का अर्थ रहस्यात्मक दृष्टि से उद्घाटित किया गया है जो निम्नानुसार है—

'वियदीकार संयुक्तं वीतिहोत्र समन्वितम् । अर्धेन्दुलसितं देव्याबीजं सर्वार्थ-साधकम् ॥' 'देवी बीज' = 'ह्रीं' ॥ इस देवी बीज का स्वरूप देखिए—

१. 'वियदीकार संयुक्तं' अर्थात् = 'वियत्' (आकाश) से युक्त एवं 'ईकार' से युक्त । (वियत् + ईकार से युक्त ।)—अर्थात् 'ह एवं ई' से युक्त ॥

२. 'वीतिहोत्र समन्वितम्'—वीतिहोत्र (अग्नि) से संयुक्त ॥ अर्थात् 'र' वर्ण से युक्त ।

३. 'अर्धेन्दुलसितं देव्या बीजं'—अर्धेन्दु (ँ) से सुशोभित देवी-बीज ॥

सारांश—ह + ई + र + ँ (बिन्दु) से युक्त अर्थात् = 'ह्रीं' ॥

इसी गुप्त रीति से 'नवार्ण मन्त्र' को भी व्यक्त किया गया है यथा—

"वाङ्माया ब्रह्मभूस्तस्मात् षष्ठं वक्त्रसमन्वितम् ।
सूर्योऽवामश्रोत्र बिन्दु संयुक्तष्टा तृतीयककः ॥

नारायणेन संमिश्रो वायुश्चाधरयुक् ततः ।
विच्चे नवार्णकोऽर्णः स्यान्महदानन्ददायकः ॥"[१]

अर्थात्—वाक् ('ऐं'), माया ('ह्रीं'), ब्रह्मसू = काम ('क्लीं') 'षष्ठं' (छठवां व्यञ्जन) = अर्थात् 'चा', 'सूर्य' ('म'), 'अवाम श्रोत्र' = दक्षिणवर्ती कान ('उ'), 'बिन्दु' (अर्थात् अनुस्वार) से संयुक्त (अर्थात् म + उ + अनुस्वार से संयुक्त अर्थात् 'मुं'), 'संयुक्तष्टातृतीयकः'—टकार से तृतीय (अर्थात् 'ड'), 'नारायणेन संमिश्रो' = 'नारायण' (आ) से मिश्रित अर्थात् = ड + आ = 'डा', 'वायु' (मरुत = 'य'), 'अधर' ('ऐ') से युक्त अर्थात् 'यै' 'विच्चेनवार्णकोऽर्थ' अर्थात् अन्त में 'विच्चे' पद। उपर्युक्त समस्त वर्णों को सङ्गति में बैठाने पर पूरा मन्त्र इस प्रकार बनेगा— 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे ॥' (नवार्ण मन्त्र) ॥

मन्त्रों को सीधे-सीधे न लिखकर इस प्रकार रहस्यात्मक रीति से उद्घाटित करने के पीछे तर्क यह था कि कोई अपात्र व्यक्ति इस मन्त्र को न पा जाय

१. श्रीदेव्यथर्वशीर्षम्

क्योंकि प्रथमतः तो अपात्र या कुपात्र होने पर इसका जप करना उसके लिए सर्वविनाश का आमन्त्रण देना होगा और दूसरे यह कि यदि उसकी श्रद्धाभक्ति से देवता प्रसन्न हो उठा तो मांत्री शक्ति से प्राप्त अचिन्त्य शक्तियों से अपने साथ ही मानवीय समाज का एवं विश्व का बहुत बड़ा अहित कर सकता है इसीलिए मन्त्रों को गोपनीय रखने का आदेश बार-बार दिया गया है यथा—

(क) गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः ।

(ख) गोपनीयं मातृजःरवत् ।

(ग) अति गुह्यतरं देवि देवानामपि दुर्लभम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन स्वयोनिरि व पार्वति ॥

(घ) अभक्ते नैव दातव्यं गोपितं रक्ष पार्वति ॥[१]

६. गायत्री के दो रूप हैं । इनमें एक रूप तो अस्पष्ट एवं चारों वेदों अत्यन्त गोपनीय है—'वेदेषु चतुर्ष्वपि परमत्यन्तं गोपनीयतरम् ॥"[२]

गायत्री मन्त्र का यह रूप (भाग) तो स्पष्ट है—"ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥"

किन्तु गायत्री का यह रूप—'परो रजसेऽसावदोम'—यह चतुर्थ चरण अस्पष्ट है । 'त्रिपुरातापनीयोपनिषद' में इस मन्त्र को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—"तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् परो रजसेऽसावदोम ॥"[३]

गायत्री का जो द्वितीय रूप है वहीं 'श्रीविद्या' नामक रूप है भास्करराय कहते हैं—"गायत्र्याः स्पष्टमस्पष्टं चेति पदच्छेद आवृत्त्या । चरणत्रयम् 'तत्सवितुः । इत्यादि स्पष्टम् ।' 'परोरजसे सावयोम' इति चतुर्थ चरणं त्वस्पष्टमित्यर्थः । परं श्रीविद्याख्यं द्वितीयं रूपम् ॥"[४]

'तस्या रूपद्वितयं तत्रैकं यत् प्रपठयतेऽस्पष्टम् ।
वेदेषु चतुर्ष्वपि परमत्यन्तं गोपनीयतरम् ॥"[५]

भास्करराय कहते हैं—इस 'श्रीविद्या' को वेद भी गुप्त ढंग से प्रस्तुत करते हैं यथा—'कामो योनिः कमला' आदि—

"कामो योनिः कमलेत्येवं साङ्केतिकैः शब्दैः ।
व्यवहरति न तु प्रकटं यां विद्यां वेदपुरुषोऽपि ॥"[६]

७. श्रीभास्करराय ने अपने पक्ष की पुष्टि में 'देवीभागवत पुराण' एवं "त्रिपुरोपनिषद" का नामोल्लेख किया है—

---

१. रुद्रयामलम् (कुब्जिकास्तोत्र)
२. वरिवस्यारहस्यम् (प्रथम अंश)
३. त्रिपुरातापनीयोपनिषद
४. प्रकाश
५, ६. वरिवस्यारहस्यम्

'गायत्र्यर्थस्त्रिपुरोपनिषदिकथितस्तथैव भागवते'[१]

उन्होंने 'योगिनीहृदय' एवं 'सङ्केतपद्धति' के भी अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। 'योगिनीहृदय', 'देवीभागवत', 'सङ्केतपद्धति', 'वामकेश्वर तन्त्र', 'नित्या षोडशिकार्णव' एवं अमृतानन्दनाथ को अनेक बार उल्लेखित करके वे उन्हें अपने पक्ष का समर्थक प्रदर्शित करते हुए दिखाते हैं ।

वे यह भी कहते हैं कि पुराकाल में गायत्री चरणत्रय मात्रवाली थी । यथा— 'सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि । बुद्धिं या नः प्रचोदयात्'[२] आचार्य भास्करराय का कथन है कि उपर्युक्त देवी भागवत के श्लोक के अनुसार गायत्री का प्रतिपाद्यत्व, आद्या श्रीविद्या के ब्रह्मरूपत्व के प्रतिपादन में ही निहित है 'अत्र ह्याद्यायाः श्रीविद्याया एवं ब्रह्मरूपत्व गायत्र्यादिप्रतिपाद्यत्वं'[३] भास्करराय अपनी पुष्टि में निम्न श्लोक भी प्रस्तुत करते हैं—'हयग्रीव ब्रह्मविद्या वृत्रवधस्तथा । गायत्र्या च समारंभस्त द्वै भागवतं विदुः ॥'[४]

सर्वान्तर्यामि दधद्भर्गो देवस्य धीति तुर्यार्थः ।
पृथ्वी मही लकारस्तृतीयतुर्याङ्घ्रिबोधिका माया ॥ ६१ ॥

(गायत्री मन्त्र एवं पञ्चदशी मन्त्र के वर्णों की परस्पर वाचकता)

(पञ्चदशी मन्त्र का तृतीय वर्ण जो) वर्णमाला के चतुर्थ वर्ण (ई) का प्रतीक है 'भर्गो देवस्य धी' का वाचक है । इसका अर्थ है—सर्वान्तर्यामी एवं सर्वपोषक शिव ॥ 'लकार' पृथ्वी का वाचक है । माया (ह्रीं) (गायत्री के) तृतीय एवं चतुर्थ चरण का वाचक है ॥ ६१ ॥

*** सरोजिनी ***

'पञ्चदशी मन्त्र' का तृतीय वर्ण वर्णमाला का चतुर्थाक्षर 'ई' है ।

पञ्चदशी मन्त्र	गायत्रीमन्त्र	समता
'ई'	'भर्गो देवस्य धी'	दोनों मन्त्र एकार्थक हैं—दोनों एक दूसरे के अर्थ के द्योतक हैं ॥
अर्थ सर्वान्तर्यामी सर्वाधार शिव 'तस्मादभर्गो देवस्य धीत्येवमीकारः' श्रुति = 'ई'	अर्थ—सर्वान्तर्यामी एवं सर्वपोषक शिव —(गा०मं०) 'ईकारस्याप्येतावानर्थः (—भास्कर)	पञ्चदशी के 'ई' एवं गायत्री मन्त्र के 'भर्गो देवस्य धी' दोनों का एक ही अर्थ है ।

१. वरिवस्यारहस्यम्
२. देवीभागवत पुराण
३. भास्करराय—'प्रकाश'
४. वरिवस्यारहस्यम्

'ल़'—भूमण्डल मेवोक्तं लकारेण (श्रुति) (अर्थात् महनीया पृथ्वी = पृथ्वी तत्व का बीजाक्षर 'लं') = भूमण्डल 'ल'	'महि' । 'भर्गोदेवस्य धीमहि' का 'महि' । अर्थ = पृथ्वी	'ल' 'लं' एवं मही दोनों पृथ्वी वाचक हैं ।
ह्रीं (माया बीज)	(गायत्री का चतुर्थ चरण) 'परोरजसे सावदोम्'	

'सवितुर्वरेण्यं' = 'ए' ॥ 'सवितुः' = (गा०मं०) प्राणिप्रसवकारण । योनि । सविता + वरेण्य = कामेश्वरी । 'ए' = कामेश्वरी ।

'क' = कामेश्वर । 'कं ब्रह्म' । 'तत्' (गायत्री मन्त्र) = ब्रह्म ॥ 'ॐतत् सदिति' 'धी'—जगदाधार—'दधत्, धत्त इति धीः ॥ 'धरोधीत्येवं धार्यते ।' (श्रुति) । 'वरेण्यं' (गा०मं०) श्रेष्ठ । भजनीय । 'धयो यो नः प्रचोदयात्' का अर्थ है—हम लोगों की 'धी' (बुद्धि) को ध्यानातीत वस्तु, निष्प्रपञ्च विषयों में प्रेरित करें ॥ अर्थात् परात्परतत्त्व विषयक ज्ञान को प्राप्त करने हेतु प्रेरणा प्रदान करें ।

'तुरीयांघ्रिः' = गायत्री का 'परोरजसे सावदोम्' पद है । 'क' = 'कं ब्रह्म' = ब्रंह्म ॥

'क' = 'कामयते कामी जायते स एव निरञ्जनोऽकामत्वेनोज्जृंभते कामोऽमिधीयते तपरिभाषायां कामः ककारं व्याप्नोति' (श्रुति) 'क' = कामेश्वर ॥ 'तत्' = तदिति ब्रह्म शाश्वतम्' (श्रुति) 'ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ॥ (गीता)

''सवितुर्वरेण्यम्'' = 'श्रेष्ठ भजनीय योनि', जगत् का मूल एवं श्रेष्ठ कारण = अर्थात् कामेश्वरी ॥

मन्त्र द्वय की समतुल्यता एवं समानार्थकता

पञ्चदशाक्षरी मन्त्र	गायत्री मन्त्र
क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ह्रीं, स क ल ह्रीं	''ॐ भूर्भुवः स्वः तत् सवितुर्वरेव्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्''
प्रथमकूट	
१. 'क' (कामनाओं को पूर्ण करने वाला = कामेश्वर) परमात्मा ॥	'तत्' = ब्रह्म ॥ 'ॐ तत् सदिति'
२. 'ए' = सरस्वती । त्रिकोण = एकार = (कामेश्वरी) कामेश्वरी 'त्रिकोण	'सवितुर्वरेण्यम्' जीवों की उत्पत्ति करने वाली श्रेष्ठ कामेश्वरी ॥

शक्तिरेकारेण महाभगगेन प्रसूते तस्मादेकार एव गृह्यते ॥	
३. 'ई' = सर्वान्तर्यामी, सर्वाधारशक्ति	'भर्गो देवस्य धी' = सर्वान्तर्याभी, सर्वपोषकशिव ॥ 'देव' = सर्वान्तर्यामी 'धी' = जगदाधार ॥ भर्ग = शिव । ब्रह्मा । आदित्म तेज ॥ 'धी' में भी ईकार स्थित है । 'ई' = तुरीय ॥ 'धी' = तुरीय ॥
४. 'ल' = पृथ्वी ॥ (लकार पृथ्वी बीज है ।) ('भूमण्डल मेवोक्तं लकारेण' —श्रुति)	धीमहि ॥ मही = पृथ्वी ॥ 'मही'— महत्व के कारण या काठिन्य के कारण पृथ्वी मही कही जाती है । = 'मही' = ५ भूतों का उपलक्षण ॥
५. 'ह्रीं' (माया) । ह्र = ह्रदय ॥ ह्री = प्रणव = ब्रह्मा-विष्णु-महेश = (अ) (उ) (म) ॥ 'ह्रदयागारवासिनी ह्रल्लेखा' (श्रुति) 'इ गतौ' धातु + 'इट किट कटी गतौ'	'धियो योनः प्रचोदयात्' हम लोगों के ध्यान को निष्प्रपञ्च विषय में प्रेरित करें ।[१]

प्रथमकूट का अर्थ—समस्त जगत् की सृष्टि करने की इच्छा रखने वाला सिसृक्षारूप कामेश्वर जगत्कारणरूपा कामेश्वरी, शिव, सर्वान्तर्यामी, सर्वाधार, पञ्चमहाभूतादि के रूप में परिणत, परवस्तु मात्र विषयक निर्विकल्पक ज्ञान जनक निरञ्जन निर्गुण वेद-प्रोक्त लक्षणों से गम्य शक्ति के द्वारा अगम्य ब्रह्म विष्णु रुद्रात्मा परतत्व है ।[१]

द्वितीय कूट एवं तृतीय कूट पञ्चदशीमन्त्र	गायत्री मन्त्र
१. 'ह' 'स' 'क' । २. 'ह'	'तत् सवितुः वरेणं' 'भर्गो देवस्य धीः'

१. ॐ तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणास्त्रिविध स्मृताः ॥ (गीता) 'तदिति ब्रह्म शाश्वतम्' (श्रुति) तत् = 'ब्रह्म' ॥ 'क' = ब्रह्म ॥ 'कं ब्रह्म' (श्रुति) कामयत इति । कम (औणादिक) + उः = काम ॥ 'कामयते कामी जायते स एव निरंजनोऽकात्वेनोज्जृंभते-कामोऽभिधीयते । तत्परिभाषायां कामः ककारं व्याप्नोति ॥' (श्रुति) 'काम' = कामेश्वर ॥ 'सवितु;' = तु प्रत्यय ॥ सविता प्राणियों के प्रसव का कारण अर्थात् योनि । ऐसा होने के कारण वह सामान्य तो है नही अतः 'वरेण्य' कहा गया । वरेण्य = श्रेष्ठा भजनीय । सविता = कामेश्वरी ॥

३. 'सं' 'क' (तृतीय कूट)	उन्हीं तीन पदों एवं ६ वर्णों का बोध कराते हैं ।
४. द्वितीयएवं तृतीय कूटों के शेष वर्णों का उद्धार उपर्युक्त रीति से ही करना चाहिए ।।	(त्रिपुरोपनिषद एवं देवी भागवत पुराण में गायत्री विद्या का ऐरम ही अर्थ किया गया है ।)
५. द्वितीय कूटस्थ वर्णत्रय त्रिपदी गायत्री के समतुल्य है ।	गायत्री त्रिपदी है । पदत्रय युक्ता है
'स'—गायत्री के 'सविता' का बोधक है ।	'तत् = ब्रह्म । शिव ।। 'तदिति परमात्मा' (श्रुति) 'स': सवितुः ।।
'क'	'वरेण्य'
'ह' (तुर्य हकार)	'भर्गो देवस्य धी' का बोधक । धीत्यन्त गायत्री के अर्थ अर्थ-बोधक ।
'स क' (तृतीय कूट) लकार एवं ह्रीं	पञ्चमहाभूतादि एवं आत्मा

आद्या श्रीविद्या ब्रह्म है । यही पञ्चदशीमन्त्र एवं गायत्री मन्त्र दोनों में प्रतिपादित है । 'सर्वचैतन्यां तामाद्यां विद्यां च धीमहि । बुद्धिं या नः प्रचोदयात् ।' यह भी समतुल्य दृष्टि रखने के कारण ध्यातव्य है ।

पञ्चदशीमन्त्र के वाग्भवकूट का अर्थ—आचार्य भास्करराय इसका समष्टिगत अर्थ बताते हुए कहते हैं—

"एवं चायमर्थो गायत्र्याः प्रथमकूटस्य च संपन्नः—सर्वजगत्सिसृक्षारूप कामनावान् कामेश्वरः जगत्कारणरूपा कामेश्वरी" शिवः सर्वान्तर्यामी सर्वाधारः पञ्चमहाभूताद्यात्मना परिणतः परवस्तुमात्र विषयक निर्विकल्पकज्ञनजनको निरञ्जनो निर्गुणो वेदैर्लक्षणया गम्यः शक्त्या त्वगम्यो ब्रह्म विष्णु रुद्रात्मा परतत्वमिति ।।"[१]

द्वितीयतृतीयकूटयोरर्थमाह—

त्रिपदी त्रिवर्णबोध्या तुर्यस्तदुपरिषडक्षरीगमकः ।
अथ तार्तीये वर्णद्वितयं त्रिपदीषडक्षरीगमकम् ॥ ६२ ॥

(पञ्चदशी एवं गायत्री मन्त्र के वर्णों का अन्तर्संबन्ध)

अक्षरत्रय (ह स क) द्वारा (गायत्री मन्त्र के) तीन वर्णों (तत् सवितुः वरेण्यं) को (उनके वाचक के रूप में) जानना चाहिए । चतुर्थाक्षर (ह) परवर्ती छः वर्णों (भर्गो देवस्य धी) का बोधक है ।। तृतीय कूट के वर्णद्वय (स क) उन्हीं तीन पदों एवं छः वर्णों को सङ्केतित करते हैं ।। ६२ ।।

*** प्रकाश ***

त्रिपदी गायत्रीस्थं पदत्रयं विद्याद्वितीयकूटस्थवर्णत्रयेण बोध्यम् । त्र्यवयवका वर्णास्त्रिवर्णाः । 'त्रिगुणसचिवः', 'नवरसरुचिराम्', इत्यादिवत् समासः । तत्पदार्थो

ब्रह्मशिववाचिहकारस्यार्थः, 'तदिति परमात्मा' इत्यारभ्य 'हकाराक्षरं शिवरूपम्' इत्याद्युक्त्वान्ते तत्पदव्यावृत्तिमादाय 'शक्तिं दर्शयति' इति श्रुतेः । सकारस्य सविता अर्थः । ककारस्य वरेण्यमर्थः । तुर्यो हकारस्तदुपरि पदत्रयोपरि विद्यमाना या षडक्षरी 'भर्गो देवस्य धी' इति तदर्थबोधकः । तृतीयकूटे वर्णद्वितयं सकेति । ताभ्यां धीत्यन्तगायत्र्या अर्थः प्रतिपाद्यः । उभयत्रापि लकारहल्लेखाभ्यां पञ्चमहाभूताद्यात्मनेत्यादिरर्थ इत्याह—कूटद्वितय इति । एवं चतुश्चरणाया गायत्र्यास्त्रिरावृत्ताया अर्थस्य प्रतिपादकं कूटत्रितयमिति । भागवत इति । भगवत्या इदं भागवतम्, तत्र भगवतीपुराण इत्यर्थः । तस्य हि पुराणस्यादिमः श्लोकस्त्रिचरणः पठ्यते । यथा—

'सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि ।
बुद्धिं या नः प्रचोदयात् ॥'

इति । अत्र ह्याद्यायाः श्रीविद्याया एव ब्रह्मरूपत्व गायत्र्यादिप्रतिपाद्यत्वं विद्याप्रतिपाद्यत्वादिकं च तदर्थव्याख्यानदर्शिनां स्पष्टम् । वस्तुतस्तु

'हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा ।
गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः ॥'

इति लक्षणानुगत्येदमेव भागवतपदवाच्यम्, न पुनः 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्' इत्यादिकम् ॥ ६२-६३ ॥

* सरोजिनी *

'त्रिपदी...............गमकम्' ॥ तुलना कीजिए—

पञ्चदशीमन्त्रावयव	गायत्रीमन्त्रावयव
'ह स क' 'त्रिपदी'	'तत् सवितुः वरेण्यं' ('त्रिवर्ण')

'ह स क' का वही अर्थ है जो कि 'तत् सवितुः वरेण्यं' का अर्थ है ।

पञ्चदशीमन्त्रावयव	गायत्रीमन्त्रावयव
'ह' (तुर्य) (चतुर्थवर्ण ह)	'भर्गो देवस्य धी' ('षडक्षरी')

'ह स क ह ल' में से चतुर्थाक्षर (ह) का वही अर्थ है जो कि गायत्री मन्त्र के 'भर्गो देवस्य धी' का अर्थ है ।

पञ्चदशीमन्त्रावयव	गायत्रीमन्त्रावयव
(तृ०कूट के) 'स क' ('वर्णद्वितयं)	'भर्गो देवस्य धी' 'त्रिपदी षडक्षरी'

सारांश—

१. 'ह स क' (पं०मन्त्र) के समानार्थी = 'तत् सवितुः वरेण्यं' (गा०मं)

२. 'ह' (पं०मन्त्र) के समानार्थी = 'भर्गो देवस्य धी' (गा०मन्त्र)

३. 'स क' (पं०मन्त्र) के समानार्थी = 'भर्गो देवस्य धी' (गा०मन्त्र)

कूटद्वितये शेषं पूर्ववदुन्नेयमिति तु विद्यायाः ।
गायत्र्यर्थस्त्रिपुरोपनिषदि कथितस्तथैव भागवते ॥ ६३ ॥

(कूटद्वय के शेष अक्षरों के उद्धार की प्रक्रिया एवं गायत्री विद्या की अर्थ-पद्धति)

कूटद्वय (द्वितीय एवं तृतीय) के शेषाक्षरों का उद्धार (भी) पूर्वोक्त रीति से करना चाहिए । त्रिपुरोपनिषद एवं देवी भागवत पुराण में गायत्री विद्या का अर्थ उसी प्रकार (इसी के अनुरूप) कहा गया है ॥ ६३ ॥

* सरोजिनी *

प्रथमकूट का उद्धार द्वितीय एवं तृतीय कूट की ही रीति से किया जाना चाहिए ॥

अथ योगिनीहृदये कथितान् भावार्थादीन् षडर्थानाह—

वामेच्छे ब्रह्मभारत्यौ ज्येष्ठाज्ञाने हरिक्षिती ।
रौद्रीक्रिये शिवापर्णे इत्येतन्मिथुनत्रयम् ॥ ६४ ॥

त्रिभिः कूटैः क्रमाद्वाच्यमीकारत्रितयेन तु ।
एतत्त्रयसमष्ट्यात्म वाच्यं शान्ताम्बिकात्मकम् ॥ ६५ ॥

(युगलत्रय, कूटत्रय एवं ईकारत्रय—एक विवेचन)

वामा एवं इच्छा से अभिन्न ब्रह्मा एवं सरस्वती, ज्येष्ठा एवं ज्ञान से अभिन्न विष्णु एवं पृथ्वी तथा रौद्री एवं क्रिया से अभिन्न शिव एवं पार्वती—ये तीनों युगल क्रमशः तीनों कूटों द्वारा सङ्केतित हैं । इन तीन की समष्टियाँ (पुरुष तत्त्व एवं नारी तत्त्व निर्मित समष्टित्रय) जो शान्ता एवं अम्बिकारूपा हैं—ईकारत्रय द्वारा सङ्केतित हैं ॥ ६४-६५ ॥

* प्रकाश *

प्रकाशस्यांशभूता वामाज्येष्ठारौद्र्यः शक्तियस्तिस्त्रो ब्रह्मविष्णुरुद्राः पुंरूपाः । तत्समष्टिः शान्तात्मिका शक्तिस्तुरीया । विमर्शस्यांशभूता इच्छाज्ञानाक्रियाः शक्तयस्तिस्त्रस्तद्भार्यात्वेन प्रसिद्धा भारतीपृथिवीरुद्राण्यः स्त्रीरूपाः । तत्समष्टिरम्बिकात्मिका शक्तिस्तुरीया । अत्र च प्रथममिथुनत्रयमीकारविनिर्मुक्तकूटत्रयस्य क्रमेणार्थः । ईकाराणां तु तुरीयमिथुनमर्थः । वक्ष्यमाणे शाक्तार्थे त्वेकैकस्मिन्नपि कूटे रेफान्तवर्णषट्कस्यापि मिथुनत्रयमर्थ इति तस्माद्भेदः । तदुक्तं योगिनीहृदये—

'अक्षरार्थो हि भावार्थः केवलः परमेश्वरी ।
योगिनीभिस्तथा वीरैर्वीरेन्द्रैः सर्वदा प्रिये ।
शिवशक्तिसमायोगाज्जनितो मन्त्रराजकः ॥'

इति । व्याख्यातं चेदममृतानन्दयोगिभिः—'भारत्यादिभिर्योगिनीभिर्ब्रह्मादिभि-

वीरेन्द्रैः कूटत्रयवाच्यभूतैः शिवशक्तिसमष्टिरूपमिथुनेनेकारवाच्यभूतेन चोपलक्षितो मन्त्रराजो वीरैर्जनितो भावित इत्यर्थः' इति । वस्तुतस्तु, सकलादिनामकास्त्रिविद्या उपासका वक्ष्यमाणा वीरपदेनोच्यन्ते,

'अहमि प्रलयं कुर्वन्निदमः प्रतियोगिनः ।
पराक्रमपरो भुङ्क्ते स्वात्मानमशिवापहम् ॥'

इत्यादिना परापञ्चाशिकायामन्यत्र च वीरपदस्य साधकपरत्वेनैव निर्वचनात् । अत एव ब्रह्मादीनामुपासक श्रेष्ठत्वाद्वीरेन्द्रपदवाच्यत्वं सङ्गच्छते । एव च सति तिस्रो भारत्याद्या योगिन्यस्त्रयः सकलाद्याः साधकास्त्रयो ब्रह्माद्या वीरेन्द्राः कूटत्रयेण हल्लेखाविर्निर्मुक्तेन क्रमात् प्रतिपाद्याः । हल्लेखानां तु शिवशक्तिसामरस्यात्मकं चतुर्थ मिथुनमर्थः, 'ह्रीङ्कार उभयात्मकः' इति वचनात् । वाचयभूतैर्योगिन्यादिभिर्जनितो युक्तो मन्त्र इत्यर्थः ॥ ६४-६५ ॥

* सरोजिनी *

१. 'वामा + इच्छा' = ब्रह्मा + सरस्वती ॥ २. 'ज्येष्ठा + ज्ञान' = विष्णु + पृथ्वी । ३. 'रौद्री + क्रिया' = शिव + पार्वती ॥ ये हैं दिव्य युगल ॥ (दिव्य मिथुन) ॥

(१) वाम-ज्येष्ठा-रौद्री शक्तियाँ—ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र की शक्तियाँ हैं—'प्रकाशस्यांशभूता वामा-ज्येष्ठा-रौद्यः शक्तयस्तिस्रो ब्रह्मविष्णुरुद्राः पुंरूपाः ।'[१]

१. प्रकाशांशशक्तियाँ—(१) वामा (ब्रह्मा) (२) ज्येष्ठा (विष्णु) (३) रौद्री (रुद्र)

२. विमर्शांशशक्तियाँ—(१) इच्छा (२) ज्ञान (३) क्रिया

उपरोक्त प्रस्तुत भाव अगले पृष्ठ २४३ पर चित्रित किया गया है ।

१. 'वामा'— बीजभावस्थितं विश्वं स्फुटीकर्तुं यदोन्मुखी ।
वामा विश्वस्य वमनादंकुशाकारतां गता ॥[२]

२. 'इच्छाशक्ति'—इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्ती वपुषा स्थिता ।

३. 'ज्ञानशक्ति'—ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमा वागुदीरिता ॥

४. 'क्रियाशक्ति'— प्रत्यावृत्तिक्रमेणैव शृङ्गाटवपुरुज्ज्वला ।
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा ॥

उक्त चार शक्तियाँ एवं पीठ—

भासनाद्विश्वरूपस्य स्वरूपे बाह्यतोऽपि च ।
एताश्चतस्रः शक्त्यस्तु का पूजा ओम् इति क्रमात् ॥

---

१. भास्कराचार्य—'प्रकाश' टीका २. योगिनीहृदय

व्यापकता के तारतम्य में वाकचतुष्ट्य
पश्यन्तीवाक्
शक्ति (विमर्श)
शिव (प्रकाश)
मध्यवाक्
बैखरीवाक्
परावाक्
प्रकाशांश एवं विमर्शांश का सामरस्य
निष्पत्ति वाक्चतुष्ट्य
चिद्रश्मि (चेतनावाक्)
१. अम्बिका + शान्ता → 'परावाक्'
प्रकाशांश
विमर्शांश
अम्बिका शान्ता
परावाक् (मूलाधारस्थ)
चिद्रश्मि
चिद्रश्मि (चेतनावाक्)
२. वामा + इच्छा → 'पश्यन्तीवाक्'
वामा इच्छाशक्ति
पश्यतीवाक् (नाभिस्थ)
चिद्रश्मि (चेतनावाक्)
३. ज्येष्ठा + ज्ञानशक्ति → 'मध्यमावाक्'
ज्येष्ठा ज्ञानशक्ति
मध्यमावाक् (अनाहत चक्रस्थ)
अचेतनवाक्, जड़वाक्,
मृतवाक्, क्षरवाक्, सुषुप्तवाक्
४. रौद्री + क्रियाशक्ति → 'बैखरीवाक्'
रौद्री क्रियाशक्ति
वैखरीवाक् (कण्ठगत जिह्वागत)
चिद्रश्मि-शून्य चित्प्रकाश
विरहित = जड़वाक्
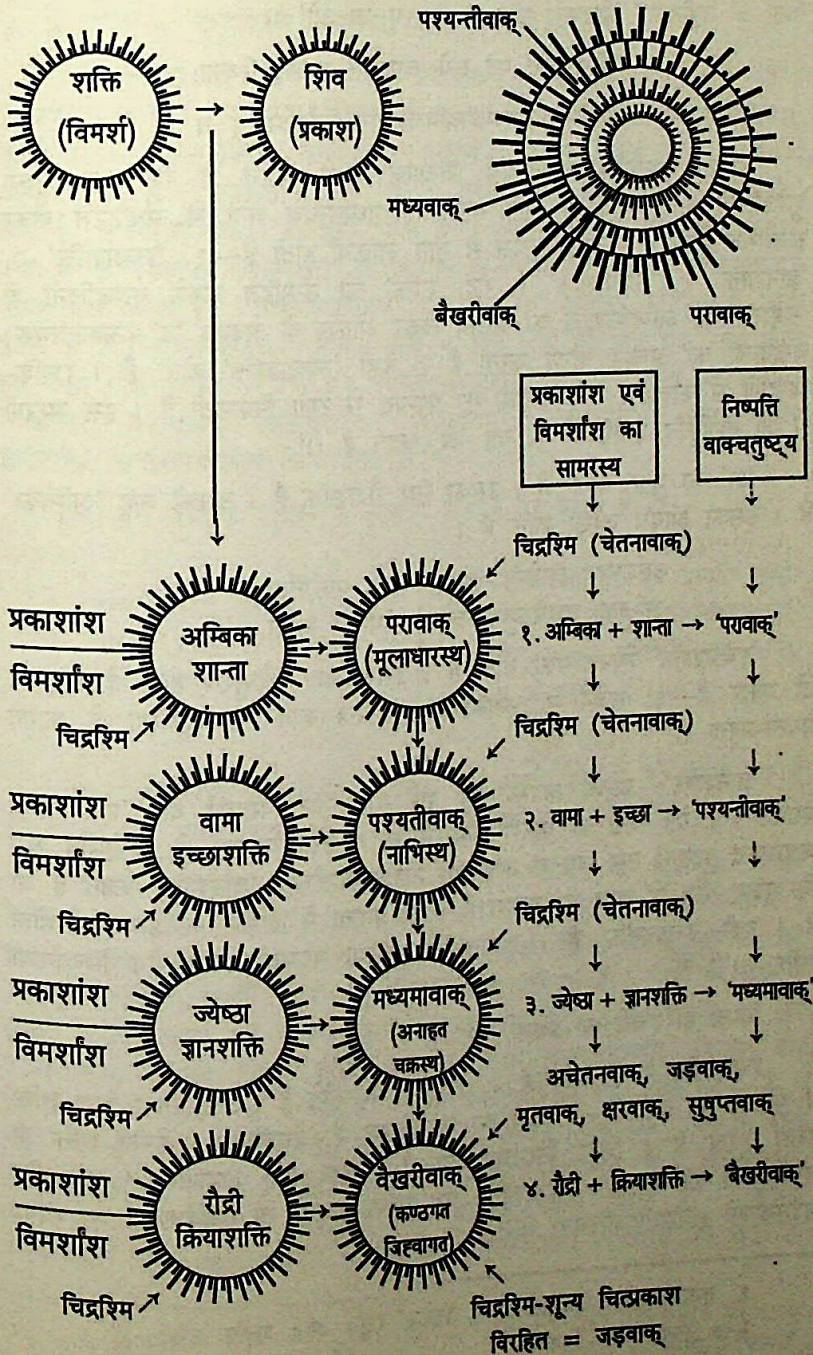
('का') = कामरूपपीठ ।। 'पू' = पूर्णगिरि पीठ ।। जा = जालंधर पीठ ।। 'ओ' = उड्डीयान, ओड्याण पीठ = 'का पू जा ओ' ।।

'पीठाःकन्दे पदे रूपे रूपातीते क्रमात् स्थिताः ।।'

इच्छा-ज्ञान क्रिया—शृङ्गाररूपमापन्नमिच्छाज्ञान क्रियात्मकम् ।।

आचार्य अभिनवगुप्तपादाचार्य 'तन्त्रालोक' में कहते हैं कि परा सूक्ष्मा कुण्डलिनी शक्ति शिव के साथ सामरस्यरूपमथ्यमन्थक भाव से संघट्टित होकर उल्लसित होती है । उस उल्लास में तीन शक्तियाँ होती हैं—१. 'इच्छाशक्ति' २. 'ज्ञानशक्ति' ३. 'क्रियाशक्ति' । 'रौद्री शक्ति' को उन्मुद्रित करके कुण्डलिनी ही 'शृङ्गार' रूपा अम्बिकाशक्ति का आश्रय लेकर ओंकार के अवयव 'उ' (ऊकारात्मक) चन्द्रकला का आकार धारण करती है ।[१] यही 'ज्येष्ठाशक्ति' होती है । (शशि-बिन्दुओं से कालाग्नि रेफ बिन्दुओं की परम्परा से रेखा निकलती है । इस स्फुरण से जो वर्णाकृति बनती है वही यह 'अ' अक्षर है ।)[२]

'अ' का मुख 'वामा' है । उसका सिर रौद्रीशक्ति है । उसकी बाहु 'अम्बिका' है । उसका आयुध ज्येष्ठा शक्ति है ।

आकारस्य शिरोरौद्री वक्त्रं वामा प्रकीर्तिता ।
अम्बिका बाहुरित्युक्ता ज्येष्ठा चैवायुध स्मृता ।।''[३]

'इच्छाशक्ति' स्पन्दात्मिका होती है । इसमें बाह्य औन्मुख्य होता है । इसके दो प्रकार हैं—१. सर्जन में अनारूषित इच्छामात्र रूपा २. प्रक्षुब्धता के कारण प्रयत्न-प्रवृत्ता ।।[४]

'ज्ञानशक्ति'—प्रक्षुब्ध अवस्था के पूर्व स्वात्मनिष्ठ परामर्श था ('एक वीरक परामर्श') । यह विश्व के कारण रूप में था । उसी परामर्श से विश्वोन्मेष रूप बाह्यस्पन्द हुआ । उस रूप में अवस्थित उस परामर्श को 'ज्ञानशक्ति' कहते हैं जो कि पञ्चम बीज के जन्म का कारण है । पर प्रमाता में सिसृक्षा का प्रत्यवमर्श होता है । यही 'इच्छाशक्ति' है । 'प्रमातुः सिसृक्षात्मा परामर्श उदेति सेय मिच्छाख्या शक्तिः ।।''[५]

चिन्ता ही इच्छा की प्रथम 'तुटि' है ।[६]

इच्छाशक्ति में १. सन्निकृष्ट २. विप्रकृष्ट भेद होते हैं । उसी प्रकार ज्ञान शक्ति में भी दो भेद होते हैं—१. ज्ञेय का अनाधिक्य २. ज्ञेयाधिक्य । उन्मेष शक्ति ही इच्छा शक्ति है । क्रिया निरञ्जना देवी है—'क्रिया देवी निरञ्जनम्'[७] ज्ञानशक्ति समस्तमन्त्रों की माँ है—''ज्ञानशक्तिः परा सूक्ष्मा मातृकां तां विदुर्बुधाः । सा योनिः सर्वमन्त्राणां सर्वत्रारणिवत्स्थिता ।।''[८]

---

१. तन्त्रालोक—जयरथकृत टीका 'विवेक' (तृ० आ० श्लोक ६७)
२-७. तन्त्रालोक—'विवेक' ८. नेत्रतन्त्र

परमशिव की पाँच शक्तियाँ हैं—१. चित्शक्ति २. आनन्दशक्ति ३. इच्छाशक्ति ४. ज्ञानशक्ति ५. क्रियाशक्ति । इनका स्वरूप क्या है?

प्रकाशरूपता ही चिच्छक्ति है—'प्रकाशरूपता हि चिच्छक्तिः ॥'[१] लेकिन 'प्रकाश' क्या है? अनन्योन्मुख विमर्श ही प्रकाश है—'प्रकाशश्च अनन्योन्मुखविमर्शः अहमिति ॥'[२] 'आनन्दशक्ति' क्या है? 'स्वातन्त्र्य ही आनन्द शक्ति है ॥' 'स्वातन्त्र्यं आनन्दशक्तिः ॥'[३] 'इच्छाशक्ति' क्या है ? 'तच्चमत्कारः इच्छाशक्तिः'[४] 'ज्ञानशक्ति' क्या है ? 'आमर्शात्मकता ही ज्ञान शक्ति है' : आमर्शात्मकता ज्ञानशक्ति 'आमर्श' क्या है ? ईशत्तया वेद्योन्मुखता ही आमर्श है—'आमर्शश्च ईषत्तया वेद्योन्मुखता'[५] 'क्रियाशक्ति' क्या है? 'सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः ॥' सर्वाकार योगित्व ही क्रिया शक्ति है ।[६] 'जन्ममरणविचार' नामक ग्रन्थ में इसी तथ्य की पुष्टि एक साथ करते हुए कहा गया है कि—"एक एव अस्ति संविदात्मा महेश्वरः । तस्य प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः, स्वातंत्र्यम् आनन्दशक्तिः, तच्चमत्कारः इच्छाशक्तिः, आमर्शात्मकता ज्ञानशक्ति, सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः ॥"[७]

(क) इस उपर्युक्त श्लोक में आचार्य भास्कर का कथन है कि—

१. वामा, इच्छा, ब्रह्मा, सरस्वती २. ज्येष्ठा, ज्ञान, विष्णु, पृथ्वी ३. रौद्री, क्रिया, शिव, पार्वती	ये तीनों शक्तियाँ एवं दम्पति तीनों कूटो (वाग्भवकूट, कामराजकूट एवं शक्तिकूट) के प्रतिनिधि या तीनों कूटों के वाच्य हैं ।

(ख) भास्करराय फिर कहते हैं कि—पञ्चदशाक्षरी मन्त्र में जो ईकार त्रय है वह शान्ता एवं अम्बिकारूपा उक्त दम्पतित्रय एवं शक्तित्रय को सङ्केतित करता है ।

आचार्य भास्करराय कहते हैं कि—'प्रकाश' (शिव) की अंशभूता 'वामा' 'ज्येष्ठा' एवं 'रौद्री' शक्तियाँ ही ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र के रूप में पुरुषाकारित हैं । उनकी समष्टि शान्तात्मिका है जो कि तुरीय शक्ति है । विमर्श (शक्ति) की अंशभूता शक्तियाँ 'इच्छा' 'ज्ञान' एवं 'क्रिया' रूपा शक्तियाँ हैं । भार्या के रूप में गृहीत भारती, पृथ्वी एवं रुद्राणी 'शक्तियाँ' स्त्रीरूपा है । उनकी समष्टि जो कि अम्बिकारूपा है वह 'तुरीय शक्ति' है । यहाँ पर प्रथम दम्पति (मिथुन) त्रय ईकारविनिर्मुक्त कूटत्रय के वाचक हैं क्योंकि ईकारत्रय का तो 'तुरीयमिथुन' है । तीनों भारती आदि, योगिनीत्रय, सकलादिक साधकत्रय, ब्रह्मादिक उपासक श्रेष्ठ वीरेन्द्र—हल्लेखा विनिर्मुक्त कूटत्रय द्वारा क्रमानुसार प्रतिपादित हैं । हल्लेखाओं (ह्रीं, ह्रीं, ह्रीं) का तो शिवशक्ति सामरस्यात्मक चतुर्थ मिथुन है । 'ह्रींकर उभयात्मकः' ऐसा कहा गया है । वाच्यभूत योगिनी आदि से जन्य एवं युक्त ही

---

१. तन्त्रसार
२. प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (३.१.४)
३-६. तन्त्रसार
७. भट्टवामदेवाचार्य—'जन्ममरणविचार'

'मन्त्र' हुआ करते हैं । 'योगिनीहृदय' में कहा गया है—अक्षरार्थो हि भावार्थः केवलः परमेश्वरी । योगिनीभिस्तथा वीरैः वीरेन्द्रैः सर्वदा प्रिये । शिवशक्ति समायोगाज्जनितो मन्त्रराजकः ॥'

एतमेर्वां मनसिनिधायाह—

यद्वा गीःसकलब्रह्मप्रभृतीनां त्रयं त्रयम् ।
त्रिकूटवाच्यं मायायास्तुरीयं मिथुनं मतम् ॥ ६६ ॥

(मिथुनत्रय एवं कूटत्रय में अंतर्संबंध)

अथवा भारती एवं अन्य, सकल एवं अन्य, तथा ब्रह्मा एवं अन्य के त्रिकों का त्रिक ('माया' = 'ह्रीं' शब्द से रहित) कूटत्रय का वाचक है । माया (ह्रींकार) का (अर्थात् ह्रींकार के द्वारा इंगित) चतुर्थ मिथुन (शिवशक्तिरूप) है ॥ ६६ ॥

* प्रकाश *

अथ वा, वीरपदं योगिनीनामेव विशेषणमतल्लिङ्गम् । अत एव ब्रह्मादीनां वीरपतिवाचकवीरेन्द्रपदेन निर्देशः । योगिनीवीरेन्द्रपदाभ्यां च शाक्तार्थे वक्ष्यमाणानां षण्णामक्षराणां ब्रह्मभारत्यादिवाचकानां परामर्शः । शिवशक्तिसमायोगपदेन कामकलायाः परामर्शः, तस्यामुभयोगस्यानुपदं वक्ष्यमाणत्वात् । एवं सप्तभिरक्षरैस्त्रिरावृत्तैर्मन्त्रराजो जनितः प्रादुर्भूत इत्यर्थः एतत्सप्तकपरिणामत्वान्मन्त्रो ऽपि तदात्मकः प्रसारपरमार्थन्यायादिति भावः । न च मन्त्रयोत्पत्त्यङ्गीकारे ऽनादित्वभङ्गः, निर्विशेषब्रह्मातिरिक्तस्य निखिलस्यापि सृष्टिप्रतिपादकशास्त्रप्रामाण्याज्जन्यत्वस्येष्टत्वेन सविशेषशक्तिवदजन्यत्वरूपानादित्वस्यानभिमतत्वात् । प्रवाहानादित्वं तु जन्यत्वाङ्गीकारे ऽपि नानुपपन्नम्, कार्यमात्रस्य स्थूलसूक्ष्मरूपद्वयस्वीकारेणोत्पत्तेः पूर्वमपि कारणान्तः सूक्ष्मरूपेणावस्थानस्य सत्कार्यवादिभिरस्माभिरङ्गीकारेणानादित्वप्रतिपादकवचनानां तत्परत्वेनाप्युपपत्तेः । प्रथमपक्षद्वये तु जनितपदादेरर्थो न स्वरसः । अत एवोत्तरग्रन्थे भारत्यादिसप्तकसमष्टिरूपायाः परदेवताया मन्त्राभेदप्रतिपादनं सङ्गच्छते, वाचकाक्षरसमष्ट्यात्मकमन्त्रस्य वाच्यार्थ समष्ट्यात्मकपरदेवताभेदस्य वाच्यवाचकयोरभेदवादिनामस्माकं न्यायसिद्धत्वेन संदर्भशुद्धेः । यथा—

'तन्मयीं परमानन्दनन्दितां स्पन्दरूपिणीम् ।
निसर्गसुन्दरीं देवीं ज्ञात्वा स्वैरमुपासते ॥

शिवशक्त्यात्मसंघट्टरूपे ब्रह्मणि शाश्वते ।
तत्प्रथाप्रसराश्लेषशालिन्यैन्द्रोपलक्षिते ॥

ज्ञातुर्ज्ञानमयाकारकरणान्मन्त्ररूपिणीम् ।
तेषां समष्टिरूपेण परा शक्तिस्तु मातृका ॥'

इति । तन्मयीं मन्त्रराजाभिन्नाम् । 'आनन्दमयः', 'चिन्मयः', इतिवदभेदेमयट् । अन्ये तु 'तुरीयकूटस्यार्थमाह—तन्मयीमिति । चतुर्मिथुनवाचकत्रिबीजसमष्टिरूपमन्त्र-

वाच्यामित्यर्थः' इति व्याचक्षते । तत्रातीव संदर्भशुद्धं वाच्यार्थे मयडभावश्चेत्युपेक्ष्यम् । स्पन्दः षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मना परिणामः, तद्रूपिणीं तदभिन्नाम् । एतेन देवताभिन्नविश्वस्यापि मन्त्राभेदः सूचितः । अव्याकृतनामरूपप्रपञ्चस्योत्पत्त्युन्मुखतैव स्पन्दोन्मेषव्याकरणादि-शब्दैर्व्यवह्रियते 'नान्यत् किञ्चन मिषत्', 'नामरूपे व्याकरवाणि', 'न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि' इत्यादौ । तेनाव्याकृतनामरूपजगत एव स्पन्द इति प्रायेण तन्त्रेषु व्यवहारः । इत्थं मन्त्रदेवताजगतामभेदमनुसंदधानो मन्त्रं जपेदिति विधत्ते—स्वैरमुपासत इति । पञ्चमो ऽयं लकारो लिङर्थे । 'मुखं व्यादाय स्वपिति' इतिवत् समानकालिकत्वे ऽपि 'ज्ञात्वा' इत्यत्र क्त्वाप्रत्ययः । एवं देवतायां मन्त्राभेदं युक्तिभिः प्रतिपाद्य मन्त्रपदस्यावयवशक्तिरपि समस्तीति प्रदर्शयति—शिवेत्यादिसार्धश्लोकेन । शिव-शक्त्यात्मनोः संघट्टः सामरस्यं तद्रूपे । शाश्वते ऽनादिनिधने । तस्य प्रथायाः पृथुत्वेन प्रसरो जगद्रूपः, तदाश्लेषशालिन्यप्यैन्द्रेण जगदैश्वर्येण काकेनेवोपलक्षिते, न तु विशिष्टे । विषयत्व सप्तम्यर्थः । तथा च सत्यत्वज्ञानत्वाद्युपलक्षितशुद्धब्रह्मैकविषयक-निर्विकल्पकज्ञानवतः साधकपुंगवस्य ज्ञानमयः स्वसंविद्रूपो ब्रह्मभावो य आकार-स्तत्करणान्मन्तारमुक्तज्ञानरूपमननशालिनं त्रायते भयजनकद्वितीयपदार्थमात्रनिरासादिति मन्त्रपदावयवार्थः । तद्रूपिणीमिति विध्यन्तर्गतदेवीपदस्य विशेषणम् । मन्त्र इति पदस्य देव्यामनुगतिमुपपाद्य तत्पदार्थभूतं पञ्चदशयभिन्नत्वं संमुग्धाकारेण प्रतिज्ञातपूर्वमपि हेतुना द्रढयति—तेषामिति । तुशब्दो ऽत्र हेत्वर्थकः । यतो भारत्यादीनां समष्टिरूपेणोपलक्षिता माता, ततस्तस्यां तद्वाचकाक्षरसमष्ट्यात्मकविद्याभेद उपपद्यत इति भावः । अथ वा, मन्त्रपदस्यावयवशक्त्या प्रवृत्तिमुपपाद्य समुदायशक्त्यापि तामुपपादयितुं मन्त्रराज-पदशक्यतावच्छेदकं भारत्यादिसप्तकसमष्टित्वं(?) परदेवतायामाह—तेषामिति । समष्टीति भावप्रधानो निर्देशः । समष्टित्वेन शक्यतावच्छेदकरूपेण युक्ता यतः परदेवता, ततो रूढ्यापि मन्त्रराजपदवाच्यत्वं युक्तम् । तेन च तयोरभेदो ऽपि युज्यत इति भावः ॥ ६६ ॥

* सरोजिनी *

मिथुनत्रय एवं कूटत्रय में अभेदात्मकता प्रतिपादन

१. ब्रह्मा और भारती	(अर्थात् वामा + इच्छाशक्ति)	'मिथुनत्रय' कहे गए हैं ।
२. हरि और क्षिति	(अर्थात् ज्येष्ठा + ज्ञानशक्ति)	
३. शिव और अपर्णा	(अर्थात् रौद्री + क्रियाशक्ति)	

३ कूट :	१. वाग्भवकूट	मिथुनत्रय कूटत्रय के वाच्य हैं ।
	२. कामराजकूट	
	३. शक्तिकूट	

मिथुनत्रय = कूटत्रय ॥

'कूटत्रयात्मिकां देवीं समष्टिव्यष्टिरूपिणीम्' कहकर कूटत्रय की देव्यात्मकता का प्रतिपादन भी किया गया है ।

'वामादिषट्क' = कामकला से अभिन्न है ।

वामादिकामकलान्तसप्तक—मन्त्र से अभिन्न है ।

अमुमेवार्थं सुनिष्कृष्टं श्लोकतो निबध्नाति—

वामेच्छाद्याः षडीकार इति सप्तभिरक्षरैः ।
त्रिरावृत्तैरियं विद्या सञ्जाता तेन तन्मयी ॥ ६७ ॥

वामादिसप्तशक्तीनां समष्टिः परदेवता ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपास्मान्मात्रयापि न भिद्यते ॥ ६८ ॥

(पञ्चदशाक्षरी विद्या का स्वस्वरूप)

यह विद्या सात अक्षरों से निर्मित हुई है । इसमें वामा, इच्छा आदि छः शक्तियाँ एवं ईकार सम्मिलित हैं जिनकी तीन बार पुनरावृत्ति की जाती है । अतः (यह विद्या, इनके द्वारा व्यक्तीभूत) उन (शक्तियों) से युक्त हैं ॥ ६७ ॥

(परात्परशक्ति का सप्त शक्तियों एवं छत्तीस तत्त्वों से तादात्म्यभाव)

परदेवता (परात्परशक्ति) वामादिक सात शक्तियों की समष्टि है । और छत्तीस तत्त्वों का मूर्तिमानस्वरूप है । (यह)मन्त्र किंचिन्मात्रा में भी भिन्न नहीं है ॥ ६८ ॥

*** प्रकाश ***

अस्मात् तन्मन्त्रात्, मात्रयापि लेशेनापि न भिद्यते । मन्त्रे तृतीयवर्णस्य ज्येष्ठाशक्तिवाचकत्वेन वामादिषट्कान्तः पातित्वेनावशिष्टानां हृल्लेखास्थानामेव कामकलानामीकारपदेन परामर्शान्न त्रिरावृत्तैरिति संख्याविरोधः । न च शाक्तार्थेन पौनरुक्त्यम्, तत्र वामादिषट्कं कामकलाया अभिन्नमिति वाक्यार्थः, अत्र तु वामादिकामकलान्तसप्तकाभिन्नो मन्त्रः षट्त्रिंशत्तत्त्वाभिन्नमात्रभिन्न इत्यर्थ इति महतो भेदात् । अथ वा, शिवशक्तिसमायोगरूपसमष्टिजन्यत्वान्मन्त्रराजः स्पन्दश्च तद्व्यष्टिरूपौ शिवशक्तिमयौ । तेन जगन्मन्त्रदेवीनामभेद इति भावनं भावार्थः । अत एवोपसंहृतं योगिनीहृदये—

'....................चलत्तासंस्थितस्य तु ।
धर्माधर्मस्य वाच्यस्य विषामृतमयस्य च ।
वाचकाक्षरसंयुक्तैः कथिता विश्वरूपिणी ।
तेषां समष्टिरूपेण पराशक्तिं तु मातृकाम् ।
कूटत्रयात्मिकां देवीं समष्टिव्यष्टिरूपिणीम् ।
आद्यां शक्तिं भावयन्तो भावार्थ इति मन्वते ।'

इति । पराहंतेत्यादिभावार्थकत्वतलादिवाच्यत्वाद्धर्मः शक्तिः । निर्धर्मकत्वादधर्मः शिवः । स्पन्दजननं प्रति शक्तिबहिर्भूतस्य शिवस्याक्षमत्वादन्वयव्यतिरेकयोराचार्यभगवत्पादैः सौन्दर्यलहर्यां प्रथमश्लोके तथैव तद्व्याख्यानकर्तृभिश्च प्रदर्शितत्वाच्च शक्तेः

कारणतावच्छेदकत्वं कारणत्वं भवचक्रात्मकस्पन्दं प्रति स्वीकार्यम् । तेन जनन-मरणादिक्लेशमयसंसारजनकत्वाद्विषं शक्तिः । तद्विनिर्मोकादमृतं शिवः । तदुभयस्य वाच्यस्य वाचके ये अक्षरे वक्ष्यमाणरीत्या हकाराकाररूपे, ताभ्यां व्यस्ताभ्यां तदुभयसमावेशरूपकामकलाक्षरेण चास्य चलत्तासंस्थितस्य नश्वरतायुक्तस्य जगतः, प्रकृतत्वान्मन्त्रराजस्य च सम्यक्परिणामपरिणामिभावेन युक्तेः संबन्धादेषां[1] विद्या विश्वरूपिणी कथिता, एकाकारेणोत्पन्नयोरभेदादिति[2] शिवशक्तिसामरस्यरूपस्य पराशक्तिजगदम्बादिपदवाच्यस्य कारणस्य कार्याभ्यां विश्वविद्याभ्यामभेदं सूचयं-स्त्रयाणामभेदमुपसंहरति तेषामित्यादिनेति तदर्थः । अस्मिन् पक्षे योगिन्यादिभिर्भावित इति शेषपूरणेनोपक्रमश्लोकार्थो वर्णनीयः । भावार्थस्वरूपं तु शिवशक्तिसमायोग-जन्यत्वादिकमात्रम्, न पुनर्योगिन्यादेर्जनककोटौ निवेशः । अक्षरार्थत्वं च तादृशाक्षर-द्वयजन्यत्वादेवेति दिक् । अत्रेदमवधेयम्—इयं सृष्टिः परब्रह्मपरिणाम इति पूर्वमुक्तम्, सा च सृष्टिर्द्वैधा, अर्थमयी शब्दमयी चेति । चक्रमयी देहमयी चेति सृष्टिद्वयं तु बालक्रीडनकार्थे स्थूलगृहसमानाकारत्वेन सूक्ष्मगृहनिर्माणतुल्यमर्थसृष्टावेवान्तर्गतम्, न पुनरत्यन्तं भिद्यते । सा च द्विविधापि सृष्टिः समकालीनोत्पत्तिका समकालीना-भिवृद्धि-शालिनी च, यथा बीजादङ्कुरतच्छाये । तत्र च च्छायादर्शनेन वृक्षानुमिति-रनुभवसिद्धा । स च च्छायायां वृक्षसमानाकारत्वं वृक्षाविनाभावं च विना अनुपपन्नेति तद्द्वयमपि तत्र कल्प्यम् । प्रत्यक्षसंवादविषयश्च तद्वच्छब्दः सर्वो ऽप्यर्थाविनाभूतः, अर्थज्ञानजनकज्ञानविषयत्वात् 'वागर्थाविव संपृक्तौ' इत्याद्यभियुक्तोक्तेश्च । तथार्थ-समानाकारो ऽपि । तथा हि—यावन्तः शब्दे ऽवयवास्तावन्त एवार्थे तज्ज्ञाने चाभ्युपेयाः । 'चैत्रस्तण्डुलं पचति' इत्यत्र चैत्रपदं सुप्रत्ययस्तण्डुलपदममप्रत्ययः पचिधातुस्तिप्प्रत्ययश्चेति षडवयवात्मकस्य शब्दसमूहस्य चैत्रः कर्तृत्वं तण्डुलः कर्मत्वं तेजःसंयोगः कृतिश्चेति विश्कलिताः षडर्थाः । तेषां च परस्परसमभिव्याहारस्य तु परस्परसंबन्धविशेषोऽर्थः । तत्तत्पदार्थविशिष्टा भावनैव वाक्यार्थ इति मीमांसकाः । तत्तदितरव्यावृत्तिर्वाक्यार्थ इत्यपि केचित् । एवं तज्ज्ञानमपि षट् पदार्थांस्तत्संबन्धादींश्च विषयीकुर्वत् तत्समानाकार भवति अन्यथा ज्ञानानां परस्परवैलक्षण्यानुपपत्तेः । अन्तःकरणपरिणामविशेषरूपे ज्ञाने तत्तदाकारत्वेन परिणतवकल्पनसंभवाच्च । अत एव 'चैत्रस्तण्डुलं पचतीत्याकारकं ज्ञानम्' इत्येव सकलतान्त्रिकाणां निराकारवादिना-मपि व्यवहारः । अनयोः सृष्ट्योर्ज्ञानजनकं तु मन एव । तच्च शब्द श्रोत्रेन्द्रियद्वारैव गृह्णाति, अर्थं तु कञ्चन साक्षात् कञ्चन चक्षुरादिद्वारेति विशेषः । ते च द्वे अपि सृष्टी स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमभेदात् प्रातिस्विकं चतुर्विधे । श्रोत्रमनसोस्त्वर्थान्तःपातित्वादेव चातुर्विध्यम् । एवं च स्थूलश्रोत्रण स्थूलशब्दश्रवणात् स्थूलार्थस्य स्थूलमनसा ज्ञानम्, सूक्ष्मश्रोत्रेण सूक्ष्मशब्दश्रवणात् सूक्ष्मार्थस्य सूक्ष्ममनसा ज्ञानमित्यादि द्रष्टव्यम् । श्रोत्रमनसोः सूक्ष्मत्वादिकं तु शास्त्राभ्यासयोगाभ्यासादिपाटवजन्यम् । तदेतद्योगशास्त्रे 'निर्विचारवैशारद्ये ऽध्यात्मप्रसादः' इति सूत्रे 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' इति सूत्रे च स्पष्टम् । अत एव श्रुतिः—

> 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
> गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥'

१. द्वेषा २. रभेदस्यावश्यकत्वादिति

इति । तेषां च नामानि वैखरी मध्यमा पश्यन्ती परेति । श्रुतौ तुरीयपदस्य वैखर्यर्थः, सृष्टिक्रमस्यैव तत्र भिप्रेतत्वात् । एतच्छब्दचतुष्टयवाच्या अप्यर्थास्तथा तथोन्नेयाः । तथा हि—मस्तकाद्यवयवेन्द्रियप्राणदशकशालित्वं स्थूलजगदादिव्यक्तौ तथा सद्योजातशिशावपि पिपीलिकादावपीत्यविवादम् । इयांस्तु विशेषः; स्थूला अवयवाः स्थूले, अल्पस्त्वल्पे । एवं च वैखरीरूपघटपदवाच्यापेक्षया मध्मदिरूपघटपदैर्वाच्या घटा युक्तिभिरुन्नयाः । ते च पदार्थाः सङ्कोचमञ्चन्तः केचिदस्पष्टनिखिलावयवकाः केचित्तु संकुचज्जलू काकमठादिवदस्पष्टकिंचिदवयवका अप्यवयवन्यूनाधिकनावेन परिमाण-भेदे ऽपि द्रव्याभेदस्य मीमांसकादिभिरङ्गीकारादिति यथायथमूहितव्यम् । एतेषां चतुर्णां वाचकानां चतुर्भ्यो वाच्येभ्यो भेदा अपि चत्वारः कल्पिताः स्थूलदिरीत्या चतुर्विधा ज्ञेयाः । सृष्टिचतुष्टयस्यापि मूलभूतो बिन्दुर्बीजस्थानापन्नः । तस्मादपि परतस्तु सूक्ष्मतमा-पेक्षया सूक्ष्मतममपि विशिष्य तद्वाचकत्वादभिन्नशब्दार्थरूपं शब्दब्रह्मात्यादिपदनिर्देश्यं परं ब्रह्मैव । तच्चप्रक शैकाकारस्यार्थादत्यन्तन्निस्य शब्दब्रह्मय दिपदनिर्दैशविशेषस्याभावात् 'अनिर्दैश्यम्', 'अग्राह्यम्', 'अशब्दम्', 'अस्पर्शम्' इत्यादिनिषिद्धविशेषणम् । वस्तुतः सृष्टिद्वयमूलभूतसूक्ष्मरूपविशेकत्मकत्वादभिन्नशब्दार्थरूपं शब्दब्रह्मेत्यादिपदनिर्दैश्यं परं ब्रह्मव । तच्च प्रकाशैकस्वरूपम्, 'घटः स्फुरति', 'पटः स्फुरति' इत्यादिप्रत्ययेन पदार्थमात्रे स्फुरणाख्यवस्तुविशेषस्य[1] तत्तदमिन्नस्यानुभवसिद्धात्वात् । प्रकाशस्यापि स्फुरणमवश्यं वाच्यम्, 'प्रकाशः स्फुरति' इति प्रत्ययात् । तच्च स्फुरणं शक्ति-रित्युच्यते। प्रकाशस्फुरणयोश्च मिलितयोरिव जगत्कारणत्वम्, अन्य-तरमात्रस्य जनकत्वानुपपत्तेः कामकलाविलासव्याख्यायां[2] स्फुटतरमुपपादनात् । तेन शुद्धस्य शिवस्य शुद्धायाः शक्तेर्वा जगत्कारणत्वं तत्र तत्रोच्यमानं शिवशक्तिरूपस्योभयात्मन एव बोध्यम् । तत्र प्रकाशस्त्वकारस्वरूपस्तद्वाच्यश्च । स्फुरत्ता तु हकाररूपा तद्वाच्या च। तावेतावकारहकारौ परारूपौ सूक्ष्मतमौ प्रागुक्तौ । परादिसृष्टिमूलभूतस्य बीजस्थानीयस्य बिन्दुविशेषस्य तु व्यक्ताव्यक्तविलक्षणौ वाचकौ । तस्यापि जनकस्य परब्रह्मणस्तु केवलमव्यक्तावेव शून्यस्वरूपौ वाचकौ । तयोः शून्यस्वरूपत्वादेव 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतिभिरवाच्यतोक्तिः, वाच इति बहुवचनेन परादिचतुष्टयस्यैव परामर्शात् । तथा च स्मर्यते—

'अहमित्येकमद्वैतं यत्प्रकाशात्मविंभ्रमः ।
अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः ॥

हकारो ऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः ।
अनयोः सामरस्यं यत् परस्मिन्नहमि स्फुटम् ॥'

इति । 'अक्षराणामकारो ऽस्मि' इति गीतासु[3] । 'शून्याकाराद्विसर्गान्ताद्बिन्दु-प्रस्पन्दसंविदः' इति योगिनीहृदये च[4] । शून्याकारः शून्यमात्रस्वरूपो यो विसर्गान्तः षोडशस्वरान्त्यस्तस्माद्बिन्दुविशेष उत्पन्न इति तदर्थः । विसर्गस्याव्यक्तहकारतुल्यत्वेना-कारस्यापि तत्र सत्त्वेन षोडशस्वरकीर्तनं प्रकृतम् । तेनाकारहकारावेव शून्याकारौ कीर्तितौ वेदितव्यौ । अत एव शून्यश्चासावकारश्चेति केचिद्व्याख्याय विसर्गो हकारः स

१. विशेषणस्य
२. स्पष्टतरः
३. गीता च
४. योगिनीहृदयं च

एवान्ते यस्येति विग्रहप्रदर्शनपूर्वकं हकारविशिष्टादकारादिति व्याचक्षते । तन्मते हकारे शून्यत्वलाभो दुर्घटः । अत्रायं सृष्टिक्रमः—यथा हि कश्चित् पुरुष उत्पत्स्यमानपुत्राद्य-दृष्टवशादुत्पादनेच्छाविशिष्टः स्वीयामुत्पादनशक्तिमवलोक्य स्वार्धशरीरात्मिकायां भार्यायां स्वयमन्तः प्रविशति शुक्लरूपेण, 'पतिमेकादशं कृधि', 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेः । प्रवेश्यमानस्य स्वभिन्नत्वात् स्थूलतरभेदाक्रान्तत्वाच्च नाभेद-मानम् । ततस्तस्य शुक्लस्यान्तः शोणितबिन्दुरूपेण भार्या प्रविशति । तेन च स बिन्दुरुच्छूनो भवति । स एष वटोदुम्बरादिबीजस्थानीयः । तस्मादङ्कुर-विशेषाद्युत्पत्तिक्रमेण कालान्तरे पुत्राद्युत्पत्तिरिति । यथा वा सूर्याभिमुखदर्पणे तदन्तः प्रविष्टकिरणादुभयकिरणसङ्कलनरूपस्तेजोबिन्दुविशेषः कुड्यादौ प्रादुर्भवति, तथा प्राण्यदृष्टवशात् स्वान्तःसंहृतविश्वसिसृक्षया प्रकाशरूपं ब्रह्म स्वीयां शक्तिमवलोकयितुं तदभिमुखोभूय तदन्तस्तेजोरूपेण प्रविश्य शुक्लबिन्दुभावमयते । ततस्तं बिन्दुं रक्तरूपा शक्तिः प्रविशति । तेन संमिश्रबिन्दुरुच्छूनो भवति । तत्र च हार्दकलारूपो ऽप्येकः पदार्थविशेषो भवति । स पुनर्गुरुमुखादेवावगन्तव्यः, न पुनः पुस्तके लेख्यः । स च बिन्दुः समष्टिरूपेणैकः स्फुटशिवशक्तिसामरस्यनामा 'कामो रविरग्नीषोमात्मकः' इत्यादिशब्दैर्व्यवह्रियते । व्यष्टिरूपेण द्वयम् । तत्र शुक्ल इन्दू रक्तो ऽग्निरिति बिन्दुद्वयात्मकत्वाद्विसर्ग इति च व्यवह्रियते । अत एव च रवे रात्रावग्नावमावास्यायां चन्द्रे च प्रवेशस्य श्रुत्यादिसिद्धत्वात् समष्टिबिन्दो रवित्वम् । एवं च कामाख्यो बिन्दु-र्विसर्गो हार्दकला चेति त्र्यवयवक एकः पदार्थो ऽणादिप्रत्याहारवत् कामकलेत्युच्यते । इदमेव च [1]समस्तसृष्टिबीजम् । अत एवाकारहकारयोर्मध्ये सर्ववर्णपाठः । ळकारस्य लकारादभिन्नत्वात्, क्षकारस्य कषयोगरूपत्वान्न तद्बहिर्भावः शङ्क्यः । एतन्मूलभूत ब्रह्म तु तुरीयबिन्दुरित्युच्यते । तद्रूपाभ्यां शून्यस्वरूपाभ्यामकारहकाराभ्यामुत्पन्ना कामकला व्यक्ताव्यक्तविलक्षणा अहंपदवाच्या । अकारहकारोभयात्मकत्वं शिवशक्ति-द्वयरूपत्वं चाहंपदस्य निष्कृष्टो ऽर्थः । अत एव तज्जन्यानां सूक्ष्मादिस्थूलान्तानामखिल-सृष्टीनामहंपदवाच्यत्वम् । यथा ह्युदुम्बरपदवाच्यबीजाज्जनितानां परस्परविलक्षणानामपि पर्णकाष्ठकुसुमफलक्रिमीणां सर्वेषामुदुम्बरत्वम्, 'उदुम्बरपर्णम्', 'उदुम्बरक्रिमिः', इत्यादिव्यवहारात् । तथा च श्रुतयः—'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्; तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति' इति बृहदारण्यके; 'त्वं वा अहमहं वै त्वम्' इत्यैतरेयके; 'कस्त्वमित्यह-मिति होवाच त्वमेवेदं सर्वं तस्मादहमिति सर्वाभिधानम्' इति तापनीये । पाणिनिनाप्य-स्मच्छब्दस्य सर्वनामतोक्ता । तत्रैवान्यत्र 'तद्वा एतद्ब्रह्माद्वयम्' इत्यादिना ब्रह्मस्वरूपम-भिधाया तदुपासनां पूर्णाहंभावभावनारूपां विस्पष्टम् 'हंसः सोऽहम्' इत्यादिना विदधाति । तत्प्रकारस्त्वतिरहस्यत्वाद् गुरुचरणैकलभ्यः । उक्तं च कादिमते—

'बन्धनं योनिमुद्राया मन्त्राणां वीर्ययोजनम् ।
गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं तु वेदयेत् ॥'

इति । आदिमो ऽकारः, अन्त्यो हकारः, तयोः समाहारः 'अहम्' । बिन्दुलाभायैवेत रेतरयोगद्वन्द्वपरित्यागेन समाहारद्वन्द्वोक्तिः । छान्दोग्ये ऽपि 'अहमेवाध-स्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतो ऽहमुत्तरतो ऽहमेवेदं सर्वम्' इति ।

---

१. समष्टि

विरूपाक्षपञ्चाशिकायामपि—

'स्वपरावभासनक्षम आत्मा विश्वस्य यः प्रकाशो ऽसौ ।
अहमिति स एक उक्तोऽहंतास्थितिरीदृशी तस्य ॥'

इत्यादीनि परःसहस्रं वचनानि । एतादृशस्याहंपदार्थस्य यथा ऽहमिति पदं वाचकं तथोत्तमपुरुषैकवचनमपि वाचकम् । तस्य च परस्मैपदात्मनेपद भेदेन द्वैविध्ये ऽपि मिप इट्श्चैकारत्वेनानुगमादित्वमेव शक्ततावच्छेदकम्, 'अन्यायश्चानेकशब्दत्वम्' इति न्यायात् । तस्य च धातूत्तरत्वेनोत्तमपुरुषत्वादिना वोपस्थितिः पदार्थस्मारकत्वे तन्त्रम् । एर्णलादावपि लुप्तस्य स्मरणम्[१] । तदभावे शक्तिभ्रमाद्बोध इत्यादि यथायथमूह्यम् । तत्र चाकारहकारयोरवयवयोरदर्शने ऽपि शास्त्रप्रामाण्यात् सूक्ष्मरूपौ तौ स्त इति स्वीकार्यम् । तस्यैव च हार्दकलायोगे दीर्घतापि संपद्यत इति तुरीयस्वरस्य कामकला-रूपत्वं मन्त्ररहस्यविद्भिः प्रतिपाद्यते । तदुक्तं योगिनीहृदये—

'मध्यबिन्दुविसर्गान्तः समास्थानमये परे ।
कुटिलारूपके तस्याः प्रतिरूपं वियत्कले ॥'

इति । मध्यबिन्दुः कामाख्यः, तस्य तुरीयबिन्दुविसर्गमध्यपातित्वात्, समष्टेर्व्यष्टि-मध्य एवान्तर्गतत्वाच्च । विसर्गो व्यष्टिरूपं बिन्दुद्वयम्, तयोरन्तर्मध्ये सम्यक्चैतन्या-त्मनावस्थानम् । तन्मये तत्प्रधाने । परे चरमे ऽकारहकाररूपे ऽक्षरे, मातृकाणां क्रमेण पाठे चरमत्वाद्धकारस्य, व्युत्क्रमेण पाठे त्वकारस्य चरमत्वात् । किं च, इमे अक्षरे कुटिलारूपके । कुटिले अकुलकुले कुण्डलिन्यौ तयो रूपान्तरे । तावता कामविसर्गयोः किमायातमित्यत आह—तस्या इति । तयोः कुण्डलिन्योरित्यर्थः । वियत्पदेन शून्याकारत्वात् कामः प्रतिपाद्यते । कलापदेन च हार्दकलावत्त्वाद्विसर्गः । यतः कामविसर्गयोः कुण्डलिनीप्रतिबिम्बरूपत्वं ततः कुण्डलिन्यभिन्नाकारहकाररूपत्वं संभवतीति भावः; इत्यस्य श्लोकस्य सांप्रदायिकी रहस्यव्यख्या । एवमकार-हकारैकस्वरूपा कामकला । तद्भूते मन्त्रे विजातीयाक्षरवत्त्वान्यथानुपपत्त्यापि तयोर्गर्भे सूक्ष्मरूपेणान्येषां वर्णानामर्थसृष्टेश्चावस्थानं सिध्यति यथा वटबीजरूपसंपुटे पर्णकाष्ठादेः । किं च, वटादिबीजानां स्फोटेनैवाङ्कुराद्युत्पत्तिरिति बीजस्य पूर्वार्धो-त्तरार्धयोर्वियोग इत्यविवादम् । तच्चार्धद्वयं महति वृक्षे कस्मिन् कस्मिन् भागे ऽस्तीति तु दुर्ज्ञेयम् । एवं मन्त्रे ऽपि बीजांशयोरकारहकारयोरवस्थितयोः परिज्ञानाय सङ्केतभाषयोक्तं योगिनीहृदये—

'मध्यप्राणप्रथारूपस्पन्दव्योम्नि स्थिता पुनः ।
मध्यमे मन्त्रपिण्डे तु तृतीये पिण्डके पुनः ॥
राहुकूटाद्वयस्फूर्जत् ....।'

इति । अस्यार्थः—कलाकामयोर्मध्यस्य विसर्गस्य यः प्राणश्चैतन्यं तस्य प्रथा पृथुत्वेन श्रूयमाणता । स्थूलतेति यावत् । तद्रूपं यत् स्पन्दव्योम हकारः, स्पन्दत उत्पद्यत इति स्पन्दः । स्पन्दो व्योम यस्मादिति व्युत्पत्तेः । 'हकाराद्व्योम संभूतम्' इत्युक्तेरिति केचित् । मध्यात्मको विसर्गाभिन्नो यः प्राणो हकारस्तस्य प्रथारूपो यः स्पन्दः । स्थूल-

१. तस्य स्मरणम्

रूपा सृष्टिरित्यर्थः । तद्रूपं व्योम हकार इत्यर्थो युक्तः, 'हः शिवो गगनं प्राणः' इति मातृकाकोशात् । मध्यम इत्यस्य द्विरन्वयः । तत्रैकं पदं मन्त्रपिण्डेन सह सामानाधिकरण्येनान्वेति, अपरं वैयधिकरण्येन । मध्यमकूटस्य मध्यमव्यञ्जने । द्वितीयंहकार इत्यर्थः, द्वितीयगेषु सप्तसु व्यञ्जनेषु तस्य चतुर्थत्वेन मध्यमत्वात् । तत्र स्थिता । स्त्रीलिङ्गाच्छक्तिर्विशेष्या । तृतीयकूटे तु सकारे ऽकारो मूलबीजीय इत्याह— राहुकूटेति । लघुषोढान्यासान्तर्गतग्रहन्यासे राहोः शषसहाख्यवर्णचतुष्टयसहितस्य वक्त्रे न्यासः, 'वक्त्रे शादिचतुर्वर्णैः सहितं राहुमेव च' इति वचनात् । तेन शादिचतुष्कं राहुकूटम् । तत्र द्वयादिभिन्नो ऽद्वयस्तृतीयः सकारः । तस्मिन् स्फूर्जच्छोभमानम् । नपुंसकलिङ्गबलाद् ब्रह्म विशेष्यम् । शिव इत्यर्थः । इत्यलमतिरहस्यार्थप्रकाशनेन ॥ ६७-६८ ॥

* सरोजिनी *

'सप्तभिरक्षरैः'—'पञ्चदशाक्षरी विद्या' जिसमें १५ वर्ण हैं वह अक्षर-पुनरावृत्ति से रहित गिनने पर मात्र ७ वर्णों से ही निर्मित हुए हैं—

(क) पञ्चदशीविद्या के १५ अक्षर—

'क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं' = १५ वर्ण
(५) (६) (४)

(ख) पञ्चदशी विद्या में मात्र ७ अक्षर—

क, ए, ई, ल, ह, स, 'ह्रीं' = ७ वर्ण

(ग) सावृत्तिपूर्ण वर्ण—१३ वर्ण

क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं । में 'क' = ३ बार आया । 'ल' = ३ बार आया । 'ह' = २ बार आया । 'स' = २ बार आया । 'ह्रीं' = ३ बार आया ।

सारांश—(क) ए, ई, = २ वर्णों की पुनरावृत्ति नहीं हुई ।

(ख) १३ वर्णों की पुनरावृत्ति हुई ।

(ग) वैसे तो 'ह्रीं' में 'इ' है अतः उसे भी मान लिया जाय तो 'ई' की पुनरावृत्ति = ४ बार हुई ।

(घ) इस दृष्टि से 'ए' (वाग्भव बीज = सरस्वती बीज) ही ऐसा वर्ण है जो आवृत्ति से पूर्णतया मुक्त है ।

'पञ्चदशी' के इन अक्षरों में वामा, इच्छा आदि ६ शक्तियाँ एवं ईकार सम्मिलित हैं । अतः इन वर्णों में इन शक्तियों का निवास है अर्थात् वर्णाक्षरों के साथ शक्तियों की अभेदात्मकता है ।

'तेन तन्मयी'—मन्त्रों में शक्तियाँ निवास करती हैं । पञ्चदशी मन्त्र के इन ७ अक्षरों में ७ शक्तियाँ निवास करती है ।

'योगिनीहृदय' में भी इसका प्रतिपादन किया गया है—'धर्माधर्मस्य वाच्यस्य विषामृतमयस्य च । वाचकाक्षरसंयुक्तैः कथिता विश्वरूपिणी । तेषां समष्टिरूपेण पराशक्ति तु मातृकाम् । कूटत्रयात्मिकां देवी समष्टिव्यष्टि रूपिणीम् । आद्यां शक्ति भावयन्तो भावार्थ इति मन्वते ॥'—इसकी पुष्टि में कहा गया है—'परदेवता' वामा आदि सात शक्तियों की समष्टि है । यह ३६ तत्त्वों वाली एवं किसी भी माने में इस मन्त्र से भिन्न नहीं है—'षटत्रिंशत्तत्वरूपास्मान्मात्रयापि न भिद्यते ॥'[१] 'भावार्थ' इसी भाव को व्यक्त करता है कि देवी, मन्त्र एवं जगत् में अभेद है—'तेनाम्बामनुजगतामभेद एवात्र भावार्थः ।'[२]

१. परात्परशक्ति सप्तशक्तियों से अभिन्न है । २. वह शक्ति छत्तीस तत्त्वों से भी अभिन्न है । ३. वह पराशक्ति मन्त्र से भी पूर्णतया अभिन्न है ।	त्रिविध अभेद

पराशक्ति का सप्त शक्तियों से ३६ तत्त्वों से एवं मन्त्र से अभेद है ।

तदेतत् सर्वमभिसंधायाह—

अहकारौ शिवशक्ती शून्याकारौ परस्पराश्लिष्टौ ।
स्फुरणप्रकाशरूपावुपनिषदुक्तं परं ब्रह्म ॥ ६९ ॥

विश्वसिसृक्षावशतः स्वार्धी शक्तिं विलोकयद्ब्रह्म ।
बिन्दूभवति तमिन्दुं प्रविशति शक्तिस्तु रक्तबिन्दुतया ॥ ७० ॥

एतत् पिण्डद्वितयं विसर्गसंज्ञं हकारचैतन्यम् ।
मिश्रस्तु तत्समष्टिः कामाख्यो रविरकारचैतन्यम् ॥ ७१ ॥

एषाहंपदतुर्यस्वरकामकलादिशब्दनिर्देश्या ।
वागर्थसृष्टिबीजं तेनाहंतामयं विश्वम् ॥ ७२ ॥

अन्त्यप्रथमे मध्यचतुर्थे मन्त्रेऽपि तौ व्यक्तौ ।
तेनाम्बामनुजगतामभेद एवात्र भावार्थः ॥ ७३ ॥

(अकार एवं हकार की ब्रह्मरूपता)

'अकार' एवं 'हकार' शिवशक्तिस्वरूप, शून्याकार, परस्पर आश्लिष्ट, स्फुरणास्वरूप एवं प्रकाशरूप हैं तथा उपनिषदप्रोक्त परब्रह्म के स्वरूप वाले हैं ॥ ६९ ॥

(सिसृक्षुब्रह्म की सृजन-प्रक्रिया)

विश्व-सर्जन की आकांक्षा के वशीभूत होकर (सिसृक्षु) ब्रह्म अपनी अर्धांगिनी शक्ति का पैंक्षण करता हुआ 'बिन्दु' का स्वरूप धारण कर लेता है । उस बिन्दु में शक्ति 'रक्तबिन्दु' के रूप में प्रवेश करती है ॥ ७० ॥

१-२. वरिवस्यारहस्यम्

('विसर्ग', 'काम' एवं 'रति' का स्वरूप)

हकार की आध्यात्मिक चैतन्य-शक्ति से समन्वित बिन्दुओं का यह मिथुन 'विसर्ग' कहलाता है । उनकी समष्टि से निर्मित (उनका) यह मिश्रण 'कामतत्त्व' नाम से अभिहित किया जाने वाला 'सूय' है और 'अकार' चैतन्य-समन्वित है (यह अकार की आध्यात्मिक चैतन्य-शक्ति से समन्वित है ।) ॥ ७१ ॥

(शाब्दीसृष्टि एवं आर्थी सृष्टि का मूल कारण)

'अहंपद', 'चतुर्थस्वर' एवं 'कामकला' आदि शब्दों से निर्दिशित यह शाब्दी सृष्टि एवं आर्थी सृष्टि का बीज (मूल कारण) है इसलिए निःशेष सृष्टि अहंता—समन्वित है (अहंतामय है ।) ॥ ७२ ॥

('भावार्थ' का स्वरूप)

ये दोनों मन्त्र में ही अन्तिम कूट के प्रथम एवं मध्यकूट के चतुर्थवर्ण के रूप में अभिव्यक्त हैं । इस प्रकार देवी, मन्त्र एवं विश्व की अभेदात्मकता (का प्रतिपादन ही) यहाँ 'भावार्थ' है ।। ७३ ।।

* प्रकाश *

अत्र शिवबिन्दोः शुक्लत्वाच्चन्द्रात्मकत्वाद्बिन्दुवाचकत्वाच्चन्द्रपदाना- मिन्दुपदेन बिन्दुनिर्दैशः कृतः । भावार्थ इति । भावो जन्म । 'भावः सत्तास्वभावाभिप्राय- चेष्टात्मजन्मसु' इत्यमरः । स एवार्थः प्रयोजनं ज्ञेयत्वाद्यत्र सः, अर्थो ज्ञेयो यत्रेति वा । 'अर्थो ऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः ॥ ६९-७३ ॥

* सरोजिनी *

समस्त वर्णमाला में सर्वप्रथम आने वाला सर्वाग्रणी अक्षर 'अ' प्रकाश रूप परमशिव है कलारूप 'ह' 'विमर्श' नाम की सनातनी आद्यशक्ति है—

> 'अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिव ।
> हकारोऽन्त्यकलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः ॥'[१]

'बृहन्नारदीयपुराण' में कहा गया है—

> 'अकारं ब्रह्मणोरूपं उकारं विष्णुरूपवत् ।
> मकारं रुद्ररूपं स्यादर्धमात्रं परात्मकम् ॥'[२]

जो लोहित रङ्ग से प्रकाशमान है एवं दीप्त अनुत्तर धाम है वह अग्नि है । वह प्रमातारूप है । उसका ज्ञान क्रियात्मक शाक्तस्फार है, वह प्रमाण प्रमेयात्मक सूर्य एवं सोम है । वही वीर्य है । इन दोनों अर्थात् लोहित एवं वीर्य शक्तियों के संघट्ट की दशा में जिस शाश्वत उदित तत्त्व का प्रस्फुरण होता है, वही 'अकार'

---

१. संकेत पद्धति
२ बृहन्नारदीयपुराण

एवं 'हकार' से युक्त शिवशक्ति सामरस्य वाला परब्रह्म है । 'अहं' रूप परप्रमाता के परामर्श का ही यह उदय है । उसी की महत्ता से वाच्य वाचक रूप सृष्टि का अवभास होता है । श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—

'अक्षर ही परब्रह्म है । उसका 'स्व' भाव ही अध्यात्म है ।।'[१]

यल्लोहित तदग्निर्यद्वीर्य सूर्येन्दुविग्रहम् ।
अ इति ब्रह्म परमं तत्संघट्टोदयात्मकम् ।। २२७ ।।[२]

'अकार' एवं 'हकार' एकत्र अवस्थित हैं । इसमें विभाजन नहीं होता । जैसे वायु एवं आकाश' यह 'अ' रूप शिव (पर प्रमाता) ५० वर्णों में भी व्याप्त है । यह अनुत्तरकर्ता है ।

"अकारश्च हकारश्च द्वावेतावेकतः स्थितौ ।
विभक्ति र्नानयोरस्ति मारुताम्बरयोरिव ।।"[३]

यह अनुत्तर परमेश्वर का ही शाक्त विसर्ग है जो कि 'हकार' पर्यन्त स्थूल रूप से प्रस्फुरित है । वहाँ से इसके प्रत्यावर्तन की स्थिति में शिव, बिन्दु रूप से, विभाग रहित पर प्रकाश रूप से प्रस्फुरित है । पर प्रकाश रूप पर प्रमाता में तादात्म्यभाव से अवस्थित है । समस्त वाच्यवाचक रूप विश्व को अपने रहस्यान्तराल में रखते हुए उल्लसित रहता है । इसीलिए इसे निर्विभाग परम् प्रकाश स्वभाव शिव बिन्दु मानते हैं । उस समय इसका पूर्ण रूप 'अहं' हो जाता है । स्वात्मविश्रान्ति का यह एक मात्र स्थान है 'परमन्त्र वीर्यस्वभाव अकार हकारात्मपरामर्शरूपो भवेत'[४]

१. अनुत्तर एवं विसर्गरूप शिव एवं शक्ति के अद्वय सामरस्य की चरम अवस्था में 'यह शिव है'—'यह शक्ति है'—इस प्रकार का कोई पृथक् परामर्श नहीं होता ।। क्योंकि पर प्रकाशरूप विभु शाश्वत भाव से अनुत्तर भाव में ही उल्लसित रहता है किसी सापेक्ष सत्ता का वहाँ अस्तित्व नहीं होता ।'

२. 'वही प्रकाश की स्वात्मविश्रान्ति है । वही अहंभाव है । 'प्रकाशस्यात्म विश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ।।''[५]

'एकोऽहं बहुस्याम्' (श्रुति) के 'एकोऽहं' में शिव और शक्ति का विभाग तो नहीं है क्योंकि वहाँ मात्र 'एकोऽहं' की सत्ता है किन्तु—

१. **'सदाशिवतत्त्व में—'अहमिदं'** : अहं का प्राधान्य, इदं की गौणता
२. **ईश्वरतत्त्व में—**'इदमहं' : इदं का प्राधान्य अहं की गौणता 'एकोऽहं'—'अहमिदं'—'इदमहं'

(क) 'अहमिदं' में इच्छाशक्ति का प्राधान्य
(ख) 'इदमहं' में ज्ञानशक्ति का प्राधान्य

१-५. तन्त्रालोक (आचार्य जयरथ—'विवेक')

'ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः ।। (ई०प्रत्य०) 'ईश्वर' = बहिरुन्मेष। 'सदाशिव' = अन्तः निमेष ।

३. **'शुद्धविद्या या सद्विद्या तत्त्व' में**—'अहम्' एवं 'इदम्' इन दोनों रूपों में ऐक्य की प्रतीति रहती है । 'मै = यह हूँ'' यही भावना शुद्धविद्या में जागृत रहती है । इसमें क्रियाशक्ति को प्राधान्य है ।

४. **'मायातत्त्व'**—इस भूमि पूर्वभूमि की ऐक्य प्रतीति पृथक्-पृथक् हो जाती है । 'अहं' अहं पुरुष रूप में एवं 'इदम्' अंश प्रकृति के रूप में अभिव्यक्त हो जाता है । यहाँ 'अचित' में प्रमातृत्व का आभास होने लगता है । इस भूमि में परमेश्वर माया शक्ति द्वारा अपने रूप को आच्छादित कर लेते हैं और पुरुष तत्त्व के रूप में पृथक हो जाते हैं । परमशिव सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, पूर्ण, नित्य, व्यापक एवं असंकुचित शक्ति वाला होकर भी स्वेच्छावश 'कला' 'विद्या' 'राग' 'काल' एवं 'नियति' रूप ५ कञ्चुकों से आवेष्टित होकर अभिवयक्त होता है इन्हीं पाँचों से आच्छादित होकर यह चैतन्य 'पुरुषतत्त्व' बन जाता है ।

शङ्कराचार्य के कथनानुसार "अहं (अस्मत् प्रत्यय) प्रत्यक् चैतन्य है ।।"

"अहं" = अ = शिव ।। "ह" = शक्ति ।।

'अहं' = अ से लेकर क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग एवं य, व, र, ल, श, ष, स, ह—पर्यन्त अर्थात् अशब्दादि एवं हकारान्त सम्पूर्ण वर्णमाला एवं उसके समस्त वर्ण 'अहं' के वाच्य हैं । पाणिनि सूत्र 'आदिरन्त्येन सहेता ।। २।२।७२' भी आदि (अ) अन्त्य (ह) की अभेदात्मकता एवं सर्वव्यापकता की ओर इंगित करता है ।

१. क म वर्ग की उत्पत्ति—'अकार' से ही होती है । हकार एवं विसर्ग भी अ से ही उत्पन्न होते हैं—'कवर्गस्य च अकाराज्जन्म द्योतयितुं उक्तम् 'अकुह विसर्जनीयानां कण्ठः'' इत्यादिनीत्या क वर्ग—हकार—विसर्जनीयानामकाराद- वोत्पत्तिः ।।''[१] हकारात्मिका इस कला से ही सारे वर्ण समुदाय का आविर्भाव होता हैं—'हकारात्मा वैसर्गिकी कला जाता, निखिलमेव वर्णजातमुदिम्''[२]

समस्त प्रपञ्च को प्रत्याहृत करके पर प्रमाता एवं मन्त्र वीर्यात्मा अहं परामर्श सर्वत्र उल्लसित है कहा भी गया है—प्रकाश की आत्मविश्रान्ति ही 'अहं' भाव है—'प्रत्याहृताशेषविश्वः प्रमात्रेकरूपः परमन्त्रवीर्यात्मा अयमहंपरामर्शः—

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ।। (अजड प०) गुरु कौन है? 'अहंपरामर्श रहस्यविज्ञः गुरुः ।। आदिम अनुत्तर वर्ण (अ) एवं अन्त्य वर्ण 'ह'— दोनों अहं परामर्शात्मक हैं । इन दोनों से रहित एवं इनकी रहस्यात्मकता के न होने पर कोई भी मन्त्र साधक के लिए व्यर्थ हो जाता है यथा शरद का बादल 'आदिमान्त्यविहीन नास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत् ।।'[३] ऐसे मन्त्र जो अहं परामर्श

१-३. तन्त्रालोक—'विवेक'

रहित हैं या मूल कारण ज्ञान शून्य हैं साधक के लिए सिद्धिप्रद नहीं होते। 'आदिमान्त्यविहीनानि मन्त्राणि च तथैव च। निष्फलानि भवन्त्येवं पिवतो मृगतृष्टिकाम् ॥

कोई पुरुष सन्तानेच्छावश अपनी उत्पादन शक्ति (अपने शरीर के अर्धभाग रूपा भार्या) में स्वयं अपने बिन्दु (शुक्र) के द्वारा प्रवेश कर जाता है—('शुक्ल बिन्दु' के माध्यम से प्रवष्टि हो जाता है)[१]—'शुक्लबिन्दु' एवं पुरुष में तत्त्वतः कोई भेद नहीं रहता अतः पति ही पत्नी द्वारा पुत्र बनकर जन्म लेता है उसके बाद उस शुक्लविन्दु के भीतर भार्या का 'शोणितबिन्दु' भी प्रविष्ट हो जाता है। इससे दोनों मिलकर बिन्दु फूल उठता है। यह 'वटोदुम्बरादिबीजस्थानीय' होता है। उसके बाद बीज से निकलने वाले अंकुर की भाँति कालान्तर में सन्तानोत्पत्ति हो जाती है। यह उसी प्रकार है यथा सूर्याभिमुख दर्पण के भीतर प्रविष्ट किरणों से एवं बाह्यकिरणों के सङ्कलन से कुडय आदि में तेजो बिन्दु उत्पन्न हो उठता है।[२] इसी प्रकार प्राणी अपने अदृष्ट (अपूर्व) के कारण स्वान्तः संहत विश्वसिसृक्षा के द्वारा प्रकाश रूप ब्रह्म अपनी शक्ति का दर्शन करने के लिए उसकी ओर स्थित होकर अन्तस्तेजोरूप द्वारा उसके भीतर 'शुक्लबिन्दु' की भाँति प्रवेश करता है। उस शुक्लबिन्दु में रक्तरूपा शक्ति प्रवेश करती है।[३] इसके द्वारा 'संमिश्रबिन्दु' फूल उठता है। वहाँ 'हार्दकला' रूप एक पदार्थ जन्म लेता है। (उसे केवल गुरु मात्र के द्वारा जानना चाहिए। उसे पुस्तक में लिखना अनुचित है।) वह बिन्दु समष्टिरूप से एक ही है।[४] इसे ही 'शिवशक्तिसामरस्य' 'रवि अग्नीषोत्मात्मक काम' आदि शब्दों द्वारा वर्णित किया गया है। व्यष्टि रूप से यह दो रूप से है। 'शुक्लबिन्दु' या इन्दु एवं 'रक्तबिन्दु' या अग्नि ॥ बिन्दुद्वयात्मक होने से इसे 'विसर्ग' कहा गया है।[५] इसके बाद समष्टिबिन्दु, रविरूपता, हार्दकला, कामकला का विकास किस प्रकार होता है?—इसके विषय में भास्कर कहते हैं—'अतएव च रवे रात्रांवग्नावमावास्यायां चन्द्रे च प्रवेशस्य श्रुत्यादि सिद्धत्वात् समष्टिबिन्दो रवित्वम्। एवं च कामाख्यो बिन्दुर्विसर्गों हार्दकला चेति व्यवयवक एकः पदार्थोऽणदि प्रत्याहारवत कामकलेत्युच्यते। इदमेव च समस्त सृष्टि बीजम् ॥" तत्त्वातीतावस्था अनुत्तर अवस्था का वाचक है 'अ'। इसके बाद आती है—अकार (प्रकाश) हकार (विमर्श) या अ एवं ह के साम्यभाव की अवस्था। अग्नि के साथ सोम का साम्यभाव ही 'काम' या 'रवि' है यही अग्नीषोमात्मक बिन्दु है। शिव ही 'अ' है शक्ति ही 'ह' है अतः अहं ही पूर्णाहन्ता—(शिव का स्वरूप-ज्ञान, अपनी शक्ति को देखकर शिव को प्राप्त अपने स्वरूप की प्राप्ति, आत्मशक्ति का दर्शन, पूर्णोऽहं का बोध) है।[६]

'सेतुबन्ध' में आचार्य भास्कर कहते हैं कि—

१. 'यथा लोके स्त्रीपुंसयोः सामरस्यदशायां यदा ब्रह्मरंध्रस्थितः शुक्लबिन्दुः काममन्दिरं प्रविष्टः शोण बिन्दुनैकीभवति तदैव बाह्याभ्यन्तर भानविहीनमानन्द

१. 'पतिमेकादशकृधि, आत्मा वै पुत्रनामासि'
२-६. भास्करराय—'प्रकाश'

मात्रावशेषं ब्रह्मैव भासत ॥'[१]

२. श्रुतियों में भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा गया है—'यथा प्रियया संपरिष्वक्तोन बाह्यं किञ्चन वेदनान्तरम्''[२]

३. दो ब्रह्मरन्ध्रस्थितो बिन्दुः स निःशेषेण न कामालयं प्रविशति किन्त्वंशेन । बिन्दुः तुरीय बिन्दुः ॥ तदंशो मन्दिरस्थितस्तु कामाख्यो बिन्दुः कामेश्वरः ॥[३]

४. कामबिन्दोः शोणबिन्दुना सहपरस्परानुप्रविष्टत्वे बिन्दुद्वयं विसर्गो हकारो विमर्शः ॥ हकार रूपा शक्तिरेव च कला "हकारोऽन्यः कलारूपः ॥ सेयं 'कामकला' भवति ॥[४]

५. मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो ।
हरार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम् ॥

मुख बिन्दुः कामबिन्दुः ॥ कुचयुगं = विमर्शबिन्दु द्वयम् ॥ हकारः विमर्शः ॥[५]

६. पति का पत्नी के साथ संभोग करने से उसका जो शुक्ल बिन्दु पत्नी के अन्दर प्रवेश करता है पति उसके माध्यम से स्वयं पत्नी के गर्भ में प्रवेश करता है। 'आत्मा वै पुत्रनामासि'' ॥ (श्रुति)

७. 'शुक्लबिन्दु' में भार्या का शोणित बिन्दु प्रवेश करता है अतः— 'शुक्लस्यान्तः शोणितबिन्दुरूपेण भार्या प्रविशति'' 'यथा हि कश्चित पुरुषः .... स्त्रीयामुत्पादनशक्तिमालोक्य स्वार्धशरीरात्मकायां भार्यायां स्वयमन्तः प्रविशति शुक्लरूपेण ॥''

सारांश—१. पुरुष का अपने श्वेत वीर्य द्वारा पत्नी के गर्भ में प्रविष्ट होना ।

२. पत्नी का, अपने गर्भ में पतित पति के शुक्लबिन्दु में अपने लाल रङ्ग के रज के प्रवेश द्वारा—मानो स्वयं प्रवेश कर जाना ॥ 'बिन्दुं रक्तरूपा शक्तिः प्रविशति ॥ तेन संभिश्र बिन्दुरुच्छूनो भवति ॥

'कामकलाविलास' में कहा गया है—

'सितशोणबिन्दुयुगलं विविक्तशिवशक्तिसंकुचत्प्रसरम् ।
वागर्थसृष्टि हेतुः परस्परानुप्रविष्टः विस्पष्टम् ॥

बिन्दुरहङ्कारात्मा रविरेतन्मिथुनसमरसाकारः ।
कामः कमनीयतया कलाश्च दहनेन्दुविग्रहौ बिन्दू ॥[६]

नटनानन्दनाथ कहते हैं—'शब्दोत्पादकोऽनुन्त राक्षराभिधेयः परमेश्वरः स्वात्मभूताखिलप्रपञ्च निलयात्मक विमर्शशक्तिमनुप्रविश्य बिन्दुभाव मयते ॥ ततः सा विमर्श शक्तिरपि स्वान्तर्गत प्रकाशमय बिन्दु मनुप्रविशति ॥ ततश्च बिनदुरुच्छूनो भवति ।[७]

१-५. सेतुबन्ध

६. कामकलाविलास

७. चिद्वल्ली—नटनानन्दनाथ

स्फुरत्तात्मक लहरी से युक्त, पारमार्थिक प्रकाश रूप उस अहमात्मक बिन्दु से, इच्छा, ज्ञान एवं क्रियास्वरूप मातृत्रयात्मक अनन्त सृष्टि उद्भूत हुई है। यथा सूर्याभिमुख दर्पण में अन्तःप्रविष्ट किरणों द्वारा दोनों ओर से प्राप्त किरणों के सम्मेलन से, भित्ति परतेजोबिन्दुविशेष प्रादुर्भूत होता है उसी प्रकार प्राणियों के अदृष्टवश अपने में उपसंहृत विश्व की रचना की इच्छा से प्रकाशरूप ब्रह्म, अपनी शक्ति को देखने के लिए अभिमुख होकर उसके अन्तराल में तेजरूप से प्रविष्ट होकर शुक्लबिन्दु का रूप ग्रहण करता है। फिर उस बिन्दु में रक्तरूपा शक्ति प्रविष्ट होती है जिससे कि संमिश्रित बिन्दु यत्किंचित अभिवृद्धि करता है। वही 'हार्धकला' रूप पदार्थ विशेष के रूप में परिचित होता है। वह बिन्दु, समष्टि रूप से एक एवं स्फुट शिवशक्तिसामरस्य नामक अग्नीषोमात्मक 'काम' 'रवि' आदि कहा जाता है। व्यष्टि रूप में वे दो रहते हैं। 'शुक्लबिन्दु' चन्द्रमा एवं रक्त बिन्दु अग्नि है। इस बिन्दुद्वय को विसर्ग भी कहते हैं। सूर्य रात्रि को अग्नि में तथा अमावस्या को चन्द्र में प्रवेश करता है। समष्टि बिन्दु की इसीलिए 'रवि' आख्या है।

१. 'काम' नामक बिन्दु २. 'विसर्ग' ३. 'हार्धकला'—इन तीन अवयवों से युक्त एक अखण्ड पदार्थ अण आदि प्रत्याहार के सदृश 'कामकला' कहा जाता है। यही सम्पूर्ण सृष्टि का बीज है। 'कामकला' तुरीय (चतुर्थ) बिन्दु मूलभूत ब्रह्म है। चतुर्थ बिन्दुरूप एवं शून्यस्वरूप अकार एवं हकार से उत्पन्न 'कामकला' अहं कही जाती है। 'अहं' पद का अर्थ है—अकार हकारोभयात्मकता एवं शिवशक्तिद्वय-रूपता। 'अहं' = अखिल सृष्टि का वाचक है। विश्वात्मारूप प्रकाश ही 'अहं' है।

'कामकला' में पहले तुरीय बिन्दु, उसके नीचे 'काम' नामक 'बिन्दु' उसके नीचे विसर्गाख्य बिन्दुद्वय एवं उसके नीचे 'हार्धकला' स्थित है। तुरीय एवं विसर्ग के मध्य चैतन्यरूप से अकार एवं हकार स्थित हैं। ये 'अ' एवं 'ह' वैखरी रूप से नहीं प्रत्युत् पर एवं परा मातृकारूप शून्याकार सदृश स्थित हैं। ये अ + ह कुटिलात्मक हैं। सृष्टि की माता वक्रा वामा शक्ति कुटिला है। काम + विसर्ग या अकार + हकार कुण्डलिनी के प्रतिबिम्ब हैं। अकार + हकार कुण्डलिनी से अभिन्न हैं। पर ब्रह्म के दो रूप हैं—१. अर्थ २. शब्द अ + ह = शिवशक्ति; अकुल + कुण्डलिनी॥

अहन्तामय त्रिबिन्दु तत्त्वस्वरूप वर्णात्मा 'कामकला' त्रिगुणात्मक त्रिकोणरूप में परिणत हो जाती हैं और जगन्माता बनती हैं। १. शुक्ल २. रक्त ३. मिश्र बिन्दु (बिन्दुत्रय) सिंघाड़े के आकार का त्रिकोण है।

> बिन्दुत्रयात्मकं स्वात्म शृङ्गारं विद्धि सुन्दरम्।
> मिश्रं शुक्लं च रक्तं च पुराणंप्रणवात्मकम्॥[१]

'विसर्ग'—विसर्ग शब्द अनेकार्थक है। योग के अनुसार 'महानाद' के ऊपर

१. कामकलाविलास

शंखिनी नाड़ी के शिखर प्रदेश में 'विसर्ग' नामक शक्ति है—उसी के नीचे सहस्त्रदल कमल है—

'तदूर्ध्वे शंखिन्या निवसति शिखरे शून्यदेशे प्रकाशं ।
विसर्गाधः पद्मं दशशतदलं पूर्णचन्द्रातिशुभ्रम् ॥'

शंखिनी नाड़ी का शिखर प्रदेश ही 'शून्यस्थान' है । यही स्थान सुषुम्णा का भी ऊर्ध्व देश है । इसी शून्य प्रदेश में सहस्त्रार भी स्थित है । इस शून्य प्रदेश के ऊपर 'विसर्ग' नामक शक्ति का अवस्थान है । सहस्त्रदलकमल विसर्ग के नीचे है ।[१]

इस श्लोक में कहा गया है कि हकार चैतन्य से समन्वित बिन्दुओं का मिथुन 'विसर्ग' कहा जाता है । इन सभी की मिश्रित समष्टि 'रवि' है । इसी 'रवि' को 'काम' भी कहते हैं । 'अकार' चैतन्ययुक्त है । 'अकार' एवं 'हकार' शिव-शक्ति है । हः शिवो गगनं प्राणः ॥ (मातृकाकोश) 'ह'—ह—व्योम । 'हकाराद् व्योम सम्भूतम् ॥

अकार एवं हकार का स्वरूप—'अहमित्येकमद्वैतं यत्प्रकाशात्मविभ्रमः । अकारः सर्ववर्णाग्रयः प्रकाशः परमः शिवः । हकारोऽन्त्यः कालरूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः । अनयोः सामरस्यं यत् परस्मिन्नहमि स्फुटम् ॥ गीता में भी कहा गया है—'अक्षराणामकरोऽस्मि ॥[२]

'अहं' का अर्थ—१. 'मैं' = अस्मत् प्रत्यय । जीव, शिव ॥ २. 'अ' से 'ह' पर्यन्त समस्त वर्ण माला ॥ ३. 'अ' माने शिव 'ह' माने शक्ति = अर्थात् शिवशक्त्यात्मक निःशेष सत्ता ॥ ४. 'अकारहकारोभयात्मकत्वं शिव शक्तिद्वयरूपत्वं चाहं पदस्य निष्कृष्टो अर्थः ॥'' 'अहं' का वाच्य क्या है? 'तज्जन्यानां सूक्ष्मादि-स्थूलान्तानामखिल सृष्टीनांमहं पदवाच्यत्वम् ॥[३] अर्थात् अहं पद से उत्पन्न समस्त स्थूल-सूक्ष्म सृष्टि 'अहं' का वाच्य है । 'आदिमो अकारः अन्त्यो हकारः तयोः समाहारः अहम् ॥ अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतो ऽहमुत्तरतोऽहमेवं सर्वम् ॥'[४]

अकारहकारस्वभावा ही कामकला भी है—'एवमकार हकारैकस्वरूपा कामकला ॥'[५]

चन्द्ररूप 'शुक्लबिन्दु' एवं अग्निरूप 'रक्तबिन्दु'—अर्थात् बिन्दुद्वय—को 'विसर्ग' भी कहते हैं । १. कामबिन्दु २. विसर्ग ३. हार्धकला—से युक्त अखण्ड पदार्थ 'कामकला' कहलाता है । अकार एवं हकार से उत्पन्न 'कामकला' अहंपद का वाच्य है ।

योगशास्त्र में कहा गया है कि शंखिनी नाड़ी के शिखर प्रदेश अर्थात् 'शून्यस्थान' (सुषुम्णा का ऊर्ध्व देश) में स्थित सहस्त्रार के ऊर्ध्व देश में 'विसर्ग'

---

१. षट्चक्रनिरूपण
२-३. भास्करराय—'प्रकाश'
४. छान्दोग्य
५. भास्करराय—'प्रकाश'

नामक शक्ति है । इसी 'विसर्ग' के नीचे १००० दलों वाला कमल है—

'विसर्गाधः पद्मं दशशतदलं पूर्णचन्द्रातिशुभ्रम्'[१] ब्रह्मरंध्र का ऊर्ध्वदेश ही 'विसर्ग' है ।[२]

'अहं' एवं 'कामकला'—'अहं' 'सङ्केतपद्धति' में 'अहं' की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

> अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः ।
> हकारोऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तित ॥

अहं का स्वरूप—

> 'अहमित्येकमद्वैतं यत्प्रकाशात्मविभ्रमः ।
> अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परम शिवः ॥
>
> हकारोऽन्त्यः कालरूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः ।
> अनयोः सामरस्यं यत् परस्मिन्नहमि स्फुटम् ॥'

श्रीकृष्ण ने अपने को अक्षरों में अकार कहा है—'अक्षराणामकारोऽस्मि'

'कामकला'—भास्करराय कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्याभिमुख दर्पण में उसके भीतर प्रविष्ट किरणों से दो किरणों के सङ्कलन रूप 'तेजोबिन्दु' विशेष कुडयादि में प्रादुर्भूत हो जाता है उसी प्रकार प्राणी अदृष्ट के कारण स्वान्तःसंहृत विश्व की सिसृक्षा द्वारा प्रकाशरूप ब्रह्म अपनी स्वयं की शक्ति को देखने के लिए उसके अभिमुख होकर तदन्तस्तेज रूप में प्रवेश करके शुक्लबिन्दु भाव प्राप्त करता है और उसके अनन्तर उस बिन्दु में रक्तरूपा शक्ति प्रवेश करती है । उससे 'संमिश्रबिन्दु' उच्छून (फूला हुआ) हो जाता है । वहाँ 'हार्दकला' के रूप में एक पदार्थ विशेष उत्पन्न हो जाता है । वह गुरुमुखमात्रैक अवगन्तव्य है । वह बिन्दु समष्टिरूप से एक है—स्फुट है और शिव शक्ति सामरस्य रूप 'काम'-'रवि'—'अग्निषोमात्मक रवि' कहा जाता है । व्यष्टि रूप में वह दो है । एक रूप है शुक्ल इन्दु । दूसरा है—रक्त बिन्दु या अग्नि । "बिन्दु" द्वयात्मक होने के कारण 'विसर्ग' कहा जाता है । समष्टि बिन्दु रवि है क्योंकि श्रुतियों में कहा गया है कि—"रवे रात्रावग्नावमावास्यायां चन्द्रे च प्रवेशस्य" । इस प्रकार १. काम नामक बिन्दु २. विसर्ग ३. हार्दकला—इन तीन अवयवों से 'कामकला' का आविर्भाव होता है । यही है 'समस्त सृष्टि बीज' कहलाता है । ('कामकला' = 'समस्त सृष्टि बीज') ॥ 'अकार हकारयोर्मध्ये सर्ववर्णपाठः' 'अहं'—अ से 'ह' तक की समस्त वर्णमाला ॥ एतन्मूल ब्रह्म—'तुरीयबिन्दु' कहलाता है ।[३]

'कामकला' एवं 'अहं' में सम्बंध—'तद्रूपाभ्यां शून्य स्वरूपाभ्यामकार

---

१. षट्चक्रनिरूपण (पूर्णानन्दयति)
२. सर्पेण्टपावर—सर जॉनवुडरफ
३. वरिवस्यारहस्यम्—'प्रकाश'

हकाराभ्यामुत्पन्ना 'कामकला' व्यक्ताव्यक्तविलक्षणा 'अहं' पद वाच्या । अकार हकारो-भयात्मकत्वं शिव शक्तिद्वयरूपत्व चाहंपदस्य निष्कृष्टोऽर्थः । अतएव तज्जन्यानां सूक्ष्मादिस्थूलान्तानामखिलसृष्टीनामहंपद वाच्यत्वम् ।। वेदों में कहा गया है—'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' तदात्मानमेवादहं ब्रह्मास्मीति'' । 'बृहदारण्यकोपनिषद' में कहा गया है—'त्वं वा अहमहं वै त्वम्'' (ऐतरेयो०) ''कस्त्वमित्यहमिति होवाच त्वमेवेदं सर्वं तस्मादहमिति सर्वाभिधानम् ।। (तापनीयोपनिषद) ।। 'तद्वा एतदद्ब्रह्माद्वयम् ।।—इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्मस्वरूप की व्याख्या करके उसकी उपासना पूर्णाहंभावभावनारूप है—''हंसः सोऽहं'' है । 'अहं' क्या है?

'आदिमोऽकारः, अन्त्यो हकारः, तयोः समाहारः 'अहम्' ।

'स्वपरावभासनक्षमे आत्माविश्वस्य यः प्रकाशोऽसौ ।
अहमिति स एक उक्तोऽहंतास्थितिरीदृशी तस्य ।।''

'कामकला' अकार हकारस्वभावा है—''एवमकारहकारैक स्वरूपा कामकला'' मध्यबिन्दु काम है—''मध्यबिन्दुः कामाख्यः ।'' 'अकार' = शिव । 'हकार' = शक्ति ।। 'मन्मथकला' का स्वरूप निम्नानुसार है—'मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो । हरार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम् ।।' मुखबिन्दु ही कामबिन्दु है ।

'कामकलाविलास' में 'कामकला' का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया गया है—सितशोणबिन्दुयुगलं विविक्तशिवशक्ति संकुचत्प्रसरम् । वागर्थसृष्टि हेतुः परस्परानु-प्रविष्ट विस्पष्टम् । बिन्दुरहङ्कारात्मा रविरेतन्मिथुनसमरसाकारः । कामः कमनीयतया कला च दहेनेन्दुविग्रहौ बिन्दू । इति कामकला विद्या देवी चक्रमात्मिका सेयम् । विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुरसुन्दरीरूपा ।।'' अमृतानन्दनाथ कहते हैं—''बिन्दोः प्रस्पन्द संविदः बिन्दुरग्नीषोमात्मकः कामाख्यो रविः शिव शक्तिसामरस्यवाच्यात्मा जातः ।।[१] हकाररूपा शक्ति ही 'कला' है 'हकारोऽन्त्यः कलारूपः ।।' (सङ्केतपद्धति) ।। 'सेयं कामकला भवति ।।'' समष्टिरूपकामकला में ईकार की शक्ति हैं । ईकार का नाम भी 'कामकला' है—'समष्टिरूप कामकलायामी-कारस्य शक्तिः । ईकारस्य कामकलेत्यत एव नाम'

जिस बिन्दु से त्रिकोण उत्पन्न हुआ है वही 'कामकला' है—''यस्माद बिन्दोस्त्रिकोणमुत्पन्नं स कामकला'[२] 'अकार' सम्पूर्ण वाणियों का अग्रगामी एवं प्रकाशात्मक 'परमशिव' है 'हकार' चरमवर्ण रूप विमर्श तत्त्व है । इन दोनों का सामरस्य ही पराहन्ता है—

''अहमित्येकमद्वैतं यत्प्रकाशात्मविभ्रमः ।
अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः ।।
हकारोऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः ।
अनयोः सामरस्यं यत्परस्मिन्नहयि स्फुटम् ।।''[३]

---

१. योगिनीहृदयदीपिका—अमृतानन्दनाथ ३. वरिवस्यारहस्यम्—'प्रकाश'

'अहं' एक अद्वैत तत्त्व है और अ एवं ह का सामरस्य ही 'पराहन्ता' है। सर्वोच्च 'अहं' का यही स्वरूप है।

'अक्षरार्थो हि भावार्थः केवलः परमेश्वरि ॥'[१] पञ्चदशी के अवयवभूत मन्त्राक्षरों का अर्थ ही भावार्थ है—

श्रीसौभाग्यविद्याऽवयवपञ्चदशाक्षराणामर्थो भावार्थः ॥[२]

भास्करराय इसकी व्याख्या करते हुए 'सेतुबंध' में कहते है--'यः केवलस्तात्पर्यादिनाऽनवगतोऽक्षराणां वृत्यैव लभ्योऽक्षरार्थोऽक्षरस्वभावलभ्यत्वात् स भावार्थः ॥''[३]

भास्करराय की दृष्टि में—१. भगवती एवं मन्त्र २. तथा भगवती एवं जगत् में अभेद का प्रतिपादन ही 'भावार्थ' है।

अथ संप्रदायार्थमाह—

व्योमादिजनकहकरसलार्णैर्घटनेन पञ्चभूतमयी।
पञ्चतुस्त्रिद्व्येकगशब्दादिगुणात्मपञ्चदशवर्णा ॥ ७४ ॥

(ह क र स ल—वर्ण तथा इनका पञ्चभूतों से सम्बंध एवं संप्रदायार्थ)

(यह विद्या) आकाशादिक पञ्चभूतों के स्रष्टा 'ह क र स ल' वर्णों से संसृष्ट होने के कारण पञ्चभूतात्मिका है। इसके पंद्रह अक्षर पञ्चतत्त्वों के गुणों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध—के वाचक हैं जो कि (पञ्चतत्त्वों में क्रमशः) पाँच, चार, तीन, दो एवं एक की संख्या में विद्यमान हैं ॥ ७४ ॥

*** प्रकाश ***

व्योमाकाशः। आदिना वायूवग्निजलभूमिपरिग्रहः। एतत्पञ्चकस्य जनका ये हकरसलार्णा हकारादिवर्णास्तैर्घटनेनेयं विद्या पञ्चभूतमयी पञ्चभूताभिन्ना। उक्तं च—

'हकाराद् व्योम संभूतं ककारात्तु प्रभञ्जनः।
रेफादग्निः सकराच्च जलतत्त्वस्य संभवः।
लकारात् पृथिवी जाता तस्माद्विश्वमयी च सा ॥'

इति। अत्र यद्यपि प्रकाशविमर्शसामरस्यात्मकवस्तुविशेषस्यैव शब्दार्थसृष्टिजनकत्वमविशिष्टं थापि प्रकाशांशस्यैवार्थसृष्टौ विमर्शांशस्यैव शब्दसृष्टौ जनकत्वम्, तयोः परस्परसापेक्षत्वेनैव स्वस्वकार्यजनकत्वस्य श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वात्, एकस्य स्वकार्यजनकत्वेऽपरस्य तत्कारणतावच्छेदकत्वमावश्यिकम्। एवं च कारणतावच्छेदककारणतयोर्विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेण द्वयोरपि प्रातिस्विककारणत्वसिद्धिः तदभिप्रायेणैव हि तन्त्रेष्वन्यतरस्यैव कारणताबोधकानि वचनानीति ज्ञेयम्। भगवता व्यासेनापि 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' इति सूत्रे जगतः

१-२. योगिनीहृदयदीपिका—अमृतानन्दनाथ ३. सेतुबन्ध

शब्दात् प्रभवः श्रुतिस्मृतिभ्यां सिद्ध इत्युक्तम्; तद्भाष्ये च निपुणतरमुपपादितम् । एवं च, प्रथमं विमर्शशक्तेर्हकार उत्पन्नस्ततः प्रकाशाद्व्योम; ततो विमर्शात् ककारस्ततः प्रकाशाद्वायुः; ततो विमर्शाद्रेफस्ततः प्रकाशादग्निः; ततो विमर्शात् सकारस्ततः प्रकाशाज्जलम्; ततो विमर्शाल्लकारस्ततः प्रकाशात् पृथिवी; इत्येवं क्रमेण पञ्चमहाभूतोत्पत्तौ सत्यामपि हकारवद्विमर्शविशिष्टप्रकाशस्यैव व्योम प्रति कारणत्वा-दुक्तरीत्या कारणतावच्छेदकत्वस्य हकारे सिद्धेर्विनिगमनाविरहात् कारणत्वमपि सिध्यति । एवमेव ककारादिषु द्रष्टव्यम् । न चैवं हकारादेर्वाय्वादिकं प्रत्यपि कारणत्वापत्तिः, उक्तरीत्या परंपरया कारणतायामवच्छेदकत्वात्, एवं व्योमादेरपि ककारादिकं प्रति जनकत्वापत्तिरिति न च वाच्यम्; तेषामन्यथासिद्धत्वादिष्टत्वाद्वा । ननु विद्यायां पञ्चभूतात्मकवर्णपञ्चकमेवास्तु किमधिकैर्वर्णैरित्यत आह—पञ्चेति । आकाशः पञ्चविधः, वायुश्चतुर्विधः, अग्निस्त्रिभागः, जलं द्विभागम्, पृथिव्येकविधेति पञ्चीकरणवार्त्तिकादौ स्पष्टम् । पञ्चादिसंख्याकानामाकाशादीनां गुणाः शब्दादयो ऽपि तादृशसंख्याकाः । तेन व्योमादिषु पञ्चसु पञ्च शब्दाः, वाय्वादिषु चतुर्षु चत्वारः स्पर्शाः, अग्न्यादिषु त्रिषु त्रीणि रूपाणि, जलभूम्योर्द्वौ रसौ, पृथिव्यामेको गन्ध इत्येवं संहत्य पञ्चदश गुणा विद्यास्थैः पन्दशभिर्वर्णैरभिन्ना इति पञ्चदशानां वर्णानामुपपत्तिरिति भावः । अथ पञ्चदशभिर्गुणैः पञ्चदशानां वर्णानामभेद उपादानोपादेयभावाद्वाच्य-वाचकभावाद्धर्मधर्मिभावाद्वा वाच्यः । स च न संभवति । तथा हि—अत्र हि पञ्चदशसंख्याकत्वमचां प्राधान्येन व्यञ्जनानां तद्भक्तत्वेन चोपपादनीयम्; 'एष वै सप्तदशः प्रजापतिः' इति वेदे, 'चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च' इति पाणिनीयसूत्रवार्त्तिके, 'चतुःशतमुत्कृतिः' इत्यादिच्छन्दःसूत्रेषु च तथैव निर्णीतत्वादित्यस्यार्थस्य छन्दोभास्करे ऽस्माभिः सविस्तरमुपपादनात् । न ह्यत्रत्यानां पञ्चदशानामचां गुणजनकत्वं गुणवाचकत्वं गुणाश्रयत्वं वा संभवति, मानाभावात् । ननु—हकारपञ्चकस्य व्योमपञ्चकजनकत्वेन तद्वाचकत्वेन चाभेदे सिद्धे तद्गुणैः शब्दैरपि सहाभेदः सिद्धप्राय एव, गुणगुणिनोरभेदेन गुणस्य गुण्यभिन्नाभिन्नत्वस्यन्यायसिद्धत्वात् । यथैव वाच्य-वाचकभावस्याभेदे नियामकता तथैव लक्ष्यलक्षकभावस्यापि । अस्ति हि प्रकृते हकाराणां शब्दलक्षकत्वम्, शब्दस्य हकारशक्यसंबन्धित्वात् । अत एव योगिनीहृदये 'व्योमबीजैस्तु विद्यास्थैर्लक्षयेच्छब्दपञ्चकम्' इत्युक्तम् । यत्तु शक्यसंबन्धप्रदर्शन-कारिकायां तत्रैवोक्तम्

'भवेद् गुणवतां बीजं गुणानामपि वाचकम् ।
कार्यकारणभावेन तयोरैक्यविवक्षया ॥'

इति, तत्र लक्षके ऽपि वाचकपदप्रयोगो वाचकनिष्ठस्य स्वबोध्याभेदव्याप्यत्वस्य लक्षके ऽपि तुल्यत्वद्योतनफलको गौण्या वृत्त्यैवोपपद्यते । एवं वायुवाचकादीनामपि स्पर्शाद्यभेद उपपादनीयः । न च तथापि पञ्चदशानामचां तदभेदो न संभवतीति वाच्यम्; न हि प्रकृते ऽच एव विवक्षिता इति नियमः; हकारादिव्यञ्जनैरपि पञ्चदश-संख्योपपादनसंभवात् । न च संख्याधिक्यम्, आधिक्ये ऽपि 'सहस्रे शतं संभवति' इति न्यायस्य जागरूकत्वात्, 'गुणाः पञ्चदशाख्याता भूतानां तन्मयी शिवा' इति वचनस्थस्य तन्मयीत्यस्य भूतमयी गुणमयी पञ्चदशसंख्याकावयववती विद्या देवी वा शिवेत्यर्थवर्णनसंभवादिति चेत्;

'व्याप्ता पञ्चदशार्णैः सा विद्या भूतगुणात्मिका ।
पञ्चभिश्च तथा षड्भिश्चतुर्भिरपि चाक्षरैः ॥'

इति स्फुटतरवचनविरोधात् । तत्र हि सामान्येन पञ्चदशसंख्याकाक्षरवत्त्वमुपपाद्य संभावितनानाशङ्कापरिहाराय विशिष्य विशिष्य कूटत्रयाक्षराणां गणनयाज्भिरेव सव्यञ्जनैः संख्यापूर्तिरित्यस्य स्पष्टं निर्धारितत्वादिति । अत्र ब्रूमः—सायमज्भिरेव पञ्चदशत्वम्; तथापि हकारादिव्यञ्जनानामेव गुणाभेदः, तेषामेव तद्वाचकत्वात् । शक्ततावच्छेदकं तु पञ्चदशसंख्यासमवायित्वसमानाधिकरणहकारत्वादिकं न पुनः शुद्धहकारत्वादिकम्, अन्यथा हकारेण व्योमवाचकेन प्रकृते शब्दलक्षणायां युगपद्वृत्तिद्वयविरोधापत्तेः । शब्दैक्ये ऽपि शक्ततावच्छेदकरूपधर्मद्वयभेदेनार्थद्वय-भानमुपपद्यते । कथमन्यथा लिङादौ शब्दभावनार्थभावनयोः शक्त्या भानं लक्षणया च कर्तुर्मानं मीमांसकानाम्? अत एव चोक्तश्लोके 'गुणानामपि वाचकम्' इत्येवोक्तम् । यत्तु तत्पूर्वश्लोके 'लक्षयेत्' इति पदं तद्बोधयेदित्यर्थकम् । अस्तु वा लक्षणापि, भिन्नधर्मावच्छिन्नस्य पदस्यैकधर्मपर्याप्तावच्छेदकताकशक्ततालक्षकतारूपवृत्तिद्वययौग-पद्यस्यैव विरुद्धत्वात् । वाचकपदमेव सञ्जातप्रतिपक्षत्वादुपक्रमन्यायेनान्वयितव्यम्[1] । वस्तुतस्तु गुणवतां वाचकं बीजं गुणानामपि वाचकमित्यन्वयः । बीजे गुणवद्वाचकत्वं परिकरालङ्कारवद्धेतुत्वाभिप्रायगर्भम् । हकारस्य शब्दवत्येव शक्तिर्न पुनराकाशमात्रे । तेन च गुणस्य शक्यताऽवच्छेदकत्वेन शक्यतावच्छेदके ऽपि शक्तेः प्राचीनैरङ्गीकाराद् गुणानामपि वाचकमित्यर्थः । तेन 'लक्षयेत्' इत्येतज्ज्ञानार्थकम् । तेनैकैव शक्तिरुभयत्रेत्यतो न वृत्तिद्वयविरोधो न वा शक्ततावच्छेदकभेदगवेषणा । पञ्चदशानां वर्णानां पञ्चदशगुणाभेदकथनं तु 'दश संपद्यन्ते । दशाक्षरा विराट् । अन्नं विराट्' इत्यादिवत् स्तुतिमात्रमित्यादि बुद्धिमद्भिरूह्यमिति संक्षेपः ॥ ७४ ॥

* सरोजिनी *

'ह क र स ल'—क्षिति-जल-पावक-समीर-गगन ॥ पञ्चदशीविद्या भी पञ्चभूतात्मिका है । 'पञ्चदशी' के १५ वर्ण = शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ॥ ये आकाशादिक तत्त्वों में ५, ४, ३, २, एवं १ हैं (अर्थात् सब १५ वर्ण हैं ।)

'हकाराद् व्योम संभूतः ककारात्तु प्रभञ्जनः ।
रेफादग्निः सकाराच्च जलतत्त्वस्य संभवः ।
लकारात् पृथिवी जाता तस्माद्विश्वमयी च सा ॥

वायु, अग्नि, जल, भूमि आदि पञ्चतत्त्वों के जो जनक हैं—वे 'ह क र स ल' वर्ण हैं । हकारादिवर्णों से घटित यह विद्या पञ्चभूतमयी एवं पञ्चभूताभिन्ना है।

पहले विमर्श शक्ति 'हकार' उत्पन्न हुआ उसके बाद प्रकाश से व्योम, फिर विमर्श से ककार, फिर प्रकाश से वायु फिर विमर्श से रेफ फिर उससे रेफ, फिर उससे प्रकाश एवं फिर उससे अग्नि, उसके बाद फिर विमर्श से सकार, फिर उससे प्रकाश, फिर उससे जल, फिर उससे पुनः विमर्श, विमर्श से लकार एवं उससे

१. नान्वयितव्यम्

प्रकाश एवं प्रकाश से पृथिवी—इसी क्रम से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होने पर भी हकारवत् विमर्श विशिष्ट प्रकाश का ही व्योम का कारण होने से कारणता वच्छेकत्व के हकार में सिद्ध होने के कारण उसकी कारणता को भी सिद्ध करता है। यही कङ्कारादिक के विषय में भी समझना चाहिए ॥ "व्योमबीजैस्तुविद्या-स्थलैर्लक्षयेच्छब्दपञ्चकम् ॥" (यो० ह०)[1]

आकाश पञ्चविध, वायु चतुर्विध, अग्निस्त्रिभाग, जल द्विभाग, पृथिवी एक विध—यह बात पञ्चीकरण-विवरण आदि में सुस्पष्ट है। ५ विध व्योमो में ५ शब्द, चतुविध वायु में ४ स्पर्श, त्रिविध अग्नि में रूपत्रय, द्विभाग जल में २ रस, एक विध पृथ्वी में एक गंध—गुण विद्यमान हैं।[2]

१. आकाश	५	—	५	शब्द
२. वायु	४	—	४	स्पर्श
३. अग्नि	३	—	३	रूप
४. जल	२	—	२	रस
५. पृथ्वी	१	—	१	गंध
	१५		१५	

पञ्चदश गुणों का 'श्रीविद्या' के १५ अक्षरों के साथ अपृथक् सम्बंध है "पञ्चदश गुणा विद्यास्थैः पञ्चदशभिर्वर्णौरभिन्ना इति पञ्चदशानां वर्णानाम् उपपत्तिः।"[3]

"पञ्चदशभिर्गुणौः पञ्चदशाना-वर्णानाममेदः"[4]

हकारपञ्चक—व्योमपञ्चक 'हकार पञ्चकस्य व्योम पञ्चकजनकत्वेन तद्वाचकत्वमेव चाभेदः।' तद्गुणैः शब्दैरपि सहाभेदः सिद्धप्राय एव।

गुणगुणिनोरभेदने गुणास्य गुण्यभिन्नभिन्नत्वस्य न्यायसिद्धत्वात् ॥ 'योगिनीहृदय' में कहा भी गया है—'व्योम बीजैस्तु विद्यास्थलैर्लक्ष्ययेच्छब्दपञ्चकम्'

ठीक भी कहा गया है—'गुणाः पञ्चदशाख्याता भूतानां तन्मयी शिवा—'

'व्याप्ता पञ्चदशार्णैः सा विद्याभूतगुणात्मिका। पञ्चभिश्च तथा षड्भिचतुर्भिर रपि चाक्षरैः ॥' विद्या गुणवती एवं पञ्चभूतात्मिका है—'गुणाः पञ्चदशाख्याता भूतानां तन्मयी शिवा ॥' 'तन्मयी' का क्या है? भूतमयी गुणमयी पञ्चदशसंख्याकावयववती विद्या देवी व शिवा ॥

१. स्वरों के साथ पञ्चदशी कें १५ वर्ण

२. हकारों के साथ व्यञ्जनों का अभेद एवं गुणों का अभेद ॥

१५ वर्ण = १५ गुण—दोनों 'सत्यमञ्जिरेव पञ्चदशत्वम्। हकारादिव्यञ्जना नामेव गुणाभेदः तेषामेव तद्वाचकत्वात्।' में अभेद है—"पञ्चदशानां पञ्चदशगुणामेद कथनं तु ॥"

इदानीम् 'प्रधानं तेजसो रूपं तद्बीजेन हि जन्यते' इतिवचनस्वारस्यमनुसंदधानो

१-४ भास्करराय

गुणानां गुणिबोधकाक्षरबोध्यत्ववत् तज्जनकाक्षरजन्यत्वस्यापि सत्त्वादभेदः संभवतीत्याह—

तत्तज्जनकैर्वर्णैस्तत्तत्संख्यैस्तु तद्गुणा जाताः ।
कामकलाभिश्चतसृभिरासीत् स्पर्शश्चतुर्विधो न तु कैः ॥ ७५ ॥

(वर्णों द्वारा गुणोत्पत्ति एवं कामकला द्वारा स्पर्शोत्पत्ति का प्रतिपादन)

उन-उन उत्पादक अक्षरों द्वारा तथा (तद्गत) उन-उन संख्याओं द्वारा (उनके) वे गुण उत्पन्न हुए हैं । (अर्थात् इनकी संख्या इनके जनक वर्णों की संख्या के समतुल्य है ।) स्पर्श चतुष्टय तीन कामकलाओं एवं तृतीय ईकार द्वारा उत्पन्न हुए हैं ॥ ७५ ॥

* प्रकाश *

तत्तज्जनकैर्व्योमादिजनकैः । तत्तत्संख्यैः पञ्चादिसंख्याकैः । तद्गुणा व्योमादिगुणाः । पञ्चादिसंख्याका इति शेषः । विद्यायां हि मायात्रये हकारत्रयम्, मध्यमकूटे हकारौ द्वौ, एवं पञ्चभिर्हकारैः पञ्च शब्दा उत्पन्नाः । अत एव तेषामर्थाः शब्दा एव, 'ये ये यद्यज्जनकास्तेषां तेषां त एवार्थाः' इति वक्ष्यमाणत्वात् । उक्तं च 'व्योमबीजैस्तु विद्यास्थैर्लक्षयेच्छब्दपञ्चवाम्' इति । ननु भावार्थप्रकरणे मध्यमहकारस्य विद्यामूलबीजात्मककामकलार्थरूपत्वमुक्तमिति तस्य शक्तिवाचकत्वमेव युक्तं न पुनः शब्दलक्षकत्वमिति चेत्; न ह्येकवाचकत्वमपरालक्षकत्वे तन्त्रम्, वृत्तिद्वयविरोधस्य परिहृतत्वात् 'गङ्गायां घोषमत्स्यौ' इत्यादौ तस्येष्टत्वाच्च । वस्तुतस्तु, शिवशक्त्यात्मकमूलबीजात्मकावकारहकारौ तु सूक्ष्मतमादप्यत्यन्तसूक्ष्मरूपावित्युक्तम् । इह तु वैखर्यात्मकस्थूलरूपये रेवार्थान्तरपरत्वमुच्यते । अत एव मध्यप्राणेत्यनेन तादृशसूक्ष्मरूपतां द्योतयित्वा तस्य प्रथारूपो यः स्पन्दः स्थूलात्मिका सृष्टिस्तद्रूपे व्योम्नि हकारे स्थितेत्युक्तं न पुनः स्थूलहकार एव शक्तिरिति । उक्तं च 'तेषां कारणरूपेण स्थितं ध्वनिमयं परम्' इति । तेषां शब्दानाम् । शब्दसृष्टेः सर्वस्यापीत्यर्थः । कारणं शक्तिः, तस्या रूपं सूक्ष्मतमादपि परम् । तादृशेन रूपेणोपलक्षितं सद् ध्वनिमयम् । ध्वन्यभिन्नं सत् स्थितं परं परब्रह्मेत्यर्थः । सर्वेष्वपि वर्णेषु वर्णांशध्वन्यंशौ परस्परसंसृष्टौ वर्तेते सुवर्णे परस्परसंसृष्टपार्थिवतैजसांशवत्, कत्वादिवर्णधर्माणां तारत्वमन्द्रत्वषड्जत्वादिध्वनिधर्माणां च सर्ववर्णेष्वनुभूयमानत्वात् । अत एव शारीरकभाष्ये स्फोटनिरासाय वर्णानामेव नित्यत्वमङ्गीकर्तुं तेषामेकैकव्यक्तिरूपत्वमुपपाद्य वैलक्षण्यप्रतीतिः सर्वापि ध्वन्यालम्बनत्वेनोपपादिता देवताधिकरणे । तथा च मध्यमहकारे ध्वन्यंशः परब्रह्मवाचकः, वर्णांशस्तु शब्दलक्षक इति विवेक इति भावः । ये तु हादिविद्यापक्षपातिनो योगिनीहृदयस्य सम्पूर्णतन्त्रस्यापि हादिविद्यायामेव तात्पर्यमिति मन्यमाना इहान्यथा व्याचक्षते—'परं षष्ठं हाक्षरं तेषां पञ्चानामपि शब्दानां कारणभूतो यो ध्वनिर्नादस्तन्मयं तद्वाचकम्' इति, तेषां तत्र ग्रन्थस्वारस्यभङ्गेन क्लृप्ततरं व्याख्यानमेव शरणमिति तत्र तत्र स्पष्टीकरिष्यामः । ननु तथा सति वायुजनककाराणामेव चतुर्विधस्पर्शजनकत्वस्यावश्यिकत्वात् ककाराणां च चतुर्णामभावादनुपपन्नमिदमित्याह—कामकलाभिरिति । महामायायां त्रय ईकारा एकस्तृतीयाक्षररूपश्चेति

चतुर्भिरीकारैश्चतुर्धा स्पर्श उत्पन्नो न पुनः ककारैरित्यर्थः तदुक्तम्—

'महामायात्रयेणापि कारणेन च बिन्दुना।
वाय्वग्निजलभूमीनां स्पर्शानां च चतुष्टयम्॥
उत्पन्नं भावयेद्देवि स्थूलसूक्ष्मविभेदतः।'

इति। महामायायां यत् त्रयमीकारत्रयं तेन, कारणेन च केवलेनेकारेण च, तस्यैव विश्वकारणत्वस्य पूर्वमुक्तत्वात्। बिन्दुनेति कामकलाचतुष्कस्यापि विशेषणम्, तस्य तत्र त्रिबिन्द्वात्मकत्वात् तुरीयबिन्दुजन्यत्वाद्वा। तच्च वायुमण्डलस्य बिन्दुलाञ्छितत्वद्योतनाय। स्थूलो व्यापको वायुगतः। सूक्ष्मा व्याप्या अग्न्यादित्रयनिष्ठाः। हादिपक्षपातिनस्तु ककाराणां कामकलानां च हादिविद्यायां त्रित्रिसंख्याकत्वेन चतुर्थालाभाद् बिन्दून् विभज्य गणयन्ति। तत्पक्ष एकैकस्याः कामकलायारित्रत्रिबिन्द्वात्मकत्वेन नव संपद्येरन्। विसर्गत्वेन बिन्दुद्वयस्यैक्ये तु विसर्गास्त्रयः कामास्त्रय इति षट्। कामत्वेन त्रयाणामैक्ये तु विसर्गत्वेनापि त्रयाणामैक्यापाताद् द्वयम्। तुरीयबिन्दोरपि मेलने तु विभागे द्वादश, तदभावे त्रयमिति सर्वथा न चतुःसंख्यासिद्धिः। महामायायां कामकलायां यद्बिन्दुत्रयं तेन, कारणबिन्दुस्तुरीयस्तेन चेति व्याख्याने त्वन्ययोरीकारयोर्वैयर्थ्यमिति स्पष्टम्। न च गुणगुणिनोरेमेव कारणं कपालादेरेव घटतद्गतरूपे प्रति कारणत्वादिति नियमो व्योमशब्दजनकहकारादाविष्टो भज्येते वाच्यम्, तस्य वचनबलात् पाकेनापि रूपाद्युत्पत्तिदर्शनेन चौत्सर्गिकत्वात् त्रिविधरूपं तु मायान्तर्गतैस्त्रिभी रेफैर्जन्यते, 'रूपाणां त्रितय तद्वत् त्रिभी रेफैर्विभावितम्' इति वचनात्। एवं रसद्वयं सकारद्वयेन, 'विद्यास्थैश्चन्द्रबीजैस्तु स्थूलः सूक्ष्मो रसः स्मृतः' इति वचनात्। चन्द्रबीजैः सकारैः। स्थूलो व्यापको जलगतः। सूक्ष्मो व्याप्यो भूगतः। 'पदमभ्यधिकाभावात् स्मारकान्नातिरिच्यते' इति न्यायेन पदार्थोपस्थितेः स्मृतिरूपत्वात् स्मृत इत्युक्तम्। यद्यपि कादिविद्यायां द्वावेव सकारौ, तथापि 'विद्यास्थैश्चन्द्रबीजैः' इति बहुवचनाभ्यामपि रसस्य द्वैविध्यात् 'अक्षीणि से दर्शनीयानि,' 'पादा मे सुकुमाराः' इति महाभाष्यप्रयोगाद् द्वित्वसंख्यैव लक्ष्यते। अत एव स्थूलसूक्ष्मपदगतप्रत्येकैकवचनाभ्यां द्वित्वमेव स्पष्टीकृतम्। ननु—व्योमबीजेन '[1]व्योमगुणलक्षणा युक्ता, शक्यसंबन्धात्। चन्द्रवाचकबीजस्य तु चन्द्रगतामृतलक्षकत्वमेव वाच्यं न पुनर्जलगतरसलक्षकत्वम्, असंबद्धलक्षणायामतिप्रसङ्गात्। न च व्योमवाचकस्यापि वाय्वादिगतशब्दलक्षकत्ववदुपपत्तिः, तत्रापि नभोगुणस्य व्यापकत्वेन स्वशक्यसमवेतव्याप्यत्वरूपसंबन्धस्य सत्त्वात्। अत एव 'प्रधानं तेजसो रूपं तद्बीजेन हि जन्यते' इत्यनेन वचनेन तेजोरूपस्य व्यापकत्वलक्षणं प्राधान्यं शक्यसंबन्धप्रदर्शनायैवोक्तम्। तन्न्यायस्य हकारादावपि तुल्यत्वेनादोषात्। न च तथामृतव्याप्यत्वं जलरसस्य संभवति, तदभाववद्वृत्तित्वादित्ति चेत्—मैवम्, अमृते ऽपि रसस्य समवेतत्वेन लक्षणोपपत्तेः। अत एवोक्तम् 'संबन्धो विदितो लोके रसस्याप्यमृतस्य च' इति। अमृतरसयोराश्रयाश्रयिभावलक्षणोऽभेदलक्षणो वा संबन्धो लोकप्रसिद्ध इति न लक्षणायां विवदितव्यमित्यर्थः। शक्यतावच्छेदके ऽपि शक्तिरिति पक्षे रसामृतयोरभेदस्य लोकसिद्धत्वाद्रसाभिन्नामृतवति शक्तस्य सकारस्य रसो ऽपि शक्यतावच्छेदक इति भावः।

---

१. व्योमजन्यशब्दलक्षणा

हादिविद्यापक्षपातिनस्तु, 'चन्द्रबीजैः' इति बहुवचनस्य स्वानुगुणत्वं मत्वा तुष्यन्तस्त्रिभिः सकारै रसा लक्ष्यन्त इति व्याख्याय, ननु रसस्य द्वैविध्यात् तृतीयसकारः किमर्थ इत्याशङ्क्य, अमृतं गतो ऽप्येको रसो ऽस्तीति तल्लक्षकत्वेनोद्ग्रन्थमेव समावाय, नन्वेवं सति तृतीयरसाधारत्वेन भूजलभेदात् षष्ठमहाभूतस्यापत्तिरित्याशङ्कायाम् 'संबन्धो विदितः' इति ग्रन्थमवतार्य, जलामृतयोः संबन्धो हि लोकप्रसिद्धः, तस्य जलनिवावेवोत्पन्नत्वात्,-अतो जल एवान्तर्भाव इत्याशयपरत्वेन व्याचक्षते । तेषां रसस्येति पदस्य जलनिधौ लक्षणा, स्थूलसूक्ष्मपदाभ्यां प्रत्येकैकत्ववत्त्वेन लब्धद्वित्वविरोधश्च, जले ऽन्तर्भवे सिद्धे पुनर्वैयर्थ्यंतादवस्थ्यं च । प्रत्युत जलामृतयोरभेदात् प्रातिस्विकममृतवाचकः सकारो नापेक्षित इत्येवार्थः संभवतीति । एवं लकारस्य गन्धबोधकत्वम् 'वसुधरागतो[१] गन्धस्तल्लिपिर्गन्धवाचिका' इति वचनात् ॥ ७५ ॥

* सरोजिनी *

वर्णों से गुणों की उत्त्पत्ति होती है ।

वर्ण—गुण । गुणों की संख्या (इनके जनक) वर्णों की संख्या के तुल्य है । ३ कामकला + तृतीय ईकार—चारों प्रकार के स्पर्श ॥

"तत्तज्जनकैर्वर्णोः" = व्योमादि को जन्म देने वाले अक्षरों के द्वारा ॥ 'तत्तत्संख्यैः' = पञ्चादिसंख्याकों द्वारा । 'तद्‌गुणा' = 'व्योमादिगुणाः ॥ व्योमादि के १५ गुण । विद्या में स्थित मायात्रय में हकारत्रय स्थित हैं । 'मध्यकूट' में २ हकार हैं । ५ हकारों से—५ शब्द ॥ कहा भी गया है—"व्योमबीजैस्तु विद्यास्थैर्लक्षयेच्छब्दपञ्चवाम् ॥"

नन्वेकेनैव लकारेणैकविधगन्धबोधोपपत्तेरितरद्वयवैयर्थ्यम्; अत आह—

भुवनत्रयसंबन्धादासीत् त्रेधा लकारोऽपि ।
ये ये यद्यज्जनकास्तेषां तेषां त एवार्थाः ॥ ७६ ॥

(वर्ण एवं उनके अर्थ में तादाम्यभाव)

लोकत्रय से सम्बंधित होने के कारण लकार भी(मन्त्र में) तीन बार आता है। जो-जो वर्ण जिनके-जिनके स्त्रष्टा हैं वे ही उनके-उनके संसृष्ट अर्थ हैं ॥ ७६ ॥

* प्रकाश *

भुवनत्रयेण सह वाच्यवाचकभावसंबन्धाल्लकारस्य त्रैविध्यं जन्यजनकभावसंबन्धाद्वा, 'भुवनत्रयसंबन्धात् त्रिधात्वं तु महेश्वरि' इति वचनात् । स्पष्टमन्यत् ॥ ७६ ॥

* सरोजिनी *

'भुवनत्रय' = लोकत्रय ॥ 'एवार्थः' = ही अर्थ हैं । अर्थात् शब्द ही (अक्षर ही) पदार्थ भी हैं । 'पदार्थ' वस्तु को (या 'अर्थ' को) कहते हैं । वस्तु (पदार्थ) हैं

१. सुंधरागुणो

क्या? वस्तु है पद (शब्द) का अर्थ (Meaning of the word) जगत् एवं उसके पदार्थ केवल शब्द के वाच्य हैं—शब्द के अर्थ हैं—शब्दार्थ (Interpret°kion of word) हैं । शब्द (कारण) जगत् (कार्य) हैं । "ये ये यद्यज्जनकास्तेषां तेषां त एवार्थाः ।।"—जो जो वर्ण जिनके-जिनके उत्पादक हैं वे ही उनके-उनके उत्पन्न (उत्पाद्य) पदार्थ भी हैं । चूँकि 'कारण' ही 'कार्य' के रूप में उत्पन्न होता है अतः विश्व के समस्त अर्थों का मूल कारण अक्षर (शब्द) होने के कारण सारे अर्थ उसके विवर्त हैं—

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्द तत्त्वं यदक्षरं ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।"

अक्षर या शब्द उपादान कारण है और पदार्थ एवं पदार्थमय जगत् उसके कार्य हैं । यहाँ तक कि जगत् का परात्पर, तत्वातीत परब्रह्म एवं उसकी शक्ति भी अक्षर ही है—

'अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः ।
हकारोऽन्त्यः कलारूयो विमर्शाख्यः प्रकीर्तिताः ।।'[१]

'अ' = प्रकाश = परमशिव 'ह' = कला विमर्श शक्ति 'अ' ही समस्त वर्णसमुदाय एवं पदार्थ-जगत् का कारण है । 'परात्रिंशिका' एवं शब्दसृष्टिवाद्— 'परात्रिंशिका' की दृष्टि के अनुसार 'अहं' शब्द की आद्य, ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति के साथ ही अ से ह तक की समस्त मातृकाओं का आविर्भाव हुआ ।

(क) 'अहं'—अ से ह = (अर्थात् समस्त स्वर एवं समस्त व्यञ्जन रूप अशेष मातृकाओं का जन्म ।।)

(ख) इसके बाद 'इच्छाशक्ति' में शाखायें निकली—१. ज्ञानशक्ति २. क्रिया शक्ति ।

१. ज्ञानशक्ति—अन्तःकरण चतुष्टय एवं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ

२. क्रियाशक्ति—दस प्राण एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ

'अहं' = वर्णमाला का सार (निचोड़) = यही अहं ही है 'प्रथमस्पंद' भैरवी भगवान् भैरव से प्रश्न करती है कि—'ओ प्रपञ्च के स्वामी अनुत्तर शब्द तत्त्व का क्या महत्व है? यह ज्ञानाप्ति में सहायक कैसे बनता है? साधक उसके द्वारा तुमसे ऐकात्म्य कैसे अधिगत करता है? परमशिव रुद्र कहते हैं—वर्णमाला के दो भेद हैं—(क) स्वर (२) व्यञ्जन ।

३. 'अ' से 'अनुस्वार' तक के अशेष वर्ण—पन्द्रह तिथियाँ

४. 'क' से 'म' तक के अशेष वर्ण—पृथ्वी से पुरुष तत्त्व तक के समस्त पच्चीस तत्त्वों का जन्म ।।

---

१. संकेतपद्धति

५. क—पृथ्वी, ख—जल, ग—अग्नि, घ—वायु, ङ—आकाश ।

६. 'ट' से 'ण'—कर्मेन्द्रियाँ

७. 'त' से 'न'—ज्ञानेन्द्रियाँ ८. य, र, ल, व—राग, विद्या, कला माया ॥

इदानीं वायुजनकानामपि ककाराणामर्थान्तरमस्तीति पूर्वोक्तस्य 'ये ये यद्यज्जनकाः' इत्यस्यौत्सर्गिकस्य नियमस्यापवादमाह—

ककारत्रयवाच्यास्तु सकलाः प्रलयाकलाः ।
विज्ञानकेवलाश्चेति त्रिप्रकारा उपासकाः ॥ ७७ ॥

(ककारत्रय एवं 'सकल', 'प्रलयाकला तथा 'विज्ञानाकल' की अभेदात्मकता)

सकल, प्रलयाकल एवं विज्ञानाकल (नामक) तीन प्रकार के उपासक (आराधक, साधक) (मन्त्रगत) ककारत्रय के वाच्य हैं । (अर्थात् ककारत्रय सकल, प्रलयाकल एवं विज्ञानाकल के वाचक हैं ।) ॥ ७७ ॥

* प्रकाश *

प्रमातारः साधकाः पशव इत्यादिपदाभिधेया उपासकास्त्रिविधाः—अधमा मध्यमा उत्तमाश्चेति । त एवाशुद्धमिश्रशुद्धपदैः सकलादिपदैश्च क्रमेण व्यवह्रियन्ते । तत्र भेदैकदृष्टयः शिवाहंभावभावनाहीनाः कर्मैकरताः प्रथमाः । सुपकमलकर्माणः

'चितिश्चैत्यं च चैतन्यं चेतनं द्वयकर्म च ।
जीवः कला शरीरं च सूक्ष्मं पुर्यष्टकं भवेत् ॥'

इति श्लोकोक्तसूक्ष्मपुर्यष्टकसंबन्धशालिनः कर्मज्ञानमार्गयोः साधारणा द्वितीयाः । निरस्तभेदाः सर्वत्र शिवैकदृष्टयः पूर्णज्ञानिनस्तृतीयाः । एते च स्वच्छन्दसंग्रहे विस्तरेण प्रपञ्चिताः । ते त्रयाणां ककाराणां वाच्याः । तदुक्तम्—

'अशुद्धशुद्धमिश्राणां प्रमातणां परं वपुः ।
क्रोधीशत्रितयेनास्य[१] विद्यास्थेन प्रकाश्यते ॥'

इति । क्रोधीशः ककारः । न चाकराणां पार्थक्यस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वेनैकैक-हलात्मका एव हकारककारादयो वाचका वक्तव्याः, तथा च ककारे जश्भावेन गत्वापत्तिरिति वाच्यम्; एकहल एव पदत्वेन पदान्तत्वाभावात्, व्यपदेशिवद्भावस्य 'टकितौ', 'सुप्पितौ' इत्यादिज्ञापकेनानित्यत्वात् ॥ ७७ ॥

* सरोजिनी *

ककारत्रय जीवों के वाचक हैं ।

१. वाग्भव का 'क' २. कामराज कूट का 'क' ३. शक्तिकूट का 'क'—तीनों मिलाकर ३ 'क' हैं ।

---

१. त्रितयेनात्र

१. प्रथम 'क' का अर्थ—'सकल'

२. द्वितीय 'क' का अर्थ—'प्रलयाकल'

३. तृतीय 'क' का अर्थ—'विज्ञानाकल'

उपासकों के तीन भेद हैं—१. 'अधम' २. 'मध्यम' ३. 'उत्तम' : 'उसकास्त्रिविधाः अधमा मध्यमा उत्तमाश्च' ये १. अशुद्ध २. मिश्र ३. शुद्ध सकल-प्रलयाकल-विज्ञानाकल के नाम से अभिहित किए जाते हैं—

प्रथम उपासक—शिवाहंभाव-भावनाहीन, कर्मैकरत भेदबुद्धि वाले । 'शिवाहंभाव-भावनाहीना:कर्मैकरताः प्रथमा ।। द्वितीय उपासक—साधारण । कर्मज्ञानमार्गी, सूक्ष्मपुर्यष्टकसंबंध शाली उपासक । तृतीय उपासक—निरस्तभेद एवं सर्वत्र शिवैक दृष्टिवाले एवं पूर्णज्ञानी ।।[१] ये तीनो उपासक ही ककारत्रयं के वाच्य हैं—'ते त्रयाणां ककाराणां वाच्याः ।।' इसीलिए कहा भी गया है—

अशुद्ध-शुद्ध-मिश्राणां प्रमातृणां परं वपुः ।
क्रोधीशत्रितयेनास्य विद्यास्थेन प्रकाश्यते ।।

क्रोधीश = ककार ।।

अकारैर्दशसंख्याकैरुच्यन्ते जीवराशयः ।
विद्यायाः प्राणभूतः संस्तद्वाच्येकादशः स्वरः ।। ७८ ।।

(अकार एवं जीवों में अभेदात्मकता तथा एकार का विद्यागत महत्त्व)

दशसंख्याक अकारों द्वारा जीव-समूह (उनके वाच्य के रूप में) कहे गए हैं । ग्यारहवाँ स्वर (एकार) विद्या का प्राण होता हुआ भी उसका वाच्य है ।। ७८ ।।

*** प्रकाश ***

पञ्चदश्यां द्वितीयतृतीयवर्णौ हल्लेखात्रयं च मुक्त्वा अवशिष्टेषु दशस्वक्षरेष्वकारा दश । तेषां जीवराशय एव वाच्याः । एकेनाप्यभिद्यानसंभवे दशभिराभधानं जीवानामानन्त्यद्योतनाय । तृतीयकूटाद्याकारे तु ध्वनिस्वरूपस्यैव भावार्थप्रकरणे मूलबीजांशरूपत्वमुक्तमिति न विरोधः । एकादशः स्वर एकारः । स च विद्यालक्षणस्य मूलबीजोत्थवृक्षस्यान्तरः प्राणः सन्नपि स्वयं स्ववाची, लोके ऽपि क्षतस्य पुनः प्ररोहणादिना अनुमीयमानस्याध्यात्मिकवायुसंबन्धस्य वृक्षादावङ्गीकारात् । उक्तं च—

'श्रीकण्ठदशकं तद्वदव्यक्तस्य हि वाचकम् ।
प्राणभूतः स्थितो देवि तद्वदेकादशः स्वरः ।
एकः सन्नेव पुरुषो बहुधा जायते हि सः' ।।

इति । श्रीकण्ठा अकाराः । अव्यक्तो जीवः । एकादश एकारः, 'संधिरेकादशो भद्रा पद्मनाभः कुलाचकः' इति कोशात्,

१. भास्करराय 'प्रकाश' (स्वछन्दसंग्रह)

'यदेकादशमाधारं बीजं कोणत्रयात्मकम् ।
ब्रह्माण्डादि कटाहान्तं जगत् . . . . . ॥'

इति प्रयोगाच्च योगरूढो ऽयं शब्दः । तस्य च शुद्धयोगापेक्षया परत्वमस्त्येव । स च प्रकृत एको ऽपि दृश्यमानो बहुरूपः परिणमते । उक्तं च कादिमते—

'यदेकादशमाधारं बीजं कोणत्रयात्मकम् ।
ब्रह्माण्डादि कटाहान्तं जगदद्यापि दृश्यते ॥'

इति । हादिपक्षे तु शुद्धयौगिकत्वमङ्गीकृत्य श्रीकण्ठपरत्वेनैकादशपदं व्याख्याय परो द्वादशः पुरुषः परः शिवः, तद्वाचक इति व्याचक्षते । तत्क्लिष्टमिति स्वर इति विशेष्येणाकाख्यावर्तकेन सूचितम् । ननु श्रीकण्ठदशकस्यैकस्मिन्नेव श्लोके प्रतिसंबन्धित्वेन निर्दिष्टस्योपस्थित्या, एकादशो ऽपि श्रीकण्ठ एवेति चेन्न, रूढिप्राबल्ये तादृशोपस्थितेरप्रयोजकत्वात् । कथमन्यथा ज्ञानार्णवे—

'आद्यं वाग्भवमुच्चार्य कामबीजं द्वितीयकम् ।
कुमार्यास्तु तृतीयं तु त्रिपुरा परमेश्वरी ॥'

इति त्रिपुराचक्रेश्वरीमन्त्रोद्धारः सङ्गच्छताम्? तत्र हि कुमार्याः प्रतिसंबन्धित्वेन निर्देशे ऽप्याद्यद्वितीयपदाभ्यां मातृकासंबन्धिनावेव प्रथमद्वितीयौ वर्णौ विवक्षितौ, दक्षिणामूर्तिसंहितादौ 'अं आं सौः' इत्यस्यैव प्रथमचक्रेश्वरीमन्त्रस्योद्धृतत्वात् । अन्यथा बालाया एव त्रिपुराचक्रेश्वरीत्वमापद्येन । तस्मान्मातृकायामेकादश एवात्र ग्राह्य इति । तार्तीयप्रथमस्य पूर्वमभिहितत्वान्नेह पुनरुट्टङ्कनमित्यपि हादिपक्षे सुवचम् । परं तु न तथा सांप्रदायिकैर्व्याख्यातम् । तथापि कः प्राणवाचको ऽकारः को वा जीववाचक इत्यनिर्धारणं तत्पक्षे दुरुद्धरम् ॥ ७८ ॥

* सरोजिनी *

क + अ, ल् + अ, ह् + अ, स् + अ, क् + अ, ह् + अ, ल + अ, स् + अ, क् + अ, ल् + अ = ये ही १० 'अ' ॥

पञ्चदशी मन्त्र में द्वितीय एवं तृतीय वर्ण एवं तीन हल्लेखाओं को छोड़कर अर्थात् 'क ए ई ल ह्रीं । ह स क ह ल ह्रीं । स क ल ह्रीं' में से द्वितीय वर्ण (ए) एवं तृतीय वर्ण (ई) छोड़कर शेष—क, ल, ह, स, क, ह, ल, स, क, ल में १० अकार स्थित हैं—

('पञ्चदश्यां द्वितीयतृतीय वर्णौ हल्लेखायां च मुक्त्वा अवशिष्टेषु दशस्वक्षरेष्वकारा दशा तेषां जीवराशय एव वाच्याः ।')

ये १० अकार जीवराशि के बोधक या वाचक हैं । 'जीव' का अर्थ-बोधन करने के लिए यदि एक अकार भी होता तो भी पर्याप्त था किन्तु उसके वाचक १० अ हैं अतः इससे जीवों की अनन्तता का भी बोध होता है ('एकेनाप्याभंधान संभवेदशभिरभिधानं जीवानामानन्त्यद्योतनाय ॥')

इस प्रसङ्ग में कहा भी गया है—

'श्रीकण्ठदशकं तद्वदव्यक्तस्य हि वाचकम् ।

प्राणाभूतः स्थितो देवि तद्वदेकादशः स्वरः ।
एकः सन्नेव पुरुषो बहुधा जायते हि सः ॥'

श्रीकण्ठाः = अकार समूह । अव्यक्त = जीव । एकादशः = एकार । 'यदेकादशमाधारं बीजं कोणत्रयात्मकम् । ब्रह्माण्डादि काहान्तं जगत्....॥' 'कादिमत' में कहा गया है—

'यदेकादशमाधारं बीजं कोणत्रयात्मकम् ।
ब्रह्माण्डादि कटाहान्तं जगद्द्यापि दृश्यते ॥

'हादिमत' में शुद्धयौगिकत्व को अङ्गीकृत करके श्रीकण्ठपरत्वेन एकादश पद की व्याख्या करके द्वादश पुरुष पर शिव उसका वाचक है—ऐसा समझना चाहिए।

'एकार' की एकादश स्वर कहा गया है ।

१० अकार = जीव-समूह । एकादश स्वर (एकार) = विद्या का प्राण एवं जीव का वाचक ।

योगिनीहृदयस्थमेव पद्यं लाघवात् स्पष्टत्वाच्च निबध्नाति—

बिन्दुभिस्त्रिभिरुच्यन्ते रुद्रेश्वरसदाशिवाः ।
शान्तिः शक्तिश्च शम्भुश्च नादत्रितयबोधनाः ॥ ७९ ॥

(बिन्दुत्रय के साथ रुद्र, ईश्वर तथा सदाशिव की अभेदात्मकता तथा शान्ति, शक्ति एवं शम्भु की नाद के साथ अभेदात्मकता)

बिन्दुत्रय के द्वारा रुद्र, ईश्वर एवं सदाशिव (बिन्दु के वाच्य के रूप में) के कहे गए हैं । नादत्रय शान्ति, शक्ति एवं शिव के बोधक (वाचक) हैं ॥ ७९ ॥

*** प्रकाश ***

रुद्रस्तेजस्तत्त्वम्, 'रुद्रो वा एष यदग्निः' इति श्रुतेः । तेन पुरुषनियतिकालराग-विद्याकलामायानां परिग्रहः, 'पुरुषादिकमायान्तं तेजस्तत्त्वं महेश्वरि' इति स्वच्छन्द-संग्रहोक्तेः । शान्तिः प्रकृतिः शुद्धविद्या च । अर्धचन्द्राद्युन्मनान्तवर्णाष्टकं नादपदेनोच्यते । नादगितयमेव बोधनं येषां ते । करणे ल्युट् ॥ ७९ ॥

*** सरोजिनी ***

१. बिन्दुत्रय = रुद्र, ईश्वर एवं सदाशिव ॥

२. नादत्रय = शान्ति, शक्ति एवं शम्भु ॥

'रुद्र' = तेजस्तत्व 'रुद्रस्तेजस्तत्वम् ॥'

'रुद्रो वा एण यदग्निः ॥' (श्रुति) ॥

'स्वच्छन्दसंग्रह' में कहा गया है कि—"तेन पुरुषनियति कालरागविद्याकला मायानां परिग्रहः पुरुषादिकमायान्तं तेजस्तत्वं महेश्वरि" । नादत्रितय = शान्ति, शक्ति एवं शम्भू ।

"शान्तिः प्रकृतिः शुद्धविद्या च । अर्धचन्द्राद्युन्मनान्त वर्णाष्टकं नादपदेनोच्यते ॥" (भास्करराय) ॥

'नादत्रितयबोधनाः' = नादत्रितयमेव बोधनं येषां ते ॥"

बिन्दुभिस्त्रिभिरुच्यन्ते रुद्रेश्वरसदाशिवाः ।
शान्तिः शक्तिश्च शंभुश्च नादत्रितयबोधनाः ॥

एवं सप्तत्रिंशत्संख्याकपदैर्महाविद्या ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वानां तत्त्वातीतस्य चाभिधात्रीयम् ॥ ८० ॥

(महाविद्या एवं सैतिस तत्त्वों में अभेदात्मकता का प्रतिपादन)

इस प्रकार सैंतिस पदों द्वारा यह महाविद्या (विभिन्न) छत्तीस तत्त्वों एवं (सैंतिसहवें) तत्त्वातीत की अभिधात्री है ॥ ८० ॥

*** प्रकाश ***

एवमित्यस्यानन्तरोदीरितश्लोकषट्कोक्तरीत्येत्यर्थः । तत्र हि व्योम-बीजपञ्चकम्, कामकलाश्चतस्रः, चन्द्रबीजे द्वे, रेफभूबीजक्रोधीशबिन्दुनादास्त्रयस्त्रयः, श्रीकण्ठ-दशकम्, एकादशः स्वर एकः, इति संहत्य सप्तत्रिंशत् पदान्युपपादितानि । तेषां च तत्त्वानि षट्त्रिंशत्तत्त्वातीतं ब्रह्मैकमित्यर्थः । तानि च यथा—शिवः, शक्तिः, सदाशिवः, ईश्वरः, शुद्धविद्या, माया कला, विद्या, रागः, कालः, नियतिः, पुरुषः, प्रकृतिः, अहङ्कारः, बुद्धिः, मनः, श्रोत्रम्, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा, घ्राणम्, वाक्, पाणिः, पादः, पायुः, उपस्थः, शब्दः, स्पर्शः, रूपम्, रसः, गन्धः, आकाशः, वायुः, तेजः, आपः, पृथिवी । एतेषां स्वरूपमुत्पत्तिक्रमश्च सौभाग्यसुधोदये द्रष्टव्यः, विस्तरभयान्नेह लिख्यते। तत्र शिवशक्तिशुद्धविद्याप्रकृतयो बिन्द्वर्थाः । सदाशिवादिपुरुषान्ता नव नादार्थाः । शब्दादय आकाशादयः श्रोत्रादयो वागादयश्च पञ्च-पञ्च हकारादेरर्थाः । अहङ्कारादित्रयं तु ककारत्रयस्य श्रीकण्ठानां वार्थः । एकादशस्वरस्य तत्त्वातीतमर्थ इति विवेकः । यद्यपि हकारादेः शब्दाद्यर्थकत्ववदिन्द्रियाद्यर्थकत्वं नोक्तम्, तथापि

'स्वरव्यञ्जनभेदेन सप्तत्रिंशत्प्रभेदिनी ।
सप्तत्रिंशत्प्रभेदेन षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपिणी ।
तत्त्वातीतस्वभावा च विद्यैषा भाव्यते मया' ॥

इति वचनबलात् तत्तदर्थकत्वमवश्यकल्पनीयम् । न च सप्तत्रिंशतो वर्णानां सप्तत्रिंशति तत्त्वेषु क्रमेण शक्तिरस्त्विति वाच्यम्, हकारादौ क्लृप्तशक्तिपरित्यागस्य शक्त्यन्तरस्वीकारस्य चापत्तेः । न च भवत्पक्षे ऽप्येकस्यानेकार्थकत्वं दोष इति

वाच्यम्, एकत्र शक्तिः परत्र लक्षणेति सुवचत्वात् । न च युगपद्वृत्तिद्वयविरोधः, एतद्वचनबलादेव सप्तत्रिंशत्त्वस्य शक्ततावच्छेदकत्वाङ्गीकारेण पूर्ववत् तस्यादोषत्वात्, केवलहकारस्यैव व्योमवाचकत्वादिना प्रमितत्वेन तद्विरोधस्याद्धा वने तु वृत्तिद्वयविरोधेऽकिंचित्करत्वस्य सुवचत्वाच्च; प्रमाणप्रमितत्वाविशेषादापततोऽनेकार्थत्वस्यापि हर्यादिपदवददोषत्वाच्च । क्लृप्तशक्तिपरित्यागस्तु न सर्वथा प्रमाणिकः । ननु प्रथमेऽंशे विद्यायामष्टपञ्चाशद्वर्णा उक्ताः, कथमिह सप्तत्रिंशत्त्वेन गण्यन्त इति चेत्, सत्यम् । न पुनरत्र वर्णगतेयं संख्या कण्ठरवेणोक्तवचने श्रूयते येनैवमुच्येत । श्रूयमाणं संख्यामात्रं तु पदनिष्ठत्वेनाप्युपपन्नम्, अर्धचन्द्रादिवर्णाष्टकस्यैकपदत्वात्, चतुरवयवककामकलावन्नादस्याष्टावयवकैकवर्णत्वाङ्गीकारेऽपि क्षतिविरहाच्च । अत एव त्रैपुरमन्त्रे समूहमूलकारणभूते महामेरावर्धचन्द्रादीनामष्टानामप्यर्धचन्द्रत्वरूपैकवर्णात्मकत्वमङ्गीकृत्य 'नवाक्षरो महामेरुरयं ब्रह्माण्डगोलकः' इत्यादिव्यवहारस्तन्त्रेषु दृश्यते । वस्तुतोऽर्धचन्द्रादेः स्थानस्वरूपादिभेदान्नैकवर्णत्वं युक्तम्, कामकलावयवेषु तु न तथेति वैषम्यम् । अत एव मूले पदैरित्युक्तम् । 'शक्तं पदम्' इति तल्लक्षणाच्छक्तैरित्यर्थः । न च 'सुप्तिङन्तं पदम्' इति पाणिनीयसूत्रात् 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्' इति न्यायसूत्राच्च 'शक्तं पदम्' इत्याधुनिकपरिकल्पितपरिभाषाया अप्रमाणत्वादिह पदत्वं न युज्यत इति वाच्यम्, तथाप्यर्थवत्त्वेन प्रत्यक्षरं प्रातिपदिकसंज्ञायां सुबुत्पत्तेः, 'क्वचिद् व्यत्ययादिना क्वचिच्छाकल्यमतेन क्वचित् 'सुपां सुलुक्—' इत्यनेन च लोपस्वीकारात् । न चैवं ककारेषु जश्त्वापत्तिः, 'किति', 'पिति' इत्यादिज्ञापकैरेकाक्षरपदे तदनित्यताया ज्ञापनादिति । 'स्वरव्यञ्जनभेदेन' इत्यस्यायमर्थः—स्वरव्यञ्जनयोरभेदविवक्षामपवदितुं भेदेनेत्युक्तम् । अभेदे विवक्षित एव हि तयोरङ्गाङ्गिभावो लोकसिद्धः । तथा हि—व्यञ्जनानि तावत् स्वराङ्गाणि । तत्र ककारसकारहकारलकारा दशसंख्याकास्तु स्वस्वाव्यवहितोत्तरक्षणोच्चार्यमाणश्रीकण्ठानामङ्गानी । हृल्लेखाद्यहकारास्तु स्वस्वपूर्वोच्चार्यमाणलकारीयश्रीकण्ठानामेवाङ्गानीति यद्यपि 'संयोगादि' इति सूत्रेण प्रतिभाति; तथापि 'नान्तस्थापरमसवर्णम्' इति सूत्रेण परेषामेवाङ्गानीति वाच्यम् । रेफास्तु सबिन्दुककामकलानाम्, अनुस्वारा अपि तासामेवेति वस्तुस्थितिः । तदेतत् सर्वं याजुर्वैदिकप्रातिशाख्यसूत्राणि त्रिभाष्यरत्नादितद्व्याख्यानानि च जानानानां स्पष्टतरम् । प्रकृते त्वियान् विशेषः । बिन्दवो हि स्वोत्तरोच्चार्यमाणनादाख्यस्वरस्यैवाङ्गानि न पुनः कामकलानाम्, 'तत्परस्वरम्' इति प्रातिशाख्यसूत्रस्यात्र प्रवृत्तेः । यो हि स्वरात् पूर्वमनुस्वारो नोच्चार्यते स एव स्वपूर्वस्वराङ्गमिति 'अनुस्वारः—' इति सूत्रस्य विषयः । न हि लोकवेदयोः क्वापि संहितायामनुस्वारोत्तरं स्वरोच्चारणं दृश्यते । मकारनकारयोर्हि सतोर्हलि झलि च परे ऽनुस्वारविधिः 'मो ऽनुस्वारः,' 'नश्चापदान्तस्य झलि' इति पाणिनीयसूत्रयोरुपलभ्यते । तस्य च ययि परे परसवर्णवर्णान्तरतापत्तिविधानाच्छषसहाख्यराहुकूटे 'हंसः' इत्यादावात्मलाभ इत्याशयेन वेदमात्रमधिकृत्य प्रवृत्तेन प्रातिशाख्यमुनिना अनुस्वारमात्रस्य पूर्वाङ्गत्वम् 'अनुस्वारः—' इति सूत्रेणोक्तम् । तस्य च 'व्यञ्जनमपराङ्गं विरामे लुप्यते' इत्यादिसामवेदीयफुल्लसूत्राद्युक्तानि सामविशेषेषु प्रयोजनानि विस्तरभयादनुपयोगाच्च नेहोल्लिखितानि । न चात्रापि प्रथमद्वितीयकूटस्थानुस्वारयोर्हकारसकारपूर्वत्वेन परसवर्णादिवर्णान्तरभावाभावात् पूर्वाङ्गतापत्तिरिति

१. क्वचिद्व्यत्ययादिना

वाच्यम्, कूटानां पार्थक्येनोच्चारणे स्वरपरत्वान्मिलित्वोच्चारणे तु बिन्द्वादिनवकस्योत्तरकूटे प्रवेशविधानेन हकारादिपूर्वत्वाभावात् । वस्तुतस्तु, हल्त्वमेव हि व्यञ्जनत्वम् । कथमन्यथा 'हलो ऽनन्तराः संयोगः' इति सूत्रोक्ता संयोगसंज्ञा 'हंसः' इति सकारे स्यात्? तदभावे च हकारीयाकारे 'संयोगे गुरु' इति सूत्रेण गुरुसंज्ञा न सिध्येत् । इष्टा हि सा । तदेतच्छन्दःशास्त्रीये 'ध्रादिपरः' इति पिङ्गलसूत्रे छन्दोभास्करे प्रपञ्चितमस्माभिः । तथा च 'संयोगादि' इति प्रातिशाख्यसूत्रेण संयुक्ताक्षरादिमव्यञ्जनस्य पूर्वाङ्गत्वं विदधतैव चारितार्थ्यात् 'अनुस्वारः—' इति पृथग्योगो व्यर्थः । न ह्यवसाने स्वरे वा परे लोकवेदयोरनुस्वारः क्वापि दृश्यते, येन तत्सार्थक्यं भवेत् । तस्मात् पृथक्सूत्रकरणस्य श्रीविद्यानुस्वार एव विषय इत्यवश्यं वक्तव्यम् । तेन च कामकलानामेव बिन्दवो ऽङ्गानि, नादस्तु द्वितीयतृतीयस्वरवदव्यञ्जनाङ्क एव स्वरो भविष्यतीति दिक् । अयं चाङ्गाङ्गिभावः 'चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री' इत्यादौ वेदे लौकिकच्छन्दः सु प्रकृतेऽपि पञ्चदशत्वषोडशत्वाद्युपपत्त्यर्थमुपयुज्यते, अङ्गाङ्गिनोरभेदविवक्षया तदभिन्नप्रधानाक्षरगणनयैव संख्यापूर्तैरावश्यिकत्वादिति वस्तुस्थितिः । तदपवादाय 'स्वरव्यञ्जनभेदेन' इत्युक्तम् । अङ्गाङ्गिनोर्भेद एव प्रकृतार्थे कार्यो न पुनरभेदो विवक्षणीय इत्यर्थः । हादिविद्यायां हि द्वितीयतृतीयाक्षरयोरपि सव्यञ्जनकत्वेन षष्टिरक्षराणि। अर्धचन्द्रादेरेकवर्णत्वाङ्गीकारेऽपि तावदेकोनचत्वारिंशत् । बिन्दूनामपि नादेषु मेलनेनैकवर्णत्वस्वीकारे तु षट्त्रिंशत् । शक्तानि तु तत्र चत्वारिंशत्, व्योमबीजषट्कं मायात्रयं कारणबिन्दुरेको रेफचन्द्रबीजभूबीजक्रोधीशबिन्दुनादानां त्रयं त्रय द्वादश श्रीकण्ठा इत्येव तदर्थोपपादनादि न कथञ्चन सप्तत्रिंशत्ता संपद्यते । यद्यपि स्वराः पञ्चदश व्यञ्जनान्यष्टादश बिन्दवस्त्रयः सर्ववर्णसमष्टिरेकेति सप्तत्रिंशत्ता तदुपासकैरूपपाद्यते, यदुक्तं कामकलाविलासे—

> 'अज्व्यञ्जनबिन्दुत्रयसमष्टिभेदैर्विभाविताकारा ।
> षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मा तत्त्वातीता च केवला विद्या ॥

इति; तथापि संख्यायाः पृथङ्निवेशित्वस्वाभाव्येन व्यष्टिवेषेण गणितस्य पुनर्गणनं गौणम्, पञ्चदश्यां षोडशीत्वापादकं च । किं च, अङ्गाङ्गिनोरभेदस्य लोकसिद्धस्यापवादाय भेदेनेति कण्ठरवेणोक्तेर्लोकसिद्धभेदानां पञ्चदशानां वर्णानामभेदेन गणनस्य कुतो, लाभ इति विचार्यम् । यद्यपि भेदपदस्य 'संभेदः सिन्धुसङ्गमः' इत्यादौ सङ्गमार्थे प्रसिद्धत्वादिह स्वरव्यञ्जनानां सर्वेषां मेलनेनेत्यप्यर्थः सुवचः; तथापि भेदपदस्य वृत्तिक्लेशः, समित्यनुपसृष्टस्य तादृशार्थावाचकत्वं च । किं च, यथा तावत् 'व्याप्ता पञ्चदशार्णैः सा' इत्यनेन सामान्यतः पञ्चदशसंख्याकाक्षर- कत्वमुक्त्वा तदुपपादनाय तदग्रिमग्रन्थे 'पञ्चभिश्च तथा षड्भिः' इति विशिष्य कथनम्, तथैव 'स्वरव्यञ्जनभेदेन सप्तत्रिंशत्प्रभेदिनी' इत्यादिना सामान्येन सप्तत्रिंशत्संख्याकाक्षरक्त्वं प्रतिज्ञाय तदग्रिमग्रन्थेन 'व्योमबीजैस्तु विद्यास्थैः' इत्यादिना 'नादत्रितयबोधनाः' इत्यन्तेन विविच्य तदुपपादनमित्यविवादम् । तत्र चोक्तरीत्या चत्वारिंशतोऽप्युपपादनादुपक्रमोपसंहारविरोधो दुरुद्धरः । किं च,

> 'बिन्दुभिस्त्रिभिरुच्यन्ते रुद्रेश्वरसदाशिवाः ।
> शान्तिः शक्तिश्च शंभुश्च नादत्रितयबोधनाः ॥'

इत्येकस्मिन्नेव श्लोके बिन्दुत्रयनादत्रययोरर्थवर्णनेन बिन्दुत्रयस्य सप्तत्रिंशत्संख्या-पूर्त्यर्थमुल्लखो नादत्रयस्य तु त्याग इत्यत्र तु स्पष्टं पक्षपात एव मूलमिति । एतेन कादिविद्यायां सप्तत्रिंशत्त्वसिद्ध्यर्थं द्वितीयतृतीयाक्षरयोः संध्यक्षरत्वात् प्र तिस्विकं द्व्यात्मकत्वेन गणनाक्लेशः प्राचामपास्तः; हृल्लेखास्वपि तथापत्त्या 'प्रकृतबाधका-पादकश्च । तस्मान्नादत्रयमेलनेनैव सप्तत्रिंशत्ता । स्पष्टमेतद्योगिनीहृदये 'हृल्लखात्रय-संभूतैस्तिथिसंख्यैस्तथाक्षरैः' इत्यसकृत्प्रतिहृल्लेखं पञ्चानामक्षराणां गणनात् । तस्माद्येगिनीहृदये संप्रदायार्थप्रकरण सर्वं कादिविद्ययामेव स्वरसमिति निष्पक्षपात कृतमतयो विदांकुर्वन्तु । अयमत्र निष्कर्षः—तत्तदक्षरैर्वाच्यान् लक्ष्यांश्च पदार्थानुद्दिश्यै-कादशस्वरेण तत्त्वातीतब्रह्माभेदो विधीयते । एवं विद्यावयवाक्षरसमूहवाच्यपदार्थ-समुदायात्मकत्वात् 'विश्वं विद्याभिन्नम्' इत्यपि विधीयते । भावार्थे हि शिवशक्ति-जन्यत्वज्ञाप्यकशिवशक्त्यभेदविधेयको विद्याजगदुभयोद्देश्यक एको बोधः । विश्वजनकजन्यत्वज्ञाप्यकविश्वाभेदविधेयको विद्योद्दश्यकश्चैकः । इह तु विद्योद्देश्यको विश्वान्तर्गतयावत्पदार्थप्रातिस्विकवाचकाक्षरैकघटितत्वज्ञाप्यकविश्वाभेदविधेयक एकः, विश्वोद्देश्यकविद्याभेदविधेयकश्चान्यो बोध इति भेदः ॥ ८० ॥

* सरोजिनी *

'सप्तत्रिंशतपद'—व्योम बीज पञ्चक, कामकला चतुष्टय चन्द्रबीजद्वय, रेफ, भू बीज, क्रोधीश, बिन्दु, नादत्रय, श्रीकण्ठदशक, एकादशस्वर

'षट्त्रिंशत्तत्व'—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, अहङ्कार, बुद्धि, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, आकाश, वायु, तेज जल एवं पृथ्वी ॥

१. 'बिन्द्वार्थ' = शिव, शक्ति, शुद्धविद्या प्रकृत्यात्मक

२. 'नादार्थ' = सदाशिवादिपुरुषान्त नौ ।

३. 'हकारादेरर्थ' = शब्दादिक, आकाशादिक, श्रोत्रादिक, वागादिक पाँच-पाँच की समष्टि ॥

४. 'श्रीकण्ठार्थ'—अहङ्कारादित्रितय ककारत्रय

५. 'एकादश स्वर'—तत्त्वातीत पद ॥

"स्वर व्यञ्जनभेदेन स्पतत्रिंशत्प्रभेदिनी ।
सप्तत्रिंशत्प्रभेदेन षट्त्रिंशत्तत्वरूपिणी ।
तत्त्वातीतस्वभावा च विद्येषाभाव्यते मया ॥" — सप्तत्रिंशत्

'तत्त्वातीत'—"अज्व्यञ्जनबिन्दुत्रयसमष्टिभेदैर्विभाविताकारा । षट्त्रिंशतत्तत्वात्मा तत्त्वातीता च केवलाविद्या ॥"

---

१. प्रत्युत बाधक

'सप्तत्रिंशततत्त्वानि'—''स्वर व्यञ्जनभेदेन सप्तत्रिंशत्प्रभेदिनी''

तदेतदभिसंधायाह—

जन्यजनकयोर्भेदाभावाद् वाच्यस्य वाचकेनापि ।
ब्रह्मणि जगतो जगति च विद्याभेदस्तु संप्रदायार्थः ॥ ८१ ॥

(सम्प्रदायार्थ का स्वरूप)

(जिस प्रकार) संसृष्ट एवं सर्जक (कार्य एवं कारण), वाच्य एवं वाचक तथा ब्रह्म एवं जगत् में भेद का अभाव है (उसी प्रकार) विश्व एवं विद्या में भी अभेदात्मकता है—यही सम्प्रदायार्थ है ॥ ८१ ॥

*** प्रकाश ***

ब्रह्मणि जगत् इत्यत्र, अभेद इति शेषः । सम्यग्गुरुशिष्यपारंपर्यक्रमायातमर्यादानुसारेण दीयत इति संप्रदायार्थः ॥ ८१ ॥

*** सरोजिनी ***

'ब्रह्मणि जगतो अभेद'—ब्रह्म एवं जगत् में अभेद हैं आचार्य भास्करराय कहते हैं—१. कार्य-कारण, संसृष्ट—सर्जक, वाच्य-वाचक में अभेद है—इसी प्रकार ब्रह्म एवं जगत् में अभेद हैं ।

२. जगत् एवं पञ्चदशीविद्या में भी अभेद है । यही अभेदद्वय की अनुभूति एवं पुष्टि संप्रदायार्थ का मूल भाव है ।

'सम्प्रदायार्थ:'—सम्प्रदायागत अर्थ ॥ 'कुलार्ण तन्त्र' में 'सम्प्रदाय' की निम्नानुसार व्याख्या की गई है—

'संसारसारभूतत्वात् प्रकाशानन्ददानतः ।
यशः सौभाग्य करणात् सम्प्रदाय इतीरितः ॥''

सम्यक्रूपेण परम्पराक्रमेण गुरुशिष्य-परम्परानुसारेण ज्ञानं प्रकर्षेणदीयते अनेन इति सम्प्रदायः ॥ भगवान भैरव ने इसी बात को इस प्रकार संपुष्ट किया है—''कर्णात्कर्णोपदेशेन सम्प्राप्तमवनीतलम् ॥'' (योगिनीहृदय) इसी परम्परा द्वारा सम्यक् रीत्या ज्ञान शिष्यों को प्रदान किया जाता रहा है इसीलिए इसे 'सम्प्रदाय' कहा गया है । इसीलिए कहा गया है—'गुरु शुश्रूषया विद्या' ॥ अमृतानन्दयोगी ने 'योगिनीहृदय दीपिका' में कहा है—

'सम्यक् याथार्थ्येन कर्णे शिष्यस्य प्रदीयत इति सम्प्रदायः ॥' 'योगिनीहृदय' में इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

'सम्प्रदायो महाबोधरूपो गुरुमुखे स्थितः ।
विश्वाकार प्रथायास्तु महत्वञ्च यदाश्रयम् ॥

शिवशक्त्याद्यया मूलविद्यया परमेश्वरि ।
जगत्कृत्स्नं तया व्याप्तं शृणुष्वावहिता प्रिये ॥

पञ्चभूतमयं विश्वं तन्मयी सा सदानघे ।
तन्मयी मूलविद्या च तदद्य कथयामि ते ॥

हकाराद् व्योम संभूतं ककारन्तु प्रभञ्जनः ।
रेफादग्निः सकाराच्च जलतत्त्वस्य संभवः ॥

लकारात् पृथिवी जाता तस्मात् विश्वमयी चसा ।
गुणाः पञ्चदश प्रोक्ता भूतानां तन्मयी शिवा ॥

यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदीरिता ।
सा सा सर्वेश्वरी देवी स स सर्वो महेश्वर ॥

ब्रह्म एवं जगत् में अभेद की दार्शनिक दृष्टि इस प्रकार है—
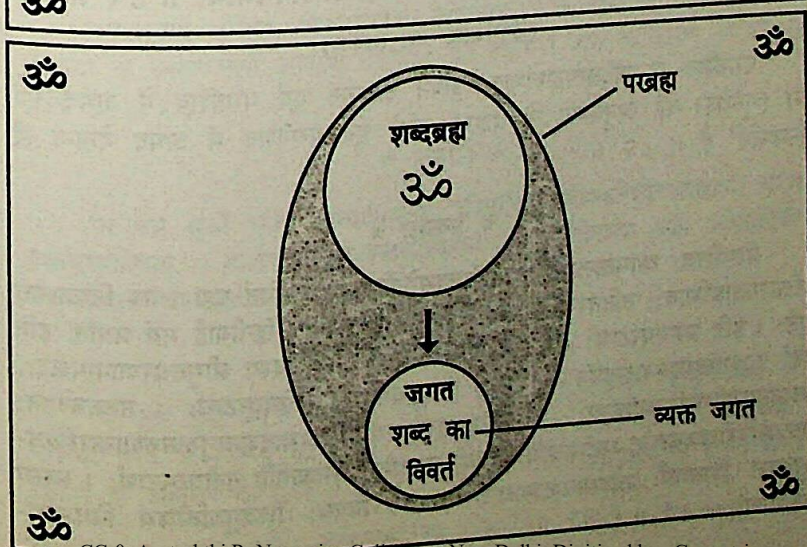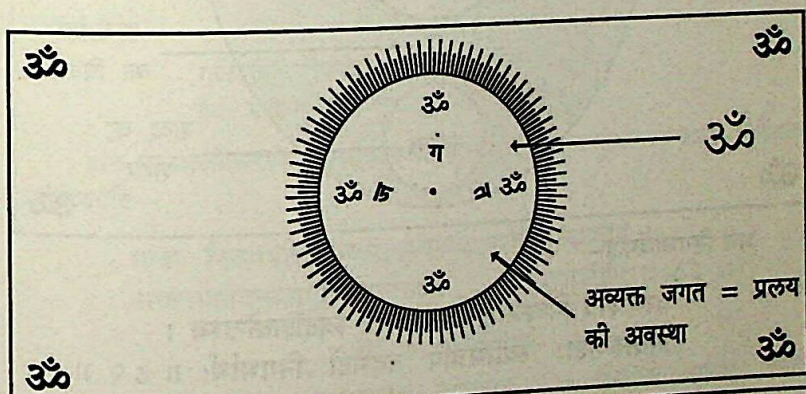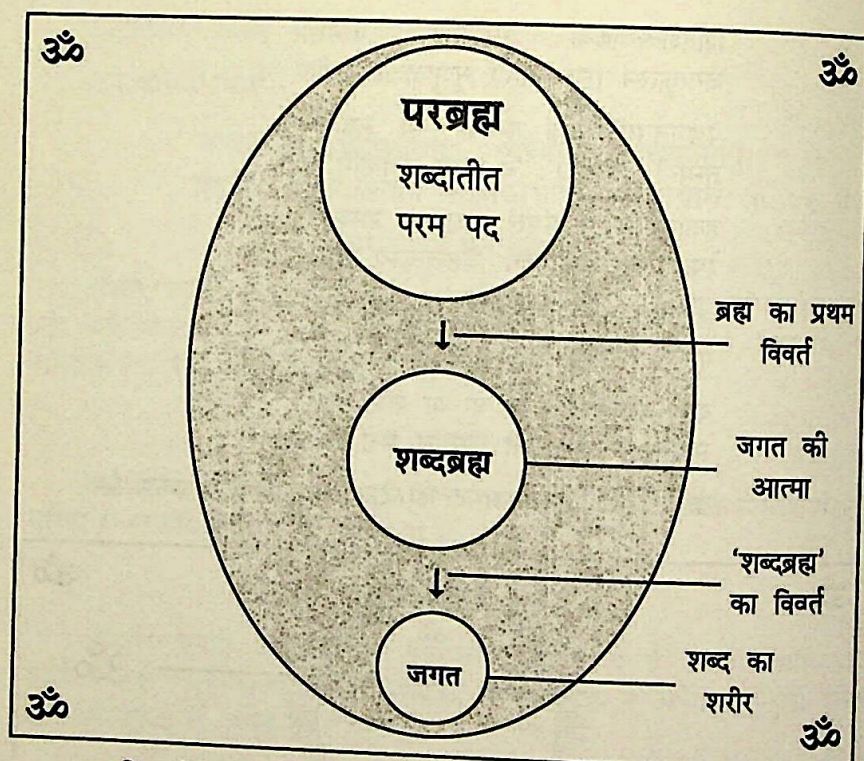
अथ निगर्भार्थमाह—

परमशिवे निष्कलता तदभिन्नत्वं स्वदेशिकेन्द्रस्य ।
तत्करुणातः स्वस्मिन्नपि तदभेदो निगर्भार्थः ॥ ८२ ॥

('निगर्भार्थ' का स्वरूप)

परमशिव में तदितरपदार्थाभाव, अपने दीक्षागुरु एवं परमशिव में अभेद एवं उन (गुरुदेव) की अनुकम्पा के कारण अपने एवं परमशिव में अभेद देखना ही 'निगर्भार्थ' है ॥ ८२ ॥

* प्रकाश *

परमशिवः कामकलास्वरूपनिर्णयावसरे निष्कृष्य कथितं ब्रह्म । तत्र निष्कलता तदितरपदार्थाभावः, तदितरस्य सर्वस्यापि दुःखजनकत्वात्, 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति श्रुतेः । इति प्रथमकूटार्थः । तेन ब्रह्मणा स्वीयस्य देशिकेन्द्रस्य श्रीगुरुचरणानामभेदः, तेषां ब्रह्माभेदभावनादार्ढ्येन तदभेदस्य सिद्धत्वादिति द्वितीयकूटार्थः । तत्करुणातः स्वकृताव्यभिचरितभक्तिपुरः सरदृढतरसेवासंपादितप्रसादजन्यगुरुकरुणाकरम्बित-कटाक्षनिरीक्षणबलात् स्वस्मिन्नपि साधके ब्रह्माभेदः सिध्यतीति तृतीयकूटार्थः । स्वस्य गुरुद्वारा शिवगर्भे प्रवेशसंपादकत्वादेतज्ज्ञानस्य विषयः शिवगुर्वात्मैक्यं निगर्भार्थ-पदवाच्यम् ॥ ८२ ॥

*** सरोजिनी ***

'परमशिवे'—परमशिव में 'परमशिव' कौन है? काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार 'परमशिव' शिव की विश्वोत्तीर्ण अवस्था है तथापि वह विश्वमय एवं विश्वोत्तीर्ण दोनों एक साथ है। वह विश्वमय होकर अपने विश्वोत्तीर्ण स्वरूप से किंचिन्मात्र भी च्युत नहीं होता। 'विश्वमयत्वेप्यस्य स्वस्वरूपात्र प्रच्यावः ॥'' इसलिए 'अतएवं अयं विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णस्तुत्तीर्णत्वेऽपि तन्मयः ॥'[१] इस प्रकार एक मात्र 'परमशिव' की नानात्मक विचित्रताओं के साथ विश्व भाव से स्फुरित हो रहा है। वह सर्वाकारस्वरूप है और उससे भिन्न किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं है। वह विश्वात्मक होते हुए ही विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वोत्तीर्ण होते हुए भी विश्वमय है।[२]

अथ परदेवताया विद्यायाश्चक्रराजस्य श्रीगुरोरात्मनश्चैक्यं कौलिकार्थ इत्युच्यते, सर्वेषां ब्रह्माभेदेन सजातीयत्वात्, सजातीययूथस्य कुलपदवाच्यत्वात्, 'सजातीयैः कुलं यूथम्' इत्यमरोक्तेः। अयं च पञ्चानामभेदः समानधर्मवत्वेन सिषावयिषितः। स च समानो धर्मः।

**'गणेशग्रहनक्षत्रयोगिनीराशिरूपिणीम् ।
देवीं मन्त्रमयीं नौमि मातृकापीठरूपिणीम् ॥'**

इति तन्त्रराजोक्तगणेशादिषट्कात्मकत्वाख्यः। तत्र परदेवतायां प्रथमं गणेशत्व-मुपपादयति—

**माता निरुपमतेजोमय्याः स्वस्या मरीचिरूपाणाम् ।
आवरणदेवतानामीशत्वादुच्यते गणेशीति ॥ ८३ ॥**

(देवी की गणेशरूपता)

जगज्जनती (माता त्रिपुरसुन्दरी) अनुपमेय तेज संवलित अपनी प्रकाश-रश्मियों के स्वरूपवाली आवरण देवताओं की स्वामिनी होने के कारण गणेशी कही जाती हैं ॥ ८३ ॥

*** प्रकाश ***

'न तत्र सूर्यो भाति' इत्यादिश्रुत्या प्रतिपादितानवधिकतेजोरूपब्रह्मणो मरीचय एवावरणदेवताः। ताश्चैकादशोत्तरशतसंख्याकाः। तत्रभेदेनान्या अपि प्रतिपादिताः। तादृशदेवतागणस्येशत्वाद् गणेशीत्युच्यते माता ॥ ८३ ॥

*** सरोजिनी ***

'न तत्र सूर्यो भाति' कहकर वेदों में जिस परमतेजोमय, अनधिगम्य, अज्ञेय परात्पर तत्त्व के स्वरूप का वर्णन किया गया है उस अनवधिक तेजोमय ब्रह्म की किरणें ही आवरण देवता हैं। ये सभी एकादशोत्तरशत संख्याक् हैं। इन आवरण

१-२. अभिनवगुप्त 'तन्त्रालोक' की टीका (पृ० १०५)

देवताओं की स्वामिनी होने के कारण जगज्जननी त्रिपुरसुन्दरी 'गणेशी' भी कही जाती है ।

देवी की गणेशरूपात्मकता का प्रतिपादन—

देवी की गणेशात्मकता का प्रतिपादन करते हुए 'योगिनीहृदय' में कहा गया है—'एकादशाधिकशतदेवतात्मतया पुनः । गणेशत्वं महादेव्याः ॥'[१] 'कौलिकार्थ' की व्याख्या करते हुए कहा गया था कि—'कौलिकं कथयिष्यामि चक्रदेवतयोरपि । विद्यागुर्वात्मनामैक्यं तत्प्रकारः प्रदर्श्यते ॥'' 'कौलिकार्थ' का अभिप्राय है—चक्र, देवता, श्रीचक्र, श्रीमाता, श्रीविद्या, श्रीगुरु एवं उपासक आत्मा का ऐक्य—श्रीचक्रं श्रीमाता श्रीविद्या, श्रीगुरुरात्मा चेति पञ्चानामैक्यं कौलिकार्थं इत्युच्यते ।[२] —अब यहाँ देवी की इसी देवरूपता के प्रतिपादनार्थ उनके गणेशत्व की पुष्टि की गई है । दीपिकाकार अमृतानन्दनाथ कहते हैं—'गणेशत्वं इति । पुनः शब्दादेकादशाधिक शत देवतात्मतया अस्या गणेशत्वम् । गणेशत्वं महादेव्या इत्यनेनापि काकाक्षिन्यायतः पूर्वोक्तत्रिकोण दि चतुरस्रान्तपदमिवास्यैकादशाधिकशत देवतात्मतया तत्संख्याकदेवता-समुदायो गणः ॥[३]

'कौलिकार्थ' में एकता-निरूपण—१. श्रीचक्र, २. देवता, ३. विद्या, ४. गुरु, ५. आत्मा की एकता—कौलिकं कौलिकार्थं कथयिष्यामि—चक्र-देवता-गुरु-विद्या-साधकानांमैक्यानुसंधान कौलिकार्थ इत्यर्थः ।[४]

'इत्थं माताविद्या चक्रं स्वगुरुः स्वयं चेति ।
पञ्चनामपि भेदाभावो मन्त्रस्य कौकिकार्थोऽयम् ॥[५]

इच्छादित्रिसमष्टिर्गुणत्रयाढ्यानलेन्दुरविनेत्रा ।
एवं नवभिर्योगाद् ग्रहरूपेत्युच्यते माता ॥ ८४ ॥

(देवी की ग्रहरूपता का प्रतिपादन)

इच्छा आदि (इच्छा-ज्ञान एवं क्रिया) की समष्टिस्वरूपागुणत्रयात्मिका, अग्नि-सोम-सूर्यरूपा एवं त्रिनेत्री देवी—इस प्रकार नौ के संयोग से ग्रहरूपा है—इस प्रकार कही जाती है ॥ ८४ ॥

*** प्रकाश ***

इच्छा ज्ञाना क्रियेति शक्तित्रयसमष्टिरूपा माता । तदुक्तं सङ्केत-पद्धतौ—'इच्छा शिरःप्रदेशे ऽथ ज्ञाना च तदधोगता । क्रिया पदगता ह्यस्याः' इति । गुणविशिष्टब्य शबलब्रह्मणोऽवयवरूपा एव गुणा इति व्यवह्रियन्ते । आदित्यादिग्रहाणां नवसंख्याक-त्वान्नवसंख्याकावयवशालित्वमेव प्रकृते ग्रहत्वं विवक्षितम् । एवमेव नक्षत्रादिषु बोद्धव्यम् ॥ ८४ ॥

---

१. योगिनीहृदय (मन्त्रसंकेत श्लोक ५७) २. भास्कराचार्य—'सेतुबन्ध'
३-४. अमृतानन्दनाथ—'दीपिका' ५. कौलिकार्थ

* सरोजिनी *

"ग्रहरूपेत्युच्यते माता"—"माता ग्रहरूपा है"—ऐसा कहा जाता है । ग्रह नौ हैं—सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु ॥ देवी ग्रहरूपात्मिका भी है । देवी इसलिए ग्रहरूपा है क्योंकि उनके भी नौ अङ्ग हैं—यथा (क) इच्छा-ज्ञान-क्रिया—३ प्रमुख शक्तियाँ (ख) सतोगुण-राजोगुण एवं तमोगुण—३ गुणत्रय; (ग) अग्नि-सोम-सूर्य- ३ = ३ + ३ + ३ = ९ ॥ 'योगिनीहृदय' में भी देवी के इस ग्रहरूपता का प्रतिपादन किया गया है यथा—"महादेव्याः ससोमरविविपावकैः । इच्छा ज्ञान क्रियाभिश्च गुणत्रययुतैः पुनः ग्रहरूपा च सा देवीः ....।"[1] 'सङ्केतपद्धति' में देवी की ग्रहरूपता का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—'इच्छाशिरः प्रदेशस्था ज्ञाना च तदधोगता । क्रिया पादगता ह्यस्याः शान्ता द्वार्धार्धमध्यगा ॥" देवी, गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी, राशि एवं मंत्र सभी का मूर्तिमान[2] स्वरूप हैं—

'गणेशग्रहनक्षत्रयोगिनीराशिरूपिणीम् ।
देवीं मन्त्रमयीं नौमि मातृका पीठरूपिणीम् ॥'[3]

इन्द्रियदशकेनान्तःकरणचतुष्केण विषयदशकेन ।
प्रकृतिपुरुषगुणतत्त्वैर्जाता नक्षत्ररूपिणी माता ॥ ८५ ॥

(देवी की नक्षत्र-रूपता का प्रतिपादन)

दश इन्द्रियों, चार अन्तःकरणों, दश विषयों तथा प्रकृति, पुरुष एवं गुणतत्त्वों से (संयुक्त होने के कारण)—देवी ग्रहरूपात्मिका है—इस प्रकार कही जाती है ॥ ८५ ॥

* प्रकाश *

ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि पञ्च, कर्मेन्द्रियाणि वागादीनि पञ्चेति दशेन्द्रियाणि, मनो बुद्धिरहङ्कारश्चितं चेत्यन्तःकरणचतुष्कम्, शब्दादयो वचनादयश्च विषया दश । प्रकृति-गुणत्रयसाम्यावस्था, पुरुषः, सत्त्वादिगुणत्रयसमष्टिरूपं सुखदुःखमोहमूल गुणतत्त्वम् । एवं सप्तविंशतिसंख्याकत्वान्नक्षत्ररूपत्वं मातुः ॥ ८५ ॥

* सरोजिनी *

'योगिनीहृदय' में देवी की नक्षत्ररूपता का प्रतिपादन इन शब्दों में किया गया है—"ज्ञानकर्मेन्द्रियैरपि । तदर्थैरेव देवेशि कारणैरान्तरैः पुनः । प्रकृत्या च गुणो नापि पुंस्त्वबंधेन चात्मना । नक्षत्रविग्रहा जाता ॥"[4] "ज्ञानकर्मेन्द्रियैरपि ॥" १० इन्द्रियाँ, ४ अन्तःकरण (मन । बुद्धि । चित्त । अहङ्कार) १० विषय, १ प्रकृति, १ पुरुष,

---

१. योगिनीहृदय
२. संकेतपद्धति
३. तन्त्रराजतन्त्र
४. योगिनीहृदय

१ गुणत्रय = ये २७ का समूह है । (नक्षत्र—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा । पूर्वा फा० उत्तरा फा०, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्व भाद्रपदा, उत्तर भाद्रपदा रेवती = २७ नक्षत्र) ॥ अमृतानन्दनाथ नक्षत्ररूपता का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

'एवं स्वावयवभूतैः सप्तविंशतिभिर्नक्षत्रविग्रहा जाता देवी स्वेच्छागृहीतविग्रहा ॥''[१] 'सङ्केतपद्धति', में देवी के अङ्गों की कल्पना इस प्रकार की गई है—१. शिर प्रदेश—'इच्छा' २. अधःप्रदेश—'ज्ञान' ३. पाद-'क्रिया'—'इच्छाशिर- प्रदेशस्था ज्ञाना च तदधोगता । क्रिया पादगता ह्यस्याः ॥''[२]

'इति सङ्केतपद्धत्युक्तरीत्या इच्छादिका भूर्धाद्यवयवाः, गुणाः सत्वरजस्तमांसि एवं स्वावयवभूतैस्तैर्नवभिर्ग्रह रूपा च सा देवी ॥'[३] भास्कराचार्य ने काश्मीरिक त्रिकदर्शन में प्रतिपादित ३६ तत्त्वों में २७ की गणना अन्तर्भूत करते हुए भी देवी की नक्षत्ररूपता का प्रतिपादन किया है—'देव्या नक्षात्मकत्वमाह । शिवादिक्षित्यन्तेषु षटत्रिंशतत्वेषु नियतेः पराणि पंचविंशतिः । ....सप्तविंश आत्मेत्येवं नक्षत्रशरीरा जातेत्यर्थः ॥'[४]

नरपतिरविकाष्ठाषट्समुद्रद्विसंख्यै-
रकडबवहपूर्वैरक्षरैर्वेष्टिताभिः ।
डरलकसहवर्णाद्याकिनीभिस्तु षड्भि-
र्घटिततनुरितीयं कथ्यते योगिनीति ॥ ८६ ॥

(देवी की योगिनीरूपता)

नरपति (अर्थात् सोलह), रवि (अर्थात् बारह), काष्ठा (अर्थात् १० दिशायें), समुद्र (अर्थात् छः), 'अ क ड ब व ह' रूप पूर्वाक्षरों से संवेष्टित तथा 'ड, र, ल, क, स' एवं ह से प्रारंभ होने वाली छः आकिनियों के द्वारा सङ्घटित शरीर वाली देवी—'योगिनी' है—ऐसा कही जाती है ॥ ८६ ॥

* प्रकाश *

नरपतयो राजानः षोडश । रवयो द्वादश । काष्ठा दिशो दश, ऊर्ध्वाधोदिग्द्वयस्याप्यष्टभिर्दिग्भिः साहित्यात् । समुद्राश्चत्वारः, 'पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम्' इत्यादौ तथैव समुद्रगतसंख्याप्रसिद्धेः । षोडशादिसंख्यानामकाराद्यक्षरैर्यथासंख्यमन्वयः । अकाराद्याः षोडश स्वरा अमृतादितद्देवतोपलक्षकाः । कादिठान्ता द्वादश वर्णाः कालरात्र्यादीनामुपलक्षकाः । डादिफान्ता दश डामर्यादीनाम् । बादिलान्ताः षड् बन्धिन्यादीनाम् । वादिसान्ताश्चत्वारो वरदादीनाम् । हक्षौ द्वौ हंसवतीक्षमावत्योरूपलक्षकौ ।

---

१. योगिनीहृदय 'दीपिका'—अमृतानन्दनाथ २. संकेतपद्धति
३. अमृतानन्दनाथ—'दीपिका' ४. सेतुबन्ध

डकारादि वर्णषट्कमादिभूतं यासामाकिनीनां ता डाकिन्यादयः । तेनामृताद्यावृता डाकिनी, कालरात्र्याद्यावृता राकिनी, इति प्रकारेण षड्भिस्त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थि-मज्जाधिपतिभिर्विशुद्ध्यनाहत-मणिपूरस्वाधिष्ठानमूलाधाराज्ञाचक्राणां तत्तद्देवतावरण-शक्तिसमानसंख्याकतत्तदीयदलनिविष्टतावत्तावत्संख्याकदेवीसंवृतानां कर्णिकासु निविष्ट भिर्डाकिनीराकिनीलाकिनीकाकिनीसाकिनीहाकिनीभिर्घटिता तनुर्यस्याः सा योगिनी-त्युच्यत इत्यर्थः । यद्यपि 'त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः' इति भिषजां घण्टाघोषेण धातवः सप्त, तदधिपतिरपि याकिनीनाम्ना सहस्रारपद्मेऽमृतादिसकल-शक्तिबृन्दाधिष्ठितदलकिर्मीरिते तिष्ठतीति तन्त्रेषु प्रसिद्धम्, षोढान्यासे ऽपि क्वचित्तन्त्रेषु तस्या न्यासो दृश्यते; तथापि योगिनीहृदये षण्णामेव न्यासविधानादमृतादि-शक्त्यतिरिक्तशक्तेरावरणरूपाया आभावेनैतत्षट्कसमष्ट्यात्मकमातृत्वेन च पार्थक्या-भावाद्योगिन्यः षडेव । यदाह—

'विशुद्धौ हृदये नाभौ स्वाधिष्ठाने च मूलके ।
आज्ञायां धातुनाथश्च न्यस्तव्या डादिदेवताः ।
अमृतादियुताः सम्यग् ध्यातव्याश्च सुरेश्वरि ॥' इति ॥ ८६ ॥

*** सरोजिनी ***

'योगिनीहृदय' में देवी को योगिनीरूपा कहा गया है—'वर्गाष्टकनिविष्टाभि-र्योगिनीभिश्च संयुता । योगिनीरूप मास्थाय राजते विश्वविग्रहा ॥' 'योगिनीत्वमथोच्यते । त्वगादिधातुनाथाभिर्डाकिन्यादिभिरप्यसौ ॥'

आचार्य भास्कर कहते हैं—'त्वगसृङ्मांसमेदोस्थिमज्जनाथा डाकिनी राकिणी लाकिनी काकिनी साकि हाकिन्यः षट् । एतदात्मकत्वाद्वादेवी योगिनीमयी । वर्गाष्टक अ प्र क च ट त प य श रूपं तन्निविष्टा वशिन्यादयोष्टौ तदात्मकतया वा योगिनी-रूपेति विभावयेत् ॥ अतएव 'गणेश-ग्रह-नक्षत्र-योगिनी-राशिरूपिणीम्' इति श्लोके योगिनीपदस्य वशिन्यादिपरत्वेन काश्मीराणां मनोरमाकारस्य च व्याख्यानमुपपद्यते ।'[१]

'त्वगादिधातवस्त्वगसृङ्मांसमेदोमज्जा शुक्राणि धातवः, तेषां नाथा अधिष्ठात्र्यो डाकिन्याद्याः । डाकिनी, राकिनी लाकिनी, काकिनी, साकिनी, हाकिनी, याकिनी च वर्गा अ क च ट त प य शाः तेषामष्के निविष्टाः ब्रह्माण्याद्या योगिन्यः ॥ तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

'सर्वावांङ्मयस्थूला या वर्गाष्टकसमावृता । विश्वोत्पत्ति क्रमान्ताष्टशक्तिप्रसृत भैरवैः । शक्तिभिश्च समायुक्ता अज्ञान्ता मातृकावलिः ॥'[२] चतुःशती में भी कहा गया है—'वर्गानुक्रमयोगेन यस्यां मात्राष्टकं स्थितम् ॥'

पञ्चभिर्नागकूर्माद्यैः प्राणापानादिपञ्चभिः ।
जीवात्मपरमात्मभ्यां चैषा राशिस्वरूपिणी ॥ ८७ ॥

१-२. अमृतानन्दनाथ—योगिनीहृदय 'दीपिका'

(देवी की प्राण, जीव एवं राशि के साथ तदात्मकता)

नाग, कूर्म (कृकर, देवदत्त, धनञ्जय) आदि पाँच, प्राण, अपान (व्यान, उदान, समान) आदि पाँच एवं जीवात्मा तथा परमात्मा के साथ (तादात्म्य रखने वाली) यह (माता) राशिस्वरूपा है ॥ ८७ ॥

* प्रकाश *

आद्यादिपदाभ्यां कृकरदेवदत्तधनञ्जयानां व्यानोदानसमानानां च संग्रहः । एवं द्वादशात्मकत्वाद्राशिरूपिणी जगन्माता । पीठानां गणेशादिसमानसंख्याकत्वात् तदात्मकत्वोक्त्यैव तदुक्तप्रायमिति न पुनः पृथक् संरम्भः ॥ ८७ ॥

* सरोजिनी *

१. **देवी की राशि के साथ एकात्मकता**—'योगिनीहृदय' में देवी के राशिस्वरूपा होने का इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है—'प्राणापानौ समानश्चोदानव्यानौ तथा पुनः । नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः । जीवात्मा परमात्मा चेत्येतै राशिस्वरूपिणी ॥''[१] व्याख्याकार भास्कराचार्य व्याख्या करते हुए देवी की राशिरूपता की पुष्टि में कहते हैं—'प्राणादिकपंचकं नागादिपंचकं च शरीराधिष्ठिता वायुविशेषा वैद्यक तंत्रे प्रसिद्धाः । जीवात्मा पशुः सकलादिरूपत्वेनोक्तः । परमात्मा तु निखिलान्तर्यामित्वेनानन्तर्यामिब्रह्मणे प्रतिपादितः । एवं द्वादशात्मकत्वाद्रशिमयी ॥''[२] भाव यह है कि—दस प्राण एवं जीवात्मा तथा परमात्मा—इन १२ तत्त्वों से एकाकार होने के कारण देवी राशि भी है । 'प्राणादि धनञ्जयान्ता दश वायवः जीवात्मा उक्तलक्षणः पशुः, परमात्मा 'एष तु आत्माऽन्तर्याम्यमृतः''—इत्युपनिषदुक्तसर्व भूतान्तर्यामी । एतैर्द्वादशमयी राशिस्वरूपिणी ॥''[३]

२. **देवी की प्राणरूपात्मकता**—भगवती एवं विद्या दोनों प्राण-अपान-समान-उदान-व्यान-नाग-कूर्म-कृकर-देवदत्त-धनञ्जय नामक प्राण एवं जीवात्मा तथा परमात्मा के साथ अभिन्नरूपा होने के कारण ही—राशिस्वरूपिणी हैं—

'प्राणापानौ समानश्चोदान व्यानौ तथा पुनः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ ६२ ॥
जीवात्मा परमात्मा चेत्येतै राशिस्वरूपिणी ॥' (यो० ह०)

३. **देवी की जीवात्मा के साथ एकात्मकता**—'माता, विद्या, चक्र, स्वगुरु एवं स्वयं इन पाँचों में अभेद ही 'कौलिकार्थ' है अतः जीवात्मा के साथ माता (देवी) के साथ अभेदात्मकता स्वयं सिद्ध है—'इत्थं माता विद्या चक्रं स्वगुरुः स्वयं चेति । पंचानामपि भेदाभावो मंत्रस्य कौलिकार्थोऽयम् ॥'' (१०२) ॥

'निगर्भार्थ' भी इस एकात्मता का प्रतिपादन करता है—''शिवगुर्वात्मनामैक्यानुसंधानात्तदात्मकम् ॥'' अर्थात् परमात्मा, गुरु एवं जीवात्मा इनमें एकता की भावना

१. अमृतानन्दनाथ—योगिनीहृदय 'दीपिका' २. भास्करराय—सेतुबन्ध

रखना ही निगर्भार्थ है ।[१]

४. **देवी की परमात्मा के साथ एकरूपता**—भगवान शङ्कराचार्य ने 'सौन्दर्यलहरी' में इस एकात्मता का इस प्रकार उल्लेख किया है—'शिवःशक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभावितुं । न चेदेवं देवो न खलुकुशलः स्पन्दितुमपि ॥''

'शिवचक्र' एवं 'शक्तिचक्र' दोनों मिलकर ही नवयोन्यात्मक श्रीचक्र का निर्माण करते हैं—'चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्ति चक्रैश्च पंचभिः । शिवशक्त्यात्मकं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः ॥'' शिव-शक्ति अभिन्न है क्योंकि—'परोऽपिशक्तिरहितः शक्त्या युक्तो भवेद्यदि । सृष्टि स्थितिलयान् कर्तुमशक्तः शक्त एव हि ॥''[२]

अथ विद्यायां गणेशादिरूपत्वमुपपादयति—

अकथादिकषोडशाक्षरात्मकतार्तीयककामवाग्भवैः ।
घटिता च परादिवाग्गणैरिति विद्यापि गणेशरूपिणी ॥ ८८ ॥

(श्रीविद्या की कूटत्रयात्मकता एवं वाक्चतुष्टयात्मकता)

श्रीविद्या गणेशरूपत्मिका भी है (क्योंकि यह श्रीविद्या) अ-क-थ वर्गों से आरंभ होने शक्तिकूट (अकारादिषोऽशक स्वरात्मक) कामराजकूट (कादि तान्ताक्षरस्वरूप) एवं वाग्भवकूट (थकारादि सकारान्ताक्षरमय) के सोलह अक्षरों एवं परा (पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी) आदि वाक्चतुष्टय के द्वारा निर्मित है ॥ ८८ ॥

*** प्रकाश ***

अकारादिषोडशस्वरात्मकं तार्तीयं शक्तिकूटम् । कादितान्ताक्षररूपं द्वैतीयीकं कामराजकूटम् । थकारादिसकारान्ताक्षरमयं प्राथमिकं वाग्भवकूटम् । परादि-वाक्चतुष्टयरूपं चैतद्व्यष्टिसमष्टिभेदेन । अतः शब्दगणस्येशत्वाच्छ्रीविद्यापि गणेशरूपा । वैतालीयं छन्दः ॥ ८८ ॥

*** सरोजिनी ***

'विद्या' कुण्डलिनीरूपा है । 'कुण्डलिनी' वाक्चतुष्टयात्मिका है । वाक्चतुष्टय वर्णमाला, समस्त अक्षर एवं समस्त ध्वनियाँ कुण्डलिनी हैं । इसलिए कुण्डलिनी वाक्चतुष्टयात्मिका है । विद्या को कुण्डलिनी भी कहा गया है—''विद्या कुण्डलिनी रूपा मण्डलत्रयभेदिनी ।'' (यो०ह०) ॥ अर्थात् विद्या कुण्डलिनी होने के कारण वाक्चतुष्टय से समन्वित है ।

अकारादि, ककारादि १६, १६, वर्ण है । उसमें 'तृतीयकूट' अकारादि स्वरूप एवं हकार व्यञ्जन रूप है । 'द्वितीयकूट' ककारादि रूप एवं लकाररूप हैं । प्रथमकूट थकारादिरूप एवं क्षकारादिरूप हैं । इस प्रकार ५० की संख्या होने के कारण विद्या का गणेशत्व सिद्ध है—'एवमेक पंचाशत् संख्याकत्वाद्विद्याया

१. अमृतानन्दनाथ—योगिनीहृदय 'दीपिका' २. चतुश्शती

गणेशत्वम् ॥''[१]

'मन्त्र' निर्मित होते हैं शब्दों से या वाणियों से । देवी वाक्‌चतुष्टयात्मिका एवं मंत्रात्मिका है—'सर्वशक्तिमयी सर्वमङ्गला सद्‌गतिप्रिया । सर्वेश्वरी सर्वमयी सर्वमन्त्र-स्वरूपिणी (ललिता सहस्रनाम) 'विद्या' अक्षरस्वरूपा है—'अष्टात्रिंशत्कलायुक्त पंचाशद्वर्णविग्रहा ॥ (यो०ह०) भगवती भी परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी (वाक्चतुष्टया) भी है—

'परा प्रत्यक्चितीरूपा पश्यन्ती पर देवता ।
मध्यमा वैखरीरूपा भक्तमानसंहंसिका ॥ (ल०सह०)

आचार्य भास्कर 'योगिनीहृदय' की अपनी टीका 'सेतुबंध' में कहते है कि—

'श्रीविद्या गणेशरूपिणी है'—'गणेशोऽभून्महाविद्या परावागादिवाङ्मयी'[२] महाविद्या गणेशरूपा तो है साथ ही साथ परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी रूपा भी है ।[३] अमृतानन्दनाथ कहते हैं—'चतुर्विधमातृकामयत्वात्' अकथादि वैखर्यादिवर्गगणत्रयबीज-त्रयावयवत्वाच्च, सेयं महाविद्या गणेशोऽभूदित्यर्थः ॥''[४] आचार्य भास्करराय कहते हैं कि 'अ क थ' का कथन है कि—'अ' = अकारादिषोडशस्वरात्मक तार्तीय शक्तिकूट ॥ 'क' = कादिदान्ताक्षररूप द्वैतीयीक कामराजकूट । 'थ' = थकारादि सकारान्ताक्षरमयं प्राथमिक वाग्भव । 'विद्या' = गणेश ॥ 'विद्या' = शक्ति, कामराज एवं वाग्भव । 'विद्या' = कूटों के वर्णों एवं परा-पश्यन्ती-मध्यमा एवं वैखरी ॥

बिन्दुत्रयनादत्रयतदन्यकूटत्रयैर्ग्रहत्वमिह ।
नक्षत्रत्वं च दशाकाराणां व्यञ्जनैरपार्थक्यात् ॥ ८९ ॥

(श्रीविद्या की ग्रहरूपात्मकता एवं नक्षत्र रूपात्मकता)

तीन बिन्दु, तीन नाद एवं तीनों कूटों (वाग्भव, कामराज एवं शक्तिकूट) के अवशिष्टांशों के द्वारा निर्मित होने के कारण (यह विद्या) ग्रहरूपात्मिका भी है । (उसी भाँति) व्यञ्जनों से दश अक्षरों के पृथक् न होने के कारण (सत्ताईस अक्षरों से युक्त यह श्रीविद्या) नक्षत्ररूपात्मिका भी है ॥ ८९ ॥

*** प्रकाश ***

बिन्दुनादनिर्मुक्तं कूटमेकं बिन्दुरेको नाद एकः, एवं प्रतिकूटं त्रयं त्रयमित्यर्थः । तदुक्तम्—'बीजबिन्दुध्वनीनां च त्रिकूटेषु ग्रहात्मिका' इति । बिन्दवश्च ध्वनयश्चेति द्वन्द्वोत्तरं बीजानां बिन्दुध्वनय इति तत्पुरुषात् । तेन च बीजबिन्दुध्वनीनामिति पदेन षड् गणिता भवन्ति । तेषां षण्णां त्रिकूटेषु; अर्थात् तदतिरिक्तेषु त्रिषु मेलनेनेति शेषः । षष्ठ्या वा संबन्धित्वमर्थः । तैः षड्भिः संमेल्य गणितेषु कूटेषु सत्सु ग्रहात्मिका विद्या भवतीति योजना । ये तु बीजपदेन हकाररेफेकारसमूहमात्रम्, तानि च बिन्दवश्च

---

१. भास्करराय—'सेतुबन्ध' (श्लोक ६३ : 'मन्त्रसंकेत')
२-४. अमृतानन्दनाथ—योगिनीहृदय 'दीपिका' ('मन्त्रसंकेत' ६३-६४)

ध्वनयश्चेति त्रिपदद्वन्द्व इति व्याख्याय 'बीजमात्रेणावयवविश्लेषसचिवेन ग्रहत्वमुपपादयन्ति तेषामितरांशवैयर्थ्यम्, संपूर्णाया विद्याया एव गणेशनक्षत्राद्यात्मकत्वोक्त्या प्रकृते विद्यैकदेशस्यैव ग्रहत्वोपपादने क्वचिदेकदेशे क्वचित् संपूर्णायामिति वैरूप्यं च। यथा च योगिन्यादेरपि नैकदेशरूपतापत्तिस्तथानुपदमेव वक्ष्यामः। किं च, बिन्दुनिर्मुक्तस्य बीजत्वाभावाद् बीजपदेन परामर्शो ऽपि नोचितः। कथमन्यथा 'शुद्धं बिन्दुयुतम्' इत्यादिदशविधमातृकान्यासान्तर्गतशुद्धमातृकान्यासप्रकरणे बिन्दुविनिर्मोके सति केवलानामक्षराणां बीजत्वाभावापत्त्या बिन्दुयुतन्यासे पौनरुक्त्ये ऽपि सबिन्दुक एवं शुद्धन्यासः कार्य इति सांप्रदायिकानामुक्तिः सङ्गच्छत इति दिक्। संप्रदायार्थप्रकरणे सप्तत्रिंशद्वर्णा उक्ताः। तेषु दश श्रीकण्ठानां स्वस्वव्यञ्जनैः सह गणने दशसंख्याया बाधे सप्तविंशतिरवशिष्यन्ते; तेन च नक्षत्रात्मकत्वं सिद्धमित्याह—नक्षत्रत्वं चेति। तदुक्तम्—

'हृल्लेखात्रयसंभूतैस्तिथिसंख्यैस्तथाक्षरैः।
अन्यैर्द्वादशभिर्वर्णैरेषा नक्षत्ररूपिणी ॥' इति ॥ ८९ ॥

* सरोजिनी *

श्रीविद्या ग्रहरूपा एवं नक्षत्ररूपा भी है—

१. बीजबिन्दुध्वनीनां च त्रिकूटेषु ग्रहात्मिका ॥ ६४ ॥[२]

२. हृल्लेखात्रय संभूतैस्तिथि संख्यैस्तथाक्षरैः।
अन्यैर्द्वादशभिर्वर्णैरेषा नक्षत्ररूपिणी ॥ ६५ ॥[३]

आचार्य अमृतानन्दनाथ 'दीपिका' में इसकी व्याख्या करते हुए इसकी पुष्टि में कहते हैं—"कूटशब्दोऽत्राक्षर पिण्डपरः। यथोक्तमभियुक्तैः "कुटेषु त्रिषु कार्यवशादीकारशृङ्गक्रमात्' इति। सौभाग्यविद्याया अकार पिण्डेषु बीजबिन्दुध्वनीनां च बीजं ईकारान्तम्' बिन्दुररूक्तलक्षणः। ध्वनिर्नादः, बीजबिन्दुध्वनीनां चेति तृतायार्थे छान्दसः प्रयोगः। कूटत्रय बीजानि त्रीणि, बिन्दव स्त्रयः, नादास्त्रय इति नवभिर्ग्रहात्मिका विद्येत्यर्थः ॥"

१. कूटत्रय बीजत्रय २. बिन्दुत्रय ३. नादत्रय—इन नौ अङ्गों के कारण ही विद्या नौ संख्या वाले ग्रहों के साथ एकात्मकता रखती है अर्थात् देवी नवावयवा होने के कारण ग्रहरूपात्मिका भी है। आचार्य भास्कर भी इसकी पुष्टि करते हैं—"बीजमीकारान्तमेकं बिन्दुरेको ध्वनिरेक इति त्रयाणां कूटमेकम्। एवं त्रिषु कूटेषु नवत्वमापन्ना विद्या ग्रहात्मिका भवति।"[४]

'श्रीविद्या' ग्रहरूपा के अतिरिक्त नक्षत्ररूपा भी है—

'नक्षत्रत्वं च दशाकाराणां व्यञ्जनैरपार्थक्यात् ॥"[५]

---

१. बीजत्रय
२-३. योगिनीहृदय
४. सेतुबन्ध
५. वरिवस्यारहस्यम्

हृल्लेखात्रयसंभूतैस्तिथिसंख्यैस्तथाक्षरैः । अन्यै द्वदिर्शाभर्वर्णैरेषा नक्षत्ररूपिणी ।।[१] अर्थात् २७ अक्षरों से युक्त होने के कारण विद्या नक्षत्ररूपा भी है । "बीजत्रय त्रय शिखरवर्ति हृल्लेखात्रयसंभूतैस्तथाक्षरैर्हकार रेफ ईकार बिन्दु नादात्मकैस्तिथिसंख्यकैः पंचदशभिरन्यैहृल्लेखात्रय वर्जितै र्द्वादशवर्णौ कूटत्रयावयवैः पंचदशभिर्द्वादशभिश्च सप्तविंशतिवर्णैः सर्वैर्नक्षत्ररूपिणीत्यर्थः ।।[२] इस दृष्टि की पुष्टि करते हुए आचार्य भास्करराय ने 'सेतुबन्ध' में कहा है—'हकार रेफेकार बिन्दुनादाः प्रति हृल्लेखं पञ्चेतितिथिसंख्यैः पंचदशसंख्यैः । अन्यैः सव्यञ्जन रूपैर्वर्णै द्वादशभिर्मिलित्वा सप्तविंशत्या नक्षत्ररूपैषा विद्या ।

हृल्लेखाभिस्तिसृभिस्तदन्यकूटैश्च योगिनी योगत् ।
राशीभूताप्येषा तिसृणां पूर्वाक्षरैरैक्यात् ॥ ९० ॥

(श्रीविद्या की योगिनीरूपात्मकता एवं राशिरूपात्मिकता)

हृल्लेखात्रितय एवं तदितर कूटत्रय के योग से यह श्रीविद्या योगिनीरूपात्मिका है । तीन (हृल्लेखात्रय) एवं पूर्ववर्ती (ल) अक्षरों के योग से निर्मित होने के कारण (यह श्रीविद्या) राशिरूपात्मिका भी है ॥ ९० ॥

* प्रकाश *

हृल्लेखात्रयं तद्विनिर्मुक्तं कूटत्रयं चेति षड्भिर्योगादेषा विद्या योगिनी । तिसृणां हृल्लेखानां पूर्ववर्णैर्लकारैः सह गणनायां द्वादशसंख्याकावयवशालित्वात् राशिरूपाप्येषा । उक्तं च—

'विद्यान्तर्भूतशक्त्याद्यैः शाक्तैः षड्भिरथाक्षरैः ।
योगिनीत्वं च विद्याया राशित्वं चान्त्यवर्जितैः ॥'

इति । विद्यान्तर्भूता ये शक्तेराद्यभागाश्चतुःपञ्चत्र्यक्षररूपास्त्रयः; तैः शाक्तैः शक्तिनिः । स्वार्थे तद्धितः । साहित्यरूपसंबन्धार्थे वा । तिसृभिः शक्तिभिः सहितैः । तेन सद्संख्यामापन्नैरित्यर्थः । केचित्तु—शाक्तपदेन लकारास्त्रयः; तेषामेव शक्त्याद्यैरिति विशेषणम्; तच्च शक्तिसाहित्यद्योतनाय; तेन च षट्संख्यापूर्तिः एवं च त्रिभिर्लकारैस्तिसृभिर्लज्जाभिश्चेत्यर्थः—इति व्याचक्षते । तेषां मते विद्यैकदेशस्यैव योगिनीरूपत्वात् 'योगिनीत्वं च विद्यायाः' इत्युक्ति-स्वारस्यभङ्गापत्तिः, विद्यैकदेशे विद्यापदस्य लक्षणापत्तेः । इदं तु चिन्त्यम्—शक्त्याद्या लकारास्त्रयः शाक्ताः सकारास्त्रय इति स्पष्टतरम्; हादिविद्यापक्ष एवास्य स्वारस्ये सत्यपि शक्तपद लकारार्थकत्वेन किमिति व्याख्यातं तत्पक्षपातिभिरिति । 'अन्त्यवर्जितैः' इत्यस्यान्त्यानां मायानां पार्थक्येन गणनं वर्जनीयमित्यर्थः । अर्थात् संनिहितैर्लकारैर्मेलनेनेति भावः । ये तु यथाश्रुतं व्याचक्षते तेषाम् 'विद्यायाः' इति स्वारस्यं भज्येत । अथ वा, राशीनां सपादनक्षत्रद्वयात्मकत्वेन नक्षत्रत्वोक्त्यैव पूर्णविद्याया राशित्वं सिद्धम्; एकदेशे ऽपि तदस्तीति विशेषद्योतनायान्त्यवर्जितैरित्युक्तिः ॥ ९० ॥

---

१. अमृतानन्दनाथ—योगिनीहृदय 'दीपिका' २. सेतुबन्ध

* सरोजिनी *

'विद्या' की योगिनीरूपता एवं राशिरूपता—"योगिनीहृदय" में विद्या की योगिनीरूपता एवं राशिरूपता की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि—"विद्यान्तर्भूतशक्त्याद्यैः षड्भिस्तथाक्षरैः । योगिनीत्वं च विद्याया राशित्वं चान्त्य-वर्जितैः ॥" अमृतानन्द योगी ने इसकी पुष्टि में कहा है कि—१. पंचदशी में १५ अक्षर हैं । २. तीन हृल्लेखायें हैं ३. तीन लकार हैं—अतः विद्या के षडक्षरात्मिका होने के कारण इसे 'योगिनी' कहा गया है—'विद्यायाः पंचदशाक्षर्या अन्तर्भूताः शक्तयो हृल्लेखास्तिस्रः, तदाद्याश्च लकारास्त्रयः शाक्तैरेतैः षड्भिरक्षरैर्विद्यायाः योगिनीत्वम् । योगिन्य डाकिन्याद्याः षट् ॥"[१] अमृतानन्दजी ने 'षड्भिरक्षरैर्विद्याया' कहकर 'विद्या' को षडाक्षरी क्यों कहा? विद्या तो पंचदशाक्षरी है फिर षडाक्षरी कैसे? वस्तुतः इस विद्या में पुनरावृत्ति का त्याग करने पर इसमें मात्र मूलतः ६ अक्षर ही पाये जाते हैं यथा "क ए ई ल ह्रीं । ह स क ह ल ह्रीं । स क ल ह्रीं"—में ३ कार, ३ लकार, २ हकार, २ सकार एवं ३ ह्रींकार है । इनकी पुनरावृत्ति—शून्य वर्णसंख्या निम्नानुसार मात्र ६ है—"१. क, २. ए, ३. ई, ४. ल, ५. ह, ६. स"

'विद्यान्तर्भूतशक्त्याद्यैः शाक्तैः षड्भिरथाक्षरैः ।
योगिनीत्वं च विद्याया राशित्वं चान्त्यवर्जितैः ॥'

अमृतानन्द जी कहते हैं कि इस विद्या में १५ अक्षर हैं, अन्त में ३ हृल्लेखायें हैं यदि हृल्लेखाओं को छोड़ दिया जाय तो विद्या में मात्र १२ अक्षर ही रह जाएँगे । अतः 'विद्या' राशिरूपिणी भी है—'अस्या विद्यायाः पंचदशाक्षर्या अन्त्या हृल्लेखास्तिस्रः, तद्वर्जितैर्द्वादशभिर्वर्णैं राशित्वं भवेदिति । राशियाँ भी १२ हैं—"राशयो मेषाद्या द्वादश" विद्या में गणेशत्व भी कहा गया है—

'एकादशाधिकशतदेवतात्मतया पुनः ।
गणेशत्वं महादेव्याः इत्यादिना ॥'[३]

आचार्य भास्करराय कहते है कि—'विद्यान्तर्भूता शक्तिर्हल्लेखान्त्य ईकारः । तस्मादाद्यं रेफान्तं कूटमेकम् । शक्त ईकार एक इति प्रतिकूटं द्वौ द्वाविति षड्भिरक्षरै योगिनीत्वम् । अथवा शक्तेर्हल्लेखाया आद्या लकारास्त्रयः शाक्ताः सकारा स्त्रयः इति षट् ॥ प्रथमपक्षे सम्पूर्णाया विद्यायाः योगिनीत्वं अस्मिन् पक्षे तु एकदेशस्य ॥"[४] भास्करराय का कथन है कि यदि प्रत्येक कूट के अन्त में प्रयुक्त 'ह्रीं' को हटा दिया जाय तो १५ के स्थान पर विद्या में मात्र १२ अक्षर रह जायेंगे—इससे भी द्वादशसंख्यात्मा राशियों की भाँति विद्या भी द्वादशाक्षरी सिद्ध होने से 'राशि' सिद्ध होगी—'लज्जाबीजानि त्रीणि तैर्वर्जितैः पूर्वाक्षरे मेलनेन गणितैरक्षरैर्द्वादशमी राशित्वम् ॥"[५]

१-३. अमृतानन्द—योगिनीहृदय 'दीपिका' ४-५. सेतुबन्ध

एवं गणेशादिषट्कत्वस्य विद्यायां देव्यभेदसाधकत्वे स्थिते ऽपि विद्यायां देवीरूपान्तरत्वस्य वचनबलादेव सिद्धत्वेन रामकृष्णादिवदभेदस्यापि सिद्धत्वेनाभेदेनैव हेतुना षट्कत्वं साधयति—

देव्या रूपान्तरत्वेन विद्यायास्तदभेदतः ।
गणेशग्रहनक्षत्रयोगिनीराशिपीठता ॥ ९१ ॥

(पंचदशी विद्या एवं देवी में अभेदात्मकता)

देवी का रूपान्तर होने के कारण विद्या का उससे (देवी के साथ) अभेद होने से उसका गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी एवं राशि रूप युक्ति-सङ्गत है ॥ ९१ ॥

*** सरोजिनी ***

"विद्या समस्तास्तव देवि! भेदाः ॥" कहकर श्रीविद्या एवं देवी दोनों में अभिन्नता स्थापित की गई है ।

उपर्युक्त श्लोक में निम्न अभिन्नताओं को रेखांकित किया गया है— १. श्रीविद्या एवं देवी में अभिन्नता २. श्रीविद्या का गणेशरूपत्व, ग्रहत्व, नक्षत्रत्व, योगिनीरूपत्व एवं राशिरूपत्व स्वसिद्ध है ।

श्रीविद्या एवं देवी में अभेद—इस संदर्भ में निम्न तर्क उक्त बिन्दु को संपुष्ट करते हैं—१. समस्त 'मन्त्र' मातृकाओं से से उद्भूत होते हैं अतः मातृकात्मक हैं। मातृकाओं का मूलकेन्द्र 'परावाक्' है । 'परमाकला' रूपादेवी स्वयं 'परावाक्' है— "आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला । अम्बिकारूपमापन्ना परावाक् समुदीरिता ॥"

२. परमेश्वरी कुण्डली (देवी) मंत्रों के प्राणस्वरूप मातृकाओं का स्वस्वरूप है—"इच्छाज्ञानक्रियारूपा कुण्डली परमेश्वरीम् । प्रसुप्त भुजगाकारां मातृकारूपिणीं शिवाम् ॥"[१]

३. समस्त मंत्र शिव-शक्ति से समुत्पन्न है—"शिवशक्ति समायोगाज्जनितो मंत्रराजकः ॥"[२]

४. पराशक्ति मंत्ररूपिणी एवं मातृकारूपा दोनों है—"ज्ञातृज्ञानमयाकारमननान्मंत्ररूपिणी । तेषां समष्टिरूपेण पराशक्तिस्तु मातृका ॥"[३] 'तेषां समष्टिरूपेण पराशक्तिं तु मातृकाम् ।'[४]

५. मन्त्र कूटत्रयात्मक है और देवी कूटत्रयात्मिका है—

"कूटत्रयात्मिकां देवीं समष्टि व्यष्टिरूपिणीम्"[५]

६. देवी मूलविद्या है—"तन्मयी मूलविद्या च तदद्य कथयामि ते ॥"[६] सारे

१. स्वछन्द संग्रह २-६. योगिनीहृदय 'दीपिका'

मंत्र श्रीविद्या में स्थित हैं और विद्या स्वयं देवी है—(क) तथा मंत्राः समस्ताश्च विद्यायामत्र संस्थितः ।[१] (ख) विद्या समस्तास्तवव देवि भेदाः ॥

७. 'चक्र' मंत्रात्मक है और चक्र देवीरूप है—देवी का शरीर है

"इत्थं मंत्रात्मकं चक्रं देवतायाः परं वपुः ॥"[२]

जहाँ तक देवी का गणेशत्व, ग्रहरूपत्व, नक्षत्ररूपत्व, योगिनीरूपत्व है वह सिद्ध ही है अतः उससे अभिन्न विद्या भी गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी आदि के साथ अभिन्न है । देवी के इन स्वरूपों की पुष्टि इस प्रकार है—१. गणेशत्वं महादेव्याः २. ग्रहरूपा च सा देवी ३. नक्षत्रविग्रहा जाता ४. योगिनी त्वमथोच्यते ॥[३] इसी भाँति विद्या भी गणेशरूपा, परावाक्रूपा, ग्रहात्मिका, नक्षत्ररूपा, राशिरूपा है—१. गणेशोऽभून्महाविद्या २. परावागादिवाङ्मयी ३. बीजबिन्दुध्वनीनां च त्रिकूटेषु ग्रहात्मिका ४. अन्यैर्द्वादशभिर्वर्णैरेषा नक्षत्ररूपिणी ॥ ५. योगिनीत्वं च विद्याया राशित्वं चान्त्यवर्जितैः ॥

आचार्य अमृतानन्द ग्रहरूपता की पुष्टि करते हुए कहते हैं—

(क) त्रिषु कूटेषु नवत्वमापन्ना विद्या ग्रहात्मिका भवति ।[४] (ख) नक्षत्ररूपता—हकार रेफेकार बिन्दुनादाः प्रतिहृल्लेखं पंचेति तिथिसंख्यैः पंचदशसंख्यैः । अन्यैः सव्यञ्जनरूपैर्वर्णैर्द्वादशभिर्मिलित्वा सप्तविंशत्या नक्षत्ररूपैषा विद्या ॥"[५]

'ललितासहस्रनाम' में भगवती राजराजेश्वरी त्रिपुरा को 'सर्वमंत्रस्वरूपिणी' कहा गया है—'सर्वशक्तिमयी सर्वमङ्गला सद्गतिप्रिया । सर्वेशी सर्वमयी सर्वमंत्रस्वरूपिणी ।[६]

समस्त सात करोड़ मंत्र भगवती के स्वस्वरूप है—'सर्वे सप्तकोटिसंख्या मंत्राः स्वरूपमस्याः ॥ श्रूयते च 'सुन्दरीतापनीये'—'पूर्वोत्तराभ्यां विद्याया अनेकाः परिक्लृप्ता' 'विद्या समस्तास्तव देवि भेदाः' कहकर भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई हैं । गौड़पाद ने भी "विद्याः या पूर्वोत्तराभ्यामनेका जाता' आदि सात सूत्रों द्वारा भगवती त्रिपुरा के सर्वमंत्रात्मकत्व का प्रतिपादन किया है ।[७] भगवती को 'मूलमंत्रात्मिका' भी कहा गया है १. 'मूलमंत्रात्मिका मूल कूटत्रय कलेवरा' । वह पंचदशी मंत्र के 'वाग्भव' 'कामराज' एवं 'शक्ति' नामक कूटों का विग्रह है । यह भी कहा गया है कि भगवती 'पंचदशी' नामक मंत्र की शरीरं के रूप में धारण करती हैं—

१. कण्ठ से कटिपर्यन्त	'कण्ठाधः कटिपर्यन्तमध्यकूट स्वरूपिणी ।
२. कटि से नीचे का भाग	शक्तिकूटैकतापन्न कट्यधोभाग धारिणी ॥'
३. मुख भाग	'श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुख पङ्कजा ॥'

१-५. योगिनीहृदय 'दीपिका'
६. ललितासहस्रनाम (श्लोक १०३)
७. भासुरानन्दनाथ – 'सौभाग्यभास्कर' (श्लोक १०३)

देवी को 'महातंत्रा' 'महामंत्रा' एवं 'महासना' के साथ 'महामंत्रा' भी कहा गया है—'महातंत्रा महामंत्रा महायंत्रा महासना'' भगवती सिद्धेश्वरी । सिद्धमाता के साथ ही 'सिद्धविद्या' (पंचदशी विद्या = पंचदशाक्षरी मंत्र) भी है— 'सिद्धेश्वरी सिद्धविद्या''॥ वे विमर्शरूपिणी एवं 'विद्या' भी है—'विमर्शरूपिणी विद्या' वे आत्मविद्या, के साथ ही साथ कामसेविता 'महाविद्या' एवं 'श्रीविद्या' भी हैं—'आत्मविद्या महाविद्या श्रीविद्या कामसेविता' वह त्रिकूटा 'षोडशाक्षरी विद्या' भी है—''श्रीषोडशाक्षरी विद्या त्रिकूटा काम कोटिका'' जो मंत्र स्त्रीदेवतात्मक होते हैं उन्हें 'विद्या' एवं जो पुरुषदेवात्मक होते हैं उन्हें 'मंत्र' कहा जाता है—'स्त्रीदेवतास्तुविद्याः स्युर्मंत्रा पुंदेवतामता'—अतः यहाँ देवी को जो 'विद्या' कहा गया है वह विद्या भी मंत्र का ही वाचक है । 'तोडल तंत्र' में उन्हें—'परमाविद्या' कहा गया है—'या चाद्या परमाविद्या' भगवती 'मंत्ररूपिणी' हैं—''ज्ञातृज्ञानमयाकारमननान्मंत्ररूपिणी ।।''[१] कूट मंत्र के भाग है अतः देवी को 'कूटत्रयात्मिका' भी कहा गया है—''कूटत्रयात्मिका देवीं समष्टि व्यष्टि रूपिणीम् ।।''[२] 'सूतसंहिता' में भी उन्हें 'विद्यारूपा' कहा गया है[३]—'विद्यारूपा या शिवा वेदवेद्या सत्यानन्दानन्त संवित्स्वरूपा'— 'स्कन्दपुराण' में उन्हें परमाविद्या कहा गया है—''ईदृशी परमा विद्या शाङ्करी भवनाशिनी ।''[४]

अथ चक्रराजे गणेशादित्वमाह—

रेखादलकोणगणैर्घटनाच्चक्रे गणेशत्वम् ।
त्रैलोक्यमोहनाद्यैर्नवभिश्चक्रैर्ग्रहत्वं च ॥ ९२ ॥

(श्रीचक्र की ग्रहरूपात्मकता)

रेखा-समूह, दल-समूह एवं कोण-समूह द्वारा घटित होने के कारण श्रीचक्र में गणेशत्व एवं त्रैलोक्यमोहन आदि नौ चक्रों के द्वारा विरचित होने के कारण (श्रीचक्र की) गहरूपता (सिद्ध होती) है ॥ ९२ ॥

*** प्रकाश ***

रेखाश्चतुरश्रास्तिस्रो वर्तुलास्तिस्रः । दलानि चतुर्विंशतिः । कोणाः पञ्चचत्वारिंशत् । त्रैलोक्येति । सर्वानन्दमयान्तैरिति शेषः । रेखाभिस्तिसृभिरकथादिमयीभिर्मध्यत्रिकोणगाभिर्गणेशत्वं वदतां चक्रैकदेशे तदापत्त्या वैरूप्यं दोषः ॥ ९२ ॥

*** सरोजिनी ***

'कामकला विलास' में कहा गया है—'पंचदशाक्षरी विद्या भी उसी प्रकार (त्रिपुरावत, चिदानन्दस्वरूपिणी, विश्वात्मिका एवं विश्वोत्तीर्ण) है । वह परिच्छेदशून्य (सूक्ष्म) त्रिपुरासुन्दरी देवी है । तत्त्वविदयोगियों ने पंचदशीविद्या एवं वेद्य (महात्रिपुरसुन्दरी देवी) दोनों में शाश्वतिक साम्य सामरस्य (अभेदात्मकता) का

१-२. योगिनीहृदय 'दीपिका'
३. सूत संहिता
४. स्कन्दपुराण

प्रतिपादन किया है—

'विद्यापि तादृगात्मा सूक्ष्मा सा त्रिपुरसुन्दरी देवी ।
विद्यावेद्यात्मकयोर त्यन्ताभेदमामन्त्यार्थाः ॥[1]

नटनानन्दनाथ 'चिद्वल्ली' में कहते हैं—इतः परं विद्यादैवतयोरपि न भेदलेशोऽपि वेद्यवेदकयोरिक्ति इति उक्तमेवार्थं दृढ़यितुं देवतावद्विद्याया अपि विश्वात्मकत्वात्तदुत्तीर्णत्वं व्यक्तमाह ।" अर्थात् विद्या (पंचदशी विद्या) एवं देवता (त्रिपुरसुन्दरी) में रंचमात्र भी भेद नहीं है इसी तथ्य को दृढ़ीभूत करने की दृष्टि से ग्रंथकार ने वेद्य-वेदक भाँति में अभिन्नता दिखाई है तथा इसके दृढ़ीकरण हेतु ग्रंथकार ने देवता की भाँति विद्या को भी विश्वात्मक एवं विश्वोत्तीर्ण कहा है ।[2]

'चिद्वल्ली' की भाँति 'चिदम्बरसंहिता'[3] में भी कहा गया है—"अहं पंचाक्षरस्साक्षात् त्वं तु पंचदशाक्षरी" 'चतुश्शती' में भी कहा गया है—'यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदाहृता । सा सा सर्वेश्वरी देवी स सर्वोऽपि महेश्वरः । व्याप्ता पंचदशार्णैषा विद्याभूत गुणात्मिका । पंचभिश्च तथा षड्भिश्चतुर्भिररपि चाक्षरैः । स्वरव्यञ्जनभेदेन सप्त त्रिंशत्तत्त्वरूपिणी । तत्त्वातीतस्वरूपा च विद्यैषा भाव्यते सदा ॥

विभिन्न रेखाओं, दलों, एवं कोणों के गणों द्वारा घटित होने के कारण इसका गणेशत्व, एवं त्रैलोक्यमोहन आदि (श्रीचक्र के) नवचक्रों द्वारा निर्मित होने से इसका ग्रहत्व सुस्पष्ट है ।

रेखायें—चतुरस्र आदि ३ । वर्तुल = ३ ॥ दल = २४ ॥ कोण = ४५ ॥ त्रैलोक्यमोहनादि सर्वाननन्दमयान्त चक्र ॥ रेखात्रय—अ, क, थ रेखायें, 'योगिनीहृदय' में भी इसके ग्रहत्व की पुष्टि की गई है—

"बीजबिन्दुध्वनीनां च त्रिकूटेषु ग्रहात्मिका ॥"

अमृतानन्दनाथ कहते हैं—'सौभाग्यविद्याया अकारपिण्डेषु बीजबिन्दुध्वनीनां च बीजम् ईकारान्तम्, बिन्दुररुक्तलक्षणध्वनिर्नादः, बीजबिन्दुध्वनीनां चेति तृतीयार्थे छान्दसः प्रयोगः । कूटत्रयबीजानि त्रीणि, बिन्दवस्त्रयः, नादास्त्रयः इति नवभिर्ग्रहात्मिका विद्येत्यर्शः ॥"

१. कूटत्रय के बीजत्रय ३. बिन्दुत्रय ४. नादत्रय—इन नवों के कारण विद्या ग्रहरूपा है ।[1] तीनों कूटों में नवत्वमापन्ना विद्या ग्रहात्मिका हुआ करती है । 'एवं त्रिषु कूटेषु नवत्वमापन्नाविद्या ग्रहात्मिका भवति ॥[2]

वृत्तत्रयधरणीत्रयमन्वश्राणां विभज्य गणनेन ।
सप्तभिरितरैश्चक्रैश्चक्रै नक्षत्ररूपत्वम् ॥ ९३ ॥

---

१. कामकलाविलास
२. नटनानन्दनाथ—'चिद्वल्ली'
३. चिदम्बरसंहिता
४. योगिनीहृदय 'दीपिका'
५. सेतुबन्ध

(श्रीचक्र की नक्षत्ररूपता)

तीन वृत्तों, तीन भूगृह-रेखाओं तथा चतुर्दश कोणों एवं अन्य सात चक्रों की पृथक्-पृथक् गणना करने से इसकी नक्षत्ररूपता (सिद्ध होती) है ॥ ९३ ॥

*** प्रकाश ***

द्वयोः पद्मयोः कर्णिकावृत्ते द्वे, एकं बहिर्वृत्तमिति त्रयम् । धरणीत्रयं भूगृह-रेखास्तिस्रः । मन्वश्राणि चतुर्दश कोणाः । इतरैः, त्रैलोक्यमोहनसर्वसौभाग्य-दायकातिरिक्तैः । वृत्तत्रयमन्वश्रबहिर्दशारैरिति केचित् ॥ ९३ ॥

*** सरोजिनी ***

"एवं विश्वप्रकारा च चक्ररूपा महेश्वरी" । चूँकि देवी चक्ररूपा है अतः यदि श्रीचक्र नक्षत्ररूपात्मक है तो देवी भी नक्षत्ररूपा मानी जानी चाहिए । 'योगिनीहृदय' में श्रीविद्या को नक्षत्ररूपिणी कहा गया है ।

'हल्लेखात्रयसंभूतैस्तिथिसंख्यैस्तथाक्षरैः ।
अन्यर्द्वादशभिर्वर्णैरेषा नक्षत्ररूपिणी ॥"

'श्रीचक्र' भी नक्षत्ररूप है—

१. ३ वृत्त २. ३ भूगृहरेखा ३. १४ कोण ४. ७ अन्य चक्र सभी को मिलाकर जो २७ संख्यायें होती हैं वह २७ संख्या वाले नक्षत्रों का प्रतीक है ।

दो कर्णिकावृत्त, एक बहिवृत्त, धरणीत्रय (तीन भूगृहरेखायें), मन्वश्रादिक चौदह कोण, त्रैलोक्यमोहन, सर्वसौभाग्यदायक आदि चक्र को मिलाकर श्रीचक्र के २७ अङ्ग हो जाते हैं अतः चक्र की नक्षत्ररूपता सिद्ध है ।[1]

**स्थितिसंहृतिचक्रे द्वे पद्मे द्वे वृत्तभूगृहे च द्वे ।
एवं षड्भिर्योगाच्छ्रीचक्रं योगिनीरूपम् ॥ ९४ ॥**

(श्रीचक्र की योगिनीरूपात्मकता)

स्थिति एवं संहार नामक दो चक्र, दो पद्म तथा दो अन्य वृत्त एवं भूगृह आदि छः के योग से यह 'श्रीचक्र' योगिनीरूप है ॥ ९४ ॥

*** प्रकाश ***

बिन्दुत्रिकोणवसुकोणाः संहृतिचक्रम्, दशारे द्वे चतुर्दशारं च स्थितिचक्रम्, अवशिष्टं सृष्टिचक्रमित्येतत् त्रिप्रकारकत्वं चक्रसङ्केते स्पष्टम् । पद्मे वसुदलषोडशदले । वृत्तमेकं भूगृहत्वेनैकम् । अष्टभिः कोणैर्ब्राह्म्यादियोगिनीरूपत्वं वदतां त्वति-वैरूप्यम् ॥ ९४ ॥

१. भास्करराय—'प्रकाश' (श्लोक ९३)

* सरोजिनी *

'श्रीचक्र' योगिनीरूप भी है ।

१. स्थिति २. संहार नामक चक्रद्वय दो पद्म ३. दो अन्य वृत्त एवं ४. भूगृह आदि छः के योग से श्रीचक्र योगिनीरूप है ।

'संहृतिचक्र' = बिन्दु, त्रिकोण, वसुकोण ।
'स्थितिचक्र' = दशारद्वय, चतुर्दशार ।

'पद्मे'—वसुदल, षोडशदल । 'वृत्त' = वृत्त एक है—भूगृह एक है । आठ कोणों द्वारा बाह्यादियोगिनीरूपत्व स्थापित है । इसी प्रकार विद्या भी योगिनीरूपा है—

'विद्यान्तर्भूतशक्त्याद्यैः शाक्तैः षड्भिस्तथाक्षरैः ।
योगिनीत्वं च विद्याया राशित्वं चान्त्यवर्जितैः ॥[१]

विद्या में १५ अक्षर हैं उसके अन्तर्भूत शक्तियाँ हैं—३ हृल्लेखाएँ हैं, ३ लकार हैं । ६ शाक्त अक्षरों से युक्त होने के कारण योगिनीत्व स्वसिद्ध है । योगिनियाँ डाकिनी आदि की संख्या छः हैं । इन सभी कोणों से योगिनीत्व स्वसिद्ध है—

'विद्यायाः पंचदशाक्षर्या अन्तर्भूताः शक्तयो हृल्लेखा स्तिस्रः । तदाद्याश्च लकारास्त्रयः, शाक्तैरैतैः षड्भिरक्षरैर्विद्याया योगिनीत्वम् । योगिन्यश्च डाकिन्याद्याः षट् ।''[२]

'श्रीचक्र' का स्वरूप निम्नांकित है—

१. अमृतानन्दनाथ—योगिनीहृदय 'दीपिका'
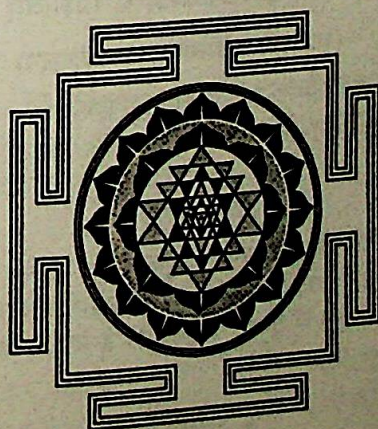
बिन्दु-त्रिकोण-वसुकोण-दशारयुग्मम्,
मन्वस्र-नागदल-संयुत-षोडशारम् ।
वृत्त-त्रयं च धरणी-सदन-त्रयं च,
श्रीचक्रमेतदुदितं पर-देवतायाः ॥

SRI YANTRA
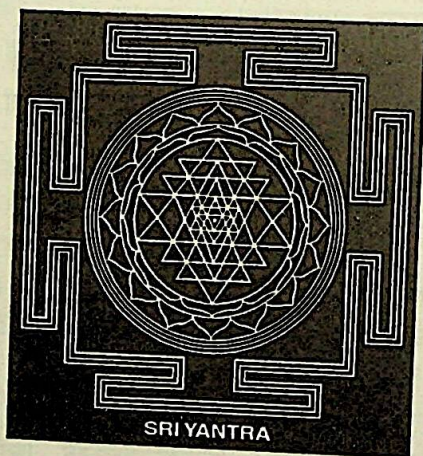
पञ्चचतुःशक्त्यनला बिन्दुर्वृत्तं च भूबिम्बम् ।
एवं द्वादशसंख्यैर्घटनाच्चक्रस्य राशित्वम् ॥ ९५ ॥

(चक्र की राशिरूपता का प्रतिपादन)

पाँच शक्ति, चार अग्नि, (एक) बिन्दु, (एक) वृत्त एवं (एक) भूगृह—इस प्रकार बारह संख्या के योग से चक्र की राशिरूपता (सिद्ध) होती है ॥ ९५ ॥

* प्रकाश *

स्वाभिमुखाग्रत्रिकोणानि शक्तय इत्युच्यन्ते । तानि पञ्च । पराङ्मुखाग्रत्रिकोणान्यनलाः । तानि चत्वारि । तदुक्तम्—'पञ्चशक्तिचतुर्वह्निसंयोगाच्चक्रसंभवः' इति । वृत्तं पद्मद्वयगर्भितम् । ये तु नव त्रिकोणानि द्वे पद्मे भूगृहमेकमित्याहुस्तेषां बिन्दुपरित्यागो दोषः ॥ ९५ ॥

* सरोजिनी *

'चक्र राशिरूप है'—इसका ही यहाँ प्रतिपादन किया गया है। "प्राणपानौ समानश्चोदानव्यानौ तथा पुनः । नागः कूर्मोऽथ ककरो देवदत्तो धनञ्जयः । जीवात्मा

परमात्मा चेत्येतै राशिस्वरूपिणी ॥'—'योगिनीहृदय' के इस कथन द्वारा श्रीविद्या की भी राशिरूपता सिद्ध होती है ।

'प्राणादिधनञ्जयान्ता दश वायवः, जीवात्मा उक्त लक्षणः पशुः, परमात्मा 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इत्युपनिषदुक्तसर्वभूतान्तर्यामी । एतैर्द्वादशमी राशिस्वरूपिणी ॥''—कहकर योगी अमृतानन्दनाथ ने योगिनीरूपत्व की पुष्टि की है । "पंच चतुः शक्त्यनला ।''

स्वाभिमुखाग्र त्रिकोण शक्तियाँ हैं । ये पाँच हैं । पराङ्मुखाग्रत्रिकोण ही 'अनल' हैं । ये चार हैं । इसीलिए कहा गया है—"पंचशक्ति चतुर्वह्निसंयोगाच्चक्र संभवः'' । 'वृत्तं' = पद्मद्वयगर्भित वृत्त ॥ जो ९ त्रिकोण हैं ।

१. ५ शक्तियाँ २. ४ अग्नि ३. १ बिन्दु ४. १ वृत्त ५. भूगृहादिक १२ के योग से 'श्रीचक्र' राशिरूप है ।

चक्रस्य विद्याक्षरजन्यत्वादप्यभेदस्य सिद्धत्वात्तेन हेतुना षड्रूपत्वं द्रढयति—

चक्रं विद्याक्षरैरेव जननात् तदभेदवत् ।
देव्या रूपान्तरत्वाच्च तेन युक्तोक्तरूपता ॥ ९६ ॥

(पंचदशीविद्या के वर्णों के साथ चक्रों की एवं चक्रों के साथ देवी की अभिन्नता का प्रतिपादन)

पंचदशीविद्या के अक्षरों द्वारा उद्भूत होने के कारण चक्र (नौ चक्र) उनसे अभिन्न हैं । (इन चक्रों का) देवी का रूपान्तर होने के कारण (देवी के इस) कथित चक्रात्मक रूप की युक्ति-युक्तता है । या देवी के अन्य रूपों के साथ इस रूप की सङ्गतता होने के कारण यह कथित रूपान्तर युक्ति सङ्गत है ॥ ९६ ॥

*** प्रकाश ***

यद्यपि मूलतन्त्रे चक्रे विद्याया अभेदस्तदक्षरजन्यत्वज्ञाप्यक एवोक्तो न पुनः षड्रूपत्वज्ञाप्यकः, तथापि 'एवं विश्वप्रथाकारा चक्ररूपा महेश्वरी' इत्युक्त्या षड्रूपता सूचितेति संप्रदायः ॥ ९६ ॥

*** सरोजिनी ***

प्रस्तुत श्लोक में निम्न दो अभिन्नताओं या एकरूपात्मकताओं का प्रतिपादन किया गया है—

१. देवी एवं श्रीचक्र अभिन्न हैं ।
२. पंचदशी विद्या एवं चक्र अभिन्न हैं ।] "एवं विश्वप्रकारा च चक्ररूपा महेश्वरी''—योगिनीहृदय

योगिनीहृदय में कहा भी गया है—"एवं विश्वप्रकारा च चक्ररूपा महेश्वरी (देव्या देहे यथा प्रोक्तो गुरुदेहे तथैव हि ।) ॥ ६७ ॥

देवी चक्ररूपा इसलिए है क्योंकि 'स्फुरत्ता' के कारण जैसे ही देवी अपने को देखने लगती है तभी चक्रों का जन्म हो जाता है—"यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी । स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः ॥"[१] भाव यह कि—"सा देवी स्वेच्छया स्वनिष्ठां स्फुरत्तां यदा पश्यति तदा चक्रस्य विश्वाभिन्नस्य त्रिकोणदिचक्रस्य संभव उत्पत्तिर्भवति ॥'[२] अमृतानन्दनाथ भी भास्करराय की इसी दृष्टि से सहमत हैं—'विश्वसर्जनमेव पराशक्तेः स्फुरत्ता, तस्याः सृष्टिरूपत्वात् । तदा षट्त्रिंशतत्वात्मकविश्वसृष्टिकाले चक्रस्य विश्वमयस्य परदेवताचक्रस्य संभवः । "स्वेच्छयैव जगत्सर्वं निगिरत्युद्गिरत्यपि ॥'[३] 'इच्छामात्रं प्रभो सृष्टिः' परमात्मा की इच्छा ही सृष्टि है । परमात्मा की 'इच्छा' ही देवी (शक्ति, माता, जगन्माता) हैं अतः सृष्टि एवं देवी एक हैं—'सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता' क्योंकि 'चक्र' देवी का शरीर है—आसन है और समस्त सृष्टि का संक्षिप्त रूप है अतः चक्र भी देवीरूप है एवं देवी भी चक्ररूपा हैं । 'एवमुक्तरीत्या योजितगणेशादिविश्वप्रकारा महेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी चक्ररूपा देवता ॥[४] सारांश यह कि—'एवं चक्र-देवता-विद्यानामेक धर्मावच्छिन्नत्वेनाभेदमुपसंहरन्"—चक्र-देवता-विद्या-इन तीनों में एकता है ।[५]

पंचदशीविद्या एवं श्रीचक्र भी अभिन्न है—श्रीचक्र का प्रत्येक त्रिकोण, वृत्त, रेखादिक विद्या के किसी अक्षर एवं अक्षर एवं मंत्र की अधिष्ठात्री देवी से अधिष्ठित हैं । देवी 'कामकला' एवं चक्र तो अभिन्न हैं ही—'इति कामकला विद्या देवी चक्रमात्मिका सेयम् । विदितायेन स मुक्तो भवति महात्रिपुरसुन्दरीरूपा ॥'[६] 'चक्रं कामकला रूपं प्रसार परमार्थतः'[७]—इनके साथ ही साथ विद्या भी श्रीचक्र से अभिन्न है । 'इत्थं मंत्रात्मकं चक्रं देवतायाः परं वपुः ॥'[८] अर्थात् देवी का शरीर रूप चक्र मंत्रात्मक है ।

श्रीचक्र के साथ देवी की एकता का प्रतिपादन करते हुए दीपिकाकर ने कहा है—"चक्रं देवतायाः परम् अन्यद् वपुः । "ततः पद्मनिभां देवीम्' इत्यत्र देवतायाः करचरणादि मद्वपुरुक्तम्, तदेव त्रिकोणादिभूगृहान्त श्रीचक्रपदनिवासावरणदेवतारूपेणावयवशो विभज्य निवासिनी स्वसंविद्देवता श्रीचक्रा पर वपुषा स्थिता तदुक्तमत्रेव—

स्वेच्छाविश्वमयोल्लेख चित्त विश्वरूपकम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं निसर्गानन्दसुन्दरम् ॥

इच्छाशक्तिमयपाशमंकुशज्ञानरूपिणीम् । क्रिया शक्तिमये बाण धनुषी दधदुज्ज्वलम् । आश्रयाश्रयि भेदेन अष्टधा भिन्न हेतिमत् । अष्टारचक्रसंरूढ़ नव चक्रासनस्थितम् । एवं रूपं परं तेजः श्रीचक्रवपुषा स्थितम् । तदीयशक्ति निकरस्फुरदर्मिसमावृतम् ॥'[९] चक्रं देवता विद्या गुरुः साधकश्चेति पंचोनां मध्य (अभेदः)[१०]

---

१. योगिनीहृदय 'दीपिका'
२. भास्करराय—'सेतुबन्ध'
३-४. योगिनीहृदय 'दीपिका'
५. भास्करराय—'सेतुबन्ध'
६. कामकलाविलास
७-९. योगिनीहृदय 'दीपिका'
१०. भास्करराय—'सेतुबन्ध'

सारे देवता श्रीचक्र की अवयवभूता शक्तियों की इकाइयाँ हैं क्योंकि—"एकादशोत्तरशत देवता त्रिकोणाग्रदक्षवामकोणेषु कामेश्वर्यादिकास्तिस्रस्तद बहिरष्ट-कोणान्तराले त्रिकोण परितश्चतुर्दिक्षु अष्टौ कामेश्वर कामेश्वर्यायुधदेवता अष्टकोणे अष्टौ-वशिन्याद्या, अष्टकोणान्तराले षडङ्गदेवताः, अन्तर्दशारे सर्वज्ञाद्या दश, द्वितीयदशारे सर्वसिद्धि प्रदाद्य दश, चतुर्दशारे सर्वसंक्षोभिण्याद्याश्चतुर्दश, अष्टदले अग्रानङ्ग-कुसुमाद्याः, षोडशकमले कामाकर्षिण्याद्याः षोडश, अन्तश्चतुरस्रे मुद्रा देवता दश, मध्ये चतुरस्रे बाह्मयाद्या अष्टौ, बाह्यचतुरस्रे अणिमाद्यादश । एवमेकादशोत्तर शत देवतात्मतया तासामाधारभूता श्रीचक्ररूपिणी देवता इत्यर्थः ।[1]

श्रीचक्र एवं विद्या की मातृकाओं में ऐक्य—

शिवचक्र		विद्या की मातृकायें	
१. भूपुर	=	मुख = य र ल व	ह = (आकाश) = शून्य ।
२. तीन वृत्त	=	क आदि सभी व्यञ्जन	ल (पृथ्वी) = भूपुर ॥
३. षोडशदश पद्म	=	सोलह स्वर	
४. अष्टदल पद्म	=	अष्ट वर्ग	
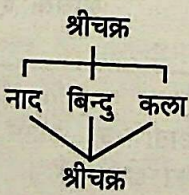
श्रीविद्या के वर्णों का चक्रों से एवं श्रीचक्र से ऐक्य—

'ल'—शिव वाच्य है । भूपुर का वाचक है ।

लकार = सहस्रार का वाचक—

श्री पंचदशी विद्या	श्रीचक्र एवं पिण्डस्थ चक्र	
१. 'क' = काम, शिव का वाचक	शिव अष्टमूर्ति हैं अतः क अष्टार, का द्योतक है ।	'स्वाधिष्ठान चक्र' स्वाधिष्ठान कामदेव का स्थान है अतः क = काम = स्वाधिष्ठान
२. 'ए' = विष्णुयोनि विष्णुरूप ॥ १० अवतारों का वाचक	बहिर्दशार	अनाहत चक्र = (विष्णु का स्थान होने के कारण)
३. 'ई' = माया । (१४ भुवनों की स्वामिनी ।)	चतुर्दशार	विशुद्ध चक्र (१० दल)
४. 'ल' = शिव । (भूमि वाच्य)	भूपुर (भूमि वाच्य होने के कारण)	शिववाच्य होने के कारण 'सहस्रार' का द्योतक ॥

१. योगिनीहृदय 'दीपिका'

मंत्राक्षर	श्रीचक्र एवं पिण्डस्थ चक्र	
'ह्रीं' = 'ह' = आकाश = शिव । ('परमव्योमन') व्योम = ब्रह्म । रुद्र अष्टमूर्ति ।।	अष्टदल पद्म	आज्ञा चक्र (शिवधिष्ठित) शिव का प्रधान स्थान, वाराणसी
'र' = अग्नि । अग्नि के १० कोण या जिह्वायें है	अन्तर्दशार	मणिपूर (अग्नि का स्थान होने से)
'ई' = माया	चतुर्दशार	विशुद्ध चक्र
'स' (शक्ति एवं चन्द्र का द्योतक) चन्द्रवाच्य ।	षोडशदल पद्म	आज्ञाचक्र (शक्तिवाचक होने से) सदाख्य या अर्द्धनारीश्वर का स्थान । शक्तिमय शिव का स्थान
अर्धमात्रा ˇ त्रिकोण या योनि का वाचक	त्रिकोण	मूलाधार (मूलाधार—नाद का स्थान है । अतः यह नाद रूप है ।)
श्रीचक्र के ३ भाग हैं— १.'नाद' (आज्ञा से सहस्रार) भूपुर २.'बिन्दु' = शिवचक्र, ३ वृत्त, १६, ८ दल पद्म । ३. 'कला' = शक्ति चक्र-त्रिकोणी अष्टार दशारद्वय । चतुर्दशार	श्रीचक्र — नाद बिन्दु कला — श्रीचक्र	
'बिन्दु'—शशि, सोम, शिव, कलानिधि, अमृताकर्षिणी शून्य, व्योम आदि के लिए प्रयुक्त होता है ।	बैन्दवस्थान	सहस्रार

७. पञ्चदशाक्षर मन्त्र का श्रीचक्र तथा अन्य के साथ ऐक्य -

'ल' = 'लकारः पृथिवी बीजं तेजो भू बिम्बमुच्यते ।

'स' = 'सकारश्चन्द्रमा भद्रे कलाषोडशात्मकः । तस्मात् षोडशपत्रं च ।'

'ह'	=	'हकारः शिव उच्यते, अष्टमूर्तिः सदाभद्रे, तस्माद्वसुदलं भवेत्' ।
'ई'	=	'इकारस्तु सदा माया भुवनानि चतुर्दश । पालयन्ती परात्साच्छक्र कोणं भवेत् प्रिये' ॥
'ऐ'	=	'शक्तिरेकादशस्थाने स्थित्वा सूते, जगत्त्रयम् । विष्णोर्योनिरितिख्याता । सा विष्णोर्दशरूपकम् ॥ एकारात् परमेशानी चक्रं व्याप्य व्यवस्थिता ॥
'र'	=	दशकोणकरं तस्मात् प्रकारो ज्योतिराख्यः । कला दशान्वितो वह्निर्दशकोणप्रवर्तकः ॥
'क'	=	'ककारान्मदनो देवि शिवं चाष्टस्वरूपकम् । योनिवश्यं तदाचक्रं वसुयोन्यङ्कितं भवेत्' ॥
(ˇ)	=	अर्धमात्रा गुणान् सूते नादरूपा यतः स्मृतः । त्रिकोणरूपा योनिस्तु ।
(·)	=	बिन्दुना बैन्दवं भवेत् । कामेश्वरस्वरूपं तद्विश्वारस्वरूपकम्'। श्रीचक्रन्तुर्विय सम्भवमिति ।[१]

'ल'	=	पृथ्वीतत्त्व = मूलाधार ।
'क'	=	जलतत्त्व—स्वाधिष्ठान
'र'	=	अग्नितत्त्व = मणिपूर ।
'ई'	=	चतुर्थ स्वर = हृदय = चौथा चक्र (अनाहत चक्र)
'ऐ'	=	वाणी = विशुद्ध । वाणी का स्थान वैखरी
'स'	=	अमृत = सहस्रार—अमृतस्थान
'अर्द्धचन्द्र'	=	अर्धेन्दु = चन्द्र = आज्ञा = चन्द्रमा का स्थान
'ह'	=	गगनमण्डल । शिव = सहस्रार, परमशिव का स्थान
'ल'	=	पृथ्वी = मूलाधार ।
'क'	=	प्रथमाक्षर = प्रथमावस्था = त्रिकोणों का प्रथम प्रसार = अष्टार = स्वाधिष्ठान ।
'र'	=	अग्नि । अग्नि की १० जिह्वा = अन्तर्दशार । मणिपूर ॥
'ई'	=	विष्णुमाया = १० रूपा = १० अवतार = बहिर्दशार = अनाहतचक्र ।

---

१. दुर्वासा—'त्रिपुरामहिम्न' के २८वें श्लोक की टीका । 'ज्ञानार्णव' ।

मंत्राक्षर	श्रीचक्र एवं पिण्डस्थ चक्र	
'ह्रीं' = 'ह' = आकाश = शिव । ('परमव्योमन') व्योम = ब्रह्म । रुद्र अष्टमूर्ति ॥	अष्टदल पद्म	आज्ञा चक्र (शिवधिष्ठित) शिव का प्रधान स्थान, वाराणसी
'र' = अग्नि । अग्नि के १० कोण या जिह्वायें हैं	अन्तर्दशार	मणिपूर (अग्नि का स्थान होने से)
'ई' = माया	चतुर्दशार	विशुद्ध चक्र
'स' (शक्ति एवं चन्द्र का द्योतक) चन्द्रवाच्य ।	षोडशदल पद्म	आज्ञाचक्र (शक्तिवाचक होने से) सदाख्य या अर्द्धनारीश्वर का स्थान । शक्तिमय शिव का स्थान
अर्धमात्रा ~ त्रिकोण या योनि का वाचक	त्रिकोण	मूलाधार (मूलाधार—नाद का स्थान है । अतः यह नाद रूप है ।)
श्रीचक्र के ३ भाग हैं— १.'नाद' (आज्ञा से सहस्त्रार) भूपुर २.'बिन्दु' = शिवचक्र, ३ वृत्त, १६, ८ दल पद्म । ३. 'कला' = शक्ति चक्र-त्रिकोणी अष्टार दशारद्वय । चतुर्दशार	श्रीचक्र नाद बिन्दु कला श्रीचक्र	
'बिन्दु'—शशि, सोम, शिव, कलानिधि, अमृताकर्षिणी शून्य, व्योम आदि के लिए प्रयुक्त होता है ।	बैन्दवस्थान	सहस्त्रार

७. पञ्चदशाक्षर मन्त्र का श्रीचक्र तथा अन्य के साथ ऐक्य -

'ल' = 'लकारः पृथिवी बीजं तेजो भू बिम्बमुच्यते ।

'स' = 'सकारश्चन्द्रमा भद्रे कलाषोडशात्मकः । तस्मात् षोडशपत्रं च ।'

'ह' = 'हकारः शिव उच्यते, अष्टमूर्तिः सदाभद्रे, तस्माद्वसुदलं भवेत्' ।

'ई' = 'इकारस्तु सदा माया भुवनानि चतुर्दश ।
पालयन्ती परात्साच्छक्र कोणं भवेत् प्रिये' ॥

'ऐ' = 'शक्तिरेकादशस्थाने स्थित्वा सूते, जगत्त्रयम् ।
विष्णोर्योनिरितिख्याता । सा विष्णोर्दशरूपकम् ॥
एकारात् परमेशानी चक्रं व्याप्य व्यवस्थिता ॥

'र' = दशकोणकरं तस्मात् प्रकारो ज्योतिराख्यः ।
कला दशान्वितो वह्निर्दशकोणप्रवर्तकः ॥

'क' = 'ककारान्मदनो देवि शिवं चाष्टस्वरूपकम् ।
योनिवश्यं तदाचक्रं वसुयोन्यङ्कितं भवेत्' ॥

(˘) = अर्धमात्रा गुणान् सूते नादरूपा यतः स्मृतः । त्रिकोणरूपा योनिस्तु ।

(•) = बिन्दुना बैन्दवं भवेत् । कामेश्वरस्वरूपं तद्विश्वागारस्वरूपकम्'। श्रीचक्रन्तुर्विय सम्भवमिति ।[१]

'ल' = पृथ्वीतत्त्व = मूलाधार ।

'क' = जलतत्त्व—स्वाधिष्ठान

'र' = अग्नितत्त्व = मणिपूर ।

'ई' = चतुर्थ स्वर = हृदय = चौथा चक्र (अनाहत चक्र)

'ऐ' = वाणी = विशुद्ध । वाणी का स्थान वैखरी

'स' = अमृत = सहस्रार—अमृतस्थान

'अर्द्धचन्द्र' = अर्धेन्दु = चन्द्र = आज्ञा = चन्द्रमा का स्थान

'ह' = गगनमण्डल । शिव = सहस्रार, परमशिव का स्थान

'ल' = पृथ्वी = मूलाधार ।

'क' = प्रथमाक्षर = प्रथमावस्था = त्रिकोणों का प्रथम प्रसार = अष्टार = स्वाधिष्ठान ।

'र' = अग्नि । अग्नि की १० जिह्वा = अन्तर्दशार । मणिपूर ॥

'ई' = विष्णुमाया = १० रूपा = १० अवतार = बहिर्दशार = अनाहतचक्र ।

---

१. दुर्वासा—'त्रिपुरामहिम्न' के २८वें श्लोक की टीका । 'ज्ञानार्णव' ।

'ऐ' = विश्वयोनि = १४ भुवन = चतुर्दशार = विशुद्ध ।

'अर्धचन्द्र' = अष्टदल पद्म ।

'स' = सोममण्डल = षोडशदल पद्म ।

'बैन्दवस्थान' = वृत्त = त्रिवृत्त = चन्द्रमण्डल ।

'ह' = शिवस्थान = चतुष्कोण = भुपूर = सहस्रार ।

पंचदशाक्षरी विद्या, नित्या, तत्त्व, खण्ड एवं यंत्रों में ऐक्य—

मंत्र	तिथि	वैदिक नाम	नित्यायें	तत्त्व	खण्ड	यंत्र के भाग
क	१	दर्शा	कामेश्वरी	शिव		त्रिकोण
ए	२	दृष्टा	भगमालिनी	शक्ति	अग्नि	अष्टार
ई	३	दर्शता	नित्यक्लिन्ना	माया		अन्तर्दशार
ल	४	विश्वरूपा	भेरुण्डा	शुद्धविद्या		
ह्रीं	५	सुदर्शना	वह्निवासिनी	जल		
ह	६	आप्यायमाना	महावज्रेश्वरी या विद्येश्वरी	तेज		बहिर्दशार
स	७	आप्यायमाना	शिवदूती-रौद्री	वायु	सौर	
क	८	आप्याया	त्वरिता	मन		चतुर्दशार
ह	९	सूनृता	कुलसुन्दरी	पृथ्वी		
ल	१०	इरा	नित्या	आकाश		
ह्रीं	११	आपूर्यमाना	नीलपताका	विद्या		
स	१२	आपूर्यमाना	विजया	महेश्वर		
क	१३	पूरयन्ती	सर्वमङ्गला	परतत्त्व		शिव के
ल	१४	पूर्णा	ज्वालामालिनी	आत्मतत्त्व	चन्द्र	चार चक्र
ह्रीं	१५	पौर्णमासी	चित्रा, चिद्रूपा	सदाशिव		
श्रीं	१६	चिद्रूपा (अमावस्या)	महात्रिपुरसुन्दरी	सादाख्य	चन्द्रकला	नित्याकला

(क) षोढा ऐक्य—	(ख) चतुर्विध ऐक्य—
१. मंत्र एवं मातृकाओं का ऐक्य ।	१. मातृका एवं मंत्र का ऐक्य ।
२. मातृका एवं श्रीचक्र का ऐक्य ।	२. मंत्र एवं चक्र का ऐक्य ।
३. मंत्र एवं नित्याओं का ऐक्य ।	३. चक्र एवं नित्याओं का ऐक्य ।
४. मातृका एवं नित्याओं का ऐक्य ।	४. नित्याओं एवं तिथियों का ऐक्य ।
५. मंत्र एवं चक्र का ऐक्य ।	
६. नित्याओं एवं चक्र का ऐक्य ।	
मंत्र के भाग—	**श्रीचक्र के भाग—**
१. 'नाद' = नाद से नादान्त तक (अर्धचन्द्र, रोधनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समनी, उन्मनी)	१. 'नाद'—आज्ञा चक्र से सहस्रार तक तक । भूपुर
२. 'बिन्दु'—अनुस्वार	२. 'बिन्दु'—शिवचक्र । ३ वृत्त । १६ एवं ८ दल पद्म ।
३. 'कला'—मंत्र के वर्ण एवं स्वर	३. 'कला'—शक्तिचक्र, त्रिकोण अष्टार। दशारद्वय । चतुर्दशार ॥
४. (मंत्र का चौथा खण्ड) = सादाख्य = जो नाद बिन्दु कलातीत है । 'सुभगोदय स्तुति' (गौडपादाचार्य)	

एतेषां गणेशादीनां पञ्चानां मेलने पञ्चपञ्चाशत् संपद्यन्ते, गणेशस्यै-कविधत्वेनैव गणनात्, रेखादलकोणेषु पञ्चसप्ततावपि 'एको गणेशः' इत्येव व्यवहारात् । पीठानि यद्यपि कामरूपादिच्छायाच्छत्रान्तान्येकपञ्चाशत्' तथापि 'ओजापूकानाम्' इति प्राधान्य-वेषेण पुनर्गणनायां पञ्चपञ्चाशत् । तेनैतत्पञ्चकसमष्टित्वादेव पीठत्वं सिद्धमित्याशयेन तन्त्रेषु न पुनः पृथक् पीठरूपतोक्तिरिति वा तत्राशय इति मन्वान आह—

यावन्मातृकमुदितान्येकसमेतानि पंचाशत् ।
पीठानि पुनर्गणितान्योजापूकानि चत्वारि ॥ ९७ ॥

गणपग्रहभादीनां शशिनिधितारर्तुसूर्यसंख्यानाम् ।
मेलनतः पीठानि ज्ञेयान्येतेषु पञ्चपञ्चाशत् ॥ ९८ ॥

(वर्णमाला एवं पीठों में समानता)

जितनी (संख्या में) मातृकायें (वर्णमाला के अक्षर) है (उसी संख्या के अनुरूप) इक्यावन पीठ है । ओडयाण जालंधर, पूर्णगिरि एवं कामरूप (ओ-जा-पू-का) नामक चार (पीठ) उसमें और पणिणित किए गए है (जोड़े या गिनाए गए है) ॥ ९७ ॥

(गणप, ग्रह, भ आदि के साथ पचपन पीठों की एकात्मता)

गणप, ग्रह, भ आदि जिनकी संख्या क्रमशः चन्द्रमा (एक) निधि (नौ), तारा (सत्ताईस), ऋतु (छः) एवं सूर्य (बारह) है—से विरचित, कुल मिलाकर पचपन पीठ, इनमें (स्थित) जानना चाहिए ॥ ९८ ॥

*** प्रकाश ***

यावन्मातृकमित्यव्ययीभावः । यावन्तो मातृकास्तावन्ति पीठानीत्यर्थः । ओ, ओड्याणपीठम्; जा, जालंधरपीठम्; पू, पूर्णगिरिपीठम्; का, कामरूपपीठम् । नामैकदेशे नामग्रहणम्, तथैव संप्रदायात् । भादीनां नक्षत्रयोगिनीराशीनाम् । शशी एकः । निधयो नव । ताराः सप्तविंशतिः । सारेति पाठे ऽपि सकारः सप्तसंख्यायां साङ्केतिकः; रेफस्तु द्विसंख्यायाम् 'अङ्कानां वामतो गतिः' इत्युक्तेरुक्तैव संख्या सिध्यति । तदुक्तं वररुचिपरिभाषायाम्—

'पादयः पञ्च याद्यष्ट कादयष्टादयो नव ।
एतद्भिन्नाक्षरं बिन्दुः संख्या तन्मेलनोद्भवा ॥'

इति । ऋतवः षट् । सूर्या द्वादश ॥ ९७-९८ ॥

*** सरोजिनी ***

'यावन' = जितनी, 'मातृका' = वर्णमाला के मूल अक्षर ॥

"पीठ"—पीठ शक्ति के रूपान्तर हैं । ये शक्ति के जाग्रत केन्द्र है । पीठ चारो शक्तियों की परिणतियाँ हैं । अभिनवगुप्त पादाचार्य ने 'तन्त्रालोक' में इनकी उपयोगिता को रेखांकित किया है—'क्षेत्रपीठो पपीठेषु प्रवेशो विघ्नशान्तये । मंत्राद्याराधकस्यार्थ तल्लाभायोपदिश्यते ॥" लाभ निम्न है—१. विघ्नशांति २. मंत्रसिद्धि में लाभ

'पीठानि पंचाशत्'—पचास पीठ । 'एक समेतानिपंचाशत' = इक्यावन' प्रमुख पीठ निम्न हैं—१. कामरूपपीठ २. पूर्णगिरिपीठ ३. जालन्धरपीठ ४. ओड्याणपीठ ॥ चारों शक्तियाँ कामरूप-पूर्णगिरि-जालन्धर एवं उड्डीयान पीठ के रूप में परिणत हो गई है—"प्रकाशविमर्शात्मतया समरसीभूताः पूर्वोक्ताश्चतस्रः शक्तयः कामरूप-पूर्णगिरि-जालन्धरौड्याणपीठ रूपेण परिणता इत्यर्थः ॥"[१] 'पीठ' चार हैं—'पीठाश्चत्वारः पिण्ड-पद-रूप-रूपातीत शब्देन तत्तत्स्थानान्याधारहृदय-भ्रूमध्य-ब्रह्मरंध्राणिलक्ष्यन्ते । पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः । रूपं बिन्दुरितिख्यातं रूपातीतं तु चिन्मयम् ।[२] 'पदं नाम हंसः, रूपं नाम बिन्दुः, रूपातीतं नाम निरञ्जन तत्त्वम् ॥'[३]

पीठ—अमृतानन्दनाथ कहते हैं कि—'अम्बिका' 'शान्ता' आदि समस्त चार शक्तियाँ क्रमानुसार परस्पर सामरस्यभावापन्न होकर 'कामरूप' 'पूर्णगिरि' 'जालन्धर'

---

१. अमृतानन्दनाथ—योगिनीहृदय 'दीपिका' २. स्वछन्दसंग्रह
३. अमृतानन्दनाथ—योगिनीहृदय 'दीपिका'

एवं 'ओड्याणपीठ' के रूप में परिणत हो गईं—'चतस्रः (अम्बिकाद्याः शान्ताद्याश्चतस्रः) क्रमेण परस्परं सामरस्यमापन्नाः 'का पू जा ओ'—इति क्रमाद् आसन् ।। 'का'—कामरूपपीठम्, 'पू'—पूर्णगिरिपीठम्, जा—जालन्धरपीठम्, 'ओ'—ओड्याणपीठम् ।।''

'पीठ'—१'कामरूपपीठ' = भूतत्त्व । वृत्त = बिन्दुषट्क । भूमण्डला २. 'पूर्णगिरिपीठ' = वृत्तरूप = षड्बिन्दुयुक्त । वायु तत्त्व । वायु मण्डल । वायुमण्डल षडावर्तवदवृत्तरूप है । ३. 'जालन्धर पीठ' = अर्धचन्द्र ही जालन्धर पीठ है । अर्धचन्द्र जलतत्त्वमय है । जलमण्डल भी अर्धचन्द्राकार है । ४. 'ओड्याणपीठ'—त्रिकोण ही ओड्याणपीठ है । त्रिकोण तेजस्तत्वमय है । क्योंकि अग्निमण्डल त्रिकोणरूप है । पृथ्वी-वायु-सलिल-तेजस का रङ्ग क्रमशः—पीत—धूम्र—श्वेत—रक्त है । अतः इनसे सम्बद्ध पीठों का भी यही वर्ण है—'पीठानामपि न एव वर्णाः इत्यर्थः ।।''[१]

भूतत्त्वं चतुरस्रं पीतवर्णकामरूपपीठात्मकम् वायुतत्त्वं त्वभितः षड् बिन्दुलांक्षितं वर्तुलं धूम्रवर्णं पूर्णगिरिपीठाभिन्नम, जलतत्त्वमर्धश्चन्द्राकार श्वेतं जालरंध्रपीठात्मकम् । अग्नितत्त्वं त्रिकोणं रक्तमोड्यानपीठरूपम् इति ।[२] 'पीठाः क्रमेण क्षिति-पवन-जल-अग्नि मण्डलरूपाः ।।[३] 'योगिनीहृदय' पीठों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—'एताश्चतस्रःशक्त्यस्तु का पूजा ओ इति क्रमात। पीठाः कन्देपदे रूपे रूपातीते क्रमात् स्थिताः । चतुरस्रं तथा बिन्दु षट्कयुक्तं च वृत्तकम् । अर्धचन्द्रं त्रिकोणं च रूपाण्येषां क्रमेण तु । पीतो धूम्रस्तथा श्वेतो रक्तो रूपं च कीर्तितम् ।।[४] इन पीठों में क्रमशः स्वयंभू, बाण लिङ्ग, इतर लिङ्ग नामक लिङ्ग स्थित हैं—

''स्वयंभुर्वाणलिङ्गं च इतरं च परं पुनः ।
पीठेष्वेतानि लिङ्गानि संस्थितानि वरानने ।।''[५]

''सौभाग्यसुभगोदय' में कहा गया है—'पुनरेव कामपीठे तदग्रकोणे स्थिते मनोरूपे । प्रतिफलितं तज्ज्योतिः स्वयंभुलिङ्ग समाहितं सद्भिः । दक्षिणकोणेऽहं-कृतिरूपे जालन्धरे तु संक्रान्तम् । परधाम बाणलिङ्गं जातं संक्रान्त्युपाधिभेदवशात् । मध्यत्रिकोणकोणे वामे श्रीपूर्णपीठमेतस्मिन् । बुद्धिमये परतेजः प्रतिफलितं त्वितर लिङ्गता यातम् । चित्तमये श्रीपीठे ज्योतिर्बिन्दौ यदस्य संक्रान्तम् । प्रतिफलितं परधाम्नः परलिङ्गं तत्प्रकीर्त्यते प्राज्ञैः ।।''[६]

प्रस्तुत पीठों में लिङ्गत्रय का स्वरूप निम्नानुसार है—

१. **'स्वयंभूलिङ्ग'**—

हेम बंधूक कुसुम शरश्चन्द्रनिभानि तु ।
स्वरावृतं त्रिकूटं च महालिङ्गं स्वयंभुवम् ।। ४५ ।।

---

१. अमृतानन्दनाथ—योगिनीहृदय 'दीपिका' २-३. भास्करराय—'प्रकाश'

४-५. अमृतानन्द—योगिनीहृदय 'दीपिका' ६. सौभाग्य सुभगोदय

२. कादितान्ताक्षरोपेतं, बाणलिङ्गं त्रिकोणकम् ।
कदम्बगोलकाकारं थादि शान्ताक्षरा वृतम् ॥ ४६ ॥
३. सूक्ष्मरूपं समस्तार्णवृत्तं परमलिङ्गकम् ।
बिन्दुरूपं परानन्दकन्दं नित्यपदोदितम् ॥ ४७ ॥

अन्यपीठ भी हैं यथा—"पीठानि विन्यसेद्देविमातृकास्थान के पुनः । तेषां नामानि वक्ष्यन्ते शृणुष्वावहिता प्रिये ॥ ३६ ॥ कामरूपं वाराणसी नेपालं पौण्ड्र-वर्धनम् । चर स्थिरं कान्यकुब्जं पूर्णशैलं तथार्बुदम् ॥ ३७ ॥ आम्रातकेश्वरै काम्रंचि-स्रोतः कामकोरकम् । कैलासं भृगुनगरं केदारपूर्णचन्द्रके । श्रीपीठ ओङ्कारपीठ जालध्रं मालवोत्कले । कुलान्तं देविकोटं च गोकर्णं मारुतेश्वरम् । अट्टहासं च विरजं राजगेहं महापथम् । कोलापुर मेलापुरं ओङ्कारस्तु जयन्तिका । उज्जयिन्यपि चित्रा च क्षीरकं हस्तिनापुरम् । ओड्डीशं च प्रयागाख्यं षष्ठं मायापुरं तथा । जलेशं मलयं शैलं मेरुं गिरिवरं तथा । महेन्द्रं वामनं चैव हिरण्यपुरमेव च ॥ महालक्ष्मीपुरोऽयाणं छाया छत्रमतः परम् । एते पीठाः समुद्दिष्टा मातृकारूपकाः स्थिताः ॥"[१]

मातृका के वर्णों की संख्या ५१ हैं । मुख्य पीठ भी ५१ हैं । गणप, ग्रह, भ आदि जो संख्या की दृष्टि से १, ९, २७, ६, एवं १२ हैं—सब मिलाकर ५५ हैं । उनकी यह ५५ की संख्या ५५ पीठों का प्रतीक है ।

इस श्लोक में जो प्रकीकाक्षर प्रयुक्त किए गए हैं उनका अर्थ निम्नांकित है—शशि (१), निधि (९), तारा (२७), ऋतु (६), सूर्य (१२) है ।

वररुचि कहते हैं—"पादपः पञ्च यादृष्ट कादयष्टादयो नव । एतद्भिन्नाक्षरं बिन्दुः संख्या तन्मेलनोद्भवा ॥"

अथ चक्रराजस्य विद्याक्षरजन्यत्वमुपपादयति द्वाभ्यां श्लोकाभ्याम्—

कत्रितयादीकाराद् बिन्दुर्जातस्तदग्रिमे चक्रे ।
हृल्लेखभिस्तत्परचक्रत्रितयं हकाराभ्याम् ॥ ९९ ॥

एकारेण च तत्परचक्रे जाते सकाराभ्याम् ।
चतुरश्राणि लकारैरेवं विद्याक्षरेण चक्रजनिः ॥ १०० ॥

(विद्याक्षरों द्वारा चक्रोत्पत्ति-प्रकिया)

क एवं तीन ईकारों से 'बिन्दु' का प्रादुर्भाव हुआ । उसके अगले चक्र द्वय (सर्वसिद्धि एवं सर्वरोगहर चक्र) हृल्लेखाओं से, उससे अगले तीन चक्र (सर्वरक्षाकर, सर्वार्थसाधक एवं सर्वसौभाग्यदायक चक्र) दो हकारों एवं एक एकार से, अगले दो चक्र (सर्वसंक्षोभण एवं सर्वाशापरिपूरक चक्र) दो सकारों से तथा चतुरस्र (त्रैलोक्यमोहन) लकारों से—इस प्रकार विद्या के अक्षरों द्वारा चक्र उत्पन्न हुए ॥ ९९-१०० ॥

१. अमृतानन्दनाथ—योगिनीहृदय 'दीपिका'

* प्रकाश *

'इच्छाज्ञानाक्रियारूपमादनत्रयसंयुतम् ।
सदाशिवासनं देवि महाबिन्दुमयं परम् ॥

इत्यस्य इच्छादयस्तिस्रः शक्तयो रूप्यन्ते जन्यन्ते यस्मादीकारात् स च मादनानां ककाराणां त्रयं चेत्येताभ्यां संयुतं जनितं महाबिन्दुमयं सदाशिवासनम्, ब्रह्मविष्णु-रुद्रेश्वराः पादाः, फलकं सदाशिवमयम्, तादृशं सर्वानन्दमयं चक्रमित्यर्थः । अथ वा, इच्छाज्ञानाक्रियारूपाश्च ते मादनाश्च त्रयं चेति द्वन्द्वः । त्रयशब्देन बिन्दुत्रयात्मकत्वादी-कारो ग्राह्यः । शेषं पूर्ववत् । तदेतदाह—कत्रितयादित्यादिना । सर्वसिद्धिप्रदसर्वरोग-हराख्यचक्रद्वयमपि मिलित्वा नवयोन्यात्मकम्; तच्च तिसृभिर्लज्जाभिर्जातम्,

'हृल्लेखात्रयसंभूतैस्तिथिसंख्यैस्तथाक्षरैः ।
बिन्दुत्रययुतैर्जातं नवयोन्यात्मकं प्रिये ॥'

इति वचनादित्याह—तदग्रिम इत्यादिना । सर्वरक्षाकरसर्वार्थसाधकसर्वसौभाग्य-दायकाख्यं स्थितिचक्रत्रितयं तिसृभिः शक्तिभिस्त्रिभिरनलैश्च रचितं हकारद्वयेनैकादश-स्वरेण च समुत्पन्नम् । तदुक्तम्—

'मण्डलत्रययुक्तं तु चक्रं शक्त्यनलात्मकम् ।
व्योमबीजत्रयेणैव........................॥'

इति । दशारद्वयं मन्वश्रं चेति मण्डलत्रयम् । व्योमबीजे च त्रयं चेति विग्रहः । त्रयपदेन कोणत्रयात्मकत्वादेकारः । व्योमनी च बीजं चेति विगृह्य व्योमबीजान्येव त्रयमिति वा विग्रहः, बीजपदेनैकारः, तस्य ब्रह्माण्डादिकटाहान्तं प्रति बीजभूतत्वात्, 'यदेकादशमाधारं बीजं कोणत्रयात्मकम्' इति प्रयोगाच्च । हादिपक्षे तु न को ऽप्यत्र क्लेशः । तदेतदाह—तत्परेत्यादिनैकारेण चेत्यन्तेन । तत्परचक्रे इति । सर्वसंक्षोभण-सर्वाशापरिपूरके इत्यर्थः । उक्तं च—'सरोरुहद्वयं शाक्तैः' इति । शाक्तैः सकराभ्याम् । 'अक्षीणि मे—' इतिवद्बहुवचनम् । जन्यजनकयोः समसंख्याकत्वस्य सति संभवे युक्तत्वाच्च । अत एव हि हृल्लेखात्रयेत्युक्तश्लोके बिन्दुत्रययुतैरिति विशेषणस्य सार्थक्यम्, पञ्चदशस्वक्षरेषु बिन्दुनादत्रयस्यैकारैः सह मेलने प्रतिहृल्लेखं हकारो रेफ ईकारश्चेति त्रयमेवेति तत्त्रिकेण नवाक्षरसमूहेन नवयोन्यात्मकस्य चक्रद्वयस्य जननसंभवात्, बिन्दुशब्दस्य बिन्द्वाद्युन्मन्यन्तसमूहपरत्वात् । स्वरूपकीर्तनमात्रपरत्वेन व्याख्यायां तु तद्वैयर्थ्यं स्पष्टम् । चतुरश्राणि त्रैलोक्यमोहनचक्रम् । उभयत्र बहुवचनं त्रित्वे ॥ ९९-१०० ॥

* सरोजिनी *

१. क+ई+ई+ई—(क एवं तीन ई) —'बिन्दु' (सर्वानन्दमयचक्र)
२. हृल्लेखा —सर्वसिद्धिप्रदचक्र, सर्वरोगहर चक्र ॥
३. हकार —सर्वरक्षाकर चक्र ॥
४. हंकार —सर्वार्थसाधक चक्र ॥

५. एकार —सर्वसौभाग्यदायक चक्र ।।
६. सकार —सर्वसंक्षोभण चक्र ।।
७. सकार —सर्वाशापरिपूरक चक्र ।।
८. लकार त्रय —चतुरस्त्र, त्रैलोक्यमोहन चक्र

'योगिनीहृदय' में ठीक ही कहा गया है कि—समस्त चक्र मंत्रात्मक हैं—'इत्थं मंत्रात्मकं चक्रं देवतायाः परं वपुः ।।'[१] क्योंकि—"बीजमय शिखरगत हृल्लेखात्रयावयवभूतैरक्षरैर्हकार रेफे काराख्यैर्बिन्दुत्रय संयुतैर्नवसंख्यात्मकैर्नवयोन्यात्मकं चक्रं जातम् ।।"

एतत्त्रितयाभिन्नः स्वगुरुस्तदभेदभावनादार्ढ्यात् ।
तेन गणेशादिमयस्तद्दयया च स्वयं तथारूपः ।। १०१ ।।

('गुरु' की देवी, विद्या, एवं चक्र के साथ अभिन्नता एवं गणेश के साथ अभेदात्मकता का प्रतिपादन)

अभेदात्मकता की भावना की दृढ़ता के कारण अपना गुरु उक्त तीनो (देवी, विद्या एवं चक्र) से अभिन्न होता है अतः वह गणेश आदि देवों से समन्वित होता है उसकी (गुरु की) करुणा से स्वयं (शिष्य भी) तद्रूप हो जाता है ।। १०१ ।।

*** प्रकाश ***

एतेषां देवताविद्याचक्राणां त्रितयेनाभिन्नः । तेन गणेशादिषड्रूपः श्रीगुरुः । तत्प्रसादेन स्वयं साधको ऽपि । तदुक्तम्—

'देव्या देहो यथा प्रोक्तो गुरुदेहस्तथैव च ।
तत्प्रसादाच्च शिष्योऽपि तद्रूपः सन् प्रकाशते ।।' इति ।

देवीदेहे ये ये ऽवयवा यद्यद्रूपास्तत्तद्रूपावयवक एवैतयोर्देह इत्यर्थः ।। १०१ ।।

*** सरोजिनी ***

इस श्लोक में गुरु की देवी, देवता, विद्या, शिष्य एवं चक्र—इन पाँच से अभेदात्मकता प्रदर्शित की गई है । कहा भी गया है—"देव्या देहो यथा प्रोक्तो गुरुदेहस्तथैव च । तत्प्रसादाच्च शिष्योऽपि तद्रूपः सन् प्रकाशते ।।" 'एतत्त्रितयाभिन्नः', 'गणेशादिमय', 'तथारूपः'—

'त्रितय' = देवी, विद्या, चक्र । (गणेश आदि देवता एवं शिष्य) ।। १. 'गुरु' समस्त देवताओं के स्वामी हैं—'गुरुः सर्वसुराधीशो ।'[२]

"गुरुः परगुरुश्चैव परापरगुरुस्तथा । स्वगुरुः परमेशानि साक्षाद् ब्रह्म न

१. अमृतानन्दनाथ—योगिनीहृदय 'दीपिका' (मन्त्रसंकेत ५६)
२. शाक्तानन्द तरंगिणी

संशयः ।।'' 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः । अतएव महेशानि साक्षाद् ब्रह्ममयो गुरुः ।।''[१]

'देवतापूजनार्थं च यद्वा पुष्पादिकंप्रिये । तत्सर्वं गुरवेदत्वा पूजयेन्नगनन्दिनि ।'[२] गुरुदेवो हरः साक्षात्तत्पत्नी हर वल्लभा ।'[३] गुरुरेफः शिवः प्रोक्तोसोऽहं देवि न संशयः (गुरुगीता)

२. **गुरु एवं विद्या (मंत्र) में अभेद**—रुद्रयामल में कहा गया है कि—गुरु की क्रिया तो पूजा का मूल है एवं महापद है । गुरु का वाक्य ही मूलमंत्र है और गुरु स्वयं ब्रह्म है—'गुरोः क्रिया महेशानि पूजामूलं महत पदम् । गुरोर्वाक्यं मूलमंत्रं परं ब्रह्म स्वयं गुरुः ।।[४]

समस्त विद्याएँ देहस्थ हैं, समस्त देवता देहस्थ हैं, समस्त तीर्थ देहस्थ हैं किन्तु ये सभी मात्र गुरुवाक्य से ही प्राप्त हो सकते हैं ।[५] गुरु ही मंत्र भी है अतः गुरु एवं विद्या (मंत्र) में अभेद है—'मंत्रोऽपि गुरुरुच्यते ।।''[६] 'अतो मंत्रे गुरो देवे न भेदश्च प्रजायते ।।[७]

'नीलतंत्र' में गुरु को मंत्र (विद्या) का मूल कहा गया है—'धर्ममूलं गुरोमूर्तिः पूजा मूलं गुरोः कृपा । मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यं तस्मादादौ गुरुं यजेत् ।।''

गुरुमूर्ति = धर्म का मूल । 'गुरुकृपा' = पूजामूल । 'गुरुवाक्य' = मंत्र का मूल ।।[८]

ननु गणेशाद्यात्मकत्वज्ञाप्यकः पञ्चाभेदः कथमुपपद्यते, गणपदस्य समुदायार्थकस्य समुदायिसापेक्षत्वेन समुदायिनां देवताक्षररेखाणां भेदे तद्भेदस्यावश्यिकत्वात्, नक्षत्रत्वादेरपि संख्यामात्रस्यानुगमकत्वे ऽपि संख्यावतां विरुद्धधर्माधिकरणत्वेन भेदस्य संख्यावतां संमतत्वेन भिन्नभिन्नत्वात्; तेन च नैकस्यापि धर्मस्याभेदव्यापकतेति कथं तज्ज्ञाप्यकाभेदः साध्यत इति चेत्; मैवम्; वचनबलादेव समुदायिनां संख्यावतां चाभेदस्य सिद्धत्वात्, उपक्रमादिभिर्निर्णीततातात्पर्यकस्य शब्दस्य प्रत्यक्षादिनिखिलप्रमाणेभ्योऽपि बलवत्तायाश्चन्द्रप्रादेशिकत्वभ्रमादावन्यत्र चौपनिषदैर्बहुतरं साधितत्वात् । किं च, स्वाश्रयसमानजातीयाश्रितस्वातिरिक्तस्वव्यापकसंख्याविरहसहकृतस्वत्वरूपसंख्यामात्रत्वमप्यभेदसाधकमेव, बाधकाभावात् । स्वपदानि नवादिसंख्यारूपाणि । तेन विद्या देवतास्वरूपादभिन्ना नवसंख्यामात्राश्रयत्वाद्देवतास्वरूयवदित्यादयः पृथक् पृथक् प्रयोगाः । अत एवैकत्वसंख्यामात्राश्रयत्वादाकाशकालदिगीश्वराणामभेदो दीधितिकृतः संमतः । इदं चानुमानमागमसहितमेव प्रमाणं विषयप्रमात्वदार्ढ्यसंपादनाय । तेन न घटत्वपटत्वादेरभेदापत्तिः । तदेतत् सर्वमभिसंधायोपसंहरति—

१-२. महिषमर्दिनी तन्त्र   ३. रुद्रयामल

४. रुद्रयामल ।। शिव ही जगत् के प्रथम आदि गुरु, जगद्गुरु हैं—कैलास शिखरासीनं देवदेवं जगद्गुरुम् । (ज्ञानसंकलिनी तन्त्र)

५. ज्ञानसंकलिनी तन्त्र   ६-७. गुरुगीता

८. नीलतन्त्र

इत्थं माता विद्या चक्रं स्वगुरुः स्वयं चेति ।
पञ्चानामपि भेदाभावो मन्त्रस्य कौलिकार्थोऽयम् ॥ १०२ ॥

('कौलिकार्थ' का स्वरूप)

इस प्रकार माता, विद्या, चक्र, स्वगुरु एवं स्वयं—इन पाँचों में भेद का अभाव (अभेदापत्ति । तादात्म्यभाव) ही मंत्र का 'कौलिकार्थ' है ॥ १०२ ॥

*** सरोजिनी ***

'योगिनीहृदय' में 'कौलिकार्थ' का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— 'कौलिकंकथयिष्यामि चक्रदेवतयोरपि । विद्यागुवत्मिनामैक्यं तत्कारः प्रदर्श्यते ॥'[१] 'कौलिकार्थ' अर्थ है चक्र, देवता, गुरु, विद्या एवं साधक में ऐक्यानुसंधान— 'कौलिकं कौलिकार्थं कथयिष्यामि चक्र-देवता-गुरु-विद्या-साधकानामैक्यानुसन्धानं कौलिकार्थ इत्यर्थ ॥''[२] आचार्य भास्करराय भी इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं— "श्रीचक्रं श्रीमाता श्रीविद्या श्रीगुरुरात्मा चेति पंचानामैक्यं कौलिकार्थ इत्युच्यते ॥[३]

१. मंत्र, चक्र, एवं देवता मे ऐक्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि— 'इत्थं मंत्रात्मकं चक्रं देवतायाः परं वपुः ॥'[४]

२. विद्या-गुरु एवं साधक में ऐक्य के विषय में पुष्टि की गई है—'विद्या गुर्वात्मनामैक्यं तत्प्रकारः प्रदर्श्यते ॥'[५]

३. भगवती ही विश्व एवं चक्र का दोनों का कारण हैं अतः उनसे ऐक्य स्वतः सिद्ध है—

"यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छयाविश्व रूपिणी । स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः ॥"[६]

४. वाक्, विद्या एवं देवी में एकता—

आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमाकला ।
अम्बिका रूपमापन्ना परावाक् समुदीरिता ॥ ३६ ॥'[७]

चूँकि समस्त मंत्रों का, समस्त वर्णों का एवं अशेष मातृकाओं का मूल मात्र 'परावाक्' है अतः यदि भगवती ही परावाक् बन जाती हैं तब विद्या, मंत्र, वाणी एवं देवी में भी ऐक्य स्वतः प्रमाणित है ।

५. चक्र एवं देवी में भी अभिन्नता है क्योंकि कोई भी चक्र ऐसा नहीं है जो कि चक्रेश्वरी से युक्त न हो—

"चक्रेश्वरी समायुक्तं नवचक्रं पुरोदितम्"[८]

१-२. अमृतानन्दनाथ—योगिनीहृदय 'दीपिका'
३. भास्कराचार्य—'सेतुबन्ध' ४-८. योगिनीहृदय 'दीपिका'

६. मंत्रराज शिवशक्ति से अभिन्न है क्योंकि यह उन्हीं से उत्पन्न हुआ है—

'शिवशक्ति समायोगाज्जनितो मंत्रराजकः ॥'[१]
'सैव महाविद्यात्मा माता चतुरन्वयैकविश्रान्तिः ॥'

देवी मातृकामयी है । मंत्ररूपिणी है—'ज्ञातृज्ञानमयाकार मननान्मंत्ररूपिणी । तेषां समष्टिरूपेण पराशक्तिस्तु मातृका ॥'[२] तेषां समष्टिरूपेण पराशक्तिं तु मातृकाम् ॥[३] 'विद्या' देवीमयी ही है—'तन्मयी मूलविद्या च तदद्य कथयामि ते ॥'[४]

७. गुरु, शिव एवं साधक में भी अभिन्नता स्थित है—'शिवगुर्वात्मना-मैक्यानुसंधानात्तदात्मकाम्' ।[५]

८. गुरु, मंत्र तथा देवता में अभेद है—अतो मंत्रे गुरौ देवे न भेदश्च प्रजायते ॥''[६]

९. देवी और विद्या में अभिन्नता है—'मातृकाभेदतंत्र' में कहा गया है कि गुरुरूपा महाविद्या ही एक जरा देवी हैं । महाविद्या ही श्रीमत्त्रिपुरीसुन्दरी देवी हैं । एक ही महाविद्या है जो कि नाम मात्र के लिए पृथक् है—

'गुप्तरूपा महाविद्या शैवी सैकजटा परा । तस्माल्लक्ष्मी वैष्णवी या त्रिवर्ग फलदायिनी । गुप्तरूपा महाविद्या श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी । शांभवी परमा या सा त्रिपुरा मोक्षदायिनी । एकैव हि महाविद्या नाम मात्रं पृथक्-पृथक् । तथैव पुरुषश्चैव नाममात्र-विभेदतः ॥'[७]

'मंत्रस्य'—मंत्र का (पंचदशाक्षरी, कूटत्रयात्मक, श्रीविद्या के मंत्र का) वर्णों की चिन्मयता ही वर्णों को 'मंत्र' बना देती है इसीलिए कहा गया है—''मंत्राश्चिन्मरीचयः'' । 'नेत्रतंत्र' में मंत्र-विज्ञान की विशद व्याख्या की गई है । 'मंत्र' देवता का वर्णाकार रूप है । 'मंत्र'—देवता की ध्वन्यात्मक (नादात्मक) अभिव्यक्ति है । 'मंत्र'—देवता की नादात्मक परिणति है । 'मंत्र' देवता का सूक्ष्म शरीर है । 'मंत्र' करोड़ों की संख्या में या असंख्य हैं तथा ये सभी सर्वाधिकारी हैं, शिव-शक्ति के प्रभाव के कारण ये सर्वशक्ति समन्वित हैं तथा योगमोक्षप्रद एवं अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं—'मंत्राकोट्यो ह्यसंख्याताः सर्वाः सर्वाधिकारिकाः । शिवशक्ति प्रभावाच्च सर्वशक्तिसमन्विताः । भोगमोक्षप्रदाः सर्वस्वशक्ति बलसमन्विताः ॥ 'मंत्र' क्या है? 'नेत्रतंत्र' के २१वें अधिकार के ७१ से ७६ श्लोकों में 'मंत्र' तत्त्व की व्याख्या की गई है । चूँकि 'मंत्र'—१. प्राणियों को संसार-सागर से मुक्त करते हैं, २. जीवात्मा को परशिव से योजित करते हैं—जोड़ते हैं एवं ३. मनन करने से (मनन करने वालों का) प्राणियों का आपदाओं (दैहिक, भौतिक, अधिभौतिक, आधिदैविक आदि आपदाओं) से त्राण करते हैं इसीलिए इन्हें 'मंत्र' कहा जाता है—

'मोचयन्ति च संसाराद्योजयन्ति परे शिवे ।

१-५. अमृतानन्दनाथ—योगिनीहृदय 'दीपिका' ६. गुरुगीता
७. मातृकाभेद तन्त्र

मननत्राण धर्मित्वात्तेन मंत्रा इति स्मृताः ॥

१. 'मंत्र' अमित तेजशाली होते हैं—एवमाद्याः स्मृताः मंत्राः सर्वे ह्यमित तेजसः ॥

२. 'मंत्र' जापक को अधिकार प्रदान करते हैं— अधिकारं प्रकुर्वन्ति सर्वस्य जगतः प्रिये ॥

३. 'मंत्र' भगवान शिव से उत्पन्न हुए हैं । समस्त मांत्री सृष्टि के वे ही मूल केन्द्र हैं—'मंत्रसृष्टिर्भवेदेषा शिवस्य परमात्मनः ॥ ७० ॥

४. मंत्रों की मूल योनि ज्ञानशक्ति है—

ज्ञानशक्तिः परासूक्ष्मा मातृकां तो विदुर्बुधाः ।
सा योनिः सर्वमंत्राणां सर्वत्रारणिवत्स्थिताः ॥

५. मंत्र शिवशक्त्यात्मक एवं नित्य अनुग्रहशाली हैं—

शिवशक्त्यात्मरूपास्तु नित्यानुग्रहशालिनः ॥

अथ क्रमप्राप्तं सर्वरहस्यार्थमाह—

द्वादशषोडशदशभिस्तपनशशिदहनकलाभिराकीर्णैः ।
पञ्चाशद्भिर्वर्णैरभिन्नदेहा कुलीनकुण्डलिनी ॥ १०३ ॥

बिसतन्वी तडिदाभा मूलाधाररथपद्मशृङ्गाटात् ।
भित्त्वा मूलहृदाज्ञागतवह्निरवीन्दुमण्डलत्रितयम् ॥ १०४ ॥

व्योमनि चिच्छशिमण्डलमध्ये त्वकुलेन सङ्गम्य ।
उभयाङ्गसङ्गजन्यं प्रवाहयन्ती सुधापूरम् ॥ १०५ ॥

स्वयमपि तत्पानवशान्मत्ता भूत्वा पुनश्च तेनैव ।
मार्गेण परावृत्य स्वस्मिन् स्थाने सुखं स्वपिति ॥ १०६ ॥

(कुलकुण्डलिनी का स्वरूप एवं मूलस्थान)

भगवान् सूर्य की (तपिनी आदि) बारह, विधु की (अमृता आदि) सोलह एवं अग्निदेव की (धूम्रार्चिरादि) दस कलाओं से उपहित, पचास वर्णों से अभिन्न शरीरवाली, पृथ्वीतत्त्व में लीन, मृणालतन्तु के सदृश सूक्ष्माकारा, शम्पा की भाँति उद्दीप्त, मूलाधार पङ्कज की कर्णिका में स्थित त्रिकोण के ऊपर से, मूलाधार चक्र के 'वह्निमण्डल' अनाहत चक्र के 'सूर्यमण्डल' एवं आज्ञाचक्र के 'इन्दुमण्डल' का भेदन करके आकाशस्थित चेतन 'चन्द्रमण्डल' के केन्द्र में 'अकुल' से मिलकर दोनों के अङ्ग-सङ्ग से उत्पन्न पीयूष को प्रवाहित करती हुई (एवं डाकिन्यादि मण्डलों को आप्लावित करती हुई) एवं स्वयं भी उस पीयूष को पीने से उन्मत्त होकर फिर उसी (सुषुम्णा) मार्ग से प्रत्यावर्तित होकर अपने स्थान (मूलाधार चक्र) में सुखपूर्वक सोती है ॥ १०३-१०६ ॥

* प्रकाश *

सूर्यस्य कलास्तपिन्यादयो द्वादश ककारादिभिर्द्वादशभिरानुलोम्येन भकारादिभिः प्रातिलोम्येन द्वादशभिश्च युक्ताः । चन्द्रस्य कलाः षोडशामृतादयः षोडशभिः स्वरैर्युक्ताः । अग्नेः कला दश धूम्रार्चिरादयो यकारादिभिर्दशभिर्वर्णैर्युक्ताः । एवं पञ्चाशद्भिरक्षरैरभिन्ना कुलकुण्डलिनी बिसतन्तुतनीयसी तडित्कोटिप्रख्या । मूलाधार-स्थपद्मशृङ्गाटात् मूलाधारस्य कर्णिकायां विद्यमानाच्छृङ्गाटात् त्रिकोणादुपरि सार्वत्रि-वलयाकारेणाधोमुखी समुपविष्टा योगमर्यादया योगिभिरूर्ध्वमुखतयोत्थाप्यते । सा मूला-धारानाहताज्ञाचक्रेषु विद्यमानानि वह्निसूर्यसोममण्डलानि भिनत्ति । १०३-१०४ ॥

'द्वादशान्तं ललाटोर्ध्वं कपालोर्ध्वावसानकम् ।
द्व्यङ्गुलोर्ध्वं शिरोदेशं परं व्योम प्रकीर्तितम् ॥

इत्युक्तलक्षणे व्योमनि विद्यमानस्य चिच्छशिमण्डलस्याधोमुखसहस्रारकर्णिका-रूपस्य मध्ये स्थितया अकुलकुण्डलिन्या सङ्गम्य ततोऽमृतपूरं स्रावयित्वा डाकिन्यादि-मण्डलान्याप्लावयन्ती स्वयमपि तत्पानेन मत्ता भूत्वा पुनस्तेनैव सुषुम्नामार्गेण परावृत्य स्वस्थाने सुख स्वपिति । सर्वमेतद्योगिनामनुभवगम्यम् । योगशास्त्रमर्यादाज्ञानमात्रवतां तु परोक्षज्ञानगोचरो गुरुमुखादेव विविच्य बोद्धव्यमिति नेह विविच्यते ॥ १०५-१०६ ॥

* सरोजिनी *

कुण्डलिनी वर्णात्मिका है अतः अकारादि-क्षकारान्त समस्त वर्ण कुण्डलिनी ही हैं—'अकारादिक्षकारान्त स्वयं परमकुण्डली ।' 'वर्णरूपमयी देवी कुण्डली परदेवता ।'[१] जिस प्रकार समस्त पर्वतालंकृत वनभूमि का आश्रय शेषनाग है उसी प्रकार समस्त योग-तंत्रों का आधार कुण्डली है—"सशैलवनधात्रीणां यथाऽधारोऽहि-नायकः । सर्वेषां योग-तंत्राणां तथाऽधारोहि कुण्डली ॥"[२]

कुण्डलिनी पृथ्वी मण्डलस्थ मूलाधार में स्थित है और वह साढ़े तीन वलयों से वलयित है । वह करोड़ों सूर्यो के समान प्रकाशवाली एवं करोड़ों चन्द्रों के समान सुशीतल, स्वयंभूलिङ्ग वेष्टित । निराकार, परब्रह्ममयी, ज्ञानानन्द मुदितमानसा, महायोगस्वरूपा, पद्मवनसमुद्भवा, प्रणवाकारा, शब्दविभागमयी एवं तत्त्वस्वरूपा । परावाक्रूपा अचिन्त्य शक्ति है ।

"पृथ्वीमण्डलात् सार्द्धत्रिवलयान्वितां रवि कोटिसमप्रभां, चन्द्रकोटिसुशीलतां स्वयंभूलिङ्गवेष्टितां निराकारस्वरूपां परब्रह्ममयी' कुण्डलिनीं ज्ञानानन्दमुदितमानसां, महायोगस्वरूपां पुरतः स्वयंभूकनक वर्णशीर्षतः पद्मवनसमुद्भवां बहुतरप्रणवानामेक-कृतशब्दविभागमयीं तत्त्वस्वरूपाम्"[३]—'त्रिपुरासमुच्चय' में इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—"शक्तिः कुण्डलिनीति या निगदिता आईमसंज्ञा । जगन्निर्माणे सततोद्यता प्रविलसत्सौदामिनीसन्निभा । शङ्खावर्तनिभां प्रसुप्तभुजगाकारां जगन्मोहिनीम् ।

१. कामधेनु तन्त्र २. हठयोगप्रदीपिका
३. ताराहस्य—ब्रह्मानन्दगिरि

तन्मध्ये परिभावयेद्विषलतान्तूपमेया कृतिम् ॥''[१]

जब कुण्डलिनी जागती है तब समस्त चक्रों एवं ग्रंथियाँ भेदन हो जाता है—

'सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रंथयोऽपि च ॥'[२]

आधारशक्तिरूपा कुण्डलिनी के ऋज्वीभूता होने पर इड़ा एवं पिङ्गला की मृत्यु हो जाती है क्योंकि कुण्डली के जागृत होने पर सुषुम्ना नाड़ी में प्राण प्रवेश कर जाता है—'ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डलीसहसा भवेत् । तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुराश्रया ॥'[३] मूलबंध लगाने से अधोगामी अपान ऊर्ध्वगामी होकर अग्निमण्डल में पहुँच जाता है, (नाभि के अधोभाग में स्थित त्रिकोण जठराग्नि में प्रविष्ट होने पर), अपानवायु से ताड़ित जठराग्नि शिखा दीर्घ हो जाती है और अग्नि एवं अपान अग्नि की दीर्घशिखा से ऊष्ण होकर ऊर्ध्वगति प्राण में प्रवेश कर जाते हैं । अपान की ऊर्ध्वगति से दीप्त अग्नि और प्रदीप्त हो उठती है । उसके ताप से कुण्डलिनी प्रतप्त होने से जाग उठती है और ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश कर जाती है—'तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते । दण्डाहता भुजङ्गीतनिश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् । बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ॥'[४]

जिस प्रकार कुञ्जी से किवाड़ खुलता है उसी प्रकार कुण्डली के उद्‌बोधन रूप चाभी से मोक्षद्वार का कपाट भी खुल जाता है—'उद्‌घाटयेत् कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् । कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥''[५] जिस मार्ग के द्वारा प्राणी ब्रह्मस्थान में प्रवेश करता है उस ब्रह्मद्वार को कुण्डलिनी अपने मुख से ढके हुए हैं ।[६] कन्द के ऊर्ध्व भाग में स्थित कुण्डलिनी जीवों को बंधन में डालने के लिए सोई पड़ी रहती है किन्तु वही योगियों को मोक्ष दिलाने हेतु जाग उठती है—'कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥[७] इसको चलाने पर यह जाग उठती है और योगी मुक्त हो जाता है—'कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता । सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥'[८] चूँकि यह ब्रह्मद्वार को मुख से ढके है—'येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् । मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी'—अतः उसे जगाना आवश्यक है जिससे कि वह ब्रह्मद्वार पर सोना छोड़कर ब्रह्मद्वार के मार्ग ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश कर जाय । इस सर्पिणी को जगाने हेतु इसकी पूँछ पकड़कर इसे जगाना चाहिए—'पुच्छे प्रगृह्य भुजङ्गी सुप्तामुद्‌बोधयेच्चताम् ।'[९] निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥' इसको जगाने के लिए योगी को चाहिए कि वज्रासन लगाकर एवं शक्तिचालनी मुद्रा साधकर फिर भस्त्रिका प्राणायाम करे । नाभिदेश में स्थित सूर्य का आकुंचन करे (नाभि के आकुंचन द्वारा) फिर सूर्य के आकुंचन से कुण्डली शक्ति का चालन करे। दो मुहूर्त (चार घड़ी) तक निर्भय रहकर चालन करने से सुषुम्णागत यह कुण्डलिनी थोड़ा बहुत जाग जाती है । और परिणामवस्वरूप वह सुषुम्णा-मुख का

---

१. त्रिपुरासार समुच्चय

२-९. हठयोगप्रदीपिका

त्याग कर देती है और प्राणवायु अपने आप सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है ।[१] जो योगी शक्ति को चलायमान कर लेता है वह भाग्यशील, सिद्ध एवं काल-जयी हो जाता है । कुण्डली को चलाकर भस्त्रिका प्राणायाम करना चाहिए—'कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्र कुर्याद्विशेषतः ।' अपने शरीर में स्थित बहत्तर हजार नाड़ियों के मल-शोधन एवं उनके प्रक्षालन का अमोघ उपाय मात्र यही कुण्डलिनीयोग है[२]—'द्वासप्ततिसहस्त्राणां नाड़ीनां मलशोधने । कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ॥'' मल को शक्ति (कुण्डलिनी) के मध्य एवं शक्ति को मन के मध्य लाकर कुण्डली का उद्बोधन करना चाहिए—'शक्ति मध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम' क्योंकि इससे परमपद की प्राप्ति होती है—'मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥''[३]

इसके कुटिला, कुटिलोगी, कुण्डली, शक्ति आदि अनेक नाम हैं—कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गीशक्तिरीश्वरी । कुण्डल्यसन्धती चैते शब्दाः पर्याय वाचकाः ॥[४] रुद्रयामल में इसके एक हजार नाम उल्लिखित है ।

कुण्डलिनी की स्थिति एवं उसका स्वस्वरूप—मूलाधार में स्थित स्वयंभूलिङ्ग के ऊर्ध्व में कमल के सूक्ष्म तन्तु के समान अत्यन्त तनुकलेवरा जगन्मोहिनी, ब्रह्मद्वार के मधुर मुख को अपने मुख से आच्छादित करती हुई, शंख्ङ्घा के वेष्टनाकार के समान, नव्य विद्युन्माला के समान, सार्द्ध त्रिवलया, भुजङ्गी के समान यह कुण्डलिनी स्वयंभूलिङ्ग के ऊपर सोई हुई, मतवाले भ्रमरों की पंक्ति की मधुरध्वनि के समान कोमल काव्य-बंध एवं उनके भेदातिभेद क्रम से मधुर गुंजार करती हुई, श्वासोच्छ्वासरूपी वायु से जीव को धारण करती हुई 'कुलकुण्डलिनी' उद्दीप्त तेजोमय त्रिवली के रूप में मूलाधार कमल की कर्णिका के गह्वर में विलास करती है ।[५] उस कुण्डलिनी में नादरूपा श्रीपरमेश्वरी परशक्ति शोभायमान है जो कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अतिकुशल एवं नित्यानंद ब्रह्म से क्रमशः क्षरित अमृतप्रवाह का ग्रहण करती है । इसके प्रकाश से ब्रह्माण्ड से लेकर पिण्ड तक सकल जगत् प्रकाशित है तथा इससे ज्ञान का उदय होता है ।[६] मूलाधार चक्र के गह्वर में विलास करने वाली, कोटि सूर्यों के समान प्रकाशवाली यह कुण्डलिनी अपना ध्यान करने वाले योगी को वाणी का अधिपति एवं सर्वविद्या विनोदी बना देता है ।[७] 'परबिन्दु' के भिद्यमान होने पर अव्यक्तात्मा 'ख' आविर्भूत हुआ । उसे प्राप्त करके देह के भीतर कुण्डलीरूप में वर्णों का उदय (गद्य-पद्य आदि भेदों में) हुआ ।[८] यह कुण्डलिनी शक्ति 'सृष्टिरूपा' (सृष्टिस्तु कुण्डलीख्याता) 'सृष्टिस्थिति लयात्मिका' 'विश्वातीता' ज्ञान रूपा है ।[९] वह झिल्ली की भाँति अव्यक्त एवं मधुर सङ्गीत के साथ कूजन करती है ।[१०] कुण्डलिनी हंस (आत्मा, परमात्मा) को अपने में धारण

१-४. हठयोगप्रदीपिका
५-७. षट्चक्रनिरूपण
८. शारदातिलक
९. 'श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थिति लयात्मिकाम् विश्वातीतां ज्ञानरूपां ॥''
१०. ''झिल्लीवाऽव्यक्तमधुराकूजन्ती सततोत्थिता ॥''

करके स्थित है ।[१] कुण्डली के मध्य 'परमाकला' स्थित है ।[२] इसी के भीतर—परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी वाणियाँ स्थित हैं । वह 'नित्यानन्द परम्परातिविगलत् पीयूषधारा' को धारण करने वाली है ।[३]

'शाक्तानन्द तरंगिणी' में इसे 'शिवोदितानादशक्ति' कहा गया है ।[४] यह 'परमा' (अघटनघटन परीयसी माया) 'कला' (नादशक्तिरूपा) है—'सर्पाकारा कुण्डलिनी या देवी परमाकला'[५] यह 'गुणयुक्ता चन्द्र सूर्याग्निरूपिणी' है ।[६] मूलाधार में स्थित स्थित यह सत्ता एक 'शक्ति' है और भुजगाकारा है ।[७] जीवात्मा इसी कुण्डलिनी शक्ति के मध्य निवास करता है ।[८] इस शक्ति का निवास पाताल लोक में है ।[९] इसके पति शिव का निवास ब्रह्माण्ड में है ।[१०] यह 'महामाया' है ।[११] यह ५० वर्णों वाली वर्णमाला के रूप में स्थित है ।[१२] यह एक कामिनी है जो कि महापत्रात्मक सहस्रार के बीजकोष या शिवालय में जाकर एवं शिव को देखकर एवं मालाकार बनकर शिवलिङ्ग को अपने अकारादिक्षकरान्त वर्णमाला रूप अक्षमाला से परिवेष्टित किये रहती है ।[१३] यह अन्तर्माला ही महामाला है जो कि ५० वर्णों से निर्मित है ।[१४] यही सहस्रार महापद्म में 'महाकुण्डलिनी' कही जाती है ।[१५]

यह विद्युल्लता के आकार की, सोते हुए सर्प की आकृतिवाली, सार्द्धत्रिवलयों से अलंकृत, शिव को आवेष्टित करके स्थित 'परमेश्वरी' कुण्डली 'परदेवता' है ।[१६]

---

१. "विभर्ति कुण्डलीशक्तिरात्मानं हंसमाश्रिता ।।"
२. "तन्मध्ये परमाकलाऽतिकुशला सूक्ष्माति सूक्ष्मा परा ।"
३. षट्चक्र निरूपणम्
४. "नादशक्तिरूपा कुण्डलिन्यभेदशरीरिणी ।।"
५. मातृकाभेद तन्त्र
६. मातृकाभेद तन्त्र—"गुणयुक्ता कुण्डलिनी चन्द्रसूर्याग्निरूपिणी ।"
७. मातृकाभेद तन्त्र—"मूलाधारेतु या शक्तिर्भुजगाकार रूपिणी ।"
८. मातृकाभेद तन्त्र—"जीवात्मा परमेशानि तन्मध्ये वर्तते सदा ।"
९. ज्ञानसंकलिनी तन्त्र—"पाताले वसते शक्तिः ब्रह्माण्डे वसते शिवः ।"
१०. ज्ञानसंकलिनी तन्त्र—"ब्रह्माण्डे वसते शिवः ।"
११. तोडल तन्त्र—"सार्धत्रिवलयाकार पाताल तल वासिनी ।"
१२. तोडल तन्त्र—"मूलचक्राच्छिरोऽन्ता च सुषुम्ना परिकीर्तिता । तदगर्भस्था च या शक्तिः सा देवी कुण्डरूपिका । सां सदा कुण्डलिनी देवी पंचाशद्वर्णभूषिता ।"
१३. तोडल तन्त्र—"सहस्रारं तु सम्प्राप्य शिवं दृष्ट्वा तु कामिनी । मालाकारेण तल्लिंगं संवेष्ट्य कुण्डली सदा ।"
१४. तोडल तन्त्र—"अन्तर्माला महामाला पंचादशद्वर्णरूपिणी ।"
१५. तोडल तन्त्र—"सहस्रारे महापद्मे विश्वरूपः परः शिवः । महाकुण्डलिनी तत्र स्थिता नित्या सुरेश्वरि ।"
१६. शाक्तानन्द तरंगिणी—'तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली पर देवता । प्रसुप्तभुजगाकारा सार्द्धत्रिवलायान्विता ।'

सहस्रार में शिव 'शून्य' रूप एवं कोटि विद्युत्समा कुण्डलिनी इन्दुरूपा है और 'परमकुण्डली' कही जाती है ।[१]

यह नादरूपा, योनिरूपा एवं सनातनी शक्ति है ।[२] यह हुङ्कार शब्द से उत्पन्न होती है ।[३] 'परदेवता', 'कुण्डली', 'महादेवी' के नाम वाली यह 'रूपवती' देवी अपने मुखारविन्द के परिमल से शिव को प्रसन्न कर देती है एवं शिव के ऊपर निवास करती हुई क्षणभर के लिए उन्हीं सदाशिव के साथ रमण करती है जिससे कि उसी क्षण लाक्षारस के समान रङ्ग वाला अमृत क्षरित होता है । वह शिव के ऊपर लेटकर उनके मुख का चुम्बन भी लेती है । जो लाक्षारस क्षरित होता है उसी अमृत से परदेवता एक षटचक्रों के देवों को सन्तृप्त करना चाहिए । पिण्ड ही कुण्डलिनी है । स्वयंभूलिङ्ग के साथ रमण करने वाली इस कुल शक्ति को मूलाधार से सहस्रार में लाना चाहिए और वहाँ उसे शंभु के साथ एकीकृत (अभिन्न) रूप में देखकर एवं पीनोन्नत पयोधरा, षोडशवर्षीया, नवयुवती, सर्वाभरणभूषिता, पूर्णचन्द्रनिभा, नानारत्नयुता, नूपुर शोभिता, कन्दर्पकोटिलावण्या, रक्तकङ्कणमण्डिता, किंकिणी-शोभिता, मधुर-हासिनी कामिनी के रूप में कल्पित करना चाहिए ।[४]

स्वायंभुवलिङ्ग के मध्य में अग्निरूप महान तेज स्थित है । वायुयोग के संपर्क से यही अग्नि ब्रह्माण्ड में प्रज्वलित होती है । इसलिए वह कुण्डलिनी देवी इस छिद्र को संछादित करके स्थित है—'लिङ्गच्छिद्रं समाकृष्य संस्थिता कुण्डली कथं? (तोडल०) 'पृथ्वीचक्रस्य मध्ये तु स्वयंभूलिङ्गमद्भुतं । सार्द्धत्रिवलयाकार कुण्डल्या वेष्टितं सदा । लिङ्गच्छिद्रं स्ववक्त्रेण कुण्डल्याच्छाद्य संस्थिता ॥'' (तो० तं०) शक्ति के पाँच रूप हैं—१. निजा २. परा ३. अपरा ४. सूक्ष्मा ५. कुण्डली । 'निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डलीतासु पंचधाशक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे ॥ (सि०सि०सं०) कुण्डलिनी 'प्रकृति' है—'प्रकृतिः कुण्डलिनीनित्यालिङ्गमाश्रिता संस्थिता' कुण्डलिनी 'चित्कला' है—'तमो रजस्सत्वसाम्यावस्थेयं चित्कलास्मृता' । कुण्डलिनी की तीन अवस्थायें है—१. 'कुमारी' २. 'योषित' ३. 'पतिव्रता' ॥

'द्वादश-षोडश-दशभिस्तपन-शशि-दहन कलाभिः'

सूर्य की बारह, चन्द्रमा की सोलह एवं अग्नि की दस कलाओं द्वारा ॥ सूर्य

---

१. कुब्जिका तन्त्र—'शून्य रूपं शिवं साक्षादिन्दुं परम कुण्डलीम् ।'

२. यामल—'नादरूपेण सा देवी योनिरूपा सनातनी ।'

३. गंधर्वमालिका—'हुंकार वर्ण संभूता कुण्डली परदेवता ।'

४. शाक्तानन्द तरंगिणी—''ध्यायेत कुण्डलिनी तत्र इष्टदेवस्वरूपिणीम् । सदा षोडशवर्षीयां पीनोन्नतपयोधराम् । नवयौवन सम्पन्नां सर्वाभरणभूषिताम् । मुखारबिन्दगंधेन मोदितं परमं शिवम् । प्रबोध्य परमेशानि पत्रोपरि वसेत् प्रिये ॥ शिवस्य मुखपद्म पद्मं हि चुचुम्बे कुण्डली शिवे । अमृतं जायते देवि तत्क्षणात् परमेश्वरि ॥ तद्भवामृतं देवि ! लाक्षारससमोपमम् ॥''

की 'तापिनी' आदि, चन्द्रमा की 'अमृता' आदि एवं अग्नि की 'धूम्रार्चिरादि' कलायें हैं ।

१. सूर्य की १२ कलाओं का ककारादि १२ अक्षरों से सम्बंध है ।

२. चन्द्र की १६ कलाओं का १६ स्वरों से सम्बंध है ।

३. अग्नि की १० कलाओं का यकारादि १० वर्णों से सम्बंध है ।

'कुण्डलिनी' 'पंचाशद्भिर्वर्णैरभिन्न देहा' इसलिए कही गई है क्योंकि वह मातृकारूपिणी है ।

मंत्र के ३ खण्ड हैं—

१. 'सूर्यखण्ड'— क से म पर्यन्त वर्णों का द्योतक है ।

२. 'सोमखण्ड'— समस्त स्वरों का द्योतक है ।

३. अग्निखण्ड'— मंत्र का अग्नि खण्ड—य, र, ल, व, श, ष, स, का द्योतक है ।

४. 'बैन्दवखण्ड'— मंत्र का बैन्दवखण्ड—यह 'क्ष' का द्योतक है । इस प्रकार समस्त मात्रिकाएँ पंचदशी मंत्र के एवं कुण्डलिनी के रूप हैं ।

भगवती का त्रिखण्डात्मक रूप

खण्ड	मंत्र का भाग	यंत्र का भाग	छःकमल	कुण्डलिनी
सोम	शक्तिकूट	शिव के चार चक्र	आज्ञा तथा विशुद्ध	सोमकुण्डलिनी
सूर्य	कामकूट	चतुर्दशार तथा बहिर्दशार	हृदय एवं मणिपूर	सूर्यकुण्डलिनी
अग्नि	वाग्भवकूट	अन्तर्दशार, अष्टार एवं बिन्दु सहित त्रिकोण	स्वाधिष्ठान एवं मूलाधार	अग्निकुण्डलिनी

१. वाग्भवकूट	आग्नेय खण्ड	भगवती का मुख ।
२. कामकूट	सौर खण्ड	भगवती का कण्ठ से कटिपर्यन्त देह ।
३. शक्तिकूट	चान्द्र खण्ड	भगवती का कटि से नीचे का देह ।

'अभिन्नवर्णैरभिन्नदेहा'—कुण्डलिनी देवी वर्णात्मिका है—

१. सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः । (शारदातिलक)

२. क्रमेणानेन सृजति कुण्डलिनी वर्णमालिकाम् । (शा०ति०)
अकारादि सकारान्तां द्वि चत्वारिंशदात्मिकाम् ॥ ११० ॥[1]

पंचाशद्वार गुणितां पंचाशद्वर्ण मालिकाम् ।
सूतेऽतद्वर्णताऽभिन्ना कला रुद्रादिकान् क्रमात् ॥ (शा०ति०)

२. 'कुलीन कुण्डलिनी' = पृथ्वीतत्व में लयीभूत कुण्डलिनी । कु = पृथ्वी तत्व में । 'लीन' = लयीभूत ॥ भूतत्त्वस्थिता कुण्डलिनी ।

३. 'प्रवाहयन्ती सुधापूरम्'—अमृतप्रवाह को प्रवाहित करने वाली 'नित्यानन्द-परम्परातिविगलत्पीयूषधाराधरा ॥ (ष०च०नि०)

४. 'तपन शशि दहन कलाभिः'—सूर्य-चन्द्र-अग्नि की कलाओं से । कुण्डलिनी सूर्यचन्द्राग्निरूपा है—'गुणयुक्ता कुण्डलिनी चन्द्रसूर्याग्निरूपिणी ॥" (मातृकाभेद तंत्र)

कुण्डलिनी वाणी की देवी है—'वाग्देवी बीजसंज्ञका' (शिव संहिता)

'बिसतन्वी तडिदाभा'—कमल नाल के तन्तु के समान सूक्ष्म एवं विद्युत के समान प्रकाश वाली—'तस्योर्ध्वे बिसतन्तु सोदर लसत् सूक्ष्मा जगन्मोहिनी' 'नवीन चपलामालाविलासास्पदा ॥' (षट्चक्र निरूपण)

'कुलीन कुण्डलिनी'—'क' पृथ्वी तत्व । 'कु' = पृथ्वी तत्त्व में अर्थात् पृथिवीतत्त्व प्रधान चक्र 'मूलाधारचक्र' में लयीभूत कुण्डलिनी शक्ति ॥ कुण्डलिनी जगत् की योनि है, वह तुटिस्वरूपा एवं सर्वप्राणप्रेरिका, जीवभूता । बीजमयी एवं चिद्रूपिणी है—'या सा कुण्डलिनी सात्र जगद्योनिः प्रकीर्तिता । तुटिरूपा तु सा ज्ञेया जीवभूता जगत्यपि । बीजरूपा समाख्याता चिद्रूपापि प्रकीर्तिता ॥'[2] यह ५० वर्णों से अभिन्न, बिसतन्तु तनीयसी, तडित्कोटिप्रख्या कुण्डलिनी मूलाधारपद्म में स्थित शृङ्गार से मूलाधार की कर्णिका में विद्यमान शृङ्गार से त्रिकोण के ऊपर सार्ध त्रिवलय आकार द्वारा अधोमुखी होकर स्थित योगमार्ग के द्वारा योगियों की साधना में ऊर्ध्वस्तर पर उत्थापित की जाती है । यह मूलाधार, अनाहत एवं आज्ञाचक्रों में विद्यमान वह्नि, सूर्य एवं चन्द्र मण्डलों का वेधन करती है ।[3]

'व्योमनि'—

'द्वादशान्तं ललाटोर्ध्वं कपालोर्ध्वावसानकम् ।
द्व्यङ्गुलोर्ध्वं शिरोदेशं परं व्योम प्रकीर्तितम् ॥'

इस लक्षण वाले व्योम में विद्यमान चिच्छशिमण्डल के अधोमुख सहस्रार कर्णिका के मध्य स्थित अकुल के साथ कुण्डलिनी मिलकर एवं फिर अमृत का श्राव करके डाकिनी आदि मण्डलों को आप्लावित करती हुई स्वयं भी उसके ताप

---

१. षट्चक्रनिरूपण
२. तन्त्रालोक—'विवेक' टीका
३. भास्करराय—'प्रकाश'

से मदोन्मुख होकर पुनः उसी सुषुम्णामार्ग के द्वारा प्रत्यावृत होकर अपने मूलाधार धाम में सोती है ।[1]

कुण्डलिनी के रूप निम्न हैं—१. 'अग्निकुण्डलिनी' २. 'सूर्यकुण्डलिनी' ३. 'सोमकुण्डलिनी' ४. 'समष्टिकुण्डलिनी'

'त्रिकोण' एवं 'कुण्डलिनी'—

(१) वज्राख्या वक्त्रदेशे विलसति सततं कर्णिकामध्यसंस्थं ।
कोणंतत् त्रैपुराख्यं तडिदिव विलसत् कोमलं कामरूपम् ॥

कन्दर्पं नाम वायुर्निवसति सततं तस्यं मध्ये समन्ताज् ।
जीवेशो बंधुजीव प्रकरमभिहसन् कोटिसूर्य प्रकाशः ॥[2]

(२) तन्मध्ये परमाऽतिकुशला सूक्ष्मातिसूक्ष्मापरा ।
नित्यानन्द परम्परातिविगलत पीयूषधारा धरा ॥

ब्रह्माण्डादिकटाहमेव सकल यदभासया भासते ।
सेयं श्रीपरमेश्वरी विजयते नित्य प्रबोधोदया ॥[3]

"मूलाधारस्थ कुल कुण्डलिनी एवं महामन्त्र" को आगे पृष्ठ ३२५ प· दर्शाया गया है ।

साक्षाद्विद्यैवैषा न ततो भिन्ना जगन्माता ।
अस्याः स्वाभिन्नत्वं श्रीविद्याया रहस्यार्थः ॥ १०७ ॥

(कुल कुण्डलिनी एवं श्रीविद्या का रहस्यार्थ)

यह कुण्डलिनी साक्षात् श्रीविद्या एवं (पराभट्टारिका महात्रिपुरसुन्दरी) जगन्माता से अभिन्न है । इससे कुण्डलिनी एवं श्रीविद्या से अपने को अभिन्न समझना ही श्रीविद्या का 'रहस्यार्थ' है ॥ १०७ ॥

*** प्रकाश ***

ईदृश्याः कुण्डलिन्या मातुर्विद्यायाः स्वस्य चाभेद इति रहस्यरूपोऽप्रकाश्योऽर्थ इत्यर्थः ॥ १०७ ॥

*** सरोजिनी ***

'कुण्डलिनी साक्षात श्रीविद्या है एवं साथ ही जगन्माता है ।' देवी भागवत पुराण में कहा गया है कि—महाकुण्डलिनी सच्चिदानन्दरूपिणी, प्राणाग्निहोत्र विद्या है दीपशिखा है—'महाकुण्डलिनी रूपे सच्चिदानन्दरूपिणी । प्राणाग्निहोत्र विद्ये ते नमो दीपशिखात्मिके ॥ (स्कंध ४।अ०१५।१३) कुण्डलिनी परब्रह्म है—'ॐ नमस्ते

---

१. नित्यानन्द—'महिम्नस्तोत्र' २-३. षट्चक्रनिरूपण

मूलाधारस्थ कुल कुण्डलिनी एवं महामन्त्र

संहारक्रम ↑ शब्दब्रह्म ↓ सृष्टिक्रम

'अपरप्रणव'
शब्दब्रह्म (तुर्य)

शब्दब्रह्म
(तुर्य)

ॐ

(शब्दब्रह्म)
(मूल महाप्रकृति)

परावाक्

पश्यन्ती
वाक्

मध्यमा
वाक्

वैखरी
वाक्

अन्तर्मातृका
(सूक्ष्मवर्णमाला)

बहिर्मातृका
(स्थूलवर्णमाला)

अधोमुख
स्वयंभूलिङ्ग

मूलाधार पद्म
की कर्णिका के
गह्वर में स्थित
कुण्डलिनी

परमाकला का निलय
(तन्मध्ये परमाकला)

परब्रह्म
(शब्दातीत)
(अतितुर्य)

'कंदर्पवायु'
का स्थान
त्रिकोण

त्रिकोण योनि

चित्शक्ति
परावाक्
(शब्दब्रह्म)

'वज्रा' के अधोभाग
में पद्म कर्णिका के
मध्य में त्रिपुरसुन्दरी
का अधिष्ठानरूप
'त्रिकोण' =
'त्रैपुरकोण'

मदनागार
योनिरूप त्रिकोण

पर पश्यन्ती

सूक्ष्म पश्यन्ती

स्थूल पश्यन्ती
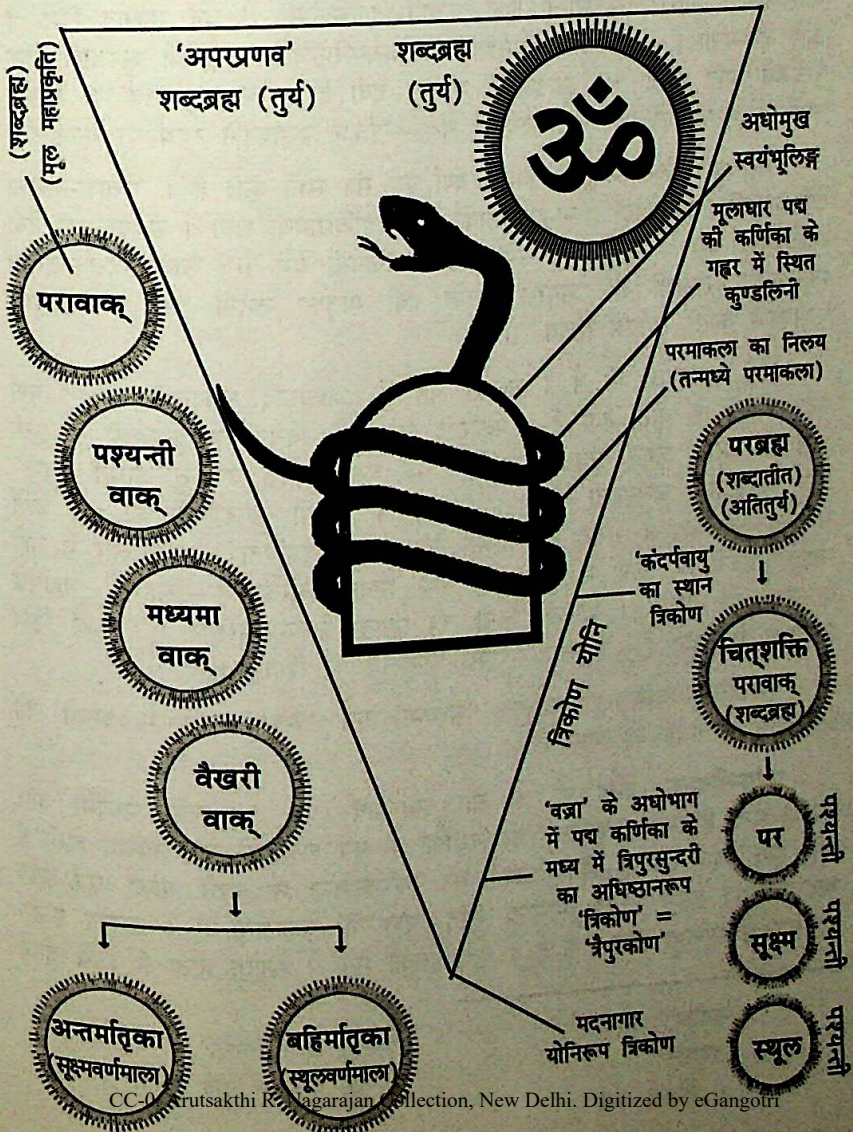
परमं ब्रह्म कुण्डलिनी स्वरूपिणे निर्गुणाय नमस्तुभ्यं सद्रूपाय नमो नमः ॥[१] योगशिखोपनिषद् में इसे 'चिच्छति परमा देवी 'शिवा' कहा गया है—'ब्रह्मरंध्रे महास्थाने वर्तते सततं शिवा । चिच्छक्तिः परमादेवी मध्यमे सुप्रतिष्ठिता ।[२] याभल में इसे 'चित्कला' कहा गया है—'चित्कलां यां कुण्डलिनीं तेजोरूपां जगन्मयीम् ॥" कुण्डलिनी वाग्देवता है । परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी ये वाणी चतुष्टय कुण्डलिनी के ही विभिन्न रूप हैं और मंत्र इसी परा पश्यन्ती मध्यमा रूपी नाद का अपर पर्याय हैं अतः देवी मंत्रमयी, नादमयी एवं वर्णमयी कही जाती है । 'सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः ॥' 'क्रमेणानेन सृजति कुण्डलिनी वर्णमालिकाम ॥ अकारादिसकारान्तां द्विच चत्वारिंशदात्मिकाम्' ।[३] वह साक्षात् विद्या है और जगन्माता है—'या विद्या भुवनेशानी त्रैलोक्यपरिपूजिता । सादेवी कुण्डली माता त्रैलोक्यं पाति सर्वदा ॥[४] कुण्डलिनी मातृका देवी हैं । 'कामधेनु तंत्र' में समस्त वर्णों को कुण्डलिनी रूप कहा गया है यथा—'ईकारं परमेशानि स्वयं पर कुण्डली'।

यही कुण्डलिनी मातृका, विद्या, वर्ण एवं मंत्र सभी कुछ है । 'पंचाशन्मातृका देवी नानाविद्यामयी सदा । नानाविद्यामयीं देवी महाविद्यामयीं तथा । सर्ववर्णमयीं देवीं सर्वदेवमयीं परा ।[५] सर्वदेवमयीं सौम्यां ब्रह्माण्डजननी परा ॥' 'अकारादिक्षकात्तराता मातृकाबीज रूपिणी ॥' 'समस्त जननी देवी मातृका जननी परा ॥' 'मातृका परमेशानि काली साक्षान्न संशयः ॥'[६]

यही जगन्माता भी है । सारांश यह कि अकारादि क्षकारान्त समस्त वर्ण परमकुण्डली के व्यक्त रूप है—'अकारादि क्षकारान्तं स्वयं परम कुण्डली ।' इन्हीं वर्णों से समस्त जगत् उत्पन्न होता है—'सर्वं चराचरं विश्व वर्णान्तु जायते ध्रुवम्" अतः कुण्डलिनी जगन्माता भी है ।[७] 'तोडलतंत्र' में भी कुण्डलिनी को ५० वर्णों से समलंकृत कहा है—'सदा कुण्डलिनी देवी पंचाशद्वर्णभूषिता ॥'[८] सहस्रार में यही महाकुण्डलिनी के रूप में शिव के साथ निवास करती है—'सहस्रारे महापद्मे विश्वरूपः परः शिवः । महाकुण्डलिनी तत्र स्थिता नित्या सुरेश्वरि ॥'[९] यहाँ शिव बिन्दुरूप में स्थित है—'सहस्रारे महापद्मे बिन्दुरूपं परं शिवम् ॥'[१०]

कुण्डलिनी 'परा', 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' एवं 'वैखरी' रूप में अपने को अभिव्यक्त करती है जो निम्न हैं—

पश्यन्तीवाक्—शब्द की जो चार अवस्थायें (परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी) होती हैं उनमें 'महाबिन्दु' के विस्फोट के पूर्व शब्द की जो अवस्था होती है उसे 'परा' एवं (किसी विशेष अर्थ की अभिव्यञ्जना न करने वाला एवं मात्र स्पंदनस्वरूप) उसमें उत्पन्न सामान्य स्पंद 'पश्यन्ती' कहलाता है । इसका स्थान मूलाधार से मणिपूर चक्र तक है । यहीं इसका मन से संयोग होता है । ये दोनों

---

१. महानिर्वाण तन्त्र
२-३. शारदातिलक
४. रुद्रयामल
५-७. कामधेनु तन्त्र
८-१०. तोडल तन्त्र

अवस्थायें शब्दब्रह्म के ईश्वररूप की अवस्थायें हैं । प्राचीन वैयाकरण 'परावाक्' का उल्लेख नहीं करते क्योंकि उसमें स्पंद या गति नहीं है । 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' में ठीक ही कहा गया है कि वैयाकरणों की दृष्टि में पश्यंती ही परम तत्व है—'ननु पश्यन्त्येव परंतत्वमिति जरद्वैयाकरण मन्यन्ते ।।' आचार्य भर्तृहरि ने भी 'वाक्यपदीय' में त्रयीवाक् का समर्थन करते हुए परमवाक् के रूप में 'पश्यन्ती' को ही स्वीकार किया है । अभिनवगुप्तपाद, ने भी इस दिशा में सहमति प्रकट की है । सामान्य स्पंदस्वरूपिणी 'पश्यंतीवाक्' निःस्पन्दात्मिका परावाक् से उद्भूत होती है । मध्यमा से वैखरी, पश्यन्ती से मध्यमा एवं परा से पश्यंती का आविर्भाव होता है । वैखरीवाक् का उद्भव सूक्ष्मरूपा मध्यमा से एवं सूक्ष्मरूपा मध्यमा का उद्भव पश्यंती से होता है । पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी सुषुप्ति, स्वप्न एवं जाग्रत अवस्था के प्रतीक माने जाते हैं । सूक्ष्म शरीर में 'मध्यमावाक्' स्वप्नावस्था के समान है और 'परावाक्' सुषुप्ति अवस्था के सदृश है । वैयाकरणों की दृष्टि में 'पश्यंती' ही परावस्था है ।

'पश्यन्ती' वाक् चैतन्यस्वरूप, अखण्ड, अद्वय, अभिन्न परम् तत्व है । उसमें ग्राह्य-ग्राहक, देश-काल-क्रम का भेद नहीं है । कहीं वह क्रम-शून्य एवं कहीं प्रतिसंहृतक्रमा है । इसे भी आत्मा भी कहा गया हैं । व्याकरणसिद्धान्त के अनुसार पश्यन्ती—प्रतिलीनाकार, निराकार, चलाचल, संनिविष्टज्ञेयाकार, परिच्छिन्नार्थप्रत्यव-भास, संसृष्टार्थप्रत्यवभास, प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभास आदि विशेषणों से विभूषित है। पश्यन्ती ही वैयाकरणों का ब्रह्मतत्व है । यह निराकार, देशकालादिपरिच्छेद से शून्य, नियतरूप से शून्य, क्रमशून्यः अनवच्छिन्न अद्वैततत्व है । चूँकि क्रम एवं भेदाभास ही प्रपंच का स्वरूप है अतः अक्रमा पश्यन्ती विश्वोत्तीर्ण है । शब्दयोग का अवलम्बन लेकर चित्त का समाधान करनेवाले योगियों को पश्यन्तीवाक् अनावृत एवं वाग्योग में सिद्धि प्राप्त न करने वाले (पश्यंती के शुद्धरूप का साक्षात्कार न कर सकने वाले) लोगों के लिए पश्यंती आवृतस्वरूपा है । पश्यन्ती के स्वरूप में शब्द एवं अर्थ का पारस्परिक पार्थक्य नहीं रहता । यही 'पश्यन्ती' अर्थप्रतिपादन की इच्छा से 'मध्यमावाक्' बन जाती है । यही पश्यन्ती ही 'मध्यमा' एवं कण्ठादि में से व्यक्त होने पर 'वैखरी' कहीं जाती है। 'सुभगोदय वासना' के अनुसार—मूलाधार में उत्पन्न ('भूजन्मा') 'परा' वाक् की लता 'पश्यन्ती' है और सुगंध 'मध्यमा' है ।।

"शब्दपरब्रह्माद्वयवाद" मानने वाले शब्दाद्वैतवादी वैयाकरण भर्तृहरि एवं व्याकरण-दर्शन 'पश्यन्तीवाक्' को ही परब्रह्म स्वीकार करता है—

(१) "अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्यासदाशिवरूपता ।
वैयाकरण साधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः ।।"[१]

(२) इत्याहुस्ते परंब्रह्म यदनादि तथाक्षयम् ।

---

१. सोमानन्दपाद— शिवदृष्टि (आ०-२)

तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक् ॥[१]

सोमानन्दपाद का मत—काश्मीरीय शैवदर्शन के महान आचार्य एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रवर्तक आचार्य सोमानन्द शब्दाद्वैतवादियों के मत को अस्वीकार करते हुए अनेक तर्कों के साथ यह भी तर्क प्रस्तुत करते हैं कि शास्त्रों में कहा गया है कि—'शब्दब्रह्म' में निष्णातता प्राप्त करने के उपरान्त साधक परब्रह्म को प्राप्त करता है ।' ('शब्दब्रह्मणि निष्णात: परब्रह्माधिगच्छति')—अत: अपने आप सिद्ध हैं कि परावाक् या पश्यन्तीवाक् को शब्दब्रह्म स्वीकार कर लेने पर भी उससे अतीत एवं भिन्न पद 'परब्रह्मपद' स्वीकार करना ही पड़ेगा अत: 'पश्यन्तीवाक्' परब्रह्म नहीं हो सकता ।

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते ।
शब्दब्रह्मणि निष्णात: परंब्रह्माधिगच्छति ॥'

'पश्यन्तीवाक्' ईश्वर तत्व है । कारणबिन्दुरूप शब्दब्रह्म जब वायु से प्रेरित होकर नाभिदेश में आकर विमर्शात्मक मन से युक्त होता है तब उसे सामान्य-स्पंदात्मक प्रकाशस्वरूप कार्यबिन्द्वात्मक 'पश्यन्तीवाक्' कहा जाता है—'तदेव नाभिपर्यन्तमागच्छता त़ेन पवनेनाभि व्यक्तं विमर्शरूपेण मनसा युक्तं सामान्यस्पन्द प्रकाश रूपकार्य बिन्दुमयं सत्पश्यन्ती वागुच्यते ॥'[२]

मध्यमा माष (उड़द) की छीमी के समान क्रमात्मा होने पर भी एकत्वसंयुक्त है जबकि पश्यन्ती वरधानिका (बीज) के सन्निभ है । तंत्र में पश्यन्ती का अपर पर्याय 'कार्यबिन्दु' है ।

प्रकाश एवं विमर्श की दृष्टि से विचार करने पर—पश्यन्तीवाक् में स्थित प्रकाशांश 'वामाशक्ति' एवं विमर्शांश 'इच्छाशक्ति' कहलाता है । योगिनीहृदयकार ने कहा है कि बीजमावस्थित विश्व को पराशक्ति जब स्फुटीकृत करना चाहती है तब, उसमें विश्व का वमन करने की इच्छा होने के कारण, उसे 'वामा' कहा जाता है और वह अंकुशाकार में परिणत हो जाती है । इसके उपरान्त इच्छाशक्ति द्वारा वह अपने को देखती है और उसका आत्मईक्षरम 'पश्यन्ती' कहा जाता है—

बीजभावस्थितं विश्व स्फुटीकर्तुं यदोन्मुखी । वामा विश्वस्य वमना दंकुशाकारतां गता । इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्ती वपुष स्थिता ॥

राजानक जयरथ ने तंत्रालोक की अपनी टीका में कहा है कि परमेश्वरी 'परा' ही अपने स्वातंत्र्य से जब बाह्यरूपों की उन्मिषित 'वामा' एवं इच्छाशक्ति में साम्य से जिस बिन्दु का आविर्भाव होता है उसका अभिधान है—'पश्यन्तीवाक्' ॥ वाक् तत्व का पश्यन्ती रूप वाक् की वह अवस्था है जो ग्राह्य-ग्राहकविभाग क्रमरहित तथा अविभागा है एवं देश कालक्रम संहारवती है ।[३]

---

१. सोमानन्दपाद—'शिवदृष्टि' (२।२) २. सौभाग्यभास्कर
३. सोमानन्दपाद—'शिवदृष्टि' (२।११)

'पश्यन्ती' स्फोट तत्व है—'स्फोट एव हि पश्यन्ती'[१] 'पश्यन्ती' को पश्यन्ती इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह इस स्तर पर आत्मा के द्वारा आत्मा को देखती है—'स्वात्मानात्मानमथ चेत्पश्यन्ती सामविष्यति ॥'[२]

शिवाग्र योगीन्द्रज्ञानशिवाचार्य ने शैवपरिभाषा में अपने सिद्धान्तानुसार वाक्तत्व का इस प्रकार निरूपण किया है—"अत्रशब्दवृत्तिश्चतुधर्व, सूक्ष्मापश्यन्ती मध्यमा वैखरी चेति । तत्र ज्ञानैकाश्रया अर्धसामान्य प्रकाशिकावाणी 'सूक्ष्मा' । मयूराण्डरस-वदविभक्तवर्णार्थविशेषबोधनाक्षमावाणी 'पश्यन्ती' ।" पौष्कर में 'पश्यन्ती' का स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया गया है—

"वर्णरूपानुसंधान विरहान्तः समुज्ज्वला ।
मयूराण्डरसो यद्वन्तिर्विशेषार्थधारिका ।
पश्यन्ती वागियं ज्ञेया तृतीया शिवशासने ॥"[३]

तत्व की दृष्टि से पश्यन्तीवाक् का सम्बंध है—'शक्तितत्व' से है—शिवतत्वविकारः शक्तितत्वम् । अत्रैव पश्यन्त्याख्याया वाग्वेत्तेः निवृत्यादिकलानां चावस्थानम् ॥'[४] इसी में निवृत्यादि कलाओं का अवस्थान है ।[५] शिव-शक्ति से अधिष्ठित होने के कारण इसे शक्तितत्वपद वाच्यता प्राप्त हुई है—

'अस्य च शिवशक्त्यधिष्ठानन्वेन शक्तितत्वपदवाच्यता ॥'[६]

लक्ष्मीधर ने 'सौन्दर्यलहरी' की टीका में 'परा' को गुणत्रय की साम्यावस्था एवं 'पश्यन्ती' को वैषम्यावस्था का अभिधान दिया है—'एका परेति सत्व रजस्तमोगुणसाम्यरूपा । तदन्या पश्यन्ती अन्यतरगुण वैषम्यरूपेत्यर्थः ॥'

पश्यन्तीवाक् के विविध स्वरूप—'पश्यन्ती' के तीन प्रकारों का निरूपण किया गया है—

१. स्थूलापश्यन्ती—सप्तस्वरों के सम्मिलन या वर्गों के विभाजन से शून्य, आलाप द्वारा सर्वातिशय आह्लाददायिनी प्रथमनादमात्र स्वभावा वाणी स्थूल पश्यन्ती वाणी है—

'यत्र या स्वरसन्दर्भसुभगा नादरूपिणी ।
सा स्थूला खलुपश्यन्ती वर्णाद्यप्रविभागतः ॥'

२. सूक्ष्मापश्यन्ती—जिगासा का संधान ही सूक्ष्मा पश्यन्ती है ।

३. पर पश्यन्ती—परात्परचिद्रूपा, उपाधिशून्या पश्यन्ती का सूक्ष्मतम रूप ही पर पश्यन्ती कहा जाता है ।

---

१. सोमानन्दपाद—'शिवदृष्टि' (२।५८)
२. सोमानन्दपाद—'शिवदृष्टि' (२।६५)
३. पौ० बिन्दु० प० १
४. शैवपरिभाषा
५-६. तत्रैव

'अस्मिन् स्थूलत्रये यत्तदनुसन्धानमादिवात् । पृथक्-पृथक् तत्त्रितयं सूक्ष्ममित्यभिधीयते । षडजं करोमि मधुरं वादयामि ब्रुवे वचः । पृथगेवानुसंधानत्रयं संवेद्यते किल । एतस्यापि त्रय स्याद्यं यद्रूप मनुपाधिमत् । तत्परं त्रितयं तत्र शिवः परचिदात्मकः ॥'

१. अभिनवगुप्त की दृष्टि के अनुसार पश्यन्ती के निम्न भेद हैं—

(क) पश्यन्ती (ख) महापश्यन्ती (ग) परममहापश्यन्ती

(क) 'पश्यन्ती' = 'गृहात् निःसराभि' आदि परामर्श, माया प्रमाता (जीव) ।

(ख) 'महापश्यन्ती' = सदाशिव एवं ईश्वर की दशा ।

(ग) परममहापश्यन्ती = परावाक् ॥

'पश्यन्तीवाक्' में ग्राह्य-ग्राहकगत देशकालक्रम स्फुटभाव से नहीं रहता क्योंकि पश्यन्ती वाक् में निर्विकल्पात्मक विमर्श हुआ करता है । इसे प्रतिसंहृतक्रम' इसलिए कहते हैं क्योंकि ग्राह्यग्राहकोत्पन्न क्रम पश्यन्ती में अस्फुट एवं लीन दशा में रहता है । और क्योंकि वह स्वयमेव अक्रमात्मिका है अतः वह अन्तर्लीन एवं अविभागात्मक क्रम को आवृत्त करके स्थित है । इसे 'सूक्ष्म' इसलिए कहा जाता है क्योंकि—

२. वाक्यपदीयकार भर्तृहरि और पश्यन्ती के विविध रूप—

आचार्य भर्तृहरि अपनी 'स्वोपज्ञ' नामक टीका में पश्यंती के विविधात्मक स्वरूपों का विवेचन किया है । वाक्यपदीयकार ने 'परं तु पश्यन्तीरूपमनपभ्रंशमसङ्कीर्णं लोकव्यवहारातीतम्' कहकर जहाँ अनपभ्रंश, असङ्कीर्ण, लोकव्यवहारातीत 'परपश्यन्ती' का उल्लेख किया है वहीं 'चलाचला, आवृता, सन्निविष्टज्ञेयाकारा, परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा, संसृष्टार्थप्रत्यवभासा, प्रतिलब्धसमाधाना, विशुद्धा, प्रतिलीनाकारा, निराकारा, प्रशान्त सर्वार्थप्रत्यवभासा आदि विशेषणों के द्वारा पश्यन्ती के विभिन्न स्वरूपों की ओर भी सङ्केत किया है ।

आचार्य भास्करराय 'ईक्षण', 'काम', 'तप', एवं विचिकीर्षा' आदि शब्दों को समानार्थक मानते हुए पश्यन्ती को इन्हीं का स्वरूप मानते हैं । राजानक जयरथ ने 'तन्त्रालोक' की टीका में कहा है कि परापरमेश्वरी जब स्वातंत्र्य शक्ति द्वारा बाह्य रूपों को उन्मिषित करना चाहती है—अभिव्यक्त करना चाहती है तब उसकी आख्या 'पश्यन्ती' होती है । उस समय वाच्यवाचकता का क्रम नहीं रहता तथा चित्शक्ति के प्रकाश के प्राधान्य के के कारण वह द्रष्टा रूप में स्थित रहती है । "सैव हि परमेश्वरी स्वस्वातंत्र्यात् बहीरूपतामुल्लिलासयिषुर्वाच्यवाचक क्रमानुदया द्विभागस्यास्फुटत्वाच्चि ज्योतिष एवं प्राधान्यात् द्रष्ट्टरूपतया पश्यन्तीति शब्दव्यपदेश्या ।''

'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' वाक्यांश में ईक्षण शब्द को आचार्य भास्करराय ने 'काम' 'तप' 'विचिकीर्षा' आदि का अपर पर्याय स्वीकार किया है अतः इस

अवस्था को 'पश्यन्ती' संज्ञा देना अनुचित नहीं होगा—ततः स्त्रष्टव्यपदार्थानालोचयति—"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इति श्रुतेः । तादृशीमीक्षरममेव प्रवृत्ति निमित्तीकृत्य तस्यां पश्यन्तीति पदं प्रवर्तते ।। (वरिवस्या० प्रकाश)

३. **सौभाग्यभास्करकार** का कहना है कि चूँकि वाणी के इस स्तर पर आत्मा अपने को देखती है अतः वाक् की इस अवस्था की आख्या 'पश्यन्ती' है—'पश्यतीति पश्यन्ती ।' 'सौभाग्य सुधोदय' में कहा गया है—'पश्यति सर्वं सवात्मनिकरणानां सरणिमपि यदुत्तीर्णां । तेनेयं पश्यन्तीत्युत्तीर्णेत्यप्युदीर्यते माता ।।'[१]

४. **आचार्य सोमानन्दपाद और 'पश्यन्तीवाक्'**—आचार्य सोमानन्द पश्यन्ती को 'ज्ञानशक्ति' से अभिन्न स्वीकार करते हैं ।

आचार्य अभिनवगुप्त और 'पश्यन्तीवाक्'—तंत्र समाम्न्याय एवं आचार्य अभिनवगुप्त की दृष्टि में 'पश्यन्तीवाक्' 'इच्छाशक्ति' है ।[२]

५. **आचार्य उत्पल और 'पश्यन्तीवाक्'**—आचार्य उत्पलदेव ने शिवदृष्टि की अपनी टीका में 'पश्यन्तीवाक्' में ज्ञानशक्ति को उपचरित स्वीकार किया है—'पश्यन्तीति दर्शन प्राधान्यात् उपचरित ज्ञानशक्ति रूपत्वेप्याश्रीयमाणे परमशिवरूपतया अत्यन्तदूरवर्तिनी, न तु पर्यन्तदशा सौ, ज्ञानशक्तेः सदाशिवरूपत्वात् परापर-व्यवस्थात्र । सदाशिव रूपत्वे च क्रियाशक्तिरपि न परित्यक्ता ।।'[३]

६. **'पश्यन्ती' ज्ञानशक्ति है या इच्छाशक्ति?**—आचार्य सोमानन्दपाद द्वारा पश्यन्ती को ज्ञानशक्ति एवं आचार्य अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा इसे इच्छाशक्ति के रूप में स्वीकार करने पर भी इन मान्यताओं में तात्विक धरातल पर अन्तर्विरोध नहीं है क्योंकि स्वयमेव इच्छाशक्ति ज्ञानस्वमाता एवं ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति से युक्त है—आचार्य अभिनवगुप्त इच्छाशक्ति में बोध्यवस्तु के अवबोध की शक्ति होती है । इच्छाशक्ति बोध्यबुभुत्सास्वभावा होती है तथा यह ज्ञान एवं क्रिया इन दोनों शक्तियों की अनुग्राहिका है—"इयमेव च इच्छाशक्तिरूपेति दर्शयति कार्यचिकीर्षा इति । बोध्यबुभुत्सास्वभावा अपि इयं भवति, अतश्च एवं—यदिच्छाशक्तिर्ज्ञानक्रिया-शक्त्यो सुग्राहिका इति, किन्तु बुभुत्सा अपि बोधस्वभावैव तस्य वस्तुनस्तत्र अवभास-परिपूर्णतया प्रकाशानात् ।।"[४]

७. **व्याकरणागम, भर्तृहरि और 'पश्यन्तीवाक्'**—अद्वैतवादी व्याकरणागम शब्दाद्वैतवाद का प्रतिपादन करता हुआ पश्यन्तीस्वरूपा परावाक् को अनादिनिधन शब्दब्रह्म मानता है । व्याकरण भर्तृहरि ने अपनी 'स्वोपज्ञ' नामक टीका में 'पश्यन्ती' को ही परावाक् स्थानीय स्वीकार करते हुए उसे वाणी का परात्पर स्वरूप माना है । उनके अनुसार भी 'पश्यन्ती' विभागशून्या, संहृतक्रमा, स्वरूपज्योतिस्वरूपा, अविनाशा, एवं स्वप्रकाशा है । आगन्तुक मलों से सङ्कीर्यमाण

---

१. सौभाग्यभास्कर
२. ई० प्र० वि० (अ०१, वि०५)
३. सोमानन्दपाद—'शिवदृष्टि' (२।३७)
४. ई० प्र० वि० (अ०१, वि०५)

होने पर भी सोम की चरमाकला के सदृश कभी इसका अत्याभिभव नहीं होता। इसके स्वस्वरूप का साक्षात्कार होने पर स्वर्गमुक्ति स्वरूप अधिकार निवृत्त हो जाता है। षोडशकल पुरुष में इसे ही 'अमृतकला' कहा गया है—

'अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा। स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपापिनी। सैषा सङ्कीर्यमाणापि नित्यमागन्तुकैर्मलैः। अन्त्या कलेव सोमस्य नात्यन्त मभिभूयते। तस्यां दृष्टरूपायामधिकारो निवर्तते। पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम् ॥'[१]

८. **आचार्य सोमानन्दपाद की दृष्टि और 'पश्यन्तीवाक्'**—प्रत्यभिज्ञादर्शन के उद्भावक आचार्य सोमानन्दपाद ने 'शिवदृष्टि' में व्याकरणागम में स्वीकृत शब्द -परब्रह्माद्वयवाद का खण्डन करते हुए 'पश्यन्ती' का व्याकरणागमानुकूल स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

१. काश्मीरीय ईश्वराद्वयवाद में जो जो ज्ञानशक्ति अथवा सदाशिव का स्वरूप है वही वैयाकरणों की पश्यन्ती है जिसे वे लोग परात्पर तत्व स्वीकार करते हैं।

२. यह अनादिनिधन शब्दब्रह्मस्वरूप पश्यन्ती ही 'परावाक्' है।

३. यह शब्दब्रह्म सम्पूर्ण शरीरों में व्याप्त संवित (आत्मा) है।

४. ज्ञेयरूप, शून्य, चिद्रूप उस शब्दतत्व की ही 'भोक्ता' भी संज्ञा है।

५. यह साक्षात्कार को निरतिशद स्थान या पराकोटि है।

६. क्रमात्मक विश्व से अतीत, देशकालावच्छेद से विरहित, वाच्यवाचक-ग्राह्य ग्राहक आकारों से शून्य, ऐन्द्रियवृत्तियों से परे स्थित यह पश्यन्ती वाक् ही पराकाष्ठा, परमार्थ एवं परब्रह्म है—'अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिव-रूपता। वैयाकरणसाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः। इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाक्षयम्। तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती पराहि वाक्। स एवात्मा सर्वदेहव्यापकत्वेन वर्तते। अन्तःपश्यदवस्थैव चिद्रूपत्वमरूपकम्। तावद्यावत्परा काष्ठा यावत्पश्यत्यनन्तकम्। अक्षादिवृत्तिभिर्हीनं देशकालादि-शून्यकम्। सर्वतः क्रमसंहार मात्रमाकारवर्जितम्। ब्रह्मतत्वं पराकाष्ठा परमार्थस्तदेव सः ॥'[२]

जब विकारशून्या पराकला स्रष्टव्य पदार्थों का आलोचन करती है—'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' (छा०उ०६-२-३) के अनुसार ईक्षण करती है तब उस ईक्षणात्मिका परा कला को 'पश्यन्ती' की आख्या प्राप्त होती है। यह शक्ति समग्र विश्व को अपने में अंतर्गर्भित देखती है इसीलिए इसे 'पश्यन्ती' और 'उत्तीर्णा' कहा गया है।[३]

---

१. 'वाक्यपदीय' की टीका
२. सोमानन्दपाद— शिवदृष्टि
३. सौभाग्यभास्कर

परावाक् के अनन्तर वाच्यवाचकात्मक विश्वविकास की जो द्वितीय कोटि है वहीं है 'पश्यन्ती' । यह अपने में समस्त विश्व को देखती है तथा अन्तः और बाह्यकरणों के मार्ग से उत्तीर्ण है अतः इसे 'पश्यन्ती' और उत्तीर्ण कहते हैं –

'पश्यंति सर्वं स्वात्मनि करणानां सरणिमपि यदुत्तीर्णा ।
तेनेयं पश्यन्तीत्युत्तीर्णेत्यप्युदीर्यते माता ॥''[1]

'पश्यन्ती' के स्तर पर असामान्य आन्तरभाव का उदय होता है जिसमें प्रत्यवमर्शनकारी आत्मा वाच्यार्थ के परामर्श की दिशा में अर्थ को अहंभाव से आच्छादित करके उसे अभिव्यंजित करती है । मध्यमा भूमि में अर्थ 'इदं' रूप में प्रतीत होता है और साथ ही यह वाच्य एवं शब्द से पृथक् अवस्था में वाचक रूप में प्रकट होता है । इसी स्तर पर समस्त शास्त्र वाचक शब्द का आश्रय लेकर उदित होते हैं । और स्वयं आत्मा ही १. वक्ता एवं गुरु तथा २. श्रोता एवं शिष्य के रूप में प्रकट होती है । पश्यन्ती भूमिपरा की भाँति वाच्य-वाचक विभाग से शून्य है तथा इस भूमि में उपदेष्टा एवं उपदेश्य में कोई भेद नहीं रहा करता ।

परमेश्वर की पाँच शक्तियों में से आद्या परमा शक्ति "इच्छाशक्ति" ही पश्यन्ती के रूप में शरीर धारण करती है—'इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्ती वपुषा स्थिता ॥'[2] इच्छाशक्ति वामाशक्ति के साथ सामरस्य प्राप्त करके पश्यन्ती के रूप में प्रकट होती है—'इच्छाशक्तिर्वामाशक्तिसामरस्यमापन्ना पश्यन्ती रूपेण स्थिता ॥'[3]

मध्यमावाक्—'मध्यमा' शब्द का अर्थ है दो प्रान्तों का मध्यवर्ती । चूँकि मध्यमा के एक प्रान्त में दिव्य पश्यन्तीवाक् स्थित है और दूसरे प्रान्त में पाशव वैखरीवाक् और इन दोनों के मध्य सेतुस्वरूप मध्यमावाक् स्थित है इसीलिए इसको 'मध्यमा' कहते हैं । पशुभाव से दिव्यभाव में यात्रा करने का मार्ग 'मध्यमा' ही है। जहाँ 'वैखरी' वाक् में चैतन्य का आलोक आवृत रहता है वहीं मध्यमा वाक् में प्रस्फुट रहता है । चैतन्यालोक की रश्मियाँ नादरूपी सूत्र का आश्रय लेकर निःसीम व्योम में व्याप्त रहती है । 'मध्यमा' में वैखरी की भाँति व्यक्तता तथा परा की भाँति अव्यक्तता दोनों नहीं है प्रत्युत् उसमें व्यक्तता एवं अव्यक्तता दोनों स्थित हैं । 'वैखरी' वाक् में चिद्भाव गुप्त रहता है इसीलिए इस भूमि के वर्णों को मंत्रमयता प्राप्त नहीं है किन्तु इसके विपरीत मध्यमा चिद्रश्मिभव होने के कारण मंत्र भूमि है। 'वैखरी' भूमि में लक्ष्य नीचे मूलाधार की ओर (या बाहर की ओर) रहता है जबकि 'मध्यमा' में लक्ष्य ऊपर गुरुधाम या सहस्रार की ओर होता है । मध्यमा मंत्रमयी भूमि है क्योंकि मध्यमा वाक् मंत्ररूप में ही प्रस्तुत होती है । इसी स्थान से मनःशोधन एवं उसके माध्यम से विज्ञान के द्वार का उद्घाटन संभव हो पाता है। चूँकि वैखरी भूमि में चिदंश आच्छन्नप्राय रहता है अतः इस भूमि में मनोमय, प्राणमय एवं अन्नमय इन तीनों कोशों की ओर आकर्षण रहता है । मध्यमा में

---

१. सौभाग्यभास्कर
२. योगिनीहृदय
३. अमृतानन्द—'दीपिका'

नादात्मक चिद्रश्मि नित्य विद्यमान रहती है जबकि वैखरी में नहीं ।

स्थूलसृष्टि के आदि में 'मध्यमा' शब्द ही प्रकट होता है । उस समय उसका कोई बाह्य अर्थ नहीं होता । 'मध्यमा' शब्द वह मानसिक गति है जो किसी वस्तु की धारणा बनाती है । मध्यमा अर्थ स्थूल बाह्य वस्तु की मानसिक छाप है । मध्यमा शब्द और मध्यमा अर्थ, ज्ञाता और ज्ञेय (ग्राहक एवं ग्राह्य) रूप में सूक्ष्म शरीर के विषय है । मध्यमा वाक् एवं उसका अर्थ, दोनों सूक्ष्म हैं और ये सूक्ष्म (लिङ्ग) शरीर से सम्बद्ध हैं । किसी अर्थ-ग्रहण करने की क्रिया में मन दो कार्य किया करता है ।

१. मन का एक अंश तो सूक्ष्मशब्द के साथ एकाकार हो जाता है ।

२. मन का द्वितीय अंश बाह्य वस्तु के रूप में आकार ग्रहण करता है ।

यही सूक्ष्म अर्थ है । सूक्ष्मशब्द एवं सूक्ष्म अर्थ मन के दो प्रतिरूप है । इस प्रकार सूक्ष्म शब्द एवं सूक्ष्म अर्थ ग्राहक एवं ग्राह्य रूप में मन की ही अभिव्यक्तियाँ है और दोनों सूक्ष्मशरीर के वशीभूत हैं । शब्द का स्थूल रूप जो वैखरीवाक् द्वारा प्रकट होता है मध्यमा के स्तर पर सूक्ष्मरूप धारण करता है । वाणी का यह सूक्ष्म रूप ही मध्यमावाक् का विंषय है । सोमानन्दपाद के अनुसार क्रमशून्य, शब्दब्रह्म, अर्थ प्रतिपादन की इच्छा से, विवक्षा के द्वारा उपलक्षित मनोविज्ञान का रूप ग्रहण करता है किन्तु बिन्दु नाद नामक प्राणापानस्वरूपात्मक वायु के क्रम से उल्लसित होने पर वही वाक् 'मध्यमावाक्' कहलाता है ।

'आस्ते विज्ञान रूपत्वे स शब्दोऽर्थविवक्षया ।
मध्यमा कथ्यते सैवबिन्दुनादमरुत्क्रमात् ॥'

'ज्येष्ठा' तथा ज्ञान के साम्य से जो बिन्दु प्रकट होता है उसका नाम है— 'मध्यमावाक्' ॥ 'मध्यमावाक्' वाक्तत्व का वह स्तर है जो अनाहत चक्र से सम्बद्ध है, स्फुट होते हुए भी संयुक्त पत्तियों की भाँति भेदाभेद स्तर पर आरुढ़ है तथा बुद्धि के साथ संश्लिष्ट है—सोमानन्दपाद ने इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

अथ मध्यमया बाह्या भावा ग्राह्या ह्यविद्यया ।
तस्या एव हि संयोगो बुद्धया सङ्कल्पनात्मना ॥[१]

शिवाग्रयोगीन्द्रज्ञानशिवाचार्य ने 'शैवपरिभाषा' में मध्यमा को इस प्रकार परिभाषित किया है—"बुध्युपारुढ़वर्णा तत्क्रम विशेषोपेता प्राणवृत्यगोचरीभूता सैव मध्यमा" ॥ पौष्कर० में इसका स्वरूप इस प्रकार नियपित किया गया है—

"बुध्या वर्णानुसंधानपूर्वमर्थस्य वाचिका ।
प्राणवृत्तिमतिक्रान्ता वागेषा मध्यमाह्वया ॥"[२]

१. सोमानन्दपाद—'शिवदृष्टि' (२।३७) २. पौ०बिन्दु०प०

तात्विक दृष्टि से वाग्विभाजन—तात्विक दृष्टि से मध्यमावाक् का सम्बंध 'सदाशिव तत्व' है—

"शक्तितत्व विकारः सदाशिव तत्वम् । इदमेव मध्यमाभिधानाया वाण्या अधिष्ठानम् ।।"[१] कामिक आदि तंत्र भेद के कारणों प्रणवादिकों, सामीप्य आदि मुक्ति प्राप्त लोगों एवं उनके भुवनादिक का यही कारण है ।[२]

अभिनवगुप्तपाद ने 'तंत्रालोक' में मध्यमा के अनेक भेदों का वर्णन किया है—

'मध्यमा' के विभिन्न भेद—अभिनवगुप्त ने मध्यमा के तीन भेद किये हैं—
१. 'स्थूलमध्यमा' २. 'सूक्ष्ममध्यमा' ३. 'परमध्यमा'

१. **स्थूलमध्यमा**—अभिनवगुप्त इसका स्वरूपोद्घाटन करते हुए कहते हैं—
'यत्तु चर्मावनद्धादि किंचित्तयत्रैव यो ध्वनिः । स स्फुटास्फुटरूपत्वान्मध्यमा स्थूलरूपिणी ।।"[३]

चमड़े से मढ़े हुए मृदङ्ग आदि को बजाने पर जो ध्वनि निकालती है उसे स्थूल मध्यमा के सदृश समझना चाहिए । यह ध्वनि पश्यन्ती को सूक्ष्मता की तुलना में अधिक स्फुट होती है किन्तु वर्णादि विभाग के न होने से अस्फुट भी होती है । दो वाकों के मध्य में होने से ही 'मध्यमा' कहा जाता हैं । यह स्थूल इसलिए होती है क्योंकि यह लोक श्रव्य होती है ।

२. **सूक्ष्ममध्यमा**—बजाने की इच्छा के अनुसंधान का अभिधान ही सूक्ष्म मध्यमा है जो कि संवेदनात्मक मात्र होती है ।

३. **परमध्यमा**—वाद्य बजाने की इच्छारहित चिदात्मक स्वरूप ही परमध्यमा है ।

'महाभारत' के आश्वमेधिक पर्व में 'मध्यमा' का स्वरूप—इस प्रकार निरूपित किया गया है—'केवलं बुद्ध्युपादान क्रमरूपानुपातिनी । प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ।।' अर्थात् बुद्धि जिसका उपादान है । क्रमरूपात्मक, प्राणवृत्ति से अतीत होकर मध्यमावाक् प्रवृत्त होता है ।"

भर्तृहरि की व्याख्यानुसार मध्यमा का स्वरूप इस प्रकार है—अन्तःसन्निवेश -संयुक्त, क्रम न होने पर भी क्रम को ग्रहण किए हुए के समान, बुद्धि मात्र उपादान वाली, सूक्ष्म प्राणवृत्ति के पीछे रहने वाली, वाणी ही मध्यमा वाणी है— "मध्यमास्वन्तः सन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादान सूक्ष्मप्राणवृत्त्यनुगता ।।"

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी में मध्यमा के स्वरूप का निरूपण इस प्रकार किया गया है—"अन्तःकरणं मनो बुद्धयहङ्कारलक्षणं मध्यभूमौ पुर्यष्टकात्मनि प्राणाधारे

१-२. शैवपरिभाषा

३. तन्त्रालोक (तृ०आ०)

विश्रान्तं या विमर्शशक्ति प्रेरयति सा मध्यमा वाक् ॥'' अर्थात् पुर्यष्टक युक्त प्राणशक्ति की आश्रयभूता सुषुम्नानाड़ी में विश्रांति-प्राप्त मन, बुद्धि अहङ्कार युक्त अन्त:करण को जो विमर्श शक्ति प्रेरित करती है उसे 'मध्यमावाक्' कहते हैं। विमर्शिनीकार आगे कहते हैं कि उससे प्रेरित होकर अन्त:करण चतुष्टय, सङ्कल्पन निश्चयीकरण, अभिमनन एवं विकल्पन रूप कार्यों में प्रवृत्त होता है और उस समय जब वह विमर्शमयी वाणी सङ्कल्पपूर्ण ग्राह्य एवं सङ्कल्पयितृ रूप ग्राहक एवं "मैं चैत्र, घट की कल्पना कर रहा हूँ, आदिवाचक शब्दों के साथ भेदपूर्ण, स्फुटक्रम से उपरक्त होती है तब चिन्तन शब्दवाच्य वह ज्ञानशक्ति एवं मध्यमावाक् कही जाती है।

'कामकलाविलास' की दृष्टि में मध्यमा और उसका स्वरूप निम्नानुसार है—'मध्यमा' के दो भेद है—१. सूक्ष्म, २, स्थूल। "द्विविद्या मध्यमा सा सूक्ष्म-स्थूलाकृतिः स्थिता सूक्ष्मा। नवनादमयी स्थूला नववर्गात्मो च भूतलिप्यात्मा। आद्याकारणमन्याकार्यं त्वनयोर्यतस्ततो हेतो: । सैवेयं नहि भेदस्तादात्म्यं हेतु हेतुमदभीष्टम् ॥'' (२७-२८)। सारांश यह कि—

१. मध्यमा के भेद हैं—(क) स्थूल (ख) सूक्ष्म।

२. सूक्ष्मरूप में वह नित्या एवं नवनादमयी है।

३. स्थूलरूप में वह भूतलिप्यात्मक एवं वर्णों का नववर्ग है।

४. सूक्ष्म मध्यमा कारण है एवं स्थूल मध्यमा कार्य है।

५. स्थूल (कारणरूपा) एवं सूक्ष्म (कार्यरूपा) मध्यमा से स्वरूपत: कोई भेद नहीं है।

'सूक्ष्मामध्यमा'—नवनादगर्भा है। नौ नाद निम्नांकित हैं—चिणि, चिणिचिणी, घण्टानाद, शङ्खनाद, तंत्रीनाद, तालनाद, वेणुनाद, भेरीनाद, मृदङ्गनाद (हंसोपनिषद)। —इन नादों को केवल समाधि द्वारा ही सुना जा सकता है—"तत्र सूक्ष्मा समाधिवलेन अनुभूयमाना ॥'८ (का०)

'स्वच्छन्दतंत्र' के अनुसार नाद ८ हैं जो निम्न हैं घोष, राव, स्वन, शब्द, स्फोट, ध्वनि, झाङ्कार ध्वंकृति:—

'अष्टधा सतु देवेश व्यक्त: शब्दप्रभेदत: । घोषो राव: स्वन: शब्द: स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च। झाङ्कारो ध्वंकृतश्चैव अष्टौ शब्दा: प्रकीर्तिता। नवमस्तु महाशब्द: सर्वेषां व्यापक: स्मृत: ॥'[१]

ये आठ नाद उस नवम नाद के प्रकार हैं जो कि व्यापक रूप से सर्वत्र प्रसरणशील है। इनमें 'घोष' कान एवं उँगली के संयोग से उद्दीप्त वह्निजन्य शब्द सदृश है। काँसे के टूटने से उत्पन्न रूक्ष शब्द जैसा शब्द 'राव' है। बाँस की

१. स्वछन्दतन्त्र (११ पटल)

ध्वनि के सदृश एवं वातशून्यप्रदेश में होने वाली सौम्यवर्षा के सदृश ध्वनि ही 'स्वन' है । व्योम में भ्रमरी की ध्वनि के सदृश एवं सम्पूर्ण शब्दों की जन्मभूमि रूप नाद 'शब्द' है । वाक्य को स्फुट रूप से सूचित करने वाला, वर्णभेद का अवभासक नाद ही 'स्फोट' है । वीणा के पाँचवें तार से निःसृत ध्वनि के समान 'ध्वनि' है । वीणा के समस्त तारों के निनादित होने पर होने वाले ध्वनि के सदृश ध्वनि-'झाङ्कार' है । आकाशारुढ़ मेघों की ध्वनि के सदृश घण्टानाद का अनुगमन करने वाली ध्वनि 'ध्वंकृति' है । इन्हीं नादों से युक्त मध्यमा 'सूक्ष्मामध्यमा' कही जाती है ।

स्थूल मध्यमा नववर्गात्मिका है । उपर्युक्त नव नादों द्वारा ही सूक्ष्म अ, क, च, ट, त, प, य, श, ल के रूप में वर्तमान नववर्ग से युक्त मध्यमा 'स्थूलमध्यमा' कहलाती है । ये नववर्ग नव नादों से उद्भूत हुए हैं ।

पद्मपादाचार्य की दृष्टि में 'मध्यमा' और उसका स्वरूप—आचार्य पद्मपाद की व्याख्यानुसार मध्यमा का स्वरूप इस प्रकार है—

१. यह बाह्य अन्तःकरण आदि से युक्त है ।

२. यह हिरण्यगर्भरूपात्मक है एवं बिन्दुतत्वमय है ।

३. नाभि से लेकर हृदयपर्यन्त स्थान में अभिव्यक्त ।

४. विशेष स्पंद सङ्कल्पादिरूपात्मक ॥

५. परिभाषा—'मध्ये मा बुद्धिर्यस्याः सा मध्यमा' ।[१]

१. भास्करराय एवं पद्मपाद के विचारों में मतभेद—भास्करराय के मत में 'मध्यमा' नादमयी है—"अथतदेव शब्दब्रह्म तेनैव वायुना हृदयपर्यन्त भमि व्यज्यमानं निश्चयात्मिकया बुद्ध्या युक्तं विशेष स्पन्द प्रकाशरूप नादमयं सन्मध्यमा वागित्युच्यते ॥"[२]

२. पद्मादाचार्य के मत में 'मध्यमा' बिन्दुमयी है—प्रपंचसार० प्रथम पटल ४३ श्लोक में कहा गया है—'स बिन्दुनाद बीजत्वभेदेन च निगद्यते" । इस कथन के साथ मध्यमा को 'बिन्दुमयी' मात्र कहना आत्मविरोधी कथन है । राघव भट्ट के मतानुसार मध्यमा 'नादबिन्दुमयी' है । राघवभट्ट द्वारा उद्धृतांश में कहा गया है कि मध्यमा 'नादरूपिणी' है—'सैव हृत्पङ्कजं प्राप्य मध्यमा नादरूपिणी । पद्मपादाचार्य ने 'मध्यमा' को बिन्दुरूपात्मक एवं 'पश्यन्ती' को नादात्मक भी कहा है । वस्तुतः 'बिन्दु' 'पश्यन्ती' का एवं 'नाद' मध्यमा का सङ्केतक है ।

नित्याषोडशिकार्णव में मध्यमा के स्वरूप का निरूपण इस प्रकार किया गया है—'ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमा वागुदीरिता ऋजुरेखामयी विश्वस्थितौ प्रथित-विग्रहा ॥' सारांश यह कि 'ज्ञानशक्ति' एवं 'ज्येष्ठा' मध्यमावाक् के मूल उपादान

१. प्र० सा० तं० वि०

२. सौभाग्यभास्कर (पृ०९९)

हैं। यह ऋजुरेखामयी वाक् विश्वस्थिति का अधिष्ठान एवं कारण है । 'महात्रिकोण' में यह ऋजु रेखा का कार्य सम्पादन करती है ।

मध्यमावाक् को हिरण्यगर्भशब्द' या 'नाद' पद से भी अभिहित किया गया है। वायु के सहकार से नाभि से हृदयपर्यंत अभिव्यज्यमान एवं निश्चयात्मिका बुद्धि से उपहित 'शब्दब्रह्म', विशेषस्पन्दात्मक' प्रकाशरूपात्मक एवं नादप्राण 'मध्यमावाक्' पद वाच्य है । भास्करराय ने नव नादों की समष्टि को ही 'मध्यमा' का अभिधान दिया है ।[१] पद्मपादाचार्य ने इसे बिन्दुतत्वमयी एवं हिरण्यगर्भरूपिणी संज्ञा दी है ।

'कामकलाविलास' में 'मध्यमा' के स्वरूप का निरूपण इस प्रकार किया गया है—पराभूर्जन्य पश्यन्ती वल्लीगुच्छसमुद्भामध्यमा सौरभा वैखर्यक्षमाला जयत्यसौ॥ अर्थात्—

१. 'परा' = बीजधारिका मूल भूमि है ।

२. 'पश्यन्ती' = उस बीजोत्पन्न वृक्ष का वल्लीगुच्छ है ।

३. 'मध्यमा' = उस पादप के पुष्पों का सौरभ है ।

४. 'वैखरी' = अक्षमाला है ।

'सौभाग्यभास्कर' में ठीक ही कहा गया है कि 'मध्यमा' का अन्य वाणियों से यह भेद है कि न तो 'मध्यमा' पश्यन्ती की भाँति केवल 'उत्तीर्ण' है और न तो वैखरी की भाँति बाह्यवर्ती है ।

"तदुक्त 'पश्यन्ती न केवलमुत्तीर्णा न वैखरी वहिः । स्फुटतर निखिलावयवा वांग्रूपा मध्यमा तयोस्मात् ।।"

इस भूमि में समस्त शास्त्र नित्याविर्भूत हैं । इसका स्वल्प अंश वैखरीवाक् के रूप में ऐन्द्रिय-विषय बनकर उपस्थित होता है किन्तु शेष ज्ञान, अवबोध एवं रहस्यमय शास्त्र वाणी के ऊर्ध्व धरातलों पर ही रह जाते हैं । योगी एवं ज्ञानी मध्यमा के स्तर पर आरुढ़ होकर शेष (अव्यक्त) ज्ञान प्राप्त किया करते हैं । इस स्तर पर अनन्त एवं अपरिमेय ज्ञान-विज्ञान का रत्नाकर लहरें मार रहा है । मध्यमा के स्तर पर वाच्यार्थं वाच्य-वाचक स्वभाव से प्रकट हुआ करता है । किन्तु यह उल्लासन प्रपंच के वेद्य-वेदक प्रथा से भिन्न है । इसी मध्यमा भूमि के स्तर पर परमात्मा अपने स्वरूप को गुरु एवं शिष्य के रूप में विभाजित करके आत्मकल्पित गुरुशिष्य भाव का आंश्रय लेकर गुप्त ज्ञान का प्रकाशन किया करते हैं । इस तरह 'सदाशिव' नामक गुरु एवं 'ईश्वर' नामक शिष्य का प्रकटीकरण होता है ।

परमेश्वर गुरु या सदाशिव में पाँच शक्तियों (चित्, आनन्द, इच्छा, एवं क्रिया नामक शक्तियाँ) को पाँच मुख रूप में प्रकट करते हैं । सदाशिव के पाँच मुखों से

---

१. अथ बाह्यान्तःकरणाद्यात्मिका हिरण्यगर्भरूपिणी बिन्दु तत्त्वमयी नाभ्यादिहृदयान्ताभिव्यक्तिस्थानां शेषस्पन्दसंकल्पादि सतात्वात् मध्यमां वाचमाहुः ॥ —प्र[illegible]तन्त्र टीका

समस्त अभेद, भेदा-भेद एवं भेदात्मक शास्त्र तथा अवस्थायें प्रकाश में आती हैं किन्तु आविर्भाव होने पर भी मध्यमा भूमि में ये अस्फुटावस्था में ही अवतीर्ण होते हैं और वैखरी की भूमि पर वर्तमान रूप में शास्त्र का रूप धारण कर लेते हैं।

जिस प्रकार इच्छाशक्ति एवं वामाशक्ति के सामरस्य से 'पश्यन्ती' का आविर्भाव होता है उसी प्रकार ज्ञानशक्ति एवं ज्येष्ठाशक्ति के सामरस्य से शृङ्गार-रेखाकारा मध्यमा का आविर्भाव होता है—'ज्येष्ठाशक्ति र्ज्ञानशक्तिर्यथा वामा शक्तिरिच्छाशक्ति (सामरस्यमापन्ना सृष्ट्यात्मक शृङ्गार वामरेखासीत् तथा ज्येष्ठाशक्ति रपि ज्ञानशक्ति सामरस्यमापन्ना)। ऋजुरेखामयी अत्र शृङ्गाटाग्ररेखाकारा मध्यमा वागुदीरिता ॥'[१]

वाक्चतुष्ट्य (वाग्देवता कुण्डलिनी)

- **परा**
  - (परावाक् में स्थित प्रकाशांश की 'अम्बिका' है एवं विमर्शांश—'शान्ता' कही जाती है)
  - (मूलाधार से प्रथमोदित वाक : 'मूलाधारात प्रथम मुदितायश्च भावः पराख्यः ॥' —शंकराचार्य)
- **पश्यन्ती**
  - स्थूल पश्यन्ती (वर्णविभाग शून्य आलाप द्वारा आह्लादोत्पादिका एवं प्राथमिक नादस्वरूपा)
  - सूक्ष्म पश्यन्ती (जिज्ञासा-रूपा)
  - पर पश्यन्ती (परचिदात्मक एवं उपाधिशून्य)
  - पश्यन्ती (ग्राह्य ग्राहकगत अभि-धानाभिधेयों का देशकालकृत क्रम यहाँ अस्फुट है)
  - महा पश्यन्ती (सदाशिव ईश्वरदशा)
  - परम महा पश्यन्ती (परावाक्)
- **मध्यमा**
  - हिरण्यगर्भ शब्द : 'नाद'
  - 'मध्यमा' = नादबिन्दुमयी-शा.ति.
  - 'मध्यमा' = नादमयी-भास्कर
  - 'मध्यमा' = बिन्दुमयी-पद्मपाद
  - ज्येष्ठा + ज्ञानशक्ति → मध्यमा
- **वैखरी**

मध्यमावाक्

- **सूक्ष्म** (नवनादमयी, अश्रोत्रग्राह्य)
  - चिणि नाद, चिणि चिणि, घण्टा नाद, शंख नाद, तन्त्री नाद, ताल नाद, वेणु नाद, भेरी नाद, मृदंग नाद
- **स्थूल** (नववर्गात्मिका एवं भूतलिपि)

'ज्ञानशक्ति' का रूपान्तर की पश्यन्ती है
—आचार्य सोमानन्द
'इच्छाशक्ति' का रूपान्तर की पश्यन्ती है
—अभिनवभारती

आचार्य पद्मपाद की दृष्टि में वाणी विभाग

सूक्ष्मा परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी

---

१. अमृतानन्द—'दीपिका'
२. अभिनवगुप्त पादाचार्य

३. लक्ष्मीधर के अनुसार प्रकृति की परावाक् है—'लक्ष्मीधरा' तन्त्रमत में 'प्रतिभा' भी परावाक् का नामान्तर मानी गई है। परमेश्वर की विश्वरचना के प्रति अन्य निरपेक्षता ही 'प्रतिभा' है। 'परा' स्वातन्त्र्य शक्ति का पर्याय है।

"पश्यन्तीव न केवलमुत्तीर्णा नापि वैखरीव बहिः ।
स्फुटतरनिखिलावयवा वाग्रूपामध्यमा तयोरस्मात् ।।"

'मध्यमा' के अन्य भेद

स्थूल मध्यमा (मृदङ्गादि की ध्वनि के स्वरूप वाली)

सूक्ष्ममध्यमा (वादनेच्छानुसंधानरूपा एवं संवेदनात्मिका)

परमध्यमा (जिगासा रूपात्मिका)

'वैखरीवाक्'—अभिलाप (वर्णात्मक शब्द) रूपा है ।

'कामकलाविलास' की टीकानुसार—'वैखरी' अभिलापात्मिका है । यह पंचदशाक्षर राशिमयी है । संपूर्ण वैदिक एवं लौकिक शब्दों की जननी है । 'वैखरी नाम अभिलापरूपिणी पंचदशाक्षर राशिमयी सर्ववैदिक लौकिकशव्दनात्मिका शक्तिरुच्यते ।।

परावाक् (बीजात्मक, जन्मस्थानीय)

↓

पश्यन्तीवाक् (लतागुच्छरूपात्मिका वाक्)

↓

'मध्यमावाक्' (सौरभरूपात्मिका वाक्)

↓

'वैखरीवाक्' (अक्षमाला)

देवी के तीन रूप है—

'वैखरीवाक्'—परावाक् रूप शब्दब्रह्म, हृदय से मुखपर्यन्त, वायु के द्वारा कण्ठादि स्थानों में अभिव्यक्त होकर अकारादि वर्णरूप ग्रहण करके श्रोत्र ग्राह्य

१. भास्करराय—'सौभाग्यभास्कर'

स्पष्टतर प्रकाशरूप स्थूलभाव धारण करता है । विराट पुरुष और स्थूल वैखरीवाक् एक ही हैं ।

प्रकाशांशरूप रौद्री + विमर्शांश रूप क्रिया—"वैखरीवाक्" ।। वैखरी = क्रियाशक्ति ।।

'परावाक्' द्वारा स्वनिष्ठ स्फुरता का ईक्षरम—विश्वोन्दय ।।
(नित्या षोडशिकार्णव) ।।

'वक्त्रे वैखर्यर्थ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुणा ।
बद्धस्तस्माद्भवति पवनप्रेरितो वर्णसङ्घः ।।'[१]

वैखरीवाक्—'रौद्री' एवं क्रियाशक्ति के साम्य से जो बिन्दु प्रकट होता है उसकी आख्या है—'वैखरीवाक्' ।। श्रीशिवाग्रयोगीन्द्रज्ञान शिवाचार्य 'शैवपरिभाषा' में वैखरीवाक् की इस प्रकार परिभाषा देते हैं—'प्राणवृत्याभिव्यक्ता श्रोत्रग्राह्यार्थविशेष बोधनक्षमा सैवं वैखरी ।।' वैखरीवाक् का स्वरूप निम्नानुसार है—

"वैखरीश्रोत्रविषया स्थूलवर्णपरिग्रह ।
स्थानेष्वपि धृतौ वायौ प्रयोलुरूपकारिणी ।।"[२]

तात्विक धरातल पर वैखरीवाक् का सम्बंध 'विद्यातत्व' से है—योगीन्द्र ज्ञान शिवाचार्य 'शैवपरिभाषा' में कहते हैं—"ईश्वरतत्व विकारो विद्यातत्वम् । इदमेव वैखयख्यिाया वाग्वृत्तेरधिष्ठानम् ।।" अर्थात् ईश्वरतत्व का विकार 'विद्यातत्व' है और यही वैखरी वाग्वृत्ति का अधिष्ठान है । करणभूत सप्तकोटिसंख्यक मंत्रों एवं विद्याराज्ञी एवं उनके भुवनों का भी इसी से सम्बन्ध है—"तथा करणभूतानां सप्तकोटि संख्यानां मंत्राणां विद्याराज्ञीनां च तनुभुवनासम्पादकम् ।।'[३]

तांत्रिक शब्दावली में कहा जाय तो कहा जायेगा कि प्रकांशांशात्मक रौद्री शक्ति एवं विमर्शांशात्मक क्रियाशक्ति का संयोग ही वैखरीवाक् है । त्रिकोण का सङ्घटन यहीं पूर्ण होता है इसीलिए वैखरी को भी समुज्ज्वल 'शृङ्गारवपु' की आख्या प्रदान की गई है—"तत्संहति दशायां तु बैन्दवं रूपमास्थिता । ग्रत्यावृत्तिक्रमेणैव शृङ्गारवपुरुज्ज्वला । क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा ।।"[४]

वैखरी को 'क्रियाशक्ति' 'रौद्रीशक्ति' आदि पदों से भी अभिहित किया गया है।

क्रियाशक्ति एवं वैखरी अभिन्न सम्बंध है । क्रियाशक्ति अपनी अस्फुटदशा में बीजरूपात्मिका परमाकलावस्था में निहित रहती है किन्तु स्फुट रूप धारण करने पर वही क्रियाशक्ति 'वैखरी' में भी विद्यमान रहती है । परमाशक्ति के ईक्षण-व्यापार में इच्छा एवं ज्ञान के साथ क्रियाशक्ति भी सम्मिलित रहती है ।

जो स्फुट वर्णों की उत्पत्ति का कारण है वही है 'स्थूलवैखरी' ।।

---

१. प्रपञ्चसार तन्त्र
२. पौ०बिन्दु०प० (२०१३)
३. शैवपरिभाषा
४. योगिनीहृदय

'या तु स्फुटानां वर्णनामुत्पत्तौ कारणं भवेत् ।
सा स्थूला वैखरी यस्याः कार्यं वाक्यादिभूयसा ।।'[१]

'विखर' का अर्थ है शरीरोत्पन्न । जो शरीर एवं इन्द्रियों को क्रिया करने में प्रवृत्त करती हुई स्वयमेव शरीर में स्फुटतया व्यक्त होती है वही वैखरी है । 'विखरः शरीर तत्र भवा तत्पर्यंत चेष्टासम्पादिकेत्यर्थः ।।'[२]

कामकलाविलास के टीकाकार की दृष्टि में वैखरी का स्वरूप—पुण्यानन्दाचार्य ने 'कामकलाविलास' की टीका में कहा है कि 'वैखरी' १. अभिलापरूपिणी (वर्णात्मक शब्दस्वरूपा) २. पंचदशाक्षरमयी ३. सर्ववैदिकलौकिक शब्दनात्मिका (लौकिक वैदिक शब्दों की आत्मभूता) ४. शक्तिरूपा—"वैखरी नाम अभिलापरूपिणी पंचदशाक्षरमयी सर्ववैदिक लौकिक शब्दनात्मिका शक्तिरित्युचते ।।" (पुण्यानन्दाचार्य टीका) यदि वाणी को वृक्ष माना जाय तो १. पराभूमि—बीजों के अंकुरण की भूमि २. "पश्यन्ती"—वल्लीगुच्छ ३. 'मध्यमा"—सौरभ ४. 'वैखरी'—अक्षमाला ।। 'सेतुबंध' में भास्करराय ने कहा गया है कि क्रियाशक्ति जो कि वैखरी का स्वरूप है ज्ञान की पुच्छ है ।

"प्रपंचसार तंत्र" की टीका में पद्मपादाचार्य ने कहा है कि वैखरी शब्द का वह स्तर है जो मुखपर्यन्त अभिव्यक्त एवं शब्द सामान्यात्मक है "अथ विराडरूपिणीं बीजात्मिकां हृदयादास्यान्तं अभिव्यज्यमानां शब्दसामान्यात्मिका वैखरीमाह वक्त्र इति ।" 'विशेषेण खरत्वात् वैखरी' ।। 'सौभाग्यभास्कर' में कहा गया है कि वायु के द्वारा कण्ठादिक स्थानों में अभिव्यज्यमान मकारादिवर्णरूप श्रोत्रग्रहणयोग्य स्पष्टतर प्रकाशरूप बीजात्मक वाक् ही वैखरी है । 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी' में कहा गया है कि प्राणों में स्फुटीभूत वाक् वैखरी है—

'परं प्रति जिज्ञापयिषुः प्राणे स्फुटीभूत वैखरी ।।'

'बिन्दु' 'नाद' एवं 'बीज' की त्रिपुरी में 'वैखरी' बीज है । विराट पुरुष एवं वैखरी एकरूप हैं । 'परावाक्' रूप शब्दब्रह्म हृदय से मुखपर्यन्त यात्रा करता हुआ, वायु के द्वारा कण्ठादिक उच्चारणस्थानों में अभिव्यक्त होकर अकारादिक वर्णरूप ग्रहण करके श्रोत्र ग्राह्य होकर प्रकाशन के स्तर पर स्थूलभाव ग्रहण करने पर 'वैखरी' कहलाता है ।

क्रियाशक्ति का रूपान्तर ही वैखरीवाक् है—'क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरीविश्वविग्रहा ।।'[३] प्रत्यावृत्ति क्रम द्वारा, क्रियाशक्ति एवं रौद्री में सामरस्य स्थापित होने के अनन्तर वही शक्ति शृङ्गार की दक्षिण रेखा बनकर उज्ज्वल शृङ्गार (त्रिकोण) के रूप में भासित हो उठती है । और यही विश्वविग्रहा, वाग्रूपप्रपंचमयी वाणी 'वैखरी' के नाम से अभिहित की जाती है । 'वैखरी विश्व विग्रहा वाग्रूपप्रपंचमय वैखरीरूपा जाता ।।'[४]

---

१. तन्त्रालोक
२. ई०प्र०वि० (अ०१; वि०५)
३. योगिनी हृदय
४. दीपिका

अथ महातत्त्वार्थमाह—

वागिन्द्रियैरगम्ये तत्त्वातीते महत्तरे ऽणुतरे ।
व्योम्नो ऽप्युपरि स्थितिमति विश्वाभिन्ने चिदानन्दे ॥ १०८ ॥

ब्रह्मणि परे नियोज्यः स्वात्मा तदभेदसंप्राप्त्यै ।
एष महातत्त्वार्थः श्रीविद्यायाः शिवनोक्तः ॥ १०९ ॥

(श्रीविद्या के 'महातत्त्वार्थ' का स्वरूप)

वाणी (मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, इन्द्रियों) आदि द्वारा अप्राप्य, तत्त्वों (३६ तत्त्वों) से परे, महान से भी महान, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, व्योम से भी ऊर्ध्व स्थित, जगत् से अभिन्न, चित् एवं आनन्दस्वरूप परब्रह्म में स्वयं को उस (ब्रह्म के साथ) अभेद की प्राप्ति के लिए नियुक्त करना चाहिए—यह श्रीविद्या का महातत्त्वार्थ शिव द्वारा कहा गया है ॥ १०८-१०९ ॥

* प्रकाश *

वागगम्ये शब्दशक्यतावच्छेदकाभाववति; इन्द्रियागम्ये घ्राणजादिषड्विधप्रत्यक्षाविषये; 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह', 'अशब्दमस्पर्शमरूपम्' इत्यादिश्रुतेः । न च सर्वथा ज्ञानाविषयस्यालीकतापत्तिः, शब्दैर्लक्षणया गम्यत्वात्, शाब्दप्रत्यक्षविषयत्वाच्च । तत्त्वातीते शिवादिक्षित्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वान्यतिक्रान्ते । महत्तरे महतो महीयसि । अणुतरे, अणोरणीयसि । आकाशादिजनकत्वान्महत्त्वमुपचर्यते, स्थूलदृष्ट्यविषयत्वादणुत्वमपि तथा; न पुनः परिमाणविशेषः, तत्र तदभावात् । अत एव 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इति श्रुतिरप्यविरोधेन सङ्गच्छते । व्योम्न उक्तलक्षणादुपरि स्थितिमति, उपासनार्थं कल्पितस्थानविशेषेणोपलक्षिते । विश्वाभिन्ने, परिणामित्वात् । चिति स्वप्रकाशे । आनन्दे सुखैकस्वरूपे । परे ब्रह्मणि स्वात्मा नियोज्यः । तेन सहाभेदस्य स्वाज्ञानवशादलब्धप्रायस्य संप्राप्त्यै, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति श्रुतेः । सकलतत्त्वमूलभूतत्वादयं महातत्त्वार्थ इत्युच्यते ॥ १०८-१०९ ॥

* सरोजिनी *

'योगिनीहृदय' में 'महातत्त्वार्थ' का स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया गया है—

"महातत्त्वार्थ इति यत्तच्च देवि । वदामि ते । निष्कले परमे सूक्ष्मे निर्लक्ष्ये भाववर्जिते । व्योमातीते परे तत्त्वे प्रकाशानन्दविग्रहे । विश्वोत्तीर्णे विश्वमये तत्त्वे स्वात्मनि योजनम् ॥" 'योगिनीहृदय' के अनुसार—निष्कल, परमसूक्ष्म, निर्लक्ष्य, भाववर्जित, व्योमातीत, प्रकाशानन्दविग्रह, विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय परम् तत्त्व में स्वात्मनियोजन ही महातत्त्वार्थ है ।

अमृतानन्दनाथ कहते हैं—"परविद्याप्रदायक परमशिवरूपे निजगुरु प्रबोधितनिर्मल स्वभावस्वात्मनि योजनं तदेकतानुप्रवेशो महातत्त्वार्थ इत्यर्थः ॥"

'अगम्ये'—शब्दशक्यतावच्छेदकाभावयुक्त । 'इन्द्रियागम्ये'—घ्राणजादिषड्विध प्रत्यक्षाविषयमें । 'यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' 'अशब्दमस्पर्श मरुप मव्ययम्' आदि कहकर वेदों द्वारा ब्रह्म को अगम्य कहा गया है । **'तत्त्वातीत'** = शिवादिक्षित्यन्त षट्त्रिंशत्तत्त्वा न्यतिक्रान्त ।। **'महत्तरे'** = महीयान, महान । **'अणुतरे'** = 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' । आकाशादि के जनक होने के कारण महत्तर ।। स्थूल दृष्टि का अविषय होने के कारण ब्रह्म को 'अणोरणीयान' कहा गया है । **'विश्वाभिन्ने'** = परमात्मा का परिणाम होने के कारण जगत् परमात्मा का परिणाम है । **'चिदानन्दे'** = **चिति** = स्वप्रकाश । **'आनन्दे'** = सुखैकस्वरूप । 'परे ब्रह्मणि स्वात्मा नियोज्यः ।।" सकल तत्त्वमूलभूतत्वादयं महातत्त्वार्थ इत्युच्यते ।।[१]

अथ नामार्थशब्दरूपार्थावाह—

तत्तद्वर्णार्थेयं तत्तद्वर्णस्वरूपेयम् ।
इति तु श्रीविद्याया नामार्थः शब्दरूपार्थः ।। ११० ।।

('नामार्थ' एवं 'शब्दरूपार्थ' का स्वरूप)

यह 'श्रीविद्या' उन-उन (अपने घटक) अक्षरों द्वारा अभिवयक्त अर्थ से अभिन्न है । यह (श्रीविद्या) उन-उन (स्वघटक) वर्णों से अभिन्न स्वरूप वाली है । इस प्रकार श्रीविद्या के (ये क्रमशः) 'नामार्थ' एवं 'शब्दरूपार्थ' (प्रतिपादित किये गये) हैं ।। ११० ।।

*** प्रकाश ***

तत्तद्वर्णशब्देन ककारादयो ऽष्टपञ्चाशद्वर्णाः सप्तत्रिंशद्वर्णाः पञ्चदश वर्णा वा गृह्यन्ते, तेषां च सर्वेषां ब्रह्मवाचकत्वेन 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादिवत् सामानाधिकरण्येनान्वये सिद्धे 'अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्ति' इति कात्यायनवचने भवन्तीपर इत्यस्य लट्पर इति व्याख्यानात् 'अस्ति' इति शेषपूरणेन वाक्यार्थो वर्णनीयः । एवं सति नामार्थस्त्रिविधः संपद्यते—अष्टपञ्चाशन्नामकः सप्तत्रिंशन्नामकः । पञ्चदशनामकश्चेति, अत्र पक्षत्रये ऽपि ककारादीनामन्यतमस्य ब्रह्मवाचकत्वात् । अन्येषां पुनरुक्तानामकारककारादीनां वैयर्थ्यपरिहारस्तु 'अकारो ब्रह्मविष्ण्वीशकमठेष्वङ्गणे रणे' इत्यादिरीत्या विश्वप्रकाशकोशे तत्तदक्षराणामनेकार्थवाचकत्वोक्तेस्तेषु योग्यतामनुसृत्यार्थवर्णनिन कार्यः । 'शतकृत्वो ऽपि पथ्यं वदितव्यम्' इति न्यायाच्च एतादृशस्थलेषु न पौनरुक्त्यं दोषः । एवं च सर्वेषामक्षराणां तत्तद्वाचकत्वेन रूढ्या वा प्रत्यक्षरं सोर्लोपस्यावश्यिकत्वेन प्रातिपदिकमात्रावशेषाद्वोपासकजनेषु प्रसिद्धत्वाद्वा संभाव्यत्वाद्वा परिपक्कार्थरूपत्वाद्वा नामार्थ इति संज्ञा, 'नामधेयं च नाम च' इति कोशात् । यद्यव्याथर्वणे गोपथब्राह्मणे 'ओंकारं पृच्छामः को धातुः किं प्रातिपदिकं किं नामाख्यातम्' इत्येव प्रयोगः, तथा ऽपि 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' इति यास्कप्रयोगान्नामपदेनापि प्रातिपदिकाभिधानसंभवात्, अव्ययगणे 'नाम प्रकाश्यसंभाव्यक्रोधोपगम-

---

१. 'प्रकाश' (१०८-१०९)

कुत्सने' इति कोशोक्तेः । आमो ऽपक्वः, तद्भिन्नो नामः, नकारेणैवात्र समासो न नञा । तेन 'नलोपो नञः' इत्यादेरनापत्तिः, नास्तिक इत्यादिवत् । परिपक्वकता विरसत्वाभाव इत्यर्थात् । 'तत्तद्वर्णस्वरूपेयम्' इत्यत्रापि पूर्ववत् पक्षत्रयम् । ननु— ककारादिस्वरूपत्वं नामतः शब्दाभिन्नत्वम्; तथा च न स ककारस्यार्थः, शब्दस्वरूपे शक्त्यभावात्; न हि 'घटमानय' इत्यादौ घटशब्दस्यानयनक्रियान्वयः; अत एव न. शब्दार्थयोरभेदपक्षो ऽपि युज्यते, वह्न्यादिशब्दोच्चारणे मुखदाहाद्यापत्तेश्चेति चेन्न; शब्दस्य स्वस्वरूपे ऽपि शक्तेस्तन्त्रवार्त्तिकादावुक्तत्वात् । उक्तं च भर्तृहरिणा—

> 'ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे तेजसो यथा ।
> यथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते ॥'

इति । अत एव 'शब्दार्थयोस्तादात्म्यमेव शक्तिः' इति शाब्दिकनव्या इत्यन्यत्र विस्तरः । इत्थं च ककारादिवर्णरूपेत्यादिर्मन्त्रार्थः । अत्र शब्दस्वरूपस्यैवार्थत्वेन वर्णनाच्छब्दरूपार्थोऽयमिति व्यपदिश्यते ॥ ११० ॥

* सरोजिनी *

आचार्य भास्करराय कहते हैं कि 'श्रीविद्या' एवं उसके अक्षरों में व्यक्त अर्थ दोनों अभिन्नार्थक हैं । श्रीविद्या के शब्द एवं उनमें निहित अर्थ दोनों का स्वरूप एक ही है । इस कथन में एक रहस्य छिपा है । रहस्य यह है कि—

१. यद्यपि 'वैखरीवाक्' के धरातल पर (वाणी की चैतन्यशून्यता के धरातल पर) वाक्तत्त्व एवं अर्थ तत्त्व दोनों भिन्न-भिन्न हैं अतः यहाँ शब्द अलग है और अर्थ अलग हैं अतः इस धरातल पर "तत्तद्वर्णार्थेयं तत्तद्वर्णस्वरूपेयम्" का कथन समीचीन नहीं है किन्तु

२. 'मध्यमा' 'पश्यन्ती' एवं 'परावाक्' के धरातल पर शब्द एवं अर्थ दोनों अभिन्न हैं—जो शब्द है वही अर्थ है और जो अर्थ है वही अर्थ है, इसीलिए कालिदास ने भी कहा था—'वागर्थामिव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।' इस धरातल पर मयूराण्डरसन्याय की भाँति शब्द में अर्थ एवं अर्थ में शब्द निमज्जित रहते हैं ।

३. 'शब्दब्रह्म' में समस्त शब्द एवं समस्त अर्थ अभिन्न रूप से वर्तमान रहते हैं । 'अर्थ' शब्द का 'परिणाम' नहीं 'विवर्त' है 'शब्दब्रह्म' स्वयं विवर्तभाव से जगत् बन जाता है—'शब्द' (शब्दब्रह्म) 'अर्थ' (पदार्थमय जगत्) के रूप में रूपान्तरित हो जाता है । जगत् बन जाता है । 'शब्द' शब्दब्रह्म है और अर्थ 'जगत्' है अतः जगत् 'शब्द' का विवर्त मात्र है—

> "अनादिनिधनं ब्रह्म शब्द तत्त्वं यदक्षरम् ।
> विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥"

४. यदि 'रं' मातृका का वैखरी के धरातल पर उच्चारण किया जाय तो कोई विशेष परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होगा किन्तु यदि उसे 'मध्यमा'-'पश्यन्ती'

'परा' के धरातल पर उच्चारित किया जाय तो आग उत्पन्न हो जाएगी क्योंकि इस धरातल पर 'शब्द' एवं 'अर्थ' पृथक्-पृथक् नहीं हैं प्रत्युत् अभिन्न हैं ।

'तत्तद्वर्णार्थेयं'—तत् + तत् + वर्ण + अर्थ + इयं ॥ तत् तत् वर्णों का अर्थ है ५८ वर्ण, ३७ वर्ण, १५ वर्ण 'तत्तद्वर्ण शब्देन ककारादयोऽष्टपंचाशद्वर्णाः, सप्तत्रिंशद्वर्णाः, पंचदश वर्ण वा गृह्यन्ते ॥[१] ये ककारादिक सभी वर्ण 'ब्रह्म' के वाचक हैं—'तेषां च सर्वेषां ब्रह्मवाचकत्वेन ॥''[२]

'नामार्थ' त्रिविधात्मक है—१. ५८ वर्ण २. ३७ वर्ण ३. १५ वर्ण 'नामार्थस्त्रिविधः संपद्यते अष्टपंचाशन्नामकः सप्तत्रिंशन्नामक, पंचाशन्तामकश्चेति'[३] इन तीनों में ककारादि वर्णों में अन्यतम तत्त्व ब्रह्म का वाचक है—'ककारादीनामन्यतमस्य ब्रह्मवाचकत्वात् ॥''[४]

आचार्य भास्करराय कहते हैं कि 'ककारादिस्वरूपत्वं नामतः शब्दाभिन्नत्वम्' तथा च न स ककारस्यार्थः, शब्दस्वरूपे शक्त्यभावात्'' उनका अपना तर्क है कि 'घटमानय' (घड़ा लाओ) कहने पर घट के साथ आनयन क्रिया (घट लाने की क्रिया) तो जुड़ी नहीं है इसलिए शब्द एवं अर्थ में अभेद नहीं है अन्यथा 'वह्नि' (आग) शब्द के उच्चारण मात्र से मुख में जलन उत्पन्न हो जाती है किन्तु ऐसा नहीं होता भर्तृहरि ने भी इसे संपुष्ट किया है—

''ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वेशक्ती तेजसो यथा ।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते ॥''

तथापि शब्द एवं अर्थ में तादात्म्य शक्ति निहित रहती है । भास्कर मानते हैं कि मंत्रार्थ 'ककारादिवर्णरूप' होते हैं । शब्दस्वरूप की ही अर्थत्वेनवर्णना शब्दरूपार्थ है—''शब्दस्वरूपस्यैवार्थत्वेन वर्णनाच्छब्दरूपार्थोऽयमिति व्यपदिश्यते ॥''[५]

शब्द में अर्थगर्भता रहते हुए भी अर्थप्रसव नहीं हो जाता । 'पत्थर' (शब्द) कहते ही पत्थर (पदार्थ) उत्पन्न नहीं हो जाता किन्तु चेतनवाणी के धरातल पर—'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति'—इस गुहास्थित वाक्त्रयी के धरातल पर पत्थर कहते ही पत्थर उसी प्रकार पत्थर उत्पन्न हो जाएगा यथा—ऋषियों के 'सर्पोभव' कहने पर इन्द्र सर्प हो गया । क्योंकि 'गिरा अर्थ जल-वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न ।'

अथ नामैकदेशार्थमाह—

कल्याण्येकाक्षर्यावीशित्री चापि ललिता च ।
इत्थं नामत्रिशतीवाच्यो ऽर्थस्तत्तदक्षरस्यापि ॥ १११ ॥

नामैकदेशमात्रे नामग्रहणस्य लोकसिद्धत्वात् ।
नामोपस्थितिगम्यः प्रोक्तो नामैकदेशार्थः ॥ ११२ ॥

१-५. भास्करराय—'प्रकाश'

(देवी के नाम एवं मंत्राक्षर)

कल्याणी, एकाक्षरी, ईशित्री, ललिता (आदि) देवी के तीन सौ नामों का तात्पर्य (अर्थ) मन्त्र के उन-उन (मन्त्र के घटक) अक्षरों द्वारा व्यक्त होता है। (देवी के) नाम के एक देश (अंश) के ग्रहण द्वारा (देवी के) समस्त नाम का ग्रहण होना लोकप्रख्यात है। अतः नाम का सम्पूर्ण अर्थ 'नामैकदेशार्थ' (नाम के एक देश का अर्थ) है। (अर्थात् नाम का सम्पूर्ण अर्थ नाम के अंश का अर्थ है)॥ १११-११२॥

* प्रकाश *

अत्र हि 'ककाररूपा कल्याणी' इत्यादिना पञ्चदशाक्षर्या एकैकनामाक्षरमादितः कृत्वा तादृशनामानि प्रत्यक्षरं विंशतिरुक्तानि। तानि च त्रीणि शतानि भवन्ति। तानि च मन्त्राक्षराणामर्थप्रकाशनार्थं प्रवृत्तानि। तथा च ककारस्य 'ककाररूपा कल्याणी कल्याणगुणशालिनी' इत्यादयो विंशतिरर्थाः। एवमेकारादीनामपि पार्थक्येन विंशतिरर्थाः। तेषु च सर्वेषु प्रसिद्धकोशव्याकरणादिरीत्या शक्तेरसंभवादेतद्बलादेव कल्पनस्यार्थापत्तिशरणत्वात्, अन्यथानुपपत्तिरूपार्थापत्तेश्च 'नामैकदेशे नामग्रहणम्' इति न्यायेन परिक्षयात्, तेषां नाम्नामेकदेशा एव ककारादय इति कल्प्यते। अत एवाचार्य-भगवत्पादैः 'शिवः शक्तिः कामः' इत्यादीनामुद्धृतवर्णानां नामावयवत्वं स्पष्टमुक्तम् 'भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावयवताम्' इति सौन्दर्यलहर्याम्। अस्ति हि नामैकदेशे नामग्रहणम् 'भीमो भीमसेनः' 'सत्या सत्यभामा' 'गुरुर्लवुर्गलौ च' इत्यादौ 'अनुष्टुभि, यज्ञायज्ञीये, उद्गीथोपान्त्यम्, गायत्रीषु, जराबोधीये, रथन्तरे, प्रतिहारादिः' इति वक्तव्ये 'ष्टुभि, ज्ञीये, गीथोपान्त्यम्, त्रीषु, बोधीये, तरे, हारादिः' इत्यादिप्रयोगाः सामवेदिनां फुल्लसूत्रे च बहुलमुपलभ्यन्ते। तत्र च ककारादिनाम्नामानन्त्यात् ककारस्या-प्यनन्तार्थकत्वे प्राप्तेऽय नियम एत एवार्था नान्य इति। तेषु च प्रत्यक्षरं प्रथमनाम्नां नामार्थशब्दरूपार्थाभ्यां पौनरुक्त्यादिहैकोनविंशतिरेवार्था विवक्षिताः। यथा च नामैकदेशार्थो ऽप्येकोनविंशतिविधः संपन्नः। अत्र च पञ्चदशसंख्यासु विंशिकासु प्रथमनामानि परित्यज्य द्वितीयनामान्युट्टङ्कितानि, प्रथमनाम्नां पूर्वतनार्थवर्णनेन लब्धत्वात्॥ १११-११२॥

* सरोजिनी *

'कल्याणी', 'पंचदशी' के आद्यक्षर ककार के द्वारा देवी के जो कल्याणी, एकाक्षरी, ईशित्री, ललिता आदि तीन सौ नाम हैं वे सङ्केतित हो जाते हैं।[१] 'ककाररूपा कल्याणी कल्याणगुणशालिनी' आदि बीस अर्थ हैं। इस प्रकार 'क' 'ए' आदि सभी मंत्राक्षरों के अपने-अपने बीस अर्थ हैं। 'कोश' व्याकरण आदि के द्वारा इनका इतने अर्थ निकाल सकना तो असंभव है अतः 'नाम्नामेकेदेशापत्तेःश्च नामैकदेशे नाम ग्रहणम्' के नियमानुसार ककारादिक मंत्राक्षरों के अर्थों का निर्णय करना चाहिए।[२] आचार्य शङ्कर ने भी—"शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथ रविः

१-२. भास्करराय—'प्रकाश'

शीतकिरणः । स्मरो हंसः शक्रस्तदनु च परामारहरयः । अमी हृल्लेखाभिस्तिसृभि-रवसानेषु घटिता । भजन्तेवर्णास्ते तव जननि नामावयवताम् ।।''—एवं 'स्मरं योनिं लक्ष्मीं चितयमिदआदौ तव मनो'—श्लोकों में प्रयुक्त शब्दों के अभिधेय अर्थ न लेकर प्रतीकार्थ ग्रहण किया है ।[१] इसमें 'शिवः शक्तिः कामः' आदि को 'भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावयवताम्' के अनुसार भगवती के अवयव के रूप में स्वीकार किया गया है ।[२] नामैकदेश में नाम-ग्रहण की पद्धति यह है यथा—'भीमो भीमसेनः' 'सत्या सत्यभामा' 'गुरुर्लवुर्गलौ च' अनुष्टुभि, यज्ञायज्ञीये, उद्गीथोपान्त्यम्, गायत्रीषु, जराबोधीये रथन्तरे, प्रतिहारादिः, ऐसे वक्तव्यों में ''ष्टुभि ज्ञीये, गीथोपान्त्यम्, त्रीषु बोधीये तरे हारादिः'' आदि प्रयोगों में सामवेदीय फुल्लसूत्र में ३ प्रचुरमात्रा में पाये जाते हैं ।[३] वहाँ पर ककारादिक नामों के अनन्त अर्थ गृहीत होते हैं उनमें प्रत्येक अक्षर प्रथम नाम द्वारा नामार्थ—शब्दरूपार्थ दोनों के पौनरुक्त्यादि २१ अर्थ विवक्षित हैं ।[४] इस प्रकार ''नामैकदेशार्थोऽप्येको नविंशतिविधः संपन्नः । अत्र च पंचदशसंख्यासु विंशिकासु प्रथमनामानि परित्यज्य द्वितीयनामान्युट्टंकितानि । प्रथमनाम्ना पूर्वतनार्थवर्णनेन लब्धत्वात् ।।''[५]

एतेषु च विंशतिसंख्याकेष्वर्थेषु ककारस्य ककाररूपेत्यर्थवर्णनदशायामेकारस्य-काररूपेति, ईकारस्येकाररूपिणीत्येवार्थो वर्णनीय इति न नियमः, ककाररूपैकाक्षरी, ईप्सितार्थप्रदायिनीत्यप्यर्थस्य सुवचत्वात् । एवं चात्र पञ्चदशाक्षराणि विलिख्य प्रत्यक्षरशिरसि विंशत्यङ्कान् दत्त्वा परस्परं हनने चरमाक्षरे या संख्या निष्पद्यते तामेवाह—

तिथिमितबिन्दुगणोत्तरगजरसगिरिदस्रारामसंख्याकाः ।
अर्था भवन्ति योगान्नाम्नो नामैकदेशस्य ॥ ११३ ॥

(भगवन्नाम के अनन्त अर्थ)

नाम के एकांश (एक देश) द्वारा समस्त नाम के समस्त अर्थ-व्यञ्जन के सिद्धान्त को नामत्रिशती के प्रत्येक देवी-नाम में प्रयुक्त करने से—नामैकदेशार्थ के योग से भगवती के नाम के—गज (८), रस (६), पर्वत (७), दस्र (२), एवं राम (३) की संख्या के अङ्कों के समक्ष तिथि (१५) संख्या के शून्य रखने से जो संख्या बनती है (अर्थात् ३२,७६८,०००,०००,०००,०००,०००)—उतनी संख्या में (मंत्र के) अर्थ हो जाते हैं ॥ ११३ ॥

*** प्रकाश ***

न म्नौ नामाथषु तृतीयपक्षस्यैकस्य नामैकदेशार्थस्यैकोनविंशतिविधस्य च योगादुक्तरीत्या गुणनात् तिथिभिः पञ्चदशसंख्यया मितः संमितो यो बिन्दुगणस्तस्योत्तरे ये गजादयः; गजा अष्टौ, रसाः षट्, गिरयः सप्त, दस्रौ द्वौ, रामास्त्रयः । 'अङ्कानां वामतो गतिः' इति न्यायादादौ पञ्चदश बिन्दून् विलिख्य तद्वामे गजादीन् विलिखेत्,

---

१-२. भास्करराय—'प्रकाश'

वामगतौ वामभागस्यैकेत्तरत्वात् । अथ वा, बिन्दुगण उत्तरो येभ्यस्ते गजादय इति विग्रहः । गजादीन् वामगत्या विलिख्य जातस्याङ्कसमूहस्योत्तरत्र दक्षिणगत्यैव बिन्दवो लेख्या इत्यर्थे फलिते न विवादः । एवं च शतत्रयोत्तरसप्तविंशतिसंख्याकपरार्धानि षण्मध्यान्यष्टान्त्यानि च त्रिशत्युक्तार्थभेदा भवन्ति । अङ्कतो ऽपि ३२,७६८,०००,०००,०००,०००,०००। एतदङ्कज्ञानप्रकारस्तु 'चरमाङ्कमारभ्य पूर्वपूर्वाङ्कदशदश-गुणिता उत्तरोत्तराङ्काः' इति परिभाषया । तन्नियमश्च लीलावत्याम्—

> 'एकदशशतसहस्रायुतलक्षप्रयुतकोटयः क्रमशः ।
> अर्बुदमब्दं खर्वनिखर्वमहापद्मशङ्कवस्तस्मात् ॥
> जलधिश्चान्त्यं मध्यं परार्धमिति दशगुणोत्तरं संज्ञा ॥' इति ।

एतदग्रेऽप्यङ्कविस्तरस्तुच्छन्दःकौस्तुभेऽष्टमेऽध्याये प्रपञ्चितोऽस्माभिः ॥ ११३ ॥

* सरोजिनी *

प्रस्तुत श्लोक में यह बताया गया है कि भगवती के जो पवित्र तीन सौ नाम हैं उनके, १५, २०, २१ आदि कितने अर्थ संभावित हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य भास्करराय कहते हैं कि इन अर्थों की संख्या निम्न होगी ३२,७६८,०००,०००,०००,०००,०००। 'लीलावती' में अङ्कज्ञान प्रकार के विषय में जो नियम दिये गए हैं वे निम्न हैं—'एकदशशतसहस्रा युतलक्ष प्रयुक्त कोटयः क्रमशः । अर्बुदमब्दं खर्वनिखर्व महापद्मशांवस्तस्मात । जलधिश्चान्त्यं मध्यं परार्धमिति दशगुणोत्तरं संज्ञा, ऊपर जो अङ्क लिखे गए हैं उसका नियम यह है—'चरमाङ्कमारभ्य पूर्वपूर्वांकदशगुणिता उत्तरोत्तराङ्काः ॥'

'तिथि' = १५; 'गज' = ८; 'रस' = ६; 'गिरि' = ७; 'अश्विनौ = २; 'राम' = ३; अर्थात् ३, २, ७, ६, ८ के आगे १५ बिन्दु = ३२,७६८,०००,०००,०००,०००,०००। भास्करराय इसका रहस्य समझाते हुए कहते हैं कि—'एतेषु विंशति संख्याकेष्वर्थेषु ककारस्य ककाररूपेत्यर्थवर्णन दशायामेकारस्य-काररूपेति, ईकारस्येकाररूपिणीत्येवार्थौ वर्णनीय इति न नियमः, ककाररूपैकाक्षरी ईप्सितार्थप्रदायिनीत्यप्यर्थस्य सुवचत्वात् । एवं चात्र पंचदशाक्षराणि विलिख्य प्रत्यक्ष-शिरसि विंशत्यकान् दत्वा परस्परं हनने चरमाक्षरे या संख्या निष्पद्यते तामेवाह—'तिथिमितबिन्दु... नामैकदेशस्य' ॥ ११३ ॥

अथ शाक्तार्थो द्विविधः—अवयवार्थः शक्तिसमूहार्थश्चेति । तत्रावयवार्थो नाम देव्या अवयवानां वर्णनम् । तदाह—

> वाक्कामशक्तिकूटैरवयवशो विग्रहो मातुः ।
> प्रतिपाद्यो ऽत्रा कण्ठादा मध्यादा च पादाग्रात् ॥ ११४ ॥

शाक्तार्थगत अवयवार्थ का स्वरूप

यहाँ (इस विद्या में) माता (भगवती त्रिपुरसुन्दरी) का शरीर वाक्तत्त्व के द्वारा (किरीट के शीर्ष भाग से) गले तक, कामतत्त्व के द्वारा (गले से) कटि भाग तक

एवं शक्ति कूट के द्वारा (कटि से) चरणों के अग्रभाग तक के विभिन्न शरीरावयवों से निर्मित हुआ है—इसको प्रतिपादित किया जाना चाहिए ॥ ११४ ॥

*** प्रकाश ***

अत्र विद्यायां वाक्कूटेन, आ कण्ठात् कण्ठमभिव्याप्य, अर्थात् किरीटमारभ्यावयवशो विग्रहः प्रतिपाद्यः । कामराजकूटेन कण्ठाधःकटिपर्यन्तविग्रहः । शक्तिकूटेन कट्यधः पादाग्रान्तो देहः प्रतिपाद्य इत्यर्थः । अत एव वाच्यवाचकयोरभेदविवक्षयोक्तं सहस्रनामसु—

'श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुखपङ्कजा ।
कण्ठाधःकटिपर्यन्तमध्यकूटस्वरूपिणी ॥

शक्तिकूटैकतापन्नकट्यधोभागधारिणी ।
मूलमन्त्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेबरा ॥' इति ॥ ११४ ॥

*** सरोजिनी ***
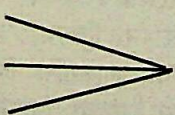
भगवती के शरीर की व्याख्या—(भगवती का मंत्रात्मक कलेवर)—भगवती त्रिपुरसुन्दरी का अपना दिव्य विग्रह 'वाक्', 'काम' एवं 'शक्तिकूट' द्वारा निर्मित हुआ है जिसका स्वरूप इस प्रकार है—१. किरीट के शीर्ष भाग से गले तक के शरीरावयव = 'वाक्तत्त्व' द्वारा निर्मित हैं । २. गले से कटि भाग तक के शरीरावयव = 'कामतत्त्व' द्वारा एवं ३. कटि भाग से चरणों के अग्रभाग तक के समस्त शरीरावयव = 'शक्तिकूट' द्वारा निर्मित हैं ।

(क) 'वाक्तत्त्व' = भगवती के गले तक के शरीराङ्ग ।
(ख) 'कामतत्त्व' = भगवती के गले से कटिभाग तक के शरीरराङ्ग ।
(ग) 'शक्तिकूट' = भगवती के कटिभाग से चरणान्त समस्त शरीराङ्ग ।

वाक्तत्त्व
कामतत्त्व → पराभट्टारिका महात्रिपुरसुन्दरी का शरीर ॥
शक्तिकूट

कहा भी गया है—"श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुखपङ्कजा । कण्ठाधः कटिपर्यन्तमध्यकूटस्वरूपिणी । शक्तिकूटैकतापत्र कट्यधोभागधारिणी । मूलमंत्रात्मिका मूलकूटत्रय कलेवरा ॥"

१. "अत्र विद्यायां वाक्कूटेन आकण्ठात् कण्ठमभिव्याप्य अर्थात् किरीटमारभ्यावयवशों विग्रहः प्रतिपाद्यः ॥ २. कामराजकूटेन कण्ठाधः ॥ कटिपर्यन्त विग्रहः । ३. शक्तिकूटेन कट्यधः पादत्त्रान्तो देहः प्रतिपाद्यः ॥"[1] (कट्यधः पादाग्रान्तो देहः प्रतिपाद्यः ॥)

---

१. भास्करराय—'प्रकाश'

भगवती के गले तक का

शरीराङ्ग

= 'वाक्तत्त्व'

शक्तिसमूहार्थमाह—

वेधोभारत्यौ माधवलक्ष्म्यौ रुद्रपार्वत्यौ ।
रेफान्तवर्णषट्कस्यार्थान् क्रमशो विजानीयात् ॥ ११५ ॥

(शक्तिसमूहार्थ का स्वरूप)

'र' में पर्यवसित वाग्भवकूट के छः वर्णों को क्रमशः (मिथुनत्रय) ब्रह्मा-भारती, विष्णु-लक्ष्मी एवं रुद्र-पार्वती के रूप में जानना चाहिए ॥ ११५ ॥

* प्रकाश *

अत्र हकाररेफयोर्विभज्य गणनम्, दुर्वासादिविद्याविशेषेषु तथैव पाठात् ॥११५॥

* सरोजिनी *

'षट्कस्यर्थान्'—छः के समूह के अर्थों को । 'प्रथमकूट' के छः वर्ण निम्न हैं—क + अ, ए, ई, ल् + अ = ६ (क ए ई ल) ॥ "क ए ई ल" वर्ण ब्रह्मा-भारती, विष्णु-लक्ष्मी एवं रुद्र-पार्वती के द्योतक हैं ।

इस श्लोक में "पञ्चदशीमन्त्र" के वर्णों एवं स्वशक्तिसमन्वित त्रिदेवों के मिथुन त्रिक के साथ तादात्म्य दिखाया गया है ।

सारांश—पञ्चदशाक्षरी का 'वाग्भवकूट'—ब्रह्माभारती, विष्णुलक्ष्मी, रुद्र-पार्वती ।

वाग्भवकूट का स्वरूप[१]—यह 'कादिविद्या' से सम्बंद्ध है । २. भगवती का अपना शरीर वाक्तत्त्व, कामतत्त्व एवं शक्तिकूट द्वारा निर्मित है अत: 'वाग्भवकूट' भगवती के किरीट के शीर्ष भाग से गले तक का शरीराङ्ग है—शरीराङ्ग-युक्त पूर्णशरीर इस प्रकार है—

१. अत्र विद्यायां वाक्कूटेन आकण्ठात् कण्ठमभिव्याप्य अर्थात् किरीट मारभ्यावयवशो विग्रह: प्रतिपाद्य: ।। (वाग्भवकूट)

२. कामराजकूटेन कण्ठाध: कटिपर्यन्तविग्रह: ।

३. शक्तिकूटेन कट्यध: पादाग्रान्तो देह: प्रतिपाद्य: इत्यर्थ: ।। 'ललिता सहस्रनाम' में इनके इस स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है—

'श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूप मुखपङ्कजा ।
कण्ठाध: कटिपर्यन्तमध्यकूटस्वरूपिणी ।।
शक्तिकूटैकतापन्न: कट्यधोभागधारिणी ।
मूलमन्त्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेवरा ।।'

"कूटत्रयकलेवरा"
राजराजेश्वरी
त्रिपुरसुन्दरी देवी

१. वाक्कूट, (किरीट से कण्ठ)

२. कामराज कूट (कण्ठ से कटि)

३. शक्तिकूट (कटि से पादाग्र)

देवी के शरीराङ्ग एवं कूटों का अंतर्सम्बन्ध । (देवी के शरीर का रहस्यार्थ)
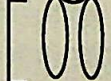
१. वाग्भवकूट = भगवती के मुकुट से कण्ठ तक का भाग

२. कामराजकूट = कण्ठ से कटि तक का भाग

३. शक्तिकूट = कटि से पादाग्र तक का भाग

आचार्य भास्करराय ने भी कहा है—

"वाक्काम-शक्तिकूटैरवयवशो विग्रहो मातु: ।
प्रतिपाद्योऽत्रा कण्ठादामध्यादा चं पादाग्रात ।।"[२]

भगवती कूटत्रय कलेवरा है—मूलमन्त्रात्मिका है—

"मूलमंत्रात्मिकामूल कूटत्रयकलेवरा ।
कुलामृतैकरसिका कुलसङ्केतपालिनी ।।"

यह भी कहा गया है—कि 'वाग्भवकूट' देवी के शरीर का एक भाग है—नेत्रोष्ठापरगलवर्णशालिवाचां संभूतिर्मुखमिति वाग्भवाख्यकूटमिति ।।"[३]

---

१. वरिवस्यारहस्यम् (श्लोक ११४) । २. ललितासहस्रनाम (१०३) ।
३. सौभाग्यभास्कर' में उद्धृत ।

"कूटत्रय" पंचदशी के तीन खण्ड हैं अतः मंत्र के अवयव हैं। देवी स्वयं मंत्र है अतः कूटत्रयात्मिका एवं मंत्रात्मिका दोनों हैं—

"सर्वशक्तिमयी सर्वमङ्गला सद्गतिप्रिया।
सर्वेश्वरी सर्वमयी सर्वमंत्रस्वरूपिणी ॥ १०३ ॥"

भगवती के इस कूटत्रयात्मक स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य भास्करराय कहते हैं—

१. वाग्भव नामकं कूटं पंचक्षराणां समुदाय एवैकं मुख्य स्वं निजं रूपं यस्य तादृशं मुखपङ्कजं यस्याः।[१]

२. कण्ठस्याधः कटिपर्यन्तो यस्य मध्यभागः स एव मध्यस्थ कामराजाख्यस्य षडक्षरसमूहस्य स्वं निजंरूपमस्याः ॥ कहा भी गया है[२]—"कामस्ते हृदि वसतीति कामराजं स्त्रष्ट्टत्वात्तदनुतवाम्ब शक्तिकूटमिति।"

३. मूलस्स्य कूटत्रयमेवोक्तरीत्या कलेवरं स्थूलरूपं यस्याः, कूटत्रयमेव कलेवरं सूक्ष्मरूपं यस्या इति वा ॥[३]

भगवती का 'मूलमंत्रात्मिकामूल कूटत्रय कलेवरा' कहकर 'ललिता सहस्त्रनाम' में जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है यह तो मंत्रात्मक स्वरूप है इसी प्रकार उनके स्वरूप का इस प्रकार भी स्थूल शरीर का वर्णन प्रस्तुत किया गया है[४]— "कामकलायां तूर्ध्वबिन्दुरेकस्तदधस्तिर्यगबिन्दु द्वयं तदधोसार्धकलेति त्रयोऽवयवा गुरुमुखैक वेद्याः, त एव क्रमाद्विद्याकूट तया स्थूलरूपमुखाद्यवयवात्मना च परिणता इति सूक्ष्मतरं कुण्डलिन्याख्यं सूक्ष्मतमं वररूपपरं नामद्वयं समष्टि व्यष्टि भेदेनेति नाथचरणागमे विस्तरः ॥"[५]

यह भगवती का ब्रह्माण्डान्तर्गत रूप है—'एवं ब्रह्माण्डान्तर्गतरूपमुक्त्वा पिण्डान्तर्गतं कुण्डलिन्याख्यं रूपं वक्तुमुय क्रमते ॥

देवी के दो स्वरूप —— ब्रह्माण्डान्तर्गतरूप / पिण्डान्तर्गत रूप[६]

पिण्डान्तर्गत रूप क्या है—"कुलामृतैक रसिकाकुल सङ्केत पालिनी ॥ कुलाङ्गना कुलान्तस्था कौलिनी कुल योगिनी। अकुला समयान्तस्था समयाचार-तत्प ॥"[७] यह पिण्डगत रूप कुण्डलिनी रूप है—'साहि मूलाधाराख्ये चक्रे सार्धत्रिवलयाकारेण सुप्ता सती योनिभिरुत्थाप्य षट्चक्राणि ब्रह्म-विष्ण्वादि ग्रंथींश्च भेदयन्ती सहस्त्रारं नीत्वा सती तत्कर्णिकारूप चन्द्रमण्डलादमृतं स्रावयति ॥"[८]

ता एताः सकला अपि कामकला एव न ततो ऽन्याः।
सामानाधिकरण्यादीकारेणायमर्थो ऽस्य[९] ॥ ११६ ॥

१-८. भास्करराय—'प्रकाश'

९. ऽस्याः

(प्रथमकूट के छः वर्णों, तीन दम्पतियों एवं कामकला में अभिन्नता का प्रतिपादन)

वे ये सभी (छः देवता) कामकला ही हैं अन्य नहीं । इसका यह अर्थ ईकार के सामानाधिकरण्य से (सिद्ध) है ।। ११६ ।।

*** प्रकाश ***

एता ब्रह्मादयः षट् । यद्यपि ब्रह्मादीनां पुंस्त्वेन भारत्यादीनां स्त्रीत्वेन तद्वाचकशब्दे 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषतः 'एते' इत्येव भाव्यम्; तथापि ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणां स्त्रीरूपताया भावार्थप्रकरणे कथितायाः स्मरणायैवमुक्तिः । सामानाधिकरण्यादेक-विभक्तिकत्वरूपात् । प्रत्यक्षरं विद्यमनानां सुपां तु लोपः । वाक्ये संहिताया अविवक्षणादीकारेण सह न संधिः ।। ११६ ।।

*** सरोजिनी ***

'ता एताः सकला अपि कामकला एव' न ततोऽन्याः ।। उपर्युक्त छः देवता कामकलाऐं ईकार ही हैं उनसे अन्य नहीं हैं । १. ब्रह्मा-भारती २. विष्णु-लक्ष्मी ३. एवं रुद्र-पार्वती—यह दिव्य मिथुनत्रिक ईकार (कामकला) से अभिन्न हैं ।

'कामकला'—'बह्वृचोपनिषद्' में कहा गया है—"ॐदेवी ह्येकाग्र आसीत् । सैव जगदण्डमसृजत् । कामकलेति विज्ञायते । शृङ्गारकलेति विज्ञायते ।।"[१] विश्व-प्रसवित्री जगज्जननी को ही यहाँ 'कामकला' एवं 'शृङ्गारकला' दोनों कहा गया है ।[२] बिन्दुत्रय—रक्तबिन्दु, शुक्लबिन्दु एवं मिश्रबिन्दु एवं मध्यस्थित महाबिन्दु चारों मिलकर 'कामकला' को प्रकट करते हैं 'शक्ति' 'महाबिन्दु' से निःसृत होकर शृङ्गार (सिङ्घाड़े) के समान त्रिकोणाकार धारण करती है ।

'श्वेतबिन्दु'—शिवात्मक हैं । 'रक्तबिन्दु'—शक्त्यात्मक हैं । ये दोनों परस्पर एक दूसरे में प्रविष्ट होते रहते हैं । रक्त एवं श्वेतबिन्दु के समागम से तृतीय बिन्दु 'मिश्रबिन्दु' का आविर्भाव होता है । यही 'अहं' पद है । इसी में अकार से हकार पर्यन्त समस्त वर्ण निहित रहते हैं । 'मिश्रबिन्दु' ही सूर्य बिन्दु' कहलाता हैं । यह बिन्दु अनन्त सौन्दर्य का केन्द्र है । "मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो । हरार्धं ध्यायेत् यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम् ।।"

१. 'काम'—'मिश्रबिन्दु' (सूर्यबिन्दु) अतिकमनीय होने के कारण 'कर्म' भी कहलाता है ।

२. 'कला'—'रक्तबिन्दु' अग्नि एवं 'श्वेतबिन्दु' चन्द्रमा—ये दोनों 'कला' कहलाते हैं । मूल महाबिन्दु एवं त्रिकोण के तीनों बिन्दु सम्पूर्ण 'कामकला' के स्वरूप का निर्माण करते हैं ।

३. 'हार्दकला' महाबिन्दु ही हैं । 'योगिनीहृदय' में कहा गया है—'ज्येष्ठा

१. बह्वृचोपनिषद् २. तत्रैव

कामकला—सूर्य

मुख →

अग्नि → स्तन

चन्द्र ← स्तन

हार्द्धकला
(योनि)
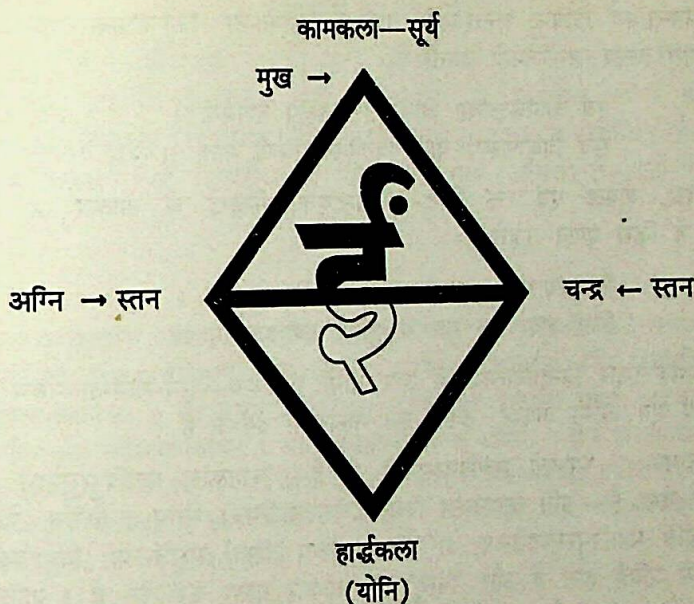
ज्ञानं क्रिया शेषमित्येवं त्रितयात्मकम् । चक्रं कामकलारूपं प्रसार परमार्थतः ॥[1]

'कामकला' में पहले तुरीय बिन्दु उसके नीचे 'काम' नामक बिन्दु एवं उसके नीचे विसर्गाख्य बिन्दुद्वय एवं नीचे 'हार्द्धकला' स्थित है । १. 'काम' बिन्दु (संमिश्र बिन्दु) २. विसर्ग (शोण+सित बिन्दु) एवं ३. हार्धकला—इन तीन अवयवों से युक्त एक अखण्ड पदार्थ 'कामकला' कहलाता है । नित्या षोडशिकार्णाव' (वि० ७) में इसका स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया गया है—'मध्यबिन्दुविसर्गान्तः समास्थानमये परे । कुटिलारूपके तस्याः प्रतिरूपं वियत्कले ॥''

भास्करराय एवं अमृतानन्द की दृष्टि में 'कामकला' तत्त्व—भास्करराय ने 'सेतुबंध' में 'कामकला' का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उससे अमृतानन्द द्वारा प्रस्तुत स्वरूप भिन्न है । भास्करराय ने 'बिन्दु' सङ्कल्प्य वक्त्रंतु—(नित्या० षो० १ विश्राम, श्लोक २०१) की व्याख्या करते हुए इसे भिन्न रूप में दिखाया है—''ऊर्ध्व कामाख्योबिन्दुरेकः तदधोग्नीषोमात्मक बिन्दुद्वितयरूपोन्यः । तदधो हकारार्ध-रूपः कलाख्यस्तृतीयः तदिदंप्रत्याहारन्यायेन कामकलेत्युच्यते ।[2] अमृतानन्द योगी कहते हैं—''मध्यबिन्दुः ऊर्ध्वबिन्दुः अकार हकार सामरस्यरूपः । कामाख्यः । तदुक्त 'कामकलाविलासे'—बिन्दुरहंकारात्मा रविरेतन्मिथुनसमसाकारः । कामः कमनीय-तया ॥''[3] 'मुखं बिन्दुं' कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधोहरार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम् (सौन्दर्यलहरी १९) में भी इससे भिन्नता लक्षित होती है । 'तुरीय बिन्दु' अतितुर्य तत्त्व है ।

---

१. योगिनी हृदय

२. सेतुबन्ध

३. योगिनीहृदय 'दीपिका' (पृ० ८५-८६)

अहन्तामय त्रिबिन्दु तत्त्वस्वरूप वर्णात्मा 'कामकला' त्रिगुणात्मक त्रिकोण रूप में परिणत होकर जगज्जननी बनती है—

एवं कामकलात्मा त्रिबिन्दुतत्त्वस्वरूप वर्णमयी ।
सेयं त्रिकोणरूपं याता त्रिगुणस्वरूपिणी माता ।। २५ ।।[१]

मिश्र, शुक्ल एवं रक्त बिन्दु—त्रिबिन्दुयुक्त, सिङ्घाड़े के आकार का सुन्दर त्रिकोण है जिसे प्रणव कहते हैं—

बिन्दुत्रयात्मकं स्वात्म शृङ्गार विद्धि सुन्दरमं ।
मिश्रं शुक्लं च रक्तं च पुराणं प्रणवात्मकम् ।।[२]

कामकलाक्षर बिन्दुत्रयात्मक है और तीनों बिन्दुरूप—सूर्य-सोम-अग्निरूप है । सोम सूर्य एवं अग्नि अकार, उकार एवं मकार से अभिन्न है ।

'कामकला' भगवती महात्रिपुरसुन्दरी ही है—"कामकला महात्रिपुरसुन्दरी ।।"[३] कहा भी गया है—'इति कामकला विद्या देवीचक्रमात्मिका सेयम् । विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुरसुन्दरीरूपः ।।[४] प्रकाशस्वरूप 'शिव' स्फूर्तिरूपा, विमर्शस्वरूपा 'शक्ति' में प्रविष्ट होते हैं और 'बिन्दु' का आकार ग्रहण कर लेते हैं । शक्ति भी शिव में प्रवेश करती है । इससे बिन्दु विकसित होता है । उससे 'नाद' (स्त्री तत्व) उद्भूत होता है । बिन्दु एवं नाद मिलकर 'मिश्रबिन्दु' बन जाते हैं । इसे 'काम' कहा जाता है । श्वेत बिन्दु एवं रक्त बिन्दु (पुरुष-नारी के प्रतीक) पुनः 'संयुक्त बिन्दु' बन जाते हैं । श्वेत-रक्त-मिश्र बिन्दु एक हो जाते हैं—और 'कामकला' कहलाते हैं । यहाँ पर ४ शक्तियों का सामरस्य हैं—१. मूलबिन्दु (विश्वोपादान) २. नाद ३. श्वेत पुरुषबिन्दु ४. रक्त स्त्रीबिन्दु । ये चारों तत्त्व मिलकर 'कामकला' का रूप धारण कर लेते हैं । ग्रंथान्तर में कहा गया है कि उच्चतमा देवी 'कामकला' हैं । संयुक्त बिन्दु (सूर्य) उसका मुख है । अग्नि-चन्द्र (रक्त + श्वेतबिन्दु) उसके पयोधर हैं । हार्धकला उसकी योनि है । इसीसे सृष्टि होती है । 'ह' अर्धकला है, ह के आकार का अर्धभाग (हार्धकला) है । अर्धकला या 'ह' ही शिव के प्रतीक 'अ' अक्षर से मिलकर कामकला (त्रिपुरसुन्दरी) का प्रतीकात्मक रूप है एवं शिव-शक्ति के संयोग का फल है ।[५]

'सामानाधिकरण्यादीकारेण'—'कामकला' एवं ईकार एक ही है—अभिन्न है।

अयमेव कूटयोरपि परयोरर्थः परं तु तार्तीये ।
द्वैतीयीकद्वैतीयीकहकारः सकारतः पूर्वः ।। ११७ ।।

अन्वयितव्योऽक्षरशः शक्तेः शाक्तैर्विभाव्यत्वात् ।
वामेच्छादिकशक्तिमयत्वोक्तेरेष शाक्तार्थः ।। ११८ ।।

१-२. कामकलाविलास ३. चिद्वल्ली
४. कामकलाविलास
५. भण्डारकर—'वै० शैव और अन्य धार्मिक मत' (पृ० १६६)

(शाक्तार्थ का स्वरूप)

अन्य दो (द्वितीय एवं तृतीय) कूटों का भी यही अर्थ है, तथापि द्वितीय कूट के द्वितीय 'हकार' को तृतीय कूट के 'सकार' से सम्बंधित करना चाहिए। शाक्तों की विभावना (विचारणा) के अनुसार प्रत्येक अक्षर शक्त्यान्वित है एवं वे (प्रत्येक अक्षर) 'वामा' 'इच्छा' आदि शक्तियों से युक्त (अभिन्न) हैं—यही 'शाक्तार्थ' है ॥ ११८ ॥

* प्रकाश *

प्रथमकूटस्य यावानर्थस्तावानेव द्वितीयतृतीयकूटयोः । द्वितीयकूटे मध्यमहकारः परं तृतीयकूटस्य प्रथमभागे ऽन्वययोग्यः । तस्य तत्र चतुर्थत्वे ऽपि सजातीययोर्मध्ये द्वितीयत्वात्तथोक्तिः । तेन तयोरपि कूटयोः प्रातिस्विकं रेफान्ता वर्णाः षडेव संपद्यन्त इति तेषामुक्तरीत्यैवार्थवर्णनम् । अत्र प्रत्यक्षरमेकैकत्र शक्तिः । तेन शक्तानामक्षराणामर्थः शाक्तार्थः । स्वार्थे अण् । अथ वा शाक्तानामुपासकानामर्थः प्रयोजनम्, अथ वा शक्तिसमूहः प्रतिपाद्यत इति त्रेधा निर्वचनम् । भावार्थेन सह पौनरुक्त्यपरिहारस्तु पूर्वमेव कृतः ॥ ११७-११८ ॥

* सरोजिनी *

प्रत्येक अक्षर शक्ति-समन्वित होता है एवं प्रत्येक अक्षर 'वामा' 'इच्छा' आदि शक्तियों से अभिन्न होता है। आचार्य भास्करराय कहते हैं—'अत्र प्रत्यक्षर मेकैकत्र शक्तिः ॥ तेन शक्तानामक्षराणामर्थः शाक्तार्थः । स्वार्थे अण । अथवा शाक्ताना-मुपासकानामर्थः प्रयोजनम् अथवा शक्ति समूहः प्रतिपद्यत इति वा निर्वचनम् ॥''[१]

चूँकि प्रत्येक अक्षर शक्ति-समन्वित है अतः शाक्त अक्षरों का अर्थ ही 'शाक्तार्थ' है ।[२] शाक्त उपासकों का अर्थ या प्रयोजन भी 'शाक्तार्थ' है । शक्ति समूह का यहाँ प्रतिपादन किया गया है इसलिए भी इसे शाक्तार्थ कहते हैं ।[३]

''वामा''— बीजभावस्थितं विश्वं स्फुटीकर्तुं यदोन्मुखी ।
'वामा' विश्वस्य वमनादंकुशाकारतां गता ॥ ३७ ॥[४]

प्रत्येक शब्द की शक्तिमत्ता का प्रतिपादन सभी तंत्रों में किया गया है—

१. ईकारं परमेशानि स्वयं परमकुण्डली ।
ब्रह्मविष्णुमयं वर्णं तथा रुद्रमयं सदा ॥[५]

२. उकारं परमेशानि तारः कुण्डलिनी स्वयं ॥[६]

१-३. सेतुबन्ध
४. योगिनीहृदय— (क) सर्वं चराचरं विश्वं वर्णान्तु जायते ध्रुवम् ।
(ख) अक्षराज्जायते सर्वं परं ब्रह्मं स्वयं शिवे ॥
५-६. कामधेनु तन्त्र

३. ॠकारं परमे शानि स्वयं परमकुण्डली ।।[१]
पंचप्राणमयं वर्णं पंचदेवमयं सदा ।
पंचप्राणयुतं वर्णं तथा त्रयगुणात्मकं ।।[२]

४. ॠकारं परमेशानि कुण्डलीमूर्तिमान स्वयं ।
पञ्चप्राणमयं वर्णं चतुर्ज्ञानमयं सदा ।।[३]

५. ऐकारः परमं दिव्यं महाकुण्डलिनी स्वयं ।।

६. रक्तविद्युल्लताकारं औकारं कुण्डली स्वयं ।।

७. एकारं परमं दिव्यं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकः ।।[४]

८. ककारं परमेशानि कुण्डलीत्रयसंयुतं ।।

९. चवर्णं शृणु सुश्रोणि चतुर्वर्गप्रदायकं ।
कुण्डली सहितं देवी! स्वयं परमकुण्डली ।।[५]
पंचप्राणात्मकं वर्णं पंचप्राणमयं सदा ।
त्रिविन्दु सहितं वर्णं त्रिशक्तिसहितं सदा ।।

१०. लकारं चंचलापांगि कुण्डलीत्रयसंयुतं ।।

११. हकारं शृणु चार्वंगि चतुर्वर्गप्रदायकं ।
कुण्डलीत्रयसंयुक्तं रक्तविद्युल्लतोपमं ।।

१२. सकारं शृणु चार्वंगि शक्तिबीजं परात्परं ।
कोटिविद्युल्लताकारं कुण्डलीत्रय संयुतं ।।

१३. अकारादिक्षकारान्तं स्वयं परमकुण्डली ।।[६]

अथ सामरस्यार्थमाह—

कहयोर्लसयोरर्थौ शिवशक्ती शुद्धयोरचोः शक्तिः ।
उभयोः समरसभावो हल्लेखायाः परं ब्रह्म ।। ११९ ।।

(श्रीविद्या के सामरस्यार्थ का स्वरूप)

'क' (कादि विद्या के तीन ककारों), 'ह' (दो हकारों), 'ल' (तीन लकारों) एवं 'स' (दो सकारों) का अर्थ (क्रमशः) 'शिव' एवं 'शक्ति' हैं । शुद्ध स्वरों (ए एवं इ) का अर्थ शक्ति है । हल्लेखा (ह्रीं) का अर्थ शिव एवं शक्ति का सामरस्य रूप (समरसभाव रूप) पर ब्रह्म है ।। ११९ ।।

*** प्रकाश ***

कादिविद्यायां हि ककारास्त्रयो हकारौ द्वौ । तेषां शिव एवार्थः । एवं लकारास्त्रयः सकारौ द्वौ, तेषां शक्तिः । अत एव मन्मथबीजे ककारलकारयोर्योगः,

---

१-६. कामधेनु तन्त्र

पराप्रासादे हकारसकारयोः । शुद्धयोरचोर्द्वितीयतृतीययोः शक्तिः । लज्जाबीजस्योभय-सामरस्यात्मकं परं ब्रह्मार्थः । व्योमाग्नितुरीयस्वरबिन्दुभिः क्रमेण प्रकाशग्राससामरस्य-तादात्म्यापन्नेत्यर्थस्य परब्रह्मैकरूपस्य षट्चत्वारिंशदुत्तरशततमश्लोकव्याख्यायां स्पष्टी-करिष्यमाणत्वात् । शिवः शक्तिश्चेत्येतदुभयं ब्रह्मैवेति प्रतिकूटमर्थः । तदुक्तं त्रिशत्याम्—

'कत्रयं हद्वयं चैव शैवो भागः प्रकीर्तितः ।
शेषाणि शक्त्यक्षराणि ह्रींकार उभयात्मकः ॥'

* सरोजिनी *

१. 'क' (३ ककार) एवं 'ह' (२ हकार) = 'शिव' ॥
२. 'ल' (३ लकार) एवं 'स' (२ सकार) = 'शक्ति' ॥
३. शुद्ध स्वर 'ए' 'ई' = शक्ति ॥
४. ह्रींकार (ह्रीं = ३ ह्रींकार) = शिव-शक्ति सामरस्य = 'ह्रीं । ह्रीं । ह्रीं ।' रूप परब्रह्म ॥

"कत्रयं हद्वयं चैव शैवो भागः प्रकीर्तितः । शेषाणि शक्त्य-क्षराणि ह्रींकार उभयात्मकः ॥'
—'त्रिशती'

'क' = 'ककारान्मदनोदेवि शिवं चाष्टस्वरूपकं ।'

मोक्षस्य मूलं यज्ज्ञानं तस्य मूलं महेश्वरः ।
तस्य पंचाक्षरो मंत्रो मूलमंत्रं गुरोर्वचः ॥

मोक्ष का मूल ज्ञान है । ज्ञान का मूल महेश्वर है । महेश्वर का मूल पंचाक्षर मंत्र है ।

'कादिविद्या' में—(१) ३ककार (२) २ हकार हैं । इनका 'शिव' अर्थ है । (३) ३ लकार है (४) २ सकार हैं = उनका अर्थ है—'शक्ति'

'मन्मथ बीज' में ककारों एवं लकारों का योग है ।

द्वितीय एवं तृतीय कूट में स्थित शुद्ध स्वर 'शक्ति' हैं ।

'लज्जाबीज' (ह्रीङ्कार) उभयसामरस्यात्मक होने के कारण परब्रह्म का वाचक हैं—'लज्जाबीजस्योभयसामरस्यात्मकं परं ब्रह्मार्थः ॥ शिव एवं शक्ति दोनों ब्रह्म ही है—यही प्रत्येक कूट का अर्थ है—"शिवः शक्तिश्चेत्येतदुभयं ब्रह्मैवेति प्रतिकूटमर्थः ॥"[१]

१. 'क'— ककाराज्जायते सर्वं कामं कैवल्यमेव च ॥[२]
२. 'ह'— हकारं शृणु चार्वंगि चतुर्वर्गप्रदायकं । कुण्डलीत्रयसंयुक्तं ।
३. 'ल'— लकारं चंचलापाङ्गि कुण्डलीत्रयसंयुतं ॥[३]

१-३. कामधेनु तन्त्र

४. 'स'— सकारं शृणु चार्वंगि शक्तिबीजं परात्परं ।
कोटिविद्युल्लताकारं कुण्डलीत्रय संयुतं ।।[१]

५. 'ए'— एकारं परमं दिव्यं ब्रह्म विष्णु शिवात्मकः ।।

६. 'ई'— ईकारं परमे शानित, स्वयं परम कुण्डली ।।[२]

'क'ककार— ककारः सर्ववर्णानां मूल प्रकृतिरेव च ।
ककारः कामदा कामरूपिणी स्फुरदव्यया ।।[३]

कामिनी या महेशानि स्वयं प्रकृतिसुन्दरी ।
माता सा सर्वदेवानां कैवल्यपददायिनी ।।

ऊर्ध्वकोणे स्थिता कामा ब्रह्म शक्तिरितीरिता ।
वामकोणे स्थिता ज्येष्ठा विष्णुशक्तिरितीरिता ।।

दक्षकोणे स्थिता बिन्दु रौद्री संहाररूपिणी ।[४]
एवं हि कामिनीं ज्ञात्वा ककारं दशधा जपेत ।।[५]

'ल'— लकारः पृथिवी बीजं तेजो भू बिम्बमुच्यते ।।[६]

'स'— सकारश्चन्द्रमा भद्रे कलाषोडशात्मकः ।

'ह'— हकारः शिव उच्यते, अष्टमूर्तिः सदाभद्रे ।[७]

'ई'— इकारस्तु सदा माया भुवनानि चतुर्दश ।
पालयन्ती परात्साच्छक्र कोणं भवेत् प्रिये ।।[८]

ब्रह्मैव शिवः शक्तिश्चेति प्रत्येककूटार्थः ।
शिवशक्तिसामरस्याद्विद्याया एष सामरस्यार्थः ॥ १२० ॥

(सामरस्यार्थ का स्वरूप)

(तीनो कूटों में से) प्रत्येक कूट का अर्थ (यही) है कि—'शिव एवं शक्ति के सामरस्य के कारण ब्रह्म ही शिव एवं शक्ति दोनों ही हैं ।'—श्रीविद्या का यही सामरस्यार्थ है ।। १२० ।।

* सरोजिनी *

आचार्य भास्करराय कहते हैं कि जो 'वाग्भव' 'कामराज'. एवं 'शक्ति' नामक तीन कूट हैं उनमें से प्रत्येक कूट का एक ही अर्थ है और वह यह है कि—'शिव एवं शक्ति के सामरस्य के कारण ब्रह्म ही शिव एवं शक्ति दोनों ही हैं ।।' यही पंचदशाक्षरी मंत्र का सामरस्यार्थ भी है ।

'मन्मथबीज' में ककार-लकार दोनों का योग है मन्मथ बीजे ककारयोर्योगः पराप्रासादे हकारसकारयोः । शुद्ध योरचोर्द्वितीयतृतीयोः शक्तिः । लज्जाबीजस्योभय-सामरस्यात्मकं परं ब्रह्म अर्थः ।।'

१-५. कामधेनु तन्त्र ६-८. ज्ञानार्णव तन्त्र

कादि विद्या में—(१) ३ ककार एवं (२) २ हकार हैं—'कादिविद्यायां हि ककारास्त्रयो हकारौ द्वौ ।' और इनका अर्थ है—'शिव'—"तेषां शिव एवार्थः ।"[१]

इसी प्रकार इस 'पंचदशाक्षरी विद्या' में ३ लकार एवं २ सकार हैं । ये ही दोनों शक्ति हैं—'लकारास्त्रयः सकारौ द्वौ, तेषां शक्तिः ॥"[२]

ह्रींकार—'लज्जाबीजस्योभयसामरस्यात्मकं परं ब्रह्मार्थः ॥' अर्थात् इस मंत्र में स्थित 'ह्रीं' का अर्थ है—'उभय सामरस्यात्मक परब्रह्म' । शिव एवं शक्ति दोनों ब्रह्म ही हैं—यही प्रत्येक कूट का अर्थ है—'शिवः शक्तिश्चेत्येतदुभयं ब्रह्मैवेति प्रतिकूट-मर्थः । इसीलिए कहा गया है—

'कत्रयं हद्वयं चैव शैवो भागः प्रकीर्तितः । शेषाणि शक्त्यक्षराणि ह्रींकार उभयात्मकः ।'[३] अर्थात्—

(क) 'क त्रयं' (तीनों कूटों में—"क ए ई ल ह्रीं । ह स क ह ल ह्रीं । स क ल ह्रीं" मे से तीनों कूटों में, स्थित ककारत्रय)

(ख) 'हद्वयं'—'कामराजकूट' में स्थित हद्विक (दो हकार)

(ग) 'ह्रीं'—लज्जाबीज ।

१. क त्रय २. ह द्वय	= 'शैवभाग'	पंचदशाक्षरी मंत्र में स्थित शिव-शक्ति
३. ए ई ल स,	= 'शक्त्यक्षर'	
४. ह्रींकार ('ह्रीं')	= शिवशक्त्यात्मक (उभयात्मक)	

"शिवः शक्तिश्चेत्येतदुभयं ब्रह्मैवेति प्रतिकूटमर्थः ॥" अर्थात् प्रत्येक कूट का अर्थ यही है कि—शिव एवं शक्ति दोनों ब्रह्म ही है या ब्रह्म ही शिव-शक्ति हैं ।

अथ समस्तार्थमाह—

कन दीप्ताविति धातोः प्रकाशकत्वं ककारार्थः ।
अध्ययनार्थकतेङः स्यादेकारस्तदीयकरणार्थः ॥ १२१ ॥

('ककार' एवं 'एकार' का अर्थ)

'कनदीप्तौ' धातु से निष्पन्न ककार का अर्थ प्रकाश । अध्ययनार्थक इङ्धातु से व्युत्तपन्न एकार का अर्थ उसका साधन (अध्ययन का साधन) है ॥ १२१ ॥

*** प्रकाश ***

कन्यते प्रकाश्यते ऽनेनेति कं प्रकाशकम् । बाहुलको नलोपः । औणादिकः 'ञमन्ताड्डः' इति डप्रत्ययो वा । 'इङ् अध्ययने' इति धातुरधिपूर्वो ऽपि प्रकृत

१-३. भास्करराय—'प्रकाश'

आर्षत्वात्तद्विमोकः । अत एवङः क्विपि कृते, कित्त्वे ऽपि गुणः । विज्वा कार्यः । अधवीयते अनेनेत्यध्ययनकरणं बुद्धिः । अनयोः कर्मधारयः । असंधिरार्षः । तत ईकारेण षष्ठीतत्पुरुषः । लहरीत्यत्राकारलोपः । 'माङ् माने' इति धातोः क्विपि तल्लोपे 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' इति णिचि 'णेरनिटि' इति टिलोपे च म् इति सिध्यति । प्रकाशकत्वं सूक्ष्मत्वम् । तथा च सूक्ष्ममतिव्यापनाधिक्यं प्रथमकूटार्थः ॥ १२१-१२२ ॥

* सरोजिनी *

ककार एवं एकार का अर्थ—दीप्त्यर्थक 'कन् दीप्तौ' धातु से 'क' पद निष्पन्न होता है । इसका अर्थ है—दीप्ति, प्रभा या प्रकाश ।। अध्ययनार्थक इङ्ग धातु से निष्पन्न एकार का अर्थ उसका करण है—अर्थात् एकार का अर्थ है अध्ययन का करण या साधन ।

'क'—'पंचदशी मंत्र' का प्रथमाक्षर 'क' है । यही 'कादिविद्या' का प्रथमाक्षर है । श्रीविद्या में १५ अक्षर हैं इसीलिए इसे 'पंचदशी' भी कहते हैं । इसमें १६वाँ बीज लगा देने से यही 'षोडशी विद्या' बन जाती है । इस मंत्र के ४ पाद हैं—

१. प्रथमपाद—'वाग्भवकूट'
२. द्वितीयपाद—'कामकलाकूट'
३. तृतीयपाद—'शक्तिकूट'
४. चतुर्थपाद—'श्रीकूट'

प्रथमपादत्रय—अग्नि, सूर्य, चन्द्र, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा, ज्ञान-क्रिया-इच्छा, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति, विश्व-तैजस-प्राशं, सत्व-रजस्-तमस् के प्रतीक हैं ।

चतुर्थपाद—यह तुरीय पाद है : "श्रीकूट" कहलाता है ।

वाग्भवकूट	: ५ अक्षर
कामकूट (कामकलाकूट)	: ६ अक्षर
शक्तिकूट	: ४ अक्षर

कादि विद्या ही मूल विद्या है । इसी 'कादिविद्या' या 'मूलविद्या' के आधार पर लोपामुद्रा, कुबेर, चन्द्र, नन्दि, मनु, अगस्त्य, सूर्य, षडानन, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, यमराज, इन्द्र एवं कामदेव—सभी ने अपने-अपने इष्ट के अनुसार मूलविद्या को भिन्न-भिन्न विद्याओं का स्वरूप दिया ।

जो प्रकाशोत्सर्जन करे, स्वयं प्रकाशित हो एवं प्रकाशित करे उसे 'क' कहते हैं । व्युत्पत्यात्मक दृष्टि से इसका अर्थ निम्नांकित है—"कन्यते प्रकाश्यतेऽनेनेति प्रकाशकम्" । बाहुलको न लोपः । औणादिक 'ञमन्ताड्डः' से ड प्रत्यय ॥

"इङ्ग अध्ययने" धातु से 'ए' शब्द निष्पन्न होता है । 'प्रकाशकत्व' सूक्ष्मत्व का बोधक है । प्रथम कूट का अर्थ है—सूक्ष्म + अतिव्यपनाधिक्य—"सूक्ष्ममतिव्यापनाधिक्य प्रथमकूटार्थः ।।"

पंचदशी का लकार = 'लकारः क्षितितत्त्वं' ॥ सकार = 'सकारः चन्द्रबीजं' । 'लकारः इन्द्रबीजं' ॥ 'ल' = पृथ्वी । इन्द्रबीज ॥ 'स' = चन्द्रबीज ॥[1]

'क' = सृष्टि = विधायक ब्रह्मा ।

'ए' = स्थिति = स्थिति-संरक्षक, व्यवस्थापक = विष्णु ॥

'अ' = संहार = संहार विधायक शिव ॥

'विधिऽहरि-शिव-वचना अपि ककार एकारकोऽकारः ।
सृष्टि-स्थिति भङ्गात्मकतत्तज्जनकत्वलाक्षणिकाः ॥ १४१ ॥

ईश्वरवाचीकारो वक्ति उकारः सदाशिवं ताभ्याम् ।
लक्षणकया तत्र तिरोधानानुग्रहण कृत्यता गदिता ॥ १४२ ॥[1]

ककार का अर्थ "वरेण्य" भी है—'ककारस्य वरेण्यमर्थः ॥[2]

ककार का अर्थ—'कामयते स ककारः कामो ब्रह्मैव तत्पदस्यार्थः—'ॐतत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ॥"[3] 'तदिति ब्रह्म शाश्वतम्' के अनुसार गायत्री का 'तत्' पद एवं पंचदशी का 'क' शब्द दोनों 'ब्रह्म' के वाचक हैं। भास्करराय भी यही कहते हैं—'तत्पदार्थो ब्रह्म । तदेव च ककारार्थः ।' 'कं ब्रह्म'—कहकर श्रुतियों ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है ।

'कामयते कामी जायते स एव निरञ्जनोऽकामत्वेनोज्जंभते कामोऽभिधीयते, तत्परिभाषाया कामः ककारं व्याप्नोति ॥" (श्रुति) ॥ अतः 'क' का अर्थ है 'कामेश्वर'—"कामेश्वर इति तु पर्यवसितम् ॥"[4]

प्रस्तुत श्लोक में आचार्य भास्कर ने 'क' का अर्थ मात्र ('कन् दीप्तौ', धातु से निष्पन्न मानकर) प्रकाश कहा है । 'एकार' का अर्थ है—अध्ययन का साधन ॥

वर्णद्वयमेलनतः प्रकाशिका बुद्धिरित्यर्थः ।
ई व्याप्ताविति धातोस्तस्या व्याप्तिस्तृतीयवर्णार्थः ॥ १२२ ॥

(मंत्राक्षर 'क' 'ए' एवं 'ई' का अर्थ)

दोनों अक्षरों के सम्मिलन का अर्थ है प्रकाशिका बुद्धि । 'ई व्याप्तौ'—इस धातु से निष्पन्न तृतीयाक्षर 'ई' का अर्थ है 'व्याप्ति' ॥ १२२ ॥

*** सरोजिनी ***

दीप्ति अर्थ प्रदान करने वाले कन्धातु से ककार को निष्पन्न मानने पर 'क' का अर्थ होगा प्रकाश का साधन—'कन्यते प्रकाश्यते अनेनेति क प्रकाशकम् । 'क' = प्रकाशक ॥ 'इङ्ग अध्ययने' धातु से एकार व्युत्पन्न हुआ । एकार का अर्थ है—

१. वरिवस्यारहस्यम् (श्लोक १४१-१४२) २. भास्करराय—'प्रकाश' (६२-६३)
३. वरिवस्यारहस्यम् (श्लोक ६०) ४. भास्करराय—'प्रकाश' (६०)

अध्ययन का साधन (बुद्धि) । 'क + ए' = इन दोनों का सम्मिलित अर्थ हुआ—प्रकाशिका बुद्धि ।

'वर्णद्वय मेलनतः प्रकाशिका बुद्धिरित्यर्थः ॥'

'ई व्याप्तौ' धातु से निष्पन्न तृतीय वर्ण 'ई' का अर्थ है—''व्याप्ति'' ॥

तस्य लहर्याधिक्यं तन्निर्माणं मकारार्थः ।
हन हिंसायामिति हं शौर्यं प्रत्यर्थिहननकरणत्वात् ॥ १२३ ॥

सं भोगसाधनं धनमुपभोगार्थात् स्यतेः सुनोतेर्वा ।
कमु कान्ताविति धातोरिच्छाविषयो ऽङ्गनादिः कम् ॥ १२४ ॥

एषां गमनं प्रापणमोहाङ्-गत्यर्थधातुजन्यं हम् ।
तस्यातिशयो लहरी तत्र श्लिष्टः सवर्णदीर्घेण ॥ १२५ ॥

ईकारस्तस्यार्थः कीर्तिः सर्वासु दिक्षु दीप्तत्वात् ।
ई दीप्ताविति धातोर्निर्मितिरनयोर्मकारार्थः ॥ १२६ ॥

तदेव तावद्वदति—

वाग्भवकूटस्यार्थः सूक्ष्ममतिव्यापनाधिक्यम् ।
शौर्यधनस्त्रीयशसामाधिक्यं कामराजार्थः ॥ १२७ ॥

एते सम्यक् कलयति सकला हरतेर्हकारः स्यात् ।
निखिलजगत्संहर्त्रीत्यर्थस्तस्यापि वर्णस्य ॥ १२८ ॥

ईकारः प्रश्लिष्टः सृष्टिस्थितिरूपदीप्तिकर्त्रर्थः ।
यद्वा हृदि खेदहरे प्रकाशते तेन माता ह्रीः ॥ १२९ ॥

सकलान्तेन पदेन ह्रीकारे कर्मधारयः कार्यः ।
तस्य विशेष्यो मः स्यान्नादार्थः संविदर्थो वा ॥ १३० ॥

(लहरी, ह, क, ई, स, म कूटत्रय एवं ह्रीं
आदि का रहस्यार्थ)

उसकी (बुद्धि की) प्रमुखता 'लहरी' है । इस प्रमुखता का निर्माण—मकार का अर्थ है । 'हन हिंसायाम् धातु' से निष्पन्न 'ह' शब्द शत्रु का हनन करने का कारण होने के कारण शौर्यार्थक है ॥ भोगार्थवाची षो या स्नु अभिषवार्थवाची सु से निष्पन्न 'स' शब्द भोग के साधन धन का वाचक है । 'कमु कान्तौ' धातु से निष्पन्न 'क' शब्द कामिनी आदि इच्छित पदार्थों का वाचक है ॥ गमनार्थी ओहाङ् धातु से निष्पन्न 'ह' का अर्थ इनका (भोगों का) गमन या प्राप्ति है । उनकी (इन सभी की) प्रभुत प्राप्ति 'लहरी' है जिसके साथ ईकार की सवर्ण दीर्घ संधि हुई है ।

‘ई दीप्तौ’ धातु से निष्पन्न ‘ई’ शब्द का अर्थ है कीर्ति और यह समस्त दिशाओं में प्रकाशित है । ‘म’ का अर्थ है—इन दोनों (लहरी एवं ई) की उत्पत्ति।

‘वाग्भवकूट’ का अर्थ है—सूक्ष्मबुद्धि की विराट व्यापकता । ‘कामराजकूट’ का अर्थ है—विक्रम, वित्त, नारी एवं यश की अतिशयता ।

(तृतीय कूटगत) ‘स क ल’ पद (उपर्युक्त मकारद्वय से प्रतिपादित) उनको सङ्केतित करता है जो क्रियाओं का निष्पादन करते हैं ।

‘हृ हरणो’ धातु से निष्पन्न “ह्रीं” पद हरणवाचक भी हो सकता है तथा उस वर्ण का भी अर्थ होता है—‘निःशेष संसार की संहर्त्री’ ।

(उपर्युक्त हृ के साथ) प्रश्लिष्ट संधि-उपहित ‘ई’ वर्ण—“सृष्टि स्थितिरूपात्मक दीप्ति (प्रकाश) की विधायिका”—यह अर्थ द्योतित करता है । या ‘ह्री’ शब्द ‘माता’ का द्योतक है जो कि समस्त भयों को दूर करती हुई हृदय (दहराकाश) में प्रकाशित होती है ।

‘स क ल’ वर्णों में पर्यवसित पद के साथ (स्थित) ‘ह्रींकार’ में कर्मधारय समास लगाया जाना चाहिए ।। उसका विशेष्य ‘मकार’ नाद या संविद् (ज्ञान) अर्थ का वाचक है ।। १२३, १३० ।।

* प्रकाश *

‘अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि
हन्यते ऽनेनेति हं शौर्यम् । इति ‘षुञ् अभिषवे’ इति वा धातोः करणार्थे क्ङिति’ इति नलोपः । ‘षो अन्तकर्मणि’ इति ‘षुञ् अभिषवे’ इति वा धातोः करणार्थे डप्रत्यये सम् इति रूपम् । सीयत इति सूयत इति वा सं द्रव्यम् । काम्यत इति कं स्रक्चन्दनवनितादिकम् । हसकानां द्वन्द्वः । ततो हकारेण प्राप्त्यर्थकेन षष्ठीतत्पुरुषः । ततो लहरीपदेन तत्पुरुषः । तत ईकारेण कीर्त्यर्थकेन द्वन्द्वः । ततो मकारेण तत्पुरुषः । तथा च शौर्यधनस्त्रीप्राप्त्यतिशयस्य कीर्तेश्च निर्माणं द्वितीयकूटार्थः ।। १२३, १२६ ।।

तदेव तावद्वदति— स्पष्टम् ।। १२७ ।।

कूटद्वयस्य द्वन्द्वः । एते निर्माणे सम्यक् कलयतीति सकला । मकारल्ःेपः । हरतीति हृ । ‘ई दीप्तौ’ इति धातोः ई दीप्तिः । दीप्तिर्नाम सृष्टिः स्थितिश्च । हकारेङ्कारयोः कर्मधारये यणि कृते ह्रीः सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यकर्त्रीत्युपलक्षणविधयार्थः । यद्वा, हरति सर्वं विषयीकरोतीति हृ । क्विप् । आगमशास्त्रस्यानित्यत्वात् प्रकृते न तुक् । तच्च दहराकाशम् । तत्र प्रकाशत इति ह्रीः । ह्रीकारान्तपदस्य मकारेण कर्मधारयः । यद्यपि कूटत्रये ऽपि मकारो नास्त्येव, अनुस्वारस्यैव तन्त्रेषूद्धृतत्वात्; तथापि मकारस्यैव लक्षणवशादनुस्वार इति कूटद्वये सुवचम् । चरमकूटे त्वनुस्वार एव निखिलजगत्सृष्ट्यादिकर्तृ बुद्धिशौर्यधनस्त्रीयशसामाधिक्यकर्तृ विशेष्यो ऽस्तु । ततश्च, मकारस्यैव लक्षणवशादनुस्वार इति कूटद्वये सुवचम् । अयं चार्थो ब्रह्मसूत्राणां शक्तिदहराकाशवर्ति नादरूपं चिद्रूपं ब्रह्मेति मन्त्रार्थः सिद्धः । अयं चार्थो ब्रह्मसूत्राणां शक्तिपरत्वेन योजनां प्रदर्शयद्भिस्तत्रभवद्भिर्भाष्यकारैर्विस्तरेण निरूपित इह संक्षिप्योक्तः । स च मन्त्रस्य मन्त्रार्थस्य तत्र क्वचित् क्वचिद् व्याकरणविरोधः प्रतीयते ।

चर्षिप्रोक्तत्वेन प्रामाणिकत्वे सिद्धे 'प्रयोगशरणा वैयाकरणाः' इत्युक्तेरेतदनुसारेणैव व्याकरणलक्षणानां कल्पयत्वात् परिहार्यः ॥ १२८, १३० ॥

तत्प्रकारमेव प्रदर्शयति—

धातोर्बह्वर्थत्वाद् बहुलग्रहणात् पृषोदरादित्वात् ।
आकृतिगणपाठेन स्वेच्छानुगुणादुणादिकल्पनतः ॥ १३१ ॥

छन्दसि सर्वविधीनां वैकल्पिकतावशादमुष्य मनोः ।
सिद्धैः कथिते ऽर्थे ऽस्मिन् वैयाकरणानुशासनानुमतिः ॥ १३२ ॥

(सिद्धों द्वारा स्थापित मंत्रार्थों की व्याकरण द्वारा पुष्टि
की अनिवार्यता का प्रतिपादन)

धातुओं के अनेकार्थक होने के कारण, बहुल को (मान्य परम्परा के रूप में) ग्रहण करने के कारण, पृषोदरादि में विभिन्न प्रकरणों को सम्मिलित करने के कारण, (पाणिनीय व्याकरण में) आकृतिगणपाठ होने के कारण, उणादिसूत्रों के अर्थों को स्वप्रयोजनार्थ स्वेच्छापूर्वक कल्पित करने के कारण, वैदिक ग्रंथों में समस्त शास्त्रीय विधियों के विकल्पित होने के कारण सिद्धों द्वारा निर्धारित मंत्रों के अर्थ को वैयाकरणों द्वारा भी स्वीकृति प्रदान की गई है ॥ १३१-१३२ ॥

* प्रकाश *

'कुर्दखुर्दगुर्दगुद क्रीडायामेव' इत्येवकारेण 'तनूकरणे तक्षः' इत्यत्रार्थनिर्देशबलाच्च सत्ताद्यर्थनिर्देशस्योपलक्षणमात्रत्वेन धातवो ऽनेकार्थाः । तेन स्यतेरन्तकर्मवाचकत्वे ऽप्युपभोगार्थकत्वमविरुद्धम् । अत एव चेङो ऽधिपूर्वत्वात् केवलप्रयोगासंभवे ऽपि 'इटकिटकटी गतौ' इत्यत्र प्रश्लिष्ट ईकार एवैतदर्थको भविष्यति, गत्यर्थानां सर्वेषामपि ज्ञानार्थकत्वात् । बहुलेति ।

'क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्य एव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥'

इति बहुलपदार्थः । तेन लह्वीत्यत्राकारलोपः सिद्धः । 'रण्डः' इत्यादिसिद्ध्यर्थमडितो ऽपि ञमन्ताड्डस्य डित्त्वमपि सिद्धम्' गत्यन्तरमप्याह—पृषोदरादित्वादिति । 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' पृषोदरादयः शब्दा यथैव शिष्टैः प्रयुज्यन्ते तथैव साधवः, न तत्र लक्षणान्तरं मृग्यमित्यर्थः । न चैवं सति स्थलान्तरे ऽपि लह्वीति प्रयोगापत्तिः पृषोदरशब्दवदिति वाच्यम्, अत्रैव साधुरिति नियमस्वीकारात् । अत एव 'गूढोऽऽत्मा' इति न स्थलान्तरे प्रयुज्यते । अत एव च विष्णुसहस्रनामभाष्ये 'न्यग्रोधोदुम्बरो ऽश्वत्थः' इत्यत्र पृषोदरादित्वात् संधिरित्युक्तं शङ्करभवगत्पादैः। गणपाठाभावे त्वाह—आकृतीति । पुन्धातोर्डप्रत्ययादर्शनादाह—स्वेच्छेति ।

'संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥'

इति वचनाट्टिलोपार्थं डित्त्वकल्पनेत्यर्थः । छान्दसत्वसमाधानं तु निरङ्कुश-मित्याह—छन्दसीति ॥ १३१-१३२ ॥

*** सरोजिनी ***

पंचदशी मंत्र के जो विभिन्न अर्थ बताए गए हैं उनकी पुष्टि अनेक प्रकार से होती है यथा—

१. धातुओं के अनेकार्थक होने के कारण ।
२. बहुल को मान्य परम्परा के रूप में ग्रहण होने के कारण ।
३. पृषोदरादि में विभिन्न प्रकरणों को सम्मिलित करने के कारण ।
४. आकृतिगणपाठ होने के कारण ।
५. उणदि सूत्रों के स्वप्रयोजनार्थ स्वेच्छापूर्वक कल्पित करने के कारण ।

स्वच्छन्दता के अनेक उदाहरण हैं—"क्वचित् प्रवृत्ति क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्य एव । विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥" अतः मंत्रों के भी अनेक अर्थ भी हो सकते हैं । 'बहुल' का यही उदाहरण है । 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' के अनुसार पृषोदरादिक शब्दों को सभ्य एवं शिष्ट लोगों द्वारा जिन अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है उन्हें उन्हीं अर्थों में समाज में स्वीकृति मिल जाती है । 'संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे । कार्याद्विद्यादनूबंध-मेतच्छास्त्रमुपादिषु" के अनुसार टि के लोपार्थ डित्व की कल्पना की गई है । छान्दसत्वसमाधान निरंकुश, नियमों के संयम से परे है । 'विष्णु सहस्रनाम' के भाष्य में 'न्यग्रोधोदुम्बरोऽश्वत्थः'—प्रसङ्ग में पृषोदरादि के कारण संधि है—ऐसा शङ्कराचार्य ने स्वीकार किया है । गणपाठ में परिगणित न होने वालों को 'आकृति' कहकर समरण किया गया है ।

समस्तार्थपदनिरुक्तिपूर्वकमुपसंहरति—

बहुतरसमासयोगात् समस्तपुरुषार्थसाधनत्वोक्तेः ।
संक्षेपात् सारोक्तेः श्रीविद्यायाः समस्तार्थः ॥ १३३ ॥

(मंत्र के 'समस्तार्थ' के स्वरूप का विवेचन)

(श्रीविद्या के 'समस्तार्थ' के अन्तर्गत) अनेक पदों को समास-युक्त करने के कारण, समस्त पुरुषार्थों का साधनत्व निष्पादित करने के कारण तथा संक्षिप्त रूप में श्रीविद्या का सारांश बताने के कारण—इसे श्रीविद्या का 'समस्तार्थ' (कहा गया) है ॥ १३३ ॥

*** प्रकाश ***

समस्तपदस्यार्थ इति वा, समस्ताः सकला अर्थाः पुरुषार्था यस्मिन्निति वा, समस्तः संक्षिप्तो ऽर्थ इति वा निरुक्तिः ॥ १३३ ॥

* सरोजिनी *

आचार्य भास्करराय कहते हैं कि 'श्रीविद्या' का जो 'समस्तार्थ' निरूपित किया गया है उसमें 'पंचदशीमन्त्र' में स्थित अनेक पदों एवं गुणों का समास एवं समस्त पुरुषार्थों के समस्त साधनों का संक्षिप्त सार कथन निहित है इसीलिए उसे 'समस्तार्थ' कहा गया है ।[१] चूँकि यह समस्त पदों के अर्थ का व्याख्यान है इसलिए भी इसे 'समस्तार्थ' कहते हैं—'समस्तपदस्यार्थ इति वा ।'[२] चूँकि इसमें समस्त पुरा अर्थो (पुरुषार्थों) पर विचार किया गया है इसलिए भी इसे 'समस्तार्थ' कहा गया है—'समस्ता: सकला अर्था: पुरुषार्था यस्मिन्निति वा'' ।[३] चूँकि इसमें समस्त संक्षिप्त अर्थों की उपस्थिति है इसलिए भी इसे 'समस्तार्थ' कहा गया है—"समस्त: संक्षिप्तोऽर्थ इति वा निरुक्ति: ॥"[४]

अथ सगुणार्थमाह—

को विधिरेकारो हरिरकार ईश: स्तवार्थमीडपदम् ।
द्विस्वरमध्यगतस्य डकारस्य लकार आदेश: ॥ १३४ ॥

तेनर्ग्वेदात्मत्वं सूचितमाद्यस्य कूटस्य ।
क्रमशो ऽग्रिमकूटयुगे तेन अजु:सामता सिद्धा ॥ १३५ ॥

ह्रीमिति नाम विशेष्यं नपुंसकं ब्रह्मलक्षकत्वेन ।
विधिहरिगिरिशैरीड्यं ब्रह्मेति प्रथमकूटार्थ: ॥ १३६ ॥

(सगुणार्थ का स्वरूप)

'क' ब्रह्मा है, एकार विष्णु है एवं अकार शिव है । 'ईड' शब्द 'स्तुति' अर्थवाला है । दो स्वरों के मध्य स्थित 'डकार' का 'ल' आदेश है । अत: प्रथमकूट की ऋग्वेदात्मकता (ऋग्वेद होना) सूचित होती है एवं अगले कूटों (द्वितीयकूट एवं तृतीय कूट, कामराज एवं शक्तिकूट) की यजुर्वेदात्मकता एवं सामवेदात्मकता सिद्ध होती है ॥ १३४-१३६ ॥

* प्रकाश *

एकारोत्तरं पूर्वरूपेणाकार: प्रश्लिष्यते । स च शिववाचक:, 'अकारो ब्रह्मविष्ण्वीशकमठेषु' इति कोशात् । 'क: प्रजापतिरुद्दिष्ट' इति 'एकार उच्यते विष्णु:' इति चैकाक्षरनिघण्टूक्तब्रह्मविष्णुपरौ ककारैकारौ । 'ईड स्तुतौ' इति धातोरचि स्तुत्य इत्यर्थ:; एतस्यग्वदात्मकत्वादज्द्वयमध्यगतस्य डकारम्य स्थाने ळकार अदेश: 'अग्निमळे पुरोहितम्' इत्यादिवत् । तदुक्तं बह्वृचप्रातिशाख्ये—'द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकार:' इति । इदमेव च ज्ञापकमाद्यकूटस्यर्ग्वेदात्मकत्वे द्वितीयतृतीयकूटयोर्यजुर्वेदसामवेदात्मकत्वे च । यद्यपि कामो योनि: कमला वज्रपाणि:'

१-४. भास्करराय— सेतुबन्ध

इत्यत्र वज्रपाणिशब्देन लकार एवोद्धतो न ळकारः तथापि लळयोरभेदाभिप्रायेणेदम् । अत एव क्कचित्तन्त्रे त्रिखण्डीगतास्त्रयो ऽपि मोहार्णपदेन ळकारा एवोद्धताः । नपुंसकमिति । अव्ययमित्येव युक्तम्, स्वरादेराकृतिगणत्वात् । अत एव त्रिशत्यामेकोनशततमस्य नाम्नो नमोयोगे चतुर्थ्यां प्राप्तायामपि 'ह्रीं नमः' इत्येव सांप्रदायिकानां प्रयोगः सङ्गच्छते ॥ १३४-१३६ ॥

*** सरोजिनी ***

"कः प्रजापतिरुद्दिष्टः" = 'क' = ब्रह्मा ॥
"एकार उच्यते विष्णुः ॥" = 'ए' = विष्णु ॥
"अकारो ब्रह्मविष्वीशकमठेषु" = 'अ' = ईश ॥

प्रथमकूट = ऋग्वेदात्मक । "कामराजकूट" = यजुर्वेदात्मक ॥
तृतीयकूट = सामवेदात्मक ॥
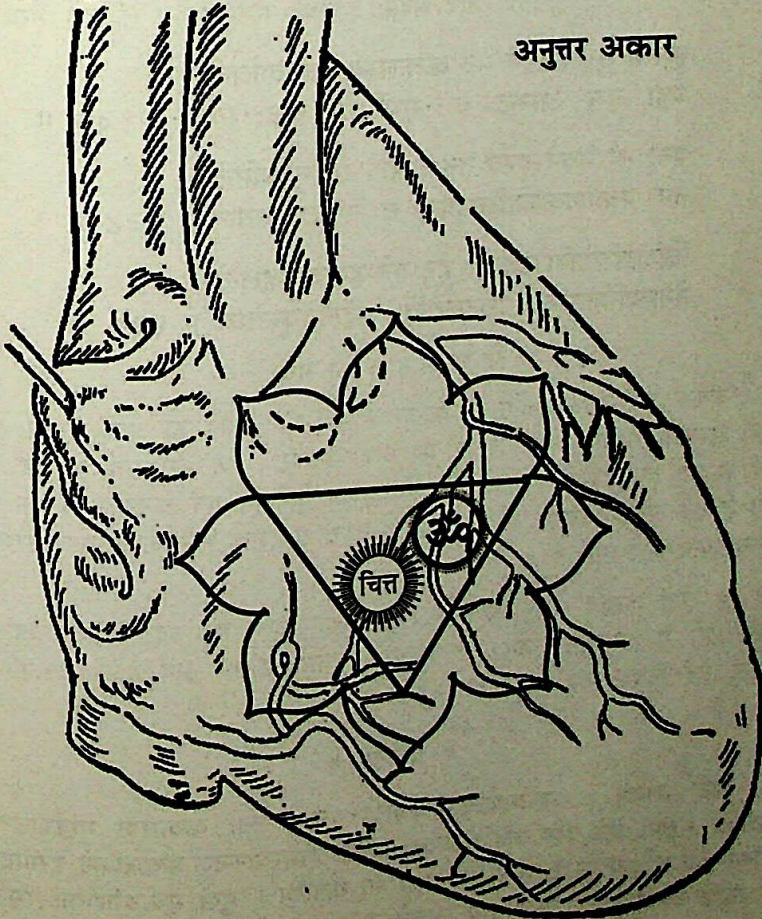
'अ' = १. परमात्मा । परमशिव

२. आत्मा

३. चराचर जगत का बीज

४. समस्त वर्णमाला में अनुस्यूत एवं उसका जनक

५. वर्णमाला की आत्मा एवं सर्वसार तत्त्व

६. शब्द ब्रह्म
७. प्रथम स्पन्द] तान्त्रिक योग की चरमोपलब्धि है—'अहं' = 'पूर्णहन्ता' । 'पूर्णहन्ता' है—पूर्ण 'अ + ह'

८. शिव + शक्ति से अभिन्न अहं ही मन्त्र है । यही अहं अपरिमेय पूर्णहन्ता में परिणत हो जाता है ।

अबिन्दुमविसर्गं च अकार जपतो महान् ।
उदेति देवि सहसा ज्ञानौघः परमेश्वरः ।। (विज्ञान भैरव)

हसकं तु हसद्वदनं मतं ककारस्य वदनवाचित्वात् ।
यद्वा हस आनन्दः कः सूर्यो हस्तु चन्द्रः स्यात् ।। १३७ ।।

एतौ लौ नयने यस्य तत्तु कहलं रवीन्दुनेत्रमिति ।
तेन प्रकाशकत्वाच्चिद्रूपत्वं च निगदितं भवति ।। १३८ ।।

विधिहरिगिरिशेड्यत्वे हेतू एते हसत्वकहलत्वे ।
तेनात्यमितानन्दं चिद्ब्रह्मेति द्वितीयकूटार्थः ।। १३९ ।।

(ह स क ह ल का अर्थ)

ककार के मुखार्थक होने के कारण 'ह स क' (वर्णों) का अर्थ 'हँसता हुआ मुख' समझना चाहिए । या 'ह स' का अर्थ 'आनन्द', 'क' का सूर्य एवं 'ह' का अर्थ चन्द्रमा हो (है) । ये दोनों (क एवं ह अर्थात् सूर्य एवं चन्द्रमा) जिसके नेत्र (ल) हैं वह सूर्यचन्द्रनयनी 'क ह ल' है । अतः प्रकाशक होने के कारण (उसकी) चैतन्यरूपता कही गई है ।

ये दोनों 'हसत्व' एवं 'कहलत्व' (ह्रीं) ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र के द्वारा ब्रह्म के स्तुत्यं होने में (मूलभूत) कारण हैं । अतः द्वितीयकूट का अर्थ हुआ—'अपरिमेय आनन्द एवं चिद्रूप ब्रह्म' ।। १३७-१३९ ।।

*** प्रकाश ***

हसो हास्यम् । अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयो ऽच् । ततः ककारेण मुखवाचकेन बहुव्रीहिः । हसः को यस्य तदिति विग्रहः । यद्वा हासस्यानन्दजन्यत्वादानन्दे हसपदस्य लक्षणा । कश्च हश्च कहौ, कहौ लौ यस्य तत् कहलम् । 'मुखे सूर्ये ऽपि कः स्मृतः' 'हः कोपे वरुणे चन्द्रे' 'इन्द्रे ऽपि लोचने लः स्यात्' इत्येकाक्षरनिघण्टुः । हसपद-

कहलपदयोः कर्मधारयः । एतदर्थप्रतिपादकं मूलमाह—हेतू इति । यतो ह्रीं हसकहलं ततो ह्रीं कएईलमित्यन्वयः ॥ १३७-१३९ ॥

*** सरोजिनी ***

इन श्लोकों में द्वितीयकूट का अर्थ समझाया गया है । 'ह स क' = हँसता हुआ मुख ॥ 'ह स' = आनन्द । 'क' = सूर्य ॥ 'ह' = चन्द्रमा ॥ 'क + ह' = (सूर्य एवं चन्द्र) जिसके नेत्र हों वही है = सूर्यचन्द्रनयनी अर्थात् 'क ह ल' । 'क ह ल' = सूर्यचन्द्रनयनी ॥ (प्रकाशक)

द्वितीयकूट का सम्पूर्ण अर्थ—'अपरिमेय आनन्द एवं चिद्रूप ब्रह्म ।'

सकलकलाभिः सहितं सकलं ब्रह्म तु तृतीयकूटार्थः ।
इत्थं गुणगणकथनाद्विद्याया एष सगुणार्थः ॥ १४० ॥

(तृतीयकूट एवं सगुणार्थ के स्वरूप का विवेचन)

समस्त कलाओं से युक्त ब्रह्म 'स क ल' है—यही तृतीय कूट का अर्थ है । इस प्रकार (समस्त) गुणसमूह के कथन द्वारा विद्या का यह 'सगुणार्थ' (कहा गया) है ॥ १४० ॥

*** प्रकाश ***

— अत्र सर्वत्र सुलोपः । स्पष्टमन्यत् ॥ १४० ॥

*** सरोजिनी ***

प्रस्तुत श्लोक में 'तृतीयकूट' का अर्थ समझाया गया है । और विद्या के 'सगुणार्थ' की व्याख्या की गई है ।

"स क ल"—समस्त कलाओं से युक्त ब्रह्म ।

चरमोद्दिष्टं महावाक्यार्थमाह—

विधिहरिशिववचना अपि ककार एकारको ऽकारः ।
सृष्टिस्थितिभङ्गात्मकतत्तज्जनकत्वलाक्षणिकाः ॥ १४१ ॥

ईश्वरवाचीकारो वक्ति डकारः सदाशिवं ताभ्याम् ।
लक्षणया तत्र तिरोधानानुग्रहणकृत्यता गदिता ॥ १४२ ॥

(मंत्रगत 'ककार', 'एकार' एवं 'अकार' की त्रिदेवों से तदात्मता का प्रतिपादन)

ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव शब्द भी ककार, एकार एवं अकार से अभिन्न हैं (उनका), सृष्टि-स्थिति-संहार का कारकत्व एवं (उनका) इन कार्यों को उत्पन्न करना लाक्षणिक है ॥ १४१ ॥

ईकार ईश्वर का वाचक है तथा उकार सदाशिव का वाचक है । लक्षणा वृत्ति से इन दोनों (वर्णों) के द्वारा उन (देवताओं) में (क्रमशः) तिरोधान एवं अनुग्रह करने की क्षमता होना द्योतित किया गया है (कहा गया है।) ॥ १४२ ॥

* प्रकाश *

ईकारस्य नामैकदेशन्यायेनेश्वरबोधकत्वम् । 'डो महेशः समाख्यातः' इति वचनेऽपि प्रकृते सदाशिव एवानुग्रहकर्ता विवक्षितः । एतेन 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिश्रुतावुक्तं ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणमुक्तं भवति ॥ १४१-१४२ ॥

* सरोजिनी *

ककार = ब्रह्मा । एकार = विष्णु । अकार = शिव ॥ त्रिदेवों के लाक्षणिक कारकत्व—ब्रह्मा = सृष्टि । विष्णु = स्थिति । शिव = संहार ॥

"अः इति ब्रह्म तत्रागतमहमिति" (ऐ०उ०)—"अः ही ब्रह्म है तत्रागतम् इस विग्रह के अनुसार 'अहं' रूप निष्पन्न होता है ।"

'ई' का अर्थ—नामैकदेशन्याय के अनुसार 'ई' का अर्थ है—'ईश्वर' ॥

'डो महेशः समाख्यातः' के प्रमाण के आधार पर 'ड' का अर्थ अनुग्रहकर्ता सदाशिव स्वीकार किया गया है ।

'ई' = ईश्वर ॥ 'ड' = सदाशिव ॥

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' आदि कहकर ब्रह्म का लक्षण जो स्रष्टा, पालक एवं संहारक कहा गया है वह उसका तटस्थ लक्षण है जबकि अनुग्रह उसका मुख्य लक्षण होने के कारण 'ड' अनुग्रह करने वाले सदाशिव का वाचक स्वीकार किया गया है ।

'ई' एवं 'ड' वर्ण = ईश्वर एवं सदाशिव की तिरोधान एवं अनुग्रह क्षमता के प्रतीक या वाचक हैं ॥ १४१-१४२ ॥

अथ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्युक्तं स्वरूपलक्षणं द्वितीयकूटेनाह—

हस आनन्दः सत्यं कं हमनन्तं च लं ज्ञानम् ।
इत्थं ब्रह्म तटस्थस्वरूपलक्षणयुगेन निर्णीय ॥ १४३ ॥

तदभेदं जीवगणे वक्ति तृतीयेन कूटेन ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यकलात्रितयेन [१]साहित्यात् ॥ १४४ ॥

सकलपदं जीवपरं ब्रह्मपरं शक्तिबीजं स्यात् ।
सामानाधिकरण्यात् तल्लक्षितशुद्धयोरभेदार्थः ॥ १४५ ॥

१. सहितत्वात्

अत्यल्पमिदं कथितं यत् सर्व खल्विदं ब्रह्म ।
इत्येवं बोधयितुं सकलपदं वा तृतीयकूटगतम् ॥ १४६ ॥

एवमवान्तरवाक्यैर्जीवब्रह्मस्वरूपमभिधाय ।
तदभेदो वर्णित इत्येष महापूर्ववाक्यार्थः ॥ १४७ ॥

(पंचदशी मंत्रगत 'ह स क ह ल' के अर्थ का विवेचन)

(पंचदशी मंत्रगत) 'ह' एवं 'स' (वर्ण) आनन्द, 'क' सत्य, 'ह' अनन्त एवं 'ल' ज्ञान (के वाचक) हैं । इस प्रकार (ब्रह्म के) तटस्थ एवं स्वरूप दो लक्षणों के द्वारा ब्रह्म का निर्णय करके... ॥ १४३ ॥

(तृतीयकूट द्वारा जीवब्रह्मैक्य की स्थापना का प्रतिपादन)

तृतीयकूट (शक्तिकूट) द्वारा ब्रह्म एवं जीव-समूह में अभिन्नता कही गई है । जागृति, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीन कलाओं से युक्त होने के कारण ॥ १४४ ॥

(मन्त्रगत 'स क ल' पद का अर्थ)

पंचदशीमंत्रगत 'स' 'क' 'ल' (वर्णों की समष्टि) जीव का वाचक है । शक्ति-बीज ('ह्रीं') ब्रह्म का वाचक है । (उन दोनों में) सामानाधिकरण्य होने के कारण उनके द्वारा सङ्केतित शुद्ध वस्तुएँ अभिन्न हैं ॥ १४५ ॥

('स' 'क' 'ल'—मंत्राक्षर का अर्थ)

यहाँ तक अत्यन्त कम कहा गया है । तृतीयकूट के 'स' 'क' एवं 'ल' वर्ण, 'निश्चय ही यह सब ब्रह्म ही है—इस अर्थ को ही बोधित करने के लिए प्रयुक्त किए गए हैं ॥ १४६ ॥

(मन्त्रगत महावाक्यार्थ का स्वरूप)

इस प्रकार आन्तर वाक्यों द्वारा जीव एवं ब्रह्म के स्वरूप पर प्रकाश डालकर उनमें (जीव एवं ब्रह्म में) अभिन्नता (अभेदात्मकता) का वर्णन किया गया है और यही है महावाक्यार्थ ॥ १४७ ॥

* प्रकाश *

'सखा कश्च बुधैः प्रोक्तः' इति कोशात् ककारः सखिवाचकः । सखित्व-
माप्तत्वम् । तच्च यथार्थवक्तृत्वमिति शक्यसंबन्धेन प्रकृते सत्यमेव विवक्षितम् । एवं
हकारस्य व्योमबीजत्वेन व्योम्नो ऽनन्तत्वादनन्तमित्यर्थः । प्रत्यक्षज्ञानजनकलोचनवाचि-
लकारस्य ज्ञानमर्थः ।

'तत्त्वमसि' इति महावाक्ये तत्पदार्थत्वंपदार्थयोरेकविभक्तिमत्त्वरूपसामानाधि-
करण्यादभेदो बोध्यते । स च वाच्यार्थयोरसंभवाज्जहदजहल्लक्षणया लक्ष्यपदार्थयोरिति
स्थितिः । तत्र तत्पदस्य वाच्यार्थः सृष्ट्यादिकृत्यपञ्चकजनकः । स च 'यतो वा इमानि
भूतानि जायन्ते' इत्यादिना श्रुतावुक्तः । लक्ष्यार्थस्तु कृत्यातीतं निर्विशेषं ब्रह्म । तदपि

'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादिना प्रतिपादितम् । एवं त्वंपदस्य वाच्यार्थो जाग्रदाद्यवस्थापञ्चकविशिष्टः । स च 'तद्यथा ऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति । तद्यथा महामत्स्यः' इत्यादिश्रुतिभिरुक्तः । लक्ष्यार्थस्त्ववस्थाद्यतीतं ब्रह्म । तदपि 'यो ऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः, न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' इत्यादिभिः प्रतिपादितम् । एवमवान्तरवाक्यैर्वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोर्निर्णये सति, तथा महावाक्ये लक्ष्यार्थयोरभेदबोधः । यद्यपि श्रुतिषु कृत्यत्रयमवस्थात्रयमेव वर्ण्यते, तथापि तन्त्रानुसारात् तत्पञ्चकोपलक्षणपरत्वेन व्याख्येयं त्रिवृत्करणस्य पञ्चीकरणपरत्वमिव । एवं च प्रकृते तृतीयकूटस्थसकलपदेन कलाभिरवस्थाभिः सहित इत्यर्थकेन वाच्चार्थस्योक्तावपि लक्ष्यार्थानुक्तेर्न्यूनता । तदर्थं च कूटद्वयमेवावृत्त्या त्वंपदस्य वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोः समर्पकत्वेन व्याख्येयम् । अथ वा, तान्त्रिकाणां मते वाच्यार्थयोरप्यत्यन्ताभेदस्य शांभवानन्दकल्पलताकारादिभिरुपपादनात् कूटद्वयेन सृष्टिकर्तृत्वादिविशिष्टस्यावस्थादिविशिष्टस्यैव वाच्यार्थस्य समर्पणम्; तृतीयकूटे तु तयोरभेदो जगतो वा संपूर्णस्याभेदो बोध्यते । इह यावान् वक्तव्यो ऽंशस्तावतः सर्वस्याप्युक्तौ वेदान्तशास्त्रस्यैव कृत्स्नस्यारम्भणीयतापत्त्योपरम्यते । महापूर्वेति । महांश्चासौ पूर्वश्च वाक्यार्थ इति, महाशब्दः पूर्वो यस्मिन् वाक्ये शब्दे तस्य महावाक्यस्यार्थ इति वा निरुक्तिः । एते चार्था उपलक्षणभूताः तेन तन्त्रेषु तत्र तत्रोक्तानामन्येषामप्यर्थानां संग्रहः । तथा हि—योगिनीहृदये तावत् 'आत्मनः स्फुरणं पश्येद् यदा सा परमा कला' इत्यारभ्य कांश्चिच्चतुरश्चतुरः पदार्थानुक्त्वा तद्वाचकत्वं कूटत्रयं तुरीयविद्या चेति चतुर्णां शब्दानां प्रतिपादितम्—

> 'कूटत्रितययुक्तस्य सकलस्य मनोः पुनः ।
> एतानि वाच्यरूपाणि कुलकौलमयानि तु ॥'

इति । एवं च यावन्ति चतुष्काणि तावन्तो मन्त्रार्थाः । तानि च प्रथमे ऽंशे 'पुटधाम—' इत्यादिश्लोकोक्तानि । तत्र हि यद्यपि कूटानां पुटाद्यभेद एवोक्तः, तथापि स वाच्यवाचकभाव एव पर्यवस्यति, शब्दार्थयोस्तादात्म्यस्यैव शक्तिरूपत्वेन पातञ्जले मञ्जूषायां च स्फुटतरमुपपादनात् । एवं कादिमते पञ्चत्रिंशे पटले चतुर्विंशादिभिस्त्रिभिर्व्याकुलाक्षरैः श्लोकैरर्थो वर्णितः—

> 'र्णः यामिलिर्वतास्त्रिल तेर्थोधीकयलाऽभिस ।
> णदेरूपेपेणवीशे तम् दिमीनरिस्यादते ॥ १ ॥
>
> त्त्रंतोगशेत्कृषजंअ तमृत्ममील्लेरिखाकह ।
> तःर्थकस्याथिश्चास्तुत तःन्त्रेगोर्वीपितषुस ॥ २ ॥
>
> त्वङ्कामान्मानप्रशव्यो नानमसग्निमात्वग्र ।
> रोमईयोकार्विर्शत नमृतभान्दुलनान्त्रिबि ॥ ३ ॥

इति । एतेषां वाचनक्रमो यथा—

> 'देवतारथगोमूक (८४६२७३५१) इति यो वेत्ति न क्रमम् ।
> स व्याकुलाक्षरे मूको देवतारथगो ऽपि सन् ॥'

इति[1] । तृतीयकूटे वर्णत्रयं सर्वार्थकम्; तुर्यमक्षरं देव्यर्थकम्; तेनायमर्थः संपन्न इति प्रथमश्लोकस्यार्थः । सर्वं जगद्देवीरूपमेवेत्यर्थस्तन्त्रान्तरषु गोपित—

इति द्वितीयश्लोकस्य । लज्जाबीजस्थैश्चतुर्भिरक्षरैर्यत् प्रकाशकं यच्च ग्रसिष्णु, तयोर्यत् सामरस्यं तत्तादात्म्यं द्वितीये प्रतिपाद्यत इति तृतीयस्य । प्रकाश-ग्रामशब्दौ तूत्पत्तिसंहारयोर्विद्याविद्ययोर्वा वाचकाविति । अयमप्यर्थः 'अत्यल्पमिदं कथितम्' इति श्लोके सूचितः । एवं चात्र 'पुटधाम—' इति श्लोके त्रयोदशार्थाः; गायत्र्यादि-पञ्चदशार्थेषु भावार्थाश्चत्वारः, नामार्थास्त्रयः, शाक्तार्थौ द्वौ, कौलिकार्थे ऽपि गणेशादि-रूपत्वस्य देवीविद्याचक्रभेदेन त्रैविध्यम्, महावाक्यार्थे ऽपि द्वैविध्यमिति चतुर्दश; शेषा दश; इति मिलित्वा सप्तत्रिंशदर्थाः । नामैकदेशार्थे त्वनन्ता भेदा उक्ताः । एवं बहुतन्त्रद्रष्टृभिरन्ये ऽप्यर्थाः संग्राह्याः ॥ १४३-१४७ ॥

* सरोजिनी *

'ह' + 'स' = आनन्द । 'क' = सत्य । 'ह' = अनन्त ॥ 'ल' = ज्ञान ॥ ('हं स आनन्दः सत्यं कं हमनन्तं च लं ज्ञानम्')

'क' = 'सखा कश्च बुधैः प्रोक्तः' । "ककारः" = सखि ॥ 'ककार' सखि वाचक है । (सखित्व, आप्तत्व) ॥ "हकार"—व्योम बीज होने के कारण 'अनन्त' अर्थ का वाचक है क्योंकि व्योम अनन्त है । प्रत्यक्ष ज्ञान-जनक लोचन का वाचक होने के कारण "लकार" का अर्थ-'ज्ञान' है । इस प्रकार ब्रह्म के जो दो लक्षण होते हैं—१. 'स्वरूप लक्षण' २. 'तटस्थ लक्षण'—उन दोनों का यहाँ उल्लेख किया गया है ।

ग्रंथकार का कथन है कि तृतीयकूट (शक्तिकूट) द्वारा जो ब्रह्म एवं जीव में अभेदात्मकता को सङ्केतित किया गया है उसका कारण जागृति, स्वप्न एवं सुषुप्ति नामक तीन कलाओं का उनसे जुड़ा हुआ सम्बंध है ।

'पंचदशाक्षरी' मंत्र के शक्तिकूट (तृतीयकूट) में जो 'स क ल' वर्ण आए हैं वे जीव के प्रतीक हैं अर्थात्—'स क ल' = जीव ॥ उस कूट में जो 'ह्रीं' पद है वह शक्तिबीज 'ह्रीं' ब्रह्म का वाचक है । (वाचक—'ह्रीं'; वाच्य—ब्रह्म) ॥

'तृतीयकूटगतम्'—पंचदशाक्षरी मंत्र के तृतीयकूट से सम्बद्ध ॥ पंचदशाक्षरी मंत्र के अवयवभूत कूट तीन हैं—१. 'वाग्भवकूट—प्रथम । २. 'कामराजकूट'—द्वितीय । ३. 'शक्तिकूट'—तृतीय ।

---

१. ललितायास्त्रिभिर्वर्णैः सकलार्थो ऽभिधीयते ।
शेषेण देवीरूपेण तेन स्यादिदमीरितम् ॥ १ ॥
अशेषतो जगत् कृत्स्नं हृल्लेखात्मकमीरितम् ।
तस्याश्चार्थस्तु कथितः सर्वतन्त्रेषु गोपितः ॥ २ ॥
व्योम्ना प्रकाशमानत्वं ग्रसमानत्वमाग्निना ।
तयोर्विमर्श ईकारो बिन्दुना तन्निभालनम् ॥ ३ ॥

'तृतीयकूटगत'—शक्तिकूट में निहित ।। 'स क ल ह्रीं' ही शक्तिकूट है । 'सकल पद'—' स, क, ल, ह्रीं ।' 'स क ल ह्रीं' का अर्थ—'अहं ब्रह्मास्मि' । देवी कूटत्रयात्मिका है?

'कूटत्रयात्मिकां देवीं समष्टिव्यष्टिरूपिणीम्' ।
आद्यां शक्तिं भावयन्तो भावार्थमिति मन्वते ।।[१]

आचार्य भास्करराय कहते हैं—

'अथ तार्तीये वर्णद्वितयं त्रिपदीषडक्षरी गमकम् ।।'

अर्थात् तृतीयकूट के प्रथम दो वर्ण (स क) उन्हीं तीनों पदों एवं छः वर्णों का बोध कराते हैं । भाव यह कि—'तुर्या हकारस्तदुपरि पदत्रयोपरि विद्यमाना या षडक्षरी 'भर्गो देवस्य धी' इति तदर्थबोधकः । तृतीयकूटे वर्ण द्वितयं सकेति । ताभ्यां धीत्यन्त गायत्र्याः अर्थः प्रतिपाद्यः ।'[२] भास्करराय कहते हैं कि तुर्याक्षर हकार के साथ षडक्षरी 'भर्गो देवस्य धी' की तुलना की जा सकती है क्योंकि तृतीयकूट में स्थित 'स' 'क' वर्ण उसके अर्थ का प्रतिनिधित्व करते हैं । भाव यह कि—गायत्री मंत्र में जो 'भर्गो देवस्य धी' शब्दावली है उसका वही अर्थ है जो कि 'पंचदशाक्षरी मंत्र' के तृतीयकूटगत पद 'स क' का अर्थ है । **सारांश**—'स क' = 'भर्गो देवस्य धी' (गायत्रीमंत्र) ।। 'स'—सकार का अर्थ है—'सविता' (गायत्रीमंत्र)

'सकारस्य सविता अर्थः ।'[३] 'ह' = 'हृदयागारवासिनी हृल्लेखा'—श्रुति 'क'—ककार का अर्थ वही है जो कि गायत्री के 'वरेण्य' का अर्थ है—'ककारस्य वरेण्मर्थः ।।''[४] 'ह्' = हृदय । 'हकाररस्य हृदयमर्थः'—भास्कर ।। 'ल' = पंचभूत । 'ल' = पृथ्वी अर्थात् पृथ्वी आदि पाँचों भूतों का उपलक्ष या द्योतक ।। "उभयांत्रापि लकार हृल्लेखाभ्यां पंचभूताद्यात्मनेत्यादिरर्थ' ।[५] आचार्य भास्करराय कहते हैं कि आद्यविद्या पंचदशी का जो अर्थ है—वही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (श्रुति) रूप अर्थ—गायत्रीमंत्र एवं पंचदशीमंत्र दोनों का प्रतिपाद्य है? 'अत्र ह्याद्यायाः श्रीविद्याया एव ब्रह्मरूपत्व गायत्र्यादिप्रतिपाद्यत्वं विद्याप्रतिपाद्यत्वादिकं च तदर्थ व्याख्यानदर्शिनां स्पष्टम् ।।[६]

'त्रिपुरातापनीयोपनिषद' में 'शक्तिकूट' एवं गायत्री का निम्न रूप से समन्वय प्रदर्शित किया गया है—"अथैतस्मादपरं तृतीयं शक्तिकूटं प्रतिपद्यते द्वात्रिंशदक्षर्या गायत्र्या ।। २३ ।।

'तत् सवितुर्वरेण्यं तस्मादात्मन आकाश आकाशद्वायुः स्फुरते तदधीनं वरेण्यं समुदीयमानं सवितुर्वा योग्यो जीवात्मपरमात्म समुद्भवस्तं प्रकाशशक्तिरूपं जीवाक्षरं स्पष्टमापद्यते ।। २४ ।।

---

१. योगिनी हृदय
२-५. भास्करराय—'प्रकाश'
६. भास्करराय—'प्रकाश'

"हयग्रीवं ब्रह्मविद्या वृत्रवधस्तथा । गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः ।।"

भर्गो देवस्यधीत्यनेनाधाररूप शिवात्माक्षरं गण्यते महीत्यादिना शेषं काम्यं रमणीयं दृश्यं काम्यं रमणीयं शक्तिकूटं स्पष्टीकृतमिति ॥ २५ ॥

पंचदशी मंत्र	गायत्री मंत्र
('स' का समानार्थी है गायत्री का	'सवितुर्वरेण्यं')
'स' का समानार्थी	'सवितुर्वरेण्यम्'
'क' का समानार्थी	'भर्गो देवस्य धीं'
'ल' का समानार्थी	'महि' (धीमहि)

'ह्रीं' का समानार्थी—
"शेषं धियो यो नः प्रचोदयात् परो रजसेऽसा वदोमिति काम्यं रमणीयं दृश्यं काम्यं रमणीयं हृल्लेखाऽपि समन्विता स्यात् । एवं शक्तिकूटमपि स्पष्टीकृतमित्यर्थः ॥"
'परोरजसे सावदोम' में 'परोरजसे'

'धियो योनः प्रचोदयात परो रजसेऽसावदोम्'
"तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् परो रजसेऽसा वदोम् ॥"
—(त्रिपु० ता० ३०)

'ह्रीं' (पं०मंत्र) प्रणव या ओम =(गा०मंत्र)—
'परोजसेऽसावदोम् ॥'

= 'रजसः परं परोरजसे ॥'

रजेऽतीतम् । निर्मलमिति निगुर्णमितिवार्थः । रजः शब्दस्य धूली वाचकत्ववद् गुणत्रयोपलक्षकत्वसंभवात् । त्रिगुणातीतमिति यावत् ॥

भाव यह कि—यावत् "भाव यह कि—'रज' का अर्थ है धूल, कल्मष, गुणत्रय। 'परो रजसे' का अर्थ है । 'रज' से परे' 'रजातीत' अर्थात निर्मल, निर्गुण, त्रिगुणासीत । गायत्री के 'ओम' का अर्थ भी 'ह्रीं' ही है—'एतावान व्यर्थो हृल्लेखायाः' (—आचार्य भास्करराय)

'सावदोम' का अर्थ—'सवदोऽवदश्च यः प्रणवः । 'वक्तु शक्यो वक्तुम-शक्यश्चेति ॥' अर्थात् कथनीय एवं अकथनीय सवद एवं अवद ॥ सवद एवं अनद—अर्थात् प्रणव = ओंकार ॥ शब्द की एक मर्यादा (सीमा) है अतः ओंकार सीमा में बँधन सकने के कारण अकथ्य है । ('शब्दैः शक्तिमर्यादया न बोध्यः । शक्यतावच्छेदकधर्ममात्रस्य पर तत्वेविरहात्')

इसीलिए कहा गया है—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" 'लक्षणा' के द्वारा इसका जानना शक्य भी है क्योंकि सत्य ज्ञान आदि पदों का उसके लिए प्रयोग किया गया है । 'वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः' होते हुए भी वह 'लक्ष्यार्था लक्षणागम्या' (स्मृति) कहे जाने के कारण 'अवद' होते हुए भी 'सवद' भी है ।

'ओम' = 'प्रणव' । 'ओम्' = परमतत्त्व । अकार-उकार-मकार के वाचक ब्रह्मा-विष्णु-महेश से युक्त । यही हृल्लेखा का अर्थ है ।

'पंचदशी मंत्र'	'गायत्रीमंत्र'	
'ह्रीं' का अर्थ है ॐ यह देवी प्रणव है 'ह्रीं' प्रणवार्थः परतत्त्वमकारो कारमकोरैर्ब्रह्मविष्णु रुद्रात्मकम् । एवावानघर्थो हृल्लेखायाः ॥ (ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मक)	'परोरजसेऽसावदोम' (रजातीत, अवद ओम्) ॥ 'ओम' (ब्रह्माविष्णुरुद्रात्मक)	'ह्रीं' एवं 'ओम' दोनों ही प्रणव हैं एवं समानार्थक हैं ।

* सरोजिनी *

'महावाक्यार्थ' का स्वरूप—आचार्य भास्करराय का कथन है कि जीव एवं ब्रह्म में अभिन्नता एवं अभेदात्मकता की, तार्किक पुष्टि द्वारा, स्थापना करना ही महावाक्यार्थ का आशय है ।

'योगिनीहृदय' में महावाक्यार्थ नामक अर्थ का तो उल्लेख नहीं है प्रत्युत् "महातत्त्वार्थ' का स्वरूपोल्लेख है । उसका स्वरूप इस प्रकार है—"महातत्त्वार्थ इति यत्तच्चदेवि वदामि ते । निष्कले परमे सूक्ष्मेनिर्लक्ष्ये भाववर्जिते ॥ ७३ ॥ व्योमातीते परे तत्त्वे प्रकाशानन्दविग्रहे विश्वोत्तीर्णे विश्वमये तत्त्वे स्वात्मनियोजनम् ॥"[१]

प्रस्तुत श्लोक में जीव एवं ब्रह्म में एकता की स्थापना की गई है ।

प्रस्तुत श्लोक में पंचदशीमंत्र के महावाक्यार्थ का स्वरूप समझाया गया है । वेदों में उल्लिखित महावाक्यों में १. 'अहं ब्रह्मास्मि' २. 'तत्त्वमसि' प्रधान वाक्य हैं—

१. 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पदार्थ एवं 'त्वं' पदार्थ एक ही विभक्ति में प्रयुक्त हैं अतः दोनों में सामानाधिकरण्य है । वह वाच्यार्थों द्वारा अभिव्यंजित हो सकने में असमर्थ है अतः 'जहल्लक्षणा' एवं 'अजहल्लक्षणा' के द्वारा बोध्य है । अतः उन महावाक्यों का सङ्केतितार्थ (शक्यार्थ) ग्रहण न करके तदबोध्य लक्ष्यार्थ ग्रहण किया गया है । वहाँ "तत्" पद का वाच्यार्थ 'सृष्ट्यादिकृत्य पंचक जनक" लिया जाता है क्योंकि वेदों में एतन्मूलक अर्थ को स्वीकार करते हुए कहा गया है कि—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि । इसका लक्ष्यार्थ है = 'कृत्यातीत निर्विशेष ब्रह्म" । इतना होने पर भी "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" कहकर वेदों में ब्रह्म का अपर स्वरूप निरूपित किया गया है । "अशब्दमस्पर्श मरूपमव्ययम्" तथा "अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव" आदि कहकर जिसे निर्गुण निराकार बताया गया है उसे ही "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात" कहकर सगुण भी बताया गया है । 'सत्यंज्ञानमनन्त ब्रह्म ।' ब्रह्म का

---

१. भास्करराय 'प्रकाश'

'स्वरूप लक्षण' है तो "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" ब्रह्म का 'तटस्थ लक्षण' है । इस प्रकार 'त्वं' पद का वाच्यार्थ होगा—'जाग्रत आदि अवस्था पंचक विशिष्ट"—"तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य संहृत्यपक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति । तद्यथा महामत्स्यः ।। इस प्रकार भी ब्रह्म का स्वरूप निरूपित किया गया है । यहाँ लक्ष्यार्थ होगा—'अवस्थाद्यतीत ब्रह्म' । फिर भी "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति पुरुषः, न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः"—कहा गया है । इस प्रकार अवान्तर वाक्यों द्वारा—वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ दोनों का निर्णय होने पर महावाक्य में लक्ष्यार्थों का अभेद सिद्ध हो जाता है । यद्यपि श्रुतियों में कृत्यत्रय, अवस्थात्रय का ही वर्णन पाया जाता है तथापि तंत्र के अनुसार उसके पंचकोपलक्षणपरक् होने के कारण उसका पंचकोपलक्षण वर्णित करना चाहिए यथा—त्रिवृत्करण का पंचीकरण परत्व प्रतिपादित किया गया है । इस प्रकार प्रकृत प्रसङ्ग में तृतीय कूटस्थ 'स क ल' पद के द्वारा कलाओं एवं अवस्थाओं के सहित इस अर्थ को ग्रहण करते हुए वाच्यार्थ का कथन करने पर भी लक्ष्यार्थों को कहने में न्यूनता आएगी । कूटद्वय आवृत्ति द्वारा 'त्वं' पद का वाच, ताच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ—दोनों का समर्पणाभव से व्याख्यान किया जाना चाहिए ।। तांत्रिकों के मतानुसार दोनों वाच्यार्थों में अभेद होने से शांभवानन्द कल्पलताकार आदि के द्वारा उपपादन किये जाने के कारण कूटद्वय द्वारा सृष्टिकर्तृत्वादिकविशिष्ट· अवस्थाविशिष्ट वाच्यार्थ का ही समर्पण अभिप्रेत है । तृतीयकूट में उन दोनों में अभेद एवं ब्रह्म जगत् में अभेद—सम्पूर्ण अभेद—सङ्केतित है । यहाँ जो भी वक्तव्य प्रस्तुत है, वह सब वेदान्तानुमोदित है ।[१]

'महावाक्य' की = "महाशब्दः पूर्वो यस्मिन् वाक्ये शब्दे तस्य महावाक्यार्थ"— यही निरुक्ति है । ये अर्थ उपलक्षणभूत हैं । उसके द्वारा तंत्रों में अनेक अर्थों का संग्रह प्राप्त होता है—"तत्रोक्तानामन्येषामव्यर्थानां संग्रहः" । 'योगिनीहृदय' में कहा गया है—"आत्मनः स्फुरणं पश्येद् यदा सा परमा कला" —इस वाक्य से प्रारंभ करके 'कांश्चिच्चतुश्चतुरः' पदार्थों को कहने के कारण 'चतुर' शब्दों का वाचकत्व प्रतिपादित किया गया है । कूटत्रितय तुरीय विद्या का स्वरूप—

'कूटत्रितययुक्तस्य सकलस्य मनोः पुनः ।
एतानि वाच्यरूपाणि कुलकौलमयानि तु ।।"[२]

जितने चतुष्क हैं उतने मंत्रार्थ हैं । 'पुटधाम' आदि श्लोकों में इसे प्रतिपादित किया गया है । वहाँ कूटों की पुटो अ के साथ अभेदात्मकता प्रतिपादित की गई है । यद्यपि वहाँ कूटों की पुटादिक से अभेदात्मकता प्रतिपादित की गई है तथापि उसका पर्यवसान वाच्यवाचकभाव में ही है ।[३] पांतञ्जल मञ्जूषा में दोनों प्रकार के शब्दार्थों के तादात्म्य की शक्ति के रूप में संपुष्टि भी की गई है अतः उपर्युक्त + कथन स्वयमेव संपुष्ट हो जाता है ।

१-३. भास्करराय—'प्रकाश'

कादि मत के ३५ वें पटल में व्याकुलाक्षरों द्वारा श्लोकों का अर्थ वर्णित किया गया है—

'र्णैः यामिलिर्वतास्त्रिल तेर्थोधीकयलाऽभिस ।
णदेरूपेपेणवीशे तम् दिमीनरिस्यादते ॥ १ ॥
त्स्नतोगशेत्कृषजअ तमृत्ममील्लेरिखाकह्न ।
तःर्थकस्याथिश्चास्तुत तःन्त्रेगोर्वपितषुस ॥ २ ॥
त्वङ्क्षामाम्नानप्रशव्यो नानमसग्निामात्वग्र ।
रोमईयोकार्विर्शत नमृतभान्दुलनान्त्रिबि ॥ ३ ॥

इनका वचनक्रम देखें—"देवतारथगोमूक (८४६२७३५१) इति यो वेत्ति न कमम् । स व्याकुलाक्षरे मूको देवतारथगोऽपि सन् ॥"[१]

तृतीयकूट में वर्णत्रय सर्वार्थक हैं, तुर्य अक्षर देव्यर्थक है, इससे यह अर्थ प्रतिपादित किया गया—यही प्रथम श्लोक का अर्थ होगा । 'समस्त जगत् देवी का रूप ही है"—यह अर्थ तंत्रान्तर में गुप्त रक्खा गया है । द्वितीय श्लोक कां यही अभिप्राय है । लज्जाबीज में स्थित चार अक्षरों द्वारा जो प्रकाशक है—जो ग्रसिष्णु है—उन दोनों का सामरस्य तत्तादात्म्य द्वितीय में प्रतिपादित किया गया है ।[२] प्रकाश ग्राम शब्द उत्पत्ति एवं संहार, विद्या एवं अविद्या के वाचक हैं । 'अत्यल्पमिदं कथितं" (१४६) कहकर यही सङ्केतित किया गया है । 'पुटधाम'—वाले श्लोक में १३ अर्थ, गायत्री आदि के १५ अर्थ, भावार्थ ४, नामार्थ ३, शाक्तार्थ २, कौलिकार्थ (गणेशरूपादि, देवी विद्याचक्र भेद से) ३, महावाक्यार्थ में १४, शेष १०—सब मिलाकर ३७ अर्थों का प्रतिपादन किया गया है । 'नामैकदेशार्थेत्वनन्ताः भेदाः उक्ताः' नामैकदेशार्थ में अनन्त अर्थों की संभावनायें हैं । इसी प्रकार अन्य तंत्रों में अनेक अन्य अर्थों का प्रतिपादन किया गया है—"एवं बहुतंत्रद्रष्टभिरन्ये ऽप्यर्थाः संग्राह्याः ॥"[३]

शक्त्या लक्षणया वा ये ये ऽर्था दर्शिता मनोरस्य ।
तेषु न को ऽपि विवादः प्रत्यक्षेणैव सिद्धत्वात् ॥ १४८ ॥

(मन्त्रार्थ विषयक सर्वमान्यता का प्रतिपादन)

इस मन्त्र के शक्ति (अभिधाशक्ति) या लक्षणाशक्ति के द्वारा जो-जो अर्थ प्रदर्शित किये गये उनके विषय में, उनके प्रत्यक्षतया सिद्ध होने के कारण, कोई विवाद नहीं है ॥ १४८ ॥

*** प्रकाश ***

मनोर्मन्त्रस्य । प्रत्यक्षेणेति । शक्तिग्राहकव्याकरणकोशादेः शक्य-संबन्धस्य च स्फुटं प्रदर्शनादिति भावः ॥ १४८ ॥

१-३. भास्कररायः—प्रकाश

*** सरोजिनी ***

'शक्त्यालक्षणाया' = लक्षणा शब्द शक्ति के द्वारा । शब्दों से अर्थावगाहन कराने वाली शक्तियों को साहित्य में 'शब्द-शक्ति' कहते हैं । ये तीन प्रकार की हैं—
१. अभिधा शक्ति = अभिधेदार्थ, सङ्केतितार्थ, शक्यार्थ
२. लक्षणा शक्ति = लक्ष्यार्थ
३. व्यञ्जना शक्ति = व्यंग्यार्थ

'लक्षणा' के निम्न भेद हैं—

१. जहल्लक्षणा ॥ २. अजहल्लक्षणा ॥ ३. जहज्जहल्लक्षणा ॥

किसी भी पद का अभिधा शक्ति से अर्थावगाहन हो पाना संभव न होने पर वहाँ लक्षणा शक्ति का प्रयोग किया जाता है ।

ये पुनरिह भावार्थादयः षडर्था मनोरुक्ताः ।
तेषु यदि शक्तिभक्ती न हि संभवतस्तदापि का हानिः ॥ १४९ ॥

(भावार्थादिक अर्थ-प्रकारों का महत्व)

जो यहाँ पुनः मंत्र के भावार्थ आदि छः अर्थ कहे गए हैं यदि उनमें शक्ति-भक्ति (अभिधेयार्थ-लक्ष्यार्थ) (का ग्रहण) संभव न भी हो तथापि क्या हानि है? ॥ १४९ ॥

*** प्रकाश ***

शक्तिग्राहकव्याकरणाद्यभावान्न शक्तिः; अत एव च न शक्यसंबन्धरूपा भक्तिरपि । व्यक्तिरूपा तृतीया वृत्तिर्भविष्यति,

'वक्तृबोद्धव्यकाकूनामन्यसंनिधिवाच्ययोः ।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्' ॥

इत्यत्रादिपदेनोपासनापि ग्रहीष्यत इत्याशयेन समाधत्ते—का हानिरिति ॥ १४९ ॥

*** सरोजिनी ***

ग्रन्थकार का कथन है कि यदि भावार्थ प्रभृति जो छः अर्थ बताए गए हैं यदि अभिधा एवं लक्षणा शब्द शक्तियों द्वारा उनका अर्थ-साङ्गत्य सिद्ध न भी हो सके तथापि किसी असङ्गति अनौचित्य एवं अप्रामाणिकता की दोषापत्ति नहीं आएगी ॥ १४८ ॥

व्यञ्जनाया बहुभिरनङ्गीकारादाह—

आस्तामन्या वृत्तिर्विलक्षणा तद्ग्रहस्तु मनोः ।
शिववचनेन भविष्यति यद्वैषा शक्तिरेवास्तु ॥ १५० ॥

एतस्मादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छात्वात् ।
प्रतिपदमर्थविशेषाज्ञाने ऽप्यास्तामखण्डवाक्यस्य ॥ १५१ ॥

अर्थो ऽप्यखण्डरूपो विशिष्टमतिरिक्तमिति हि सिद्धान्तः ।
आसेचनकव्याप्त्यादिपदवदास्तां पदत्वमपि ॥ १५२ ॥

(मन्त्र के अर्थ के निर्णय के विषय में भगवान् शिव के वचनों की निर्णायक भूमिका का प्रतिपादन)

(शक्ति-भक्ति-व्यक्ति से) भिन्न कोई अन्य विलक्षण प्रक्रियाशालिनी वृत्ति मान ली जाय (किन्तु) मन्त्र के किसी ऐसे अर्थ का ग्रहण भगवान् शिव के वचनानुसार ही (मान्य) होगा या तो इस शक्ति (अभिधा शक्ति) को ही गृहीत किया जाय ॥ १५० ॥

(शब्द के अर्थग्रह में ईश्वरेच्छा की भूमिका)

अमुक-अमुक शब्द से अमुक-अमुक अर्थ (ही) बोधित हो—यह (मात्र) ईश्वर की इच्छा के कारण (ही होता है।) प्रत्येक पद का विशेषार्थ न भी परिज्ञात हो तो क्या अन्तर पड़ता है यदि समस्त वाक्य का समस्त भाव (हस्तामलकवत) परिज्ञात हो जाय तो ॥ १५१ ॥

(वर्ण एवं उनके अर्थ का अन्तर्संबंध)

(इस संदर्भ में) प्रस्थापित सिद्धान्त यही है कि अखण्डरूप अर्थ वर्णों से नितान्त भिन्न है । यदि आवश्यक हो तो समस्त मंत्र को एक इकाई के रूप में गृहीत कर लिया जाय तथा 'आसेचनक' 'व्याप्ति' आदि पदों (के संबंध) में (किया जाता है ।) ॥ १५२ ॥

* प्रकाश *

अन्या शक्तिभक्तिव्यक्तिभ्यो विलक्षणा शक्त्यादित्रितयप्रक्रियातो विलक्षण-प्रक्रियाशालिनी । उच्छृङ्खलस्य पन्थानं परित्यज्याह—यद्वेति । शिवनैवास्यायमर्थ इति स्पष्टमुक्तत्वादिति भावः ॥ १५० ॥

इदं पदमिममर्थं बोधयत्वितीच्छायामर्थबोधजनकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्य-ताशालित्वेन पदस्यापि विषयत्वात् प्रकृते प्रतिपदमर्थानुक्तेः कथं शक्तिरिति चेन्न; इदं वाक्यमिममखण्डार्थं बोधयत्वित्याकारिकाया एवेच्छायाः कल्पनात् । वाक्यस्याखण्डत्वं वैयाकरणानामिष्टमेव । अर्थस्याखण्डत्वम् 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' इत्यादिवाक्यार्थं वर्णय-तामौपनिषदानामिष्टमेव । तच्च विचार्यमाणे विशिष्टस्यातिरिक्तत्व एव पर्यवस्यति । तथा च यत्र प्रतिपदमर्थविवेकस्तत्रेयं रीतिः; यत्र यत्र न स तत्र संपूर्णस्यैकपदत्वमेवास्तु । न चैकस्य पदस्य विशिष्टबह्वर्थवाचकत्वमदृष्टमिति वाच्यम्, घटत्वघटसमवायानां घटपद-वाच्यत्वात्, 'तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनात्' इति कोशात्, हेतुसमानाधि-करणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यस्य व्याप्तिपदार्थत्वाच्चेत्याह—

आसेचनकेति । आदिनोपाधिपरिग्रहः । तेनेश्वरेच्छायां पदस्यैव विशेष्यत्वे ऽपि न प्रकृतनिर्वाहाय विलक्षणेच्छाकल्पनापत्तिः ॥ १५१-१५२ ॥

*** सरोजिनी ***

ग्रन्थकार का कथन है कि अर्थ-ग्रहण का नियमन भगवान् शिव ने किया है अतः उनके नियमों को आधार मान कर ही किसी भी शब्द से उसका अर्थ—ग्रहण प्रामाणिक होगा अन्यथा नहीं ।

वैयाकरण वाक्य के अखण्डत्व को तो मानते ही हैं । अर्थ का भी अखण्डत्व भी मान्य है । 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'—इत्यादि वाक्य के अर्थ को वर्णित करने में उपनिषदों में भी अर्थ के अखण्डत्व की पुष्टि की गई है ॥ १५० ॥

प्रत्येक शब्द के अर्थ का निर्धारण या प्रत्येक शब्द से किसी अर्थ विशेष का ग्रहण ईश्वरेच्छा के कारण ही हुआ करता है—मानवीय इच्छा या प्रयास से नहीं । शब्द का विशेष अपरिज्ञात भी हो तथापि कोई व्यवधान उपस्थित नहीं होता किन्तु वाक्य का भाव अवश्य ज्ञात होना चाहिए ॥ १५१ ॥

वैयाकरण लोग वाक्यों के अखण्डत्व की बात तो स्वीकार ही करते हैं— 'वाक्यस्याखण्डत्वं वैयाकरणानाभिष्टमेव ॥'[1] इसी प्रकार अर्थ के अखण्डत्व को भी स्वीकार करना चाहिए ॥

'प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्रः' इत्यादि वाक्यार्थ की व्याख्या करते हुए उपनिषदों में अर्थ के अखण्डत्व का भी प्रतिपादन (व्याख्याकारों द्वारा) किया ही गया है । जहाँ एक पद के अर्थ की विवक्षा अपरिहार्य हो वहाँ तो उसका उसी प्रकार खण्डित अर्थ ग्रहण करना चाहिए किन्तु जहाँ यह अनिवार्य न हो वहाँ शब्द-समुदाय या वाक्य का अखण्ड अर्थ ग्रहण करना समीचीन ही है ॥ १५२ ॥[2]

नन्वस्य पदत्वे ऽनेकार्थत्वं दोष इत्यत आह—

एकस्यानेकार्था दृष्टा हरिसैन्धवादिषु पदेषु ।
अन्यतमैकावगतौ प्रकरणतात्पर्ययोर्विशेषकता ॥ १५३ ॥

प्रकृते तु सर्वबोधस्येष्टत्वान्नो विशेषकाकाङ्क्षा ।
अथ वा सकलार्थेष्वपि शक्त्यैक्यं पुष्पवन्तपदवदिह ॥ १५४ ॥

(अनेकार्थी शब्दों से विशेषार्थ-ग्रहण के कारक तत्त्व)

'हरि' 'सैन्धव' आदि शब्दों में एक शब्द के अनेक अर्थ देखे जाते हैं । (इन विभिन्न अर्थों में से) एक अर्थ को ग्रहण करने में प्रकरण एवं तात्पर्य (एक निश्चित अर्थ मात्र को ही ग्रहण करने के) निश्चायक चिन्ह हैं ॥ १५३ ॥

१-२. भास्करराय 'प्रकाश'

(मंत्रार्थ की दिशा में विशेषक की अपेक्षा सर्वबोध का प्रतिपादन)

प्रस्तुत प्रसङ्ग (या विषय) में समस्त तात्पर्य अभीष्ट हैं किसी भी विशेषक की आवश्यकता नहीं है, या (अर्थात्) (इस मंत्र में) एक ही शक्ति 'पुष्पवन्त' पद की भाँति यहाँ समस्त अर्थों को द्योतित करती है ॥ १५४ ॥

*** प्रकाश ***

अनेकार्थतायाः प्रमाणबलायातत्वाददोषत्वम् । सर्वत्रानेकार्थस्थले ऽन्यतमस्यैकस्यैव बोधनार्थं प्रकरणादिज्ञानस्य कारणत्वादिकल्पनदोषः, प्रकृते तु तदभाव इत्याह —अन्यतमेत्यादिना । अथ वा, ईश्वरेच्छाविषयीभूतबोधीयविशेष्यता यथा सूर्याचन्द्रमसोः पर्याप्तैकैव स्वीक्रियत इति न तत्र पुष्पवन्तपदे शक्त्यनेकत्वम्, तद्वदिहाप्यस्त्वित्याह— अथ वेति ॥ १५३-१५४ ॥

*** सरोजिनी ***

'एकस्य' = एक शब्द का । 'अनेकार्थ' = अनेक अर्थ, यथा—शब्दार्थ, भावार्थ, संप्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ, महतत्वार्थ, नामार्थ, शब्दरूपार्थ, शाक्तार्थ, सामरस्यार्थ, समस्त सगुणार्थ, महावाक्यार्थ आदि ॥

'दृष्टा' = देखे गए हैं । लोक में प्रचलित हैं । व्यवहृत है, लोगों को परिज्ञात हैं । 'हरि' = विष्णु । बन्दर । हरा । भूरा । पीला । इन्द्र । यम । चन्द्रमा । कृष्ण । किरण । कोयल । इन्द्राश्व । सर्प । मयूर । सिंहराशि । शृगाल । बाँस । मूँगा ॥ मेढक । तोता ॥ शिव । अग्नि । घोड़ा । साठ संवत्सरों में से एक संवत्सर विशेष का नाम ॥

'विशेषकता' = वैशिष्ट्य । भेदकता । व्यावर्तकता ॥ सामान्य से व्यक्ति को पृथक् करने का भाव ॥ (Indices; व्यावर्तक चिन्ह) ॥ निश्चायक, निर्णायक बिन्दु ॥ 'विशेषक' = (वि + शिष् + ण्वुल) = भेद स्पष्ट करने वाला, (पुं० नं०) विशेष + कन = । विशेषण ॥ टीका । तिलक ॥ 'विशेषित' = वि + शिष् + णिच् + क्त । विशेषण द्वारा पहिचाना हुआ । उत्कृष्ट, उत्तम । परिभाषित । जिसकी पहिचान बतायी गई हो ।

"सैन्धव"—सेंधा नमक । सिन्धु देश का घोड़ा ॥ (सिन्धु + अण = सन्धव) सिन्धुदेशोत्पन्न, सिन्धु नदी सम्बंधी । नदी में उत्पन्न । सामुद्रिक । सिन्धु-निवासी । (सैन्धव-शब्द-सिन्धु में उत्पन्न सभी वस्तुओं यथा १४ रत्न आदि—सभी वस्तुओं का द्योतक हो सकता है ।)

'पद' = किसी भी प्रातिपदिक में जब, वाक्य में प्रयोगार्थ, सुप्या तिङ् प्रत्यय लगा दिया जाता है तब उसे 'पद' की आख्या प्राप्त हो जाती है । "सुब्तिङ्न्तंपदम्" ॥

'अन्यतम' = वस्तुओं में से जिसके बराबर कोई अन्य वस्तु हो ही नहीं वह

है अन्यतम् । (अन्य + तमप् = अन्यतम) ॥ एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु उनमें से किसी एक अर्थ को उस शब्द का वास्तविक अर्थ गृहीत करने के पीछे विशिष्ट प्रसङ्ग, विशिष्ट प्रयोजन आदि कारक शक्तियाँ काम करती हैं । इसके अतिरिक्त लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ-बोधक शाब्दी शक्तियाँ (लक्षणा व्यञ्जना) भी काम करती हैं ।

जिस प्रकार 'हरि', 'सैन्धव' पदों में एक पद के अनेक अर्थ निहित हैं । अनेक अर्थों में एक अर्थ का ग्रहण या बोध—संदर्भ एवं विशिष्ट तात्पर्य (उद्देश्य) के कारण होता है । प्रस्तुत विषय में सभी तात्पर्य अभीष्ट हैं । किसी भी विशेषक (सूचक) की आवश्यकता नहीं है । इस मंत्र में एक ही शक्ति 'पुष्पवन्त' पद की तरह ही सभी अर्थों को व्याप्त करती है ।

अखण्ड रूप अर्थ वर्णों से नितान्त भिन्न हैं । आवश्यक होने पर समस्त मंत्र को एक इकाई (पद) के रूप में मानना चाहिए । जैसा कि—'आसेचनक' 'व्याप्ति' आदि पदों के सम्बन्ध में किया जाता है—

"प्रतिपदमर्थविशेषाज्ञानेऽप्यास्तामखण्ड वाक्यस्य ॥"

यत्र प्रतिपदमर्थस्तान् प्रत्यस्यास्तु वाक्यत्वम् ।
क्वचनावान्तरवाक्यं समासवाक्यं महावाक्यम् ॥ १५५ ॥

(मन्त्र एवं वाक्यअन्तर्संबंध)

जहाँ (गायत्र्यर्थ-नामार्थ आदि स्थानों में) प्रत्येक शब्द का अपना समतुल्य (अनुकूल) अर्थ होता है (वहाँ) इस मन्त्र को एक वाक्य, कुछ स्थलों पर अवान्तर वाक्य, अन्य स्थलों पर समास वाक्य एवं अन्तिम रूप में महावाक्य के रूप में ग्रहण करना चाहिए ॥ १५५ ॥

*** प्रकाश ***

यत्र गायत्र्यर्थनामार्थादिषु । अवान्तरवाक्यं सगुणार्थावयवार्थादौ । अवान्तर-वाक्यत्वं नाम वाक्यसमूहभिन्नत्वे सति पदसमूहत्वमेव, न पुनर्महावाक्यौ पधिकत्वरूपं प्रकृते । समासवाक्यं समस्तार्थे । महावाक्यं चरमे ऽर्थे ॥ १५५ ॥

*** सरोजिनी ***

'यत्र' = जहाँ । गायत्र्यर्थ, नामार्थ आदि प्रसङ्गों में । 'प्रतिपदम्' = प्रत्येक शब्द । "सुप्तिङन्तंपदम् ॥" अर्थवद्धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्"—प्रातिपदिक में जब सुप् एवं तिङ् प्रत्यय लग जाते हैं और वे वाक्यों में प्रयोगार्ह हो जाते हैं तब उन्हें 'पद' कहा जाता है । 'तान् प्रति' = उनके प्रति ॥ 'अवान्तर वाक्य' = सगुणार्थ, अवयवार्थ आदि ॥ अवान्तरवाक्य वाक्यसमूह से भिन्न पदसमूह है न कि महावाक्यौपाधिक है । 'समासवाक्यं' = समस्तार्थ के बोधक वाक्य ॥ 'महावाक्य' = चरमार्थ के बोधक वाक्य ॥ (भास्कराचार्य—'प्रकाश')

महावाक्य तो—'अहंब्रह्मास्मि' 'अयमात्माब्रह्म' 'प्रज्ञानंब्रह्म' 'तत्त्वमसि' 'सोऽयमात्मा' आदि आप्त वाक्य हैं ।

एकस्यानेकार्थे विनियोगादर्थ बाहुल्यम् ।
वेदे बहुशः स्वीकृतमत्र त्वेकत्र विनियोगात् ॥ १५६ ॥

अखिलार्थबोधनियमो नियमादृष्टं प्रकल्पयति ।
सिद्धे प्रमाणदार्ढ्ये सकलं कल्प्यं हि तदविरोधाय ॥ १५७ ॥

(मन्त्र-विनियोग की दो दिशाएँ)

वेद में इस तथ्य को अनेक प्रकार से स्वीकार किया गया है कि एक मंत्र का अनेक प्रसङ्गों में विनियोग करने पर उसके अनेक अर्थ हो जाते हैं किन्तु इस प्रसङ्ग में जहाँ कि मंत्र का विनियोग केवल एक संदर्भ में होता है—उस विनियोग से ॥ १५६ ॥

('निगमन' के प्रमाणार्थ मुख्योपाय)

समस्त अर्थों को बोधित करने का नियम नियमादृष्ट की रचना करता है । (एक बार किसी भी कथन के) सिद्ध या प्रस्थापित हो जाने के बाद उसके प्रमाण्य की दृढ़ता के लिए शेष सभी (तर्क या प्रमाण) उसके अनुकूल स्वीकृत (अङ्गीकृत) किये जाने चाहिए ॥ १५७ ॥

*** प्रकाश ***

पदपक्षे ऽनेकार्थतादोषपरिहारवद्वाक्यपक्षे ऽपि संभवति, पुरुषसूक्तस्य तत्तद्देवतापूजायां विनियोगेनानेकार्थत्वस्येष्टत्वात् । इयांस्तु विशेषः—तत्तत्पूजायां तस्य तस्यैवार्थस्य स्मरणं पुरुषसूक्ते; प्रकृते तु सर्वेषामर्थानां स्मरणेनैवादृष्टोत्पत्तिरिति भावः ॥ १५६-१५७ ॥

*** सरोजिनी ***

वेदों में विनियोगों के वैविध्य से मंत्रों के अर्थों में भी वैविध्य पाया जाता है । प्रस्तुत प्रसङ्ग में एक ही प्रसङ्ग में प्रयुक्त मंत्र के भी अनेक अर्थ होते हैं । इसका नियमन नियमादृष्ट द्वारा हुआ करता है । ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में पृथक्-पृथक् देवताओं के विनियोग-वैविध्य के कारण उन सभी मंत्रों के पृथक्-पृथक अर्थ ग्रहण किये गए हैं । पुरुषसूक्त में उन-उन देवताओं की पूजा में उन-उन अर्थों का ग्रहण किया जाता है । प्रकृत प्रसङ्ग में समस्त अर्थों के स्मरण से ही अदृष्टोत्पत्ति हो जाती है । समस्त संभाव्य अर्थों को बोधित करने का नियम नियमादृष्ट आविर्भूत करता है ।

प्रस्थापित नियम सिद्धान्त की पुष्टि का आधार बनता है और निगमन को पुष्ट करता है ।

सिद्धे प्रमाणदार्ढ्य इत्यत्र दृष्टान्तमाह—

यागस्य स्वर्गं प्रति संसिद्धे हेतुहेतुमद्भावे ।
तदनुपपत्तिं निरसितुमलौकिकापूर्वमपि क्लृप्तम् ॥ १५८ ॥

(अलौकिक अपूर्व प्रयोजन)

स्वर्ग-प्राप्ति के लिए यज्ञ के कारण-कार्यभाव के स्वसिद्ध (प्रमाणित) होने पर भी उसकी अनुपपत्ति (प्रमाणाभाव) के दूरीकरण के लिए अलौकिक 'अपूर्व' की भी रचना की गई ॥ १५८ ॥

* प्रकाश *

'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्र तृतीयाश्रुत्या यागस्य जनकत्वे काम्यमान-तया स्वर्गस्य जन्यत्वे च बोधिते ऽपि भिन्नकालीनयोस्तदयोगाद्देवताप्रसादयागध्वंसादिना ऽत्र निर्वाहाभावादपूर्वेणैवानुपपत्तिनिरास इत्यादि तन्त्रान्तरेषु विस्तरः ॥ १५८ ॥

* सरोजिनी *

'याग' = यज्ञ ॥ 'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः ॥'[१] 'यज्ञः स्यादात्मनि मखे नारायणहुताशयोः ॥'[२]

'सवो यज्ञे च संधाने ।'[३] 'क्रतुर्यज्ञे गुनौ पुंसि' = याग (यज्ञ) क्रतु ॥[४] 'यज देवपूजादौ' (भ्वा० उ० अ०) धातु से निष्पन्न ॥ 'स्वर्गे' = स्वरव्ययं स्वर्ग नाक त्रिदिवत्रिदशालयाः । सुरलोकोद्यो दिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टपम् ॥'[५] स्वर्यतेस्तूयते इति स्वः । 'स्वः प्रेत्य व्योम्नि नाके च' ।

"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्" स्वर्ग की आकांक्षा रखने वालों को ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए । अतः योग के द्वारा स्वर्ग मिलना तो स्वतः सिद्ध है किन्तु देवतादिक के अप्रसन्न होने पर स्वर्ग का मिलना संभव भी नहीं रह जाता । इसका कारण है—'अपूर्व' ॥[६]

'क्लृपत' = कृप + क्त, लत्व । रचित, निर्मित, सजा हुआ, टुकड़े किया हुआ, उत्पन्न किया हुआ, स्थिर किया हुआ, आविष्कृत । 'क्लृप्ति = पूर्णता, साकल्म, आविष्कार, सुव्यवस्था ।

अस्मिन् प्रकरणे पूर्व वर्णितान् पञ्चदशार्थान् संगृह्यानुवदति—

विद्यावर्णेयत्तोद्धारः कालस्तदुच्चारः ।
उत्पत्तिस्थानं तद्यत्नो रूपं स्थितिस्थानम् ॥ १५९ ॥

---

१. अमरकोष
२. हैमकोष
३-४. मेदिनीकोष
५. अमरकोष
६. भास्करराय—प्रकाश

आकारः स्वं रूपं विभाव्यमर्थो ऽन्तरङ्गाणि ।
ऋषयश्छन्दोदैवतविनियोगा बीजशक्तिकीलानि ॥ १६० ॥

न्यासा ध्यानं नियमाः पूजादीनि बहिरङ्गाणि ।
बाह्यान्यङ्गानि पुनः प्रायो लोके प्रसिद्धकल्पानि ॥ १६१ ॥

(श्रीविद्या की उपासना के आन्तरिक अङ्ग)

इस श्रीविद्या में निहित मंत्राक्षर (५८), उद्धार, काल (मात्राकाल), उचचारण (एकलवोना ऊनत्रिंशन्मात्रा), उच्भवस्थान, प्रयत्न, रूप, विभिन्न स्थितियाँ, स्थान, आकार, अर्थ, (गायत्री) विभाव्य (अवस्था पंचकादि) (इस श्रीविद्या के) आन्तरिक अङ्ग हैं ॥ १५९ ॥

(श्रीविद्या के बाह्य अङ्गों का विवेचन)

(इस श्रीविद्या के) ऋषि; छन्द, देवता, विनियोग (प्रयोग) बीज, शक्ति, कीलक, न्यास, ध्यान, नियम एवं पूजा आदि बाह्य अङ्ग हैं । (इसके) बाह्य अङ्ग लोक में प्रायशः प्रख्यात ही हैं ॥ १६०-१६१ ॥

* प्रकाश *

विद्यायां वर्णेयत्ता अष्टपञ्चाशद्रूपा वर्णसंख्या । उद्धारः 'क्रोधीशः श्रीकण्ठारूढः' इत्यादिनोक्तः । कालस्त्रिलवोनैकत्रिंशन्मात्रात्मको विद्यायाः, एकलवोना ऊनत्रिंशन्मात्रा उच्चारणस्य । उच्चारणम् 'इत्येवं वर्णानाम्' इत्यादिसार्धश्लोकत्रयेणोक्तम् । उत्पत्तिस्थानम् 'कण्ठे च कण्ठातालुनि' इत्यत्रोक्तम् । यत्नो बाह्यश्चान्तरश्च । रूपादित्रयम् 'प्रलयाग्निनिभम्' इत्यादिनोक्तम् । स्वं रूपम् 'व्यष्टिसमष्टिविभेदात्' इत्यादिनोक्तम् । विभाव्यमवस्थापञ्चकादि । अर्थो गायत्र्यर्थादिरूपः । इमान्यन्तरङ्गत्वादुपासकानामत्यावश्यिकानि ॥ १५९ ॥

ऋषयो हयग्रीवादयः । छन्दांसि पङ्क्त्यादीनि । दैवतं त्रिपुरसुन्दरी । विनियोग इष्टार्थजनकत्वे । बीजं वाग्भवादि । शक्तिः परादिः । कीलकं कामराजादि । न्यासा ऋष्यादिन्यासजालम् । ध्यानम् 'अरुणां करुणातरङ्गिताक्षीम्' इत्यादिना कथितम् । नियमाः पुण्ड्रेक्षुदण्डभक्षणवर्जनसङ्कल्पादयः । पूजाः पात्रासादनादिशान्तिस्तवान्ता नित्यादिभेदेन त्रिविधाः, परादिभेदादपि त्रिविधाः, केवलादिभेदात् पञ्चविधा अपि । आदिना होमतर्पणादिपरिग्रहः । एतानि बहिरङ्गत्वेनावश्यिकानि । प्रसिद्धकल्पानि, ईषन्न्यूनप्रसिद्धिमन्ति ॥ प्रायः प्रसिद्धानीत्यर्थः । कल्पप्प्रत्ययः । तानि च प्रकाशवरिवस्याविधौ प्रपञ्चितान्यस्माभिः । अतो ऽत्र ग्रन्थे नोक्तानीति भावः ॥ १६०-१६१ ॥

* सरोजिनी *

१. 'विद्यावर्णेयत्ता' = श्रीविद्या के वर्णों की इयत्ता (वर्ण-संख्या) ॥ वर्णों की संख्या अट्ठावन है । १. प्रथम में—१८ वर्ण २. मध्य में—२२ वर्ण ३. अन्तिम में १८ = १८ + २२ + १८ = ५८ ॥

'प्रथमेऽष्टादश वर्णाद्वाविंशतिरक्षराणि मध्ये स्युः ।
प्रथमेन तुल्यमन्त्यं संघातेनाष्टपंचाशत् ॥ १४ ॥'[१]

२. मात्रा-काल—कामकला (ई) एवं त्रिकोण (ए) द्विमात्रिक हैं । बिन्दुरहित हृल्लेखा (ह्रीं) त्रिमात्रिक है । तीन मात्रकाल के बराबर है । अन्य वर्णों का उच्चारणकाल (या मात्रा) अर्धमात्रा सहित मात्राकाल (अर्थात् डेढ़ मात्रा-काल) एवं बिन्दु का अर्धमात्रा काल है । उत्तरवर्ती वर्णों का उच्चारण काल अपने पूर्ववर्ती वर्णों का आधा होना चाहिए—

मात्राद्वितयोच्चार्या कामकला च त्रिकोणा च ।
बिन्दुरहित हृल्लेखा मात्राकाल त्रयोच्चार्याः ॥ १५ ॥

अन्येषां वर्णानां मात्राकालोऽर्धमात्रया सहितः ।
बिन्दोरर्धं मात्रा परे परे चापि पूर्वपूर्वार्धाः ॥ १६ ॥

'मात्रा'—लघु अक्षर का काल—'मात्रा लघ्वक्षरस्य कालः ॥'

एकमात्रो भवेद् ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं त्वर्धमात्रकम् ॥

भागांश—'बिन्दु' १।२ मात्रा, 'अर्धचन्द्र' १।४ मात्रा; 'निरोधिनी' १।८ मात्रा, 'नाद'—१।१६ मात्रा; 'नादान्त'—१।३२ मात्रा; 'शक्ति' १।६४ मात्रा, 'व्यापिनी' १।१२८ मात्रा, 'समना' १। मात्रा ॥

१।२, १।४, १।८, १।१६ १।३२ १।६४, १।१२८, १।१२८ = जोड़ = १ मात्रा ॥ 'उच्चारण'—मंत्रोच्चारण की भी एक मर्यादा है, विज्ञान है, अनुशासन है और पद्धति है और वह यह है—

'माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः । धैर्यं लयसमर्थं षडेते पाठकाः गुणाः । गीतो शीघ्री, शिरः कम्पी तथा लिखित पाठकः । अनर्थोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः । यावन्न पूर्यतेऽध्यायस्तावन्न विरमेत्यपठन ॥ यदि प्रमादादध्यायो विरामो भवति प्रिये । पुनरध्याय मारभ्य पठेत्सर्वं मुहर्मुहुः । अज्ञानात्स्थापिते हस्ते पाठे ह्यर्ध फलम् ध्रुवम् । न मानसे पठेत्स्तोत्रं वाचिकं तु प्रशस्यते ॥ उच्चैः पाठं निशिद्धं स्यात्त्वरां च परिवर्जयेत् । शुद्धेनाचलचित्तेन पठितव्यं प्रयत्नतः ॥

'उद्धारः'—'क्रोधीशः श्रीकण्ठारुढः कोणत्रयं लक्ष्मीः मांसमनुत्तररुढं वाग्भवकूटं प्रकीर्तितं प्रथमम् ॥ ९ ॥

शिवहंस ब्रह्मवियच्छक्राः प्रत्येकमक्षररुढाः ।
द्वितीयैकं कूटं कथितं तत् कामराजाख्यम् ॥ १० ॥

शिवतो वियतो मुक्तं तृतीयमिदमेव शक्तिकूटाख्यम् ।
हृल्लेखानां त्रितयं कूट त्रितयेऽपि योज्यमन्ते स्यात् ॥ ११ ॥

१. वरिवस्यारहस्यम्

आदि के द्वारा उद्धार किया जाना चाहिए ॥

मंत्र का उत्पत्तिस्थान—'कण्ठे च कण्ठतालुनि तालुनि दन्तेषु मूर्ध्नि नासायाम्। स्पृष्टविवाराद्यान्तर वाह्यैर्यत्नैस्तदक्षरोत्पत्तिः ॥ १९ ॥

कण्ठ, तालु, दाँत, मूर्द्धा आदि वर्णों के उत्पत्ति स्थान हैं।

यत्न—वर्णोच्चारण में किये गए प्रयत्न को ही यत्न कहते हैं। यत्न दो प्रकार के होते हैं—१. बाह्य २. आन्तर ॥[१]

प्रथम प्रयत्न—वर्णों के स्फुट रूप से उच्चारित होने के पूर्व किया यत्न = आभ्यन्तर

द्वितीय प्रयत्न—वर्णों के उचचारण करने की क्रिया के पश्चात् होने वाला प्रयत्न = बाह्य ॥[२]

आभ्यन्तर प्रयत्न के भेद—स्पृष्ट। ईषत्स्पृष्ट। ईषदविवृत। विवृत। संवृत ॥ यथा—स्पर्श वर्ण = स्पृष्ट प्रयत्न ॥ अन्तस्थ वर्ण = ईषत् स्पृष्ट ॥ ऊष्म वर्ण = ईषद्विवृत। स्वर = विवृत। ह्रस्व स्वर = संवृत। बाह्य प्रयत्न ग्यारह है—विवार। संवार। श्वास। नाद। घोष। अघोष। अल्पप्राण। महाप्राण। उदात्त अनुदात्त। स्वरित ॥[३]

'रूपम्'—१. प्रलयाग्निनिभं प्रथमं मूलाधारादनाहतं रूपादित्रय ॥ २. तस्मादाज्ञा चक्रं द्वितीयकूटं तु स्पृशति। ३. तस्माल्ललाटमध्यं तार्तीयं कोटिचन्द्राभम् कोटिसूर्याभम् ॥ १. प्रलयाग्निनिभं २. कोटिसूर्याभ ३. कोटिचन्द्राभ ॥

'स्वंरूप'— 'व्यष्टि समष्टिविभेदादस्यां चत्वारि बीजानि।
सृष्टि स्थिति संहारा नाख्यारूपाणि भावनीयानि ॥ आदि

'विभाव्यम्'—अवस्थापंचक आदि ॥[४]

'अर्थो'—गायत्री के १५ अर्थ। ये अंतरङ्ग उपासकों के लिए अत्यावश्यक हैं—'इमानि अंतरङ्गत्वाद् उपासकानाम् अत्यावश्यिकानि ॥'[५]

ऊपर जिस 'मात्राकाल' का उल्लेख हुआ है उसके विषय में नियम यह है कि—प्रथमकूट में १० मात्रा, मध्यकूट में १० मात्रा एवं तृतीयकूट में एक लवकम ८ मात्रा—अर्थात् सब मिलाकर एक लव कम २९ मात्रा-काल जप में होना चाहिए—"आद्येदश मध्ये ताः सार्धास्तार्तीयकूटेऽष्टौ। एकलवोन्रा ऊनत्रिंशन्मात्रा मनोर्जपे कालः ॥'[६]

वर्णों के स्थान को जानकर ही यत्नानुसार शब्दोच्चारण करना चाहिए—इत्येवं वर्णानां स्थानं ज्ञात्वोच्चरेद्यत्नात् ॥ २७ ॥[७]

प्रस्तुत ग्रन्थ एवं श्रीविद्या के प्रसङ्ग में श्रीविद्या के निम्न बाह्याङ्ग हैं—१.

१-५. भास्करराय—प्रकाश
६-७. वरिवस्यारहस्यम्

'ऋषि' = हयग्रीव, अगस्त्य, लोपामुद्रा, मन्मथ, आदि आचार्य ही ऋषि हैं । २. 'छन्द' = पंक्त्यादि छन्द हैं। ३. 'देवता' = त्रिपुरसुन्दरी ॥ ४. विनियोग = इष्टार्थजनकत्व ॥ ५. 'बीज' = वाग्भव आदि ॥ ६. 'शक्ति' = परा आदि देवता ॥ ७. 'कीलकं' = कामराज आदि ॥ ८. 'न्यास' = ऋष्यादि न्यास जाल । ९. 'ध्यान' = 'अरुणां करुणातरंगिताक्षीम्' आदि स्तुतियों द्वारा किया गया ध्यान । १०. 'नियम' = पुण्ड्र-इक्षु, दण्डभक्षणवर्जन सङ्कल्पादिक नियम ॥ ११. 'पूजा' = पात्र-आसन-शान्ति-स्तव आदि ॥ १२. 'आदीनि' = आदि-आदि । अर्थात् होम, तर्पण आदि परिग्रह ॥ 'प्रायः'—प्रख्यात ॥[1]

इन अङ्गों का एक उदाहरण लें—"अस्य श्रीललितासहस्र नामसहस्रनाम्स्तोत्र-मालामन्त्रस्य वशिन्यादिवाग्देवता, अनुष्टप् छन्दः, श्रीललितापरमेश्वरी देवता, श्रीमद्वाग्भवकूटेति मध्यकूटेति शक्तिः । शक्तिकूटेति कीलकम्, श्रीललिता महात्रिपुर-सुन्दरीसिद्धि द्वारा चिन्तितकलावाप्त्यर्थे जपे विनियोगः ॥" 'ध्यान'—

सिन्दूरारुणविग्रहां त्रिनयनां माणिक्यमौलिस्फुर
तारानायकशेखरां स्मितमुखीमापीनवक्षोरुहाम् ।
पाणिभ्यामलिपूर्णरत्नचषकं रक्तोत्पलं बिभ्रतीं,
सौम्यां रत्नघटस्थरक्तचरणां ध्यायेत् परामम्बिकाम् ॥[2]

उपर्युक्त बहिरांगों में कतिपय का स्वरूप निम्नांकित है—

१. 'पूजा' = न पूजा बाह्यपुष्पादिद्रव्यैर्या प्रथिताऽनिशम् । महिम्नद्वये धाम्नि सा 'पूजा' या परा स्थितिः ॥[3]

"तन्त्रालोक" में अभिनवगुप्तपादाचार्य पूजा के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

'पूजा नाम विभिन्नस्य भावौघस्यापि सङ्गतिः ।
स्वतंत्र विमलानन्तभैरवीय चिदात्मना ॥ (४।१२१)

आचार्य भट्टउत्पल ने 'शिवस्तोत्रावली' में पूजा-विधि का वर्णन इस प्रकार किया है—'ध्यानायासतिरस्कारसिद्ध स्त्वत्स्पर्शनोत्सवः । पूजाविधिरिति ख्यातो भक्तानां स सदाऽस्तु मे । (१७।४)[4]

'ध्यान' का स्वरूप क्या है—'ध्यानं निर्विषयं मनः ॥' मन की निर्विषयाकार स्थिति ही ध्यान है । मन की देवाकर परिणति ही ध्यान है । बारह धारणाओं से उत्पन्न मन की निर्विषयात्मक एकाग्रावस्था ही 'ध्यान' है । 'शक्ति' के दूसरे भी अर्थ हैं ।[5]

---

१. भास्करराय—'प्रकाश'
२. ललितासहस्रनाम
३. संकेतपद्धति
४. तन्त्रालोक
५. 'शक्ति' = वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, शान्ता, इच्छा, ज्ञान, क्रिया, अम्बिका, कामेश्वरी-वज्रेश्वरी-भगमालिनी, महात्रिपुरसुन्दरी । आदि ॥

बाह्याङ्ग—

१. **'ऋषि'**—ऋषि उसे कहते हैं जिसने मंत्रों का दर्शन किया हो—'ऋषयो मंत्र द्रष्टारः',[१] 'मध्यमाभूमि' एवं 'पश्यन्तीभूमि' ऋषि भूमि है । 'मध्यमा' मन्त्र-मयी भूमि है क्योंकि मंत्ररूप में ही 'मध्यमावाक्' आत्मप्रकाश करता है। चिद्-उन्मेष के अभाव के कारण मानवीय वाक् वैखरी भूमि को अतिक्रान्त करके मध्यमा में प्रवेश नहीं कर सकता ।। चूँकि 'मंत्र' चिद् रश्मियुक्त है अतः वैखरी भूमि में (चिद्भाव) गुप्त होने के कारण वैखरी के वर्णों की मंत्रमयता कभी स्वीकार नहीं की जाती क्योंकि 'मंत्र' चेतन् तत्त्व की रश्मियाँ हैं । "मंत्राश्चिन्मरीचयः । तद्वाचकत्वाद् वैखरी वर्ण विलासभूतानां विद्यानां मननात् त्राणता ।।"—इन चिद्रश्मि-सञ्जात, त्रिद्रूप, चेतन मंत्रों का जो दर्शन करता है या जिसने इनका प्रथम बार साक्षात्कार किया हो वही ऋषि कहलाता है । यही किसी भी मंत्र का प्रथम आचार्य है ।

'ऋष' का अर्थ है अपरोक्षदर्शन । ऋषि मंत्रों के आविष्कारक हैं सृष्टिकर्ता नहीं—'ऋषयोमंत्र द्रष्टारः स्मारकाः न तु कारकाः ।।' यथा—

२. **'छन्द'**—जिस पद्धति द्वारा जिस छन्द से जिस भाव का कम्पन उत्पन्न करके साधक की साधना के उद्देश्य को पूरा कराया जाता है वह छन्द ही उस निर्दिष्ट साधन-प्रणाली का छन्द है ।

३. **'देवता'**—दिव्धातु से निष्पन्न देवताशब्द क्रीडार्थक एवं प्रकाशार्थक है । प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों में, विभिन्न स्तरों में, चैतन्य परमात्मा किस प्रकार प्रकाशित एवं लीलारत हैं—यह देवता तत्त्व के अंतर्गत है । भगवत्चैतन्य के विभिन्न प्रतिबिम्ब या विभूति—विभिन्न भाव के लीला भाव का नाम देवता तत्त्व है । 'देवता' भक्त के देह स्थित होकर एवं भक्तों को वरदान देकर उसके तापत्रय का नाश करता है—इसीलिए उसे देवता कहते हैं—('दे' = भक्त-देह । 'व' = वरदान ।। 'ता' = ताप त्रय से त्राण ।)—'देहमास्थायभक्तानां वरदानाच्च पार्वति । तापत्रयादिशमनाद्देवता परिकीर्तिता ।।'[२]

४. **'विनियोग'**—कौन साधना किस भाव से अनुष्ठित हुई और उसे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ—यही विनियोग तत्त्व है । "हमारा लक्ष्य क्या है?" 'हम चाहते क्या हैं?' इसका निर्धारण करके फिर यह पता लगाना चाहिए कि इस लक्ष्य की सिद्धि करने वाला प्रथम पुरुष कौन था? यही व्यक्ति मंत्र का "ऋषि" कहलाता है । जिस उपाय से सिद्धि प्राप्त होती हैं उसे कहते हैं—'छन्द' ।। जिस स्नायुकेन्द्र में वह शक्ति निहित है । उस स्नायुकेन्द्र में प्राणवायु एवं मनन शक्ति को एकाग्र करके, वहाँ की प्रसुप्तशक्ति को जगाकर उस केन्द्र में उस शक्ति के प्रकाश एवं

१. यास्क—निरुक्त २. कुलार्णव तन्त्र

कार्य-पद्धति को उपलब्ध करना ही उस साधन-पद्धति का 'देवता तत्त्व' है। उसके बाद उस जाग्रत शक्ति को उद्देश्य साधन में नियुक्त करके उद्देश्य को सफल करना 'विनियोग तत्त्व' है । ये ही हैं पूजा के प्रारंभिक मूल तत्त्व ।[४] 'कामधेनुतंत्र' में नौ तत्त्वों का विधान किया है जिसमें देवता तत्त्व भी अंतर्भुक्त है—'देवतत्त्वं प्राणतत्त्वं बिन्दुतत्वं च सुन्दरि । ज्ञान तत्वं शक्तित्वं योनितत्वं तथैव च ।।''[५]

५. **बीजतत्त्व**—बीज से ही देवता का आविर्भाव या जन्म होता है—देवतायाः शरीरं तु बीजादुत्पद्यते ध्रुवम् ।।'[६]

६. **ध्यान**—ध्यान से ही सिद्धि होती है—ध्यानेन परमेशानि यद्रूपं समुपस्थितम्। तदेव परमेशानि! मंत्रार्थं विद्धि पार्वति ।।[७] 'ध्यान' है अभीष्टदेव का एकनिष्ठ, संयमप्राणित अनुचिन्तन—''यावदिन्द्रियसन्तापमनसा संनियम्य च । स्वात्तेनाभीष्टदेवस्य चिन्तनं ध्यानमुच्यते ।।''[८]

७. **'शक्ति'**—शतकोटिमहादिव्य योगिनी प्रतिकारणात् । तीव्रस्फूर्ति प्रदानाच्च शक्तिरिव्यभिधीयते ।।[९]

८. **'न्यास'**—न्यायोपार्जितवित्तानामङ्गेषु विनिवेशनात् । सर्वरक्षा करादेवि! 'न्यास' इत्यभिधीयते ।। 'न्यास' समस्त प्रकार की रक्षा करने की एक आध्यात्मिक पद्धति है जिसमें कि मंत्र के प्रत्येक अक्षर को उपासक के प्रत्येक अङ्ग में सथापित किया जाता है ।

'नि' पूर्वक 'अस्' धातु से न्यास शब्द साधित होता है । 'अस्क्षेपणे स्थापने च', धातु से न्यास शब्द निर्मित होता है । अस् धातु = क्षेपण करना एवं स्थापन करना । जिसका जो स्थान नहीं है यदि वह बलपूर्वक वहाँ बैठ जाय तो उसको उस स्थान से हटाकर वहाँ के प्रकृत स्वामी को बैठाने का नाम है—'न्यास' ।। 'स्वर्गात् निराकृता देवा इन्द्रोऽभूत् महिषासुरः ।' (इन्द्र को स्वर्ग से निकाल कर महिषासुर स्वयं इन्द्र बन गया) इसी प्रकार हमारी देह एवं इसके प्रत्येक अवयव एवं सृजनतत्त्व हमारे नहीं भगवान् के हैं क्योंकि इनके स्वामी वही हैं हम नहीं। मानव इन्हें 'मेरा' अपना, कहकर, मिथ्या कर्तृत्व का आवरण डालकर उनसे अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है जिससे कि बंधन में पड़ जाता है । 'अङ्गन्यास' इस अज्ञानात्मक बंधन को दूर करके शरीर के प्रत्येक अङ्ग में विभिन्न देवों, भगवत्शक्तियों एवं मंत्राक्षरों की स्थापना करने का विधान है । यथा—१. करन्यास—ऐं अंगुष्ठाभ्यां नमः । ॐ ह्रीं

---

३. पूजा के त्रिविध रूप हैं—(क) नित्य, (ख) नैमित्तिक, (ग) काम्य-'नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं पूजनं स्मृतम् ।। (शा० त०)

४-५. कामधेनु तन्त्र

६. यामल

७. भूतशुद्धि तन्त्र

८-९. कुलार्णव तन्त्र

तर्जनीभ्यां नमः । ॐ क्लीं मध्यमाभ्यां नमः । ॐ चामुण्डायै अनामिकाभ्यं नमः आदि ॥ २. हृदयादि न्यास—ॐ ऐं हृदयाय नमः । ॐ ह्रीं शिरसे स्वाहा । ॐ क्लीं शिखायैं वषट् । ॐ विच्चे नेत्रत्रयाय वौषट् आदि ॥ ३. 'अक्षर न्यास'—ॐ ऐं नमः शिखायाम् । ॐ ह्रीं नमः दक्षिण नेत्रे । ॐ क्लीं नमः वामनेत्रे, ॐ चां नमः दक्षिणकर्णे आदि। ४. दिङ्न्यास—ॐ ऐं प्राच्यै नमः ॐ ऐं आग्नेय्यै नमः आदि ॥ ५. ऋष्यादिन्यास—ब्रह्मविष्णु ऋषिभ्यो नमः शिरसि । गायत्र्युष्णिगनुष्टुप छन्देभ्यो नमः मुखे ॥ महाकालीमहालक्ष्मीमहासरस्वती देवताभ्यो नमः हृदि ॥ ऐं बीजाय नमः गुह्ये । ह्रीं शक्तये नमः पादयोः । क्लीं कीलकायैं नमः नाभौ । 'मातृकान्यास' 'व्यापक न्यास' आदि अनेकविध न्यास-प्रकार हैं ।

९. **'मुद्रा'**—मुद्रा भी पूजा का एक अङ्ग है । जो देवों को प्रसन्नता प्रदान करता है और जो मन को तार देता है वही है मुद्रा । यह शरीराङ्गों द्वारा प्रदर्शित भाव भंगिमा की एक पद्धति है ।[१]

१०. **'आसन'**—सिद्धि प्रदान करने में विनिर्दिष्ट एवं सहायक शरीरावस्थान ही आसन है—'आत्मसिद्धिप्रदानाच्च सर्वरोगनिवारणात् । नवसिद्धिप्रदानाच्च आसनं कथितं प्रिये ॥[२]

दुर्लभमान्तरमङ्गं प्रायो ऽन्तर्मुखजनैस्तदादृत्यम् ।
तोषायैषा तेषामतः प्रदिष्टा रहस्यवरिवस्या ॥ १६२ ॥

(श्रीविद्या की उपासना में आनतरिक अङ्ग की प्रधानता)

आन्तरिक अङ्ग प्रायः दुष्प्राप्य (अविज्ञेय) हैं । इनका अन्तर्मुखी उपासकों द्वारा सम्मान किया जाना चाहिए । उनकी संतुष्टि के लिए (ही) इस 'वरिवस्यारहस्यम्' (नामक मेरा यह ग्रंथ) का उपदेश किया गया है ॥ १६२ ॥

*** प्रकाश ***

अन्तर्मुखैर्विषयेष्वनासक्तचित्तैर्जनैः । प्रदिष्टोपदिष्टा, 'विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः' इति कालिदासप्रयोगात् ॥ १६२ ॥

*** सरोजिनी ***

आचार्य भास्करराय—विद्या के आन्तर अङ्ग—वर्ण-संख्या, उद्धार, काल (मात्रा), उच्चारण, स्थान, प्रयत्न, रूप, विभिन्न स्थितियाँ, आकार आदि को दुर्लभ मानते हुए इसे सर्वाधिक महत्व प्रदान करते हैं । उनका कहना है कि मैंने विद्या के इन्हीं आन्तरिक गुह्य अङ्गों के उद्घाटन एवं निरूपण के उद्देश्य से ही 'वरिवस्यारहस्यम्' ग्रन्थ लिखा ।

१-२. कुलार्णव तन्त्र
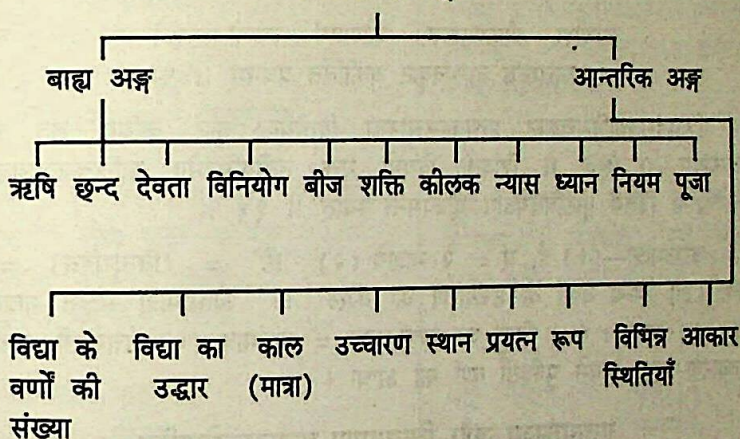
ऋषयश्चछन्दो दैवतविनियोगा बीजशक्तिकीलानि ॥ १६० ॥

न्यासा ध्यानं नियमाः पूजादीनि बहिरङ्गाणि ।
बाह्यान्यङ्गानि पुनः प्रायो लोके प्रसिद्ध कल्पानि ॥ १६१ ॥

'ऋषि' = हयग्रीव आदि ऋषि ॥ **'छन्द'** = पंक्ति आदि ॥ **'दैवत'** = त्रिपुरसुन्दरी । **'विनियोग'** = इष्टार्थजनन् । **'बीज'** = वाग्भवादिक ॥ **'शक्ति'** परा आदि ॥ **'कीलक'** = कामराज आदि ॥ **'न्यास'** = ऋष्यादिन्यास जाल ॥ **'ध्यान'** = 'अरुणां करुणातरंगिताक्षीम्' आदि ॥ **'नियम'** = पुण्ड्रेक्षु दण्डभक्षणवर्जन सङ्कल्पादिक ॥ **'पूजा'** = पात्र, आसान आदि शान्ति स्तव, नित्य कर्म : परा पूजा। केवल पूजा । **'आदि'** = होम-तर्पण-परिग्रह ॥ **'अन्तर्मुख'** = अनासक्त चित्त वाले लोग ॥

'विद्या के वर्ण'—

(क) **'वाग्भवकूट'**—अ + क, ए, ई, अ + ल = (६)

(ख) **'कामराजकूट'**—ह + अ, स + अ, क + उ, ह + अ, ल + अ =(१०)

(ग) **'शक्तिकूट'**—स + अ, क + अ, ल + अ = (६)

वर्णों की संख्या	वर्ण ह्रीं योग	
१. 'वाग्भवकूट' के वर्ण	६ + १२ = १८	'ह्रीं' (लज्जा बीज) तीनों कूटों के अन्त में है अतः उसके १२ अवयव सभी कूटो में जोड़े जायेंगे ।
२. 'कामराजकूट' के वर्ण	१० + १२ = २२	
३. 'शक्तिकूट' के वर्ण	६ + १२ = १८	

विद्योद्धार—

क्रोधीशः श्रीकण्ठरूढः कोणत्रयं लक्ष्मी ।
मांसमनुत्तररुंढ वाग्भवकूट प्रकीर्तित प्रथमम् ॥ ९ ॥

शिवहंसब्रह्मवियच्छका प्रत्येकमक्षरारुढा द्वितीयैक कूटं कथितं तत् कामराजाख्यम् ॥ १० ॥ शिवतो वियतो मुक्त तृतीयमिदमेव शक्तिकूटाख्यम् ॥ हल्लेखानां त्रितयं कूटत्रितयेऽपि योज्यमन्ते स्यात् ॥ ११ ॥

कालमात्रा—(१) ई, ए = २ मात्रायें (२) 'ह्रीं' = (बिन्दुरहित) = ३ मात्रा (३) अन्य वर्णों के उच्चारण का काल = आधामात्रा सहित मात्राकाल १(१/२) मात्रा । (४) बिन्दु का मात्रा-काल = अर्धमात्रा (५) उत्तरवर्ती वर्णों का उच्चारण-काल अपने पूर्ववर्ती वर्ण का आधा ।

एतामुत्सृज्य जडैः क्रियमाणा बाह्यडम्बरोपारितः ।
प्राणविहीनेव तनुर्विगलितसूत्रेव पुत्तलिका ॥ १६३ ॥

(बाह्याडम्बरोपासना का खण्डन)

इसका परित्याग करके जड़ों के द्वारा जो बाह्याडम्बरों की उपासना की आराधना की जाती है वह प्राण-विरहित कलेवर एवं सूत्र विरहित कठपुतली की भाँति (अग्राह्य एवं निरर्थक) है ॥ १६३ ॥

*** प्रकाश ***

बाह्यो डम्बरो ऽङ्गविस्तारो यस्यां सा । प्राणसूत्रयोरन्तरङ्गत्वात् तदभावेन तथा तयोर्न कार्यक्षमता तथेति भावः ॥ १६३ ॥

*** सरोजिनी ***

'कुलार्णव तंत्र' में समस्त बाह्योपचारों, बाह्याडम्बरों एवं बाह्योन्मुखी साधनाङ्गों का प्रत्याख्यान करते हुए कहा गया कि—

१. सर्वोच्च साधना है—'ब्रह्मसद्भाव' २. मध्य साधना है—'ध्यान धारणभाव' ३. अधमा साधना है—'जपभाव एवं स्तुति' ४. अधमाधमा साधना है—'बाह्यपूजा' सारांश यह कि बाह्यपूजा अधमाधमा साधना है ।	(१) 'उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः । स्तुतिर्जपोधमो भावो बाह्यपूजा धमाधमा ॥'
१. उत्तमा साधना—सहजावस्था २. मध्यमा साधना—ध्यान-धारणा ३. अधमा—शास्त्रचिन्तन ४. अधमाधमा—लोकचिन्ता	(२) 'उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा । जपस्तुतिःस्याद धमा होमपूजाधमाधमा ॥'

१. उत्तमा—तत्त्वचिन्तन २. मध्यमा—जप चिन्तन ३. अधमसाधन—स्तुति, जप ४. अधमाधमासाधना—बाह्यपूजा	(३) उत्तमा तत्वचिन्तास्याज्जप चिन्ता तु मध्यमा । शास्त्रचिन्ताऽधमा ज्ञेया । लोक चिन्ताधमाधमा ।।[१]
१. कोटि-पूजा के समान—१ स्तोत्र-पाठ २. कोटि स्तोत्र पाठ—१ जप ३. कोटि जप—१ ध्यान ४. कोटि ध्यान—१ लय	(४) पूजा कोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटि समञ्जपः । जपकोटि समं ध्यानं ध्यान कोटि समोलयः ।।[२]
१. परममंत्र—नाद २. परमदेव—आत्मा ३. परापूजा—अनुसंधान ४. परमफल—तृप्ति	(५) नहि नादात् परो मंत्रो न देवः स्वात्मनः परः । नानुसंधेः परा पूजा, नहि तृप्तेः परम् फलम् ।।[३]

'निरुत्तरतंत्र' में मानसी पूजा को ही श्रेष्ठतम् कहा गया है—उत्तमा मानसी पूजा बाह्यापूजा कनीयसी'[४] 'कामधेनुतंत्र' में भावतत्त्व को इसीलिए प्राधान्य दिया गया है क्योंकि इस तंत्र की मान्यता है कि भावतत्त्व के बिना जो भी साधना या पूजा की जाएगी वह बाह्याडम्बर मात्र होगी । उसमें कहा गया है कि देवता न तो काष्ठ में रहता है, न पाषाण में प्रत्युत् मात्र 'भाव' में रहता है अतः भाव मोक्षस्वरूप है—'न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे च पार्वति । भावेषु विद्यते देवि! भावो मोक्षस्वरूपकम ।।' 'स्वभावेन विना देवी कथं सिद्धिर्यवेत् प्रिये ।।'[५] भावतत्वं विना देवि प्रजपेद्र यदि कोटिधा । सर्वं तस्य वृथा देवि पर नरकं पदे पदे ।।'[६] आडम्बर विहीन पूजा का स्वरूप निम्नांकित है—

'पूजा'— 'न पूजा बाह्य पुष्पादि द्रव्यैर्या प्रथिताऽनिशम् ।
स्वे महिन्द्वये धाम्नि सा पूजा या परा स्थितिः ।।[७]

'पूजा नाम विभिन्नस्य भावौघस्यापि सङ्गतिः ।
स्वतंत्रविमलानन्त भैरवीय चिदात्मना ।।[८]

'होम'— महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम् ।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतना स्रुचा ।।[९]

'स्नान'— स्वतंत्रानन्दचिन्मात्रसारः स्वात्मा हि सर्वतः ।
आवेशनं तत्स्वरूपे स्वात्मनः स्नानमीरितम् ।।[१०]

१-३. कुलार्णव तन्त्र
४. निरुत्तर तन्त्र
५-६. कामधेनु तन्त्र
७. संकेत पद्धति
८. तन्त्रालोक (४।१२१)
९-१०. विज्ञान भैरव

'जप'— संयम्येन्द्रिय संचारं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम् ।
एष एवं जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः ।।[१]

'ध्यान'— ध्यानं हि निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया ।
न तु ध्यानं शरीराक्षिमुखहस्तादिकल्पना ।।[२]

'जप'— भूयोभूयः परेभावे भावना भाव्यते हि या ।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मंत्रात्मा जप्य ईदृशः ।।[३]

'मंत्र'— पूर्णाहन्तानुसंध्यात्मा स्फूर्जन्मननधर्मतः ।
संसारक्षयकृत्त्राण धर्मतो मंत्र उच्यते ।।

'देवता'— देहमास्थाय भक्तानां वरदानाच्च पार्वति ।
तापत्रयादिशमनाद्देवता परिकीर्तिता ।।[४]

'आसन'— आत्मसिद्धि प्रदानाच्च सर्वरोग निवारणात् ।
नवसिद्धि प्रदानाच्च आसनं कथितं प्रिये ।।[५]

न्यास 'न्याप्त'— न्यायोपार्जितवित्तानामङ्गेषु विनिवेशनात् ।
सर्वरक्षाकराद्देवि ! न्यास इत्यभिधीयते ।।[६]

'दीप'— दीर्घाज्ञानमहाध्वान्ताहङ्कार परिवर्जनात् ।
परतत्त्व प्रकाशाच्च दीप इत्यभिधीयते ।।[७]

'धूप'— धूतशेषमहादोषपूतिगंधप्रभावतः ।
परमानन्दजननाद् धूप इत्यभिधीयते ।।[८]

'नैवेध'— चतुर्विधं कुलेशानि ! द्रव्यञ्च षड्रसान्वितम् ।
निवेदनाद् भवेत्तृप्तिर्नैवेद्यं समुदाहृतम् ।।[९]

आचार्य भास्करराय की बाह्याडम्बर-विरोधिनी इस दृष्टि की 'कुलार्णव तन्त्र' में भी पुष्टि मिलती है । प्रथमोल्लास के अन्त में इन बाह्ययाचारों का खण्डन करते हुए कहा गया है कि—

१. मात्र नाम जप से सन्तुष्ट, कर्मकाण्ड में संलग्न लोग मंत्रोच्चारण, होम आदि बाह्याचारों में संलग्न रहकर एवं यश-विस्तार करते हुए अपने को भ्रम में डाले हुए हैं—भटके हुए हैं ।

२. उपवास,. काय-शोषण, देह-दण्डन, वसन-त्याग, नदी-तट का सेवन, तृण-पर्ण-उदक मात्र का भोजन करना, शीत-वात-तप जन्य सहन करना—ये समस्त बाह्य-प्रदर्शनकारी व्रत, उपवास एवं अन्य कृच्छ्राचरण लोकरञ्जक तो हो सकते हैं किन्तु मोक्षदायक नहीं है क्योंकि मोक्ष का साधन तो मात्र तत्त्वज्ञान है न कि यह बाह्याडम्बर ।

---

१. योगिनीहृदय दीपिका २-३. विज्ञान भैरव
४-९. कुलार्णव तन्त्र

३. तत्वज्ञान—१. आगमोत्थ २. विवेकज में से कोई भी क्यों न हो किन्तु मुक्ति के ये ही साधन है अन्य बाह्याचार नहीं । जब तक बाह्याचारों का त्याग नहीं किया जाएगा तब तक किसी भी प्रकार तत्त्वज्ञान उदित नहीं होगा—

१. यावत कामादि दीप्येत् यावत संसार वासना ।
यावदिन्द्रिय चापल्यं तावत्तत्वकथा कुतः?

२. यावत् प्रयत्नरोगोऽस्ति यावत सङ्कल्प कल्पना ।
यावन्न मनसः स्थैर्यं ताव-तत्वकथा कुतः?

३. यावद्देहाभिमानश्च ममता यावदस्ति हि ।
यावन्न गुरु कारुण्यं तावत्तत्वकथा कुतः?

४. यावत्तपो व्रतं तीर्थं जपहोमार्चनादिकम् ।
वेद शास्त्रागम कथा तावत्तत्वकथा कुतः ?

५. तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वावस्थासु सर्वदा ।
तत्वनिष्ठो भवेद्देवि! यदीच्छेत सिद्धिमात्मनः ॥

६. न वेदाध्ययनान्मुक्तिर्न शास्त्र पठनादपि ।
ज्ञानादेव हि मुक्तिः स्यान्नान्यथा वीरवन्दिते ॥

७. मुक्तिदा गुरुवागेका विद्याः सर्वाविडम्बकाः ।

८. गुरुवक्त्रेण लभ्येत् नाधीतागम कोटिभिः ।

बीजान्मूलं मूलात् क्षेत्रस्यान्तःस्थबाह्यविस्तारौ ।
यद्यप्यनयोः साम्यं प्राधान्यमथापि चान्तरङ्गस्य ॥ १६४ ॥

(कामकला बीज से मूलमंत्र एवं मूलमंत्र से शरीर के बाह्य एवं आन्तरिक विकास का विवेचन)

कामकला बीज से मूलमन्त्र का एवं मूलमन्त्र से शरीर के आन्तरिक एवं बाह्य (अङ्गों) का विकास होता है । यद्यपि इन दोनों (आभ्यन्तर एवं बाह्य अङ्गों) में समानता है तथापि आन्तरिक अङ्ग का ही प्रामुख्य है ॥ १६४ ॥

*** प्रकाश ***

बीजात् कामकलारूपाद्धान्यादिरूपाच्च । मूलं वृक्षपादो मन्त्रश्च । क्षेत्रस्य शरीरस्य केदारस्य च । यद्यप्यनयोः साम्यं बीजजन्यत्वाविशेषात्; तथापि 'अन्तरङ्गनाशे बाह्याङ्गसहितवृक्षनाशः, बाह्याङ्गमात्रनाशे ऽपि न वृक्षस्य न वान्तरङ्गस्य नाशः' इत्यस्य प्रसिद्धत्वादिति भावः ॥ १६४ ॥

*** सरोजिनी ***

'बीजान्मूलं'—कामकला बीज से मूलमंत्र ॥ 'बीजं' का अर्थ है 'कामकला बीज' । 'कामकलाविलास' में कहा गया है कि 'बिन्दु' जो अहङ्कार का रूप है वह

श्वेत एवं लोहित बिन्दुओं का सामरस्य है। 'सूर्य' काम है । यह 'काम' इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें कमनीयता है । 'कला' बिन्दुद्वय है जो कि चन्द्रमा एवं अग्नि के रूप में स्थित है । 'कला' चन्द्राग्निशरीरी बिन्दु है । यह 'कामकला विद्या' है जो कि देवी के चक्रों के क्रम का वर्णन करती है । जो कोई इसे जानता है वह मुक्त एवं महात्रिपुरसुन्दरी स्वरूप हो जाता है—

'इति कामकला विद्या देवी चक्रात्मिका सेयम् ।
विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुरसुन्दरी रूपः ।।[१]

'कामबीज' का अतिशय महत्व है । देवी स्वयं कामबीजस्वरूपिणी है देव मंत्रों में, विष्णु मंत्रों में परात्पर कामबीज विद्यमान है । कामबीज से विष्णु विग्रह का प्रकटीकरण होता है—'शून्यमध्ये स्थिता देवि काम बीज स्वरूपिणी । लकारसंयुता या सा कृष्णमाता प्रगीयते । सर्वेषु विष्णुमंत्रेषु काम बीजं परात्परं । हृदि शून्ये महेशानि विष्णोमंत्रं जपेत् प्रिये । ततो वै कामबीजान्तु जायते विष्णु विग्रहं ।। अतः काममदं विष्णुं हृदि भावय पार्वति ।।'[२] 'योगिनीहृदय' में चक्र को भी कामकला स्वरूप कहा गया है—'चक्रं कामकलारूपं प्रसारपरमार्थतः ।।'

'बीजात्' = कामकलारूप बीज से यथा धान्यादि से । **'मूलं'** = वृक्ष का अंकुरादि भाग, जड़ एवं तना ।। मंत्र ।। **'क्षेत्रस्य'** = शरीर का ।। बीज—मूल—वृक्षावयव (मानव का शरीराङ्ग) (बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों) । **अन्तस्थ-बाह्य** = आन्तर भाग में स्थित एवं बाह्यभाग में स्थित । **'विस्तारौ'** = "विस्तारो विग्रहो व्यासः स च शब्दस्य विस्तरः" (अमरकोष) । स्तृञ् आच्छादने (क्र्या० ३० से०) 'प्रथने वाव शब्दे' (३।३।३३) इति घञ् ।।

'यद्यप्यनयोः' = यद्यपि इन दोनों में । (आन्तर एवं बाह्य दोनों भागों में) ।। **'साम्यं'** = समानता ।। 'समतुल्यः सदृक्षः सदृशः सदृक् । साधारणः समानश्च' (अमर कोश) ।। सादृश्य का भाव ।। समानता का भाव ।। "अन्तरङ्गनाशे बाह्याङ्गसहित वृक्षनाशः, बाह्याङ्गमात्र नाशेऽपि न वृक्षस्य न वान्तरङ्गस्य नाशः ।।" **'प्राधान्यं'** = प्रधानता ।। प्रामुख्य ।। 'प्रमुखं प्रथमेमुख्ये' ।[३]

"प्रधानं, स्यान्महामात्रे प्रकृतौ परमात्मनि ।
प्रज्ञायामपि च क्लीबमेकत्वे तूत्तमे सदा ।।"[४]
क्लीबे प्रधानं प्रमुखं प्रवेकानुत्तमोत्त माः ।
मुख्यवर्यवरेण्याश्च प्रवर्हनिवरार्ध्यवत् ।।"[५]

'अङ्ग' = शरीरावयव । 'अङ्गंप्रतीकोऽवयवोऽपघनः ।।' अगिगतौ' (भ्वा० प० से०) अच् (३।१।१३४)[६] 'अङ्गं' गात्रे प्रतीकोपाययोः पुंभूम्नि नीवृति । क्लीबैकत्वे त्वप्रधाने त्रिष्वङ्गवति चान्तिके ।।"[७]

---

१. कामकलाविलास (पुण्यानन्दनाथ)
२. कामधेनु तन्त्र (११ पटल)
३. हैम कोष
४. मेदिनी कोष
५-६. अमर कोष
७. मेदिनी कोष

यद्यपीमान्याव शियकतरत्वादत्र ग्रन्थे निबद्धानि, तथापि पाण्डित्यबलादेतद्-ग्रन्थावलोकनादेव गुरुमनपेक्ष्य स्वीकारः पापायेत्याह—

सद्‌गुरुकुलतः कृपया लब्धा कामानियं सूते ।
निजबुद्धिमात्रजन्या पापं कन्या यथा स्वीया ॥ १६५ ॥

('श्रीविद्या' की गुरु-परम्परा से प्राप्ति की अनिवार्यता)

सदगुरु के कुल द्वारा उसकी अनुकम्पा से सम्प्राप्त यह श्रीविद्या निःशेष कामनाओं की पूर्ति उत्पन्न करती है । अपनी बुद्धि मात्र से उद्‌भूत (बिना गुरु की सहायता से उद्‌भूत) यह (श्रीविद्या) अपनी आत्मजा की भाँति पाप (उत्पन्न करती है) ॥ १६५ ॥

* प्रकाश *

पापं सूत इत्यन्वयः । सद्‌गुरोः 'सुन्दरः सुमुखः स्वस्थः' इत्यादितन्त्रराजोक्त-लक्षणविशिष्टस्य । कृपया सेवाजनितप्रसादेन,

'पारंपर्यविहीना ये ज्ञानमात्रेण गर्विताः ।
तेषां समयलोपेन विकुर्वन्ति मरीचयः ॥'

इति वचनात् । मरीचयो डाकिन्यादयः । विकुर्वन्ति धातुविकारप्रापणेन मारयन्तीत्यर्थः । कन्यापक्षे सद्‌गुरुः श्वशुरः ॥ १६५ ॥

* सरोजिनी *

श्रीविद्या को गुरु-परम्परा मात्र से ही प्राप्त करने पर बल दिया गया है क्योंकि श्रीविद्या के रहस्यों का उद्‌घाटन करने एवं रहस्य-साक्षात्कार कराने में मात्र गुरु ही समर्थ हैं क्योंकि वे ही गुरु भी हैं, शिव भी हैं, शिवा भी है और श्रीविद्या भी हैं क्योंकि विश्व को उपदेश देने के लिए आदि गुरु भगवान् शिव ने अपने को ही शिष्य एवं शास्ता के रूप में विभाजित करके शास्त्रोपदेश दिया—

'गुरु शिष्य पदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तंत्रं समवतारयत् ॥ (स्वच्छन्द तन्त्र)

ग्रंथकार का कथन है कि जो लोग पाण्डित्य-बल के अभिमान से श्रीविद्या को ग्रंथावलोकन मात्र से प्राप्त करने का अभिमान रखते हैं और इसको प्राप्त करने हेतु गुरु की आवश्यकता नहीं समझते वे पापभागी बनते हैं ।[१] शास्त्रों में कहा गया है कि ऐसे अभिमानी लोग जो परंपरा-प्राप्य इस गुह्य विद्या को मात्र अपने बुद्धि-बल से प्राप्त कर लेना चाहते हैं उन्हें डाकिनी आदि शक्तियाँ मार डालती हैं—

"पारंपर्य-विहीना ये ज्ञानमात्रेण गर्विताः ।
तेषां समयलोपेन विकुर्वन्ति मरीचयः ॥"

१. भास्कराचार्य—'प्रकाश'

('मरीचयो डाकिन्यादयः । विकुर्वन्ति धातु-विकारप्रापणेन मारयन्तीत्यर्थः ।')[१]

सारे मंत्र एवं सारी विद्यायें गुरुक्रम से ही सम्प्राप्त हैं—'गुरुक्रमेण संप्राप्तः संप्रदायार्थ ईरितः ॥' 'तथा मंत्राः समस्ताश्च विद्यायामंत्र संस्थिताः ।''[२]

ग्रंथकार ने 'सद्गुरु कृपां' का महत्व प्रदर्शित करते हुए कहा है कि यह श्रीविद्या मात्र गुरु-प्रसाद मात्र से फलवती होती है अन्यथा नहीं । गुरु शब्द स्वयं इसका द्योतक है । 'गुरु' शब्द में से 'ग' अक्षर सिद्धि का एवं 'र' शब्द पापदहन का एवं 'उ' अक्षर शंभु का द्योतक है—''गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेक पापस्य दाहकः । उकारः शंभुरित्युक्तस्त्रितयात्मा गुरुः स्मृतः ॥''[३] इसीलिए ब्रह्मानन्द गिरि का कथन है कि श्रीविद्या को गुरुमुख से ही ग्रहण करना चाहिए एवं गुरु से दीक्षित होकर ही मंत्र-साधना में प्रवृत्त होना चाहिए—

'गुरोर्मुखान्महाविद्यां गृह्णीयात् पापनाशिनीम् ।
तस्माद् यत्नाद् गुरु कृत्वा मंत्रसाधनमाचरेत् ॥[४]

कहा तो यहाँ तक गया है कि अधर्म-संलग्न व्यक्ति भी द्विजगुरु के मुख से दीक्षित होने पर समस्त सिद्धियाँ एवं देवत्व प्राप्त कर लेता है—

अधर्मनिरतो भूत्वा कृत्वा द्विजगुरोर्मुखतां ।
सर्वसिद्धिमवाप्नोति शीघ्रं देवत्वमाप्नुयात् ॥[५]

'सद्गुरुकुलतः कृपया लब्धा' = सद्गुरु कुल की कृपा से सम्प्राप्त समस्त गुह्य आध्यात्मिक विद्यायें गुरु-परम्परा से ही प्राप्त हुई है । भगवान् भैरव भैरवी से, इसी बात की पुष्टि करते हुए, कहते हैं—'शृणु देवि महागुह्यं योगिनीहृदयं परम् । स्वप्रीत्या कथयाम्यद्य गोपनीयं विशेषतः । कर्णात्कर्णोपदेशेन सम्प्राप्तमवनीतलम् ।''[६]

कर्णाकर्णिकयैवेदं तंत्रमवनी तलं प्रति सम्यक् प्राप्तं ॥[७]

''दिव्य-सिद्ध-मानव क्रमेण अतिरहस्यत्वात् कर्णपरम्परामात्र गम्यम् एव ॥''[८]

'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि हि शास्त्राणि प्रथन्ते' इति वचनादन्ते मङ्गलमारचयति—

अकथासनं ह-लक्षान्तरं समासाद्य मामकं ज्ञानम् ।
मामकमेवानन्दं मह्यं ददतो जयन्ति गुरुचरणाः ॥ १६६ ॥

(गुरु-चरणों की वन्दना)

अ क थ के आसन पर स्थित ह ल क्ष त्रिभुज के कोणों पर विद्यमान मदीय आनन्द को ही मुझे प्रदान करने वाले मदीय गुरुचरणों की जय हो ॥ १६६ ॥

---

१. भास्कराचार्य—'प्रकाश'
२. दीपिका
३-५. शाक्तानन्द तरंगिणी
६. योगिनीहृदय
७. भास्करराय—'सेतुबन्ध'
८. अमृतानन्द योगी—'दीपिका'

* प्रकाश *

कथानां वाचामनासनमविषयम् । वाच्यकक्ष्यामतिक्रान्तमिति यावत् । हेति निश्यते । लक्षस्य लक्षणाया अन्तरमवकाशो यस्मिंस्तत् । पक्षे, सहस्रारपद्मकर्णिका-मध्यगतत्रिकोणरेखा आदिकादिथादिषोडशार्णत्रयरूपाः, तन्मध्ये कोणेषु हंकारादित्रयम्, तत्र तन्त्रेषु गुरुध्यानं कथितम् । तादृशमासनमित्यर्थः । मामकमतमाभिन्नम् ॥ १६६ ॥

* सरोजिनी *

इस श्लोक में निम्न शब्द विशिष्टार्थक हैं अतः प्रथमतः उन पर ही प्रकाश डाला जा रहा है—

'अकयासनं', 'हलक्षान्तर', 'गुरुचरणाः'—गुरु का स्थान 'सहस्रार' (ब्रह्मरंध्रसरसीरुह) के भीतर विद्यमान श्वेत वर्ण के बारह दलों से युक्त 'द्वादशदल कमल' में है और इसीलिए भगवान् शिव ने इसका निरतिशय महत्वाङ्कन करते हुए कहा है—

> "ब्रह्मरंध्र सरसीरुहोदरे, नित्य लग्नमवदातमद्भुतम् ।
> कुण्डली विवरकाण्डमण्डितं, द्वादशार्णसरसीरुहं भजे ॥"

मानवीय पिण्ड में सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र 'षट्चक्र' हैं । इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण चैतन्य-केन्द्र 'सहस्रार' है । इस सहस्रार से भी अधिक महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली चैतन्य-केन्द्र 'द्वादशदल कमल' है । इसी कारण भगवान् कहकर इस (ब्रह्मरंध्र कमल के भीतर श्वेत द्वादश दलों से दीप्त) 'द्वादशदल कमल' की पूजा करने की बात कहते हैं ।

"अ क थ"—त्रिकोण की तीन रेखायें 'अ क थ' हैं ।

'पादुका पंचक' में "अ" "क" "थ" रेखाओं एवं गुरुचरणों के अतिरिक्त गुरु के वास्तविक धाम का वर्णन करते हुए साक्षात् भगवान् शिव कहते हैं कि— "मैं सहस्रार स्थित ब्रह्मरंध्र में कुण्डली से युक्त श्वेत बारह वर्णों के कमल का भजन करता हूँ । इस कमल के अद्भुत तेज का मैं अनुभव करके परमानन्दित होता हूँ । यह कमल सहस्रार के चित्रिणीनाड़ी के पूर्ण शेष में है । मैं इस कन्द के कर्णिका पुट में 'शक्तिपीठ' का भजन करता हूँ । 'शक्तिपीठ' त्रिकोणात्मक है । इसमें (१) 'वामा', (२) 'ज्येष्ठा' (३) 'रौद्री' या 'अ' 'क' 'थ' रेखायें हैं । इस त्रिकोण के भीतर प्रत्येक कोण में और भी तीन बिन्दु हैं जिससे 'मण्डल' बनता है । ये तीनों 'बिन्दु', 'त्रिबिन्दु', 'त्रिशक्ति' एवं 'त्रिमूर्ति' नाम से अपने गुरु-मुखानुकूल प्रख्यात है । उक्त त्रिकोण के मण्डल के मध्य मैं 'नाद' एवं 'बिन्दु' से संलग्न 'मणिपीठ' का ध्यान करता हूँ एवं हृदय, मन एवं चित्त को एकीभूत करता हूँ । 'बिन्दु' शिवशक्तिमय है । इसी 'बिन्दु' से 'नाद' 'बिन्दु' एवं 'बीज' भागत्रय में विभक्त हो गया है । 'हंसपीठ' के ऊपर नाद बिन्दु के मध्य में त्रिकोण है जो गुरु का स्थान है । मैं इसमें 'परमहंस' का ध्यान करता हूँ । वह ज्योति समस्त

ज्योतियों में श्रेष्ठ है तथा इसमें विश्व भी संनिहित है । इस त्रिकोण में 'वामारेखा' अग्निरूपा, 'ज्येष्ठा' चन्द्ररूपा एवं 'रौद्री' सूर्यरूपा है । 'वामारेखा' दक्षिण से पूर्व उत्तर पूर्व कोण तक 'ज्येष्ठा'— उत्तर पूर्व से आरंभ होकर उत्तर पश्चिम तक जाती है एवं 'रौद्री' उत्तर-पश्चिम से आरंभ करके वामा रेखा में मिल जाती है । ये तीनों बिन्दु 'त्रिपुरा' 'त्रिपुरसुन्दरी' के नाम से भी प्रख्यात है । गुरु के श्रीचरणों से लाल रङ्ग के समान अमृत बराबर निकलता रहता है । जो साधक इस प्रकार गुरु के चरण कमल में अपने आत्मा को लीन करता है वह सभी प्रकार के महाबंधनों और पापों से मुक्त हो जाता है । गुरुश्री के चरण कमल वृक्ष के नये पत्ते के समान लाल है और उनके नख चन्द्रमा के प्रकाश के समान प्रकाशमान है । यह कमल अमृतरूपी सरोवर में प्रस्फुटित हुआ है ।

पंचक का संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—१. द्वादश दल कमल २. अ, क, थ मिश्रित त्रिकोण ३. नाद, बिन्दु एवं मणिपीठ ४. हंस ५. त्रिकोण या— १. द्वादशदल कमल २. अ, क, थ से मिश्रित त्रिकोण ३. नाद, बिन्दु ४. मणिपीठ एवं मण्डल ५. इससे ऊपर 'हंसः' ॥[१] शास्त्रों में कहा गया है कि अपने गुरु का ध्यान करो । वे गुरु स्वयं भगवान् शिव हैं वे मंत्र (या मंत्रमाया) से युक्त एवं प्रोद्दीप्त उस 'हंसपीठ' पर आसीन हैं जो द्वादशदल कमल की कर्णिका में स्थित है । यह चन्द्रमण्डल के निकट एवं 'ह' 'ल' 'क्ष' वर्णों से संपूजित है । ये 'ह' 'ल' 'क्ष' वर्ण त्रिकोण में 'अ' 'क' 'थ' रेखायें हैं । गुरु का जो आसन (मणिपीठ) है वह मंत्रमयपीठ है । इसका मंत्र गुरुमंत्र है जो वाग्भव बीज या 'ऐं' के रूप में स्थित है । जिस 'द्वादशदल कमल' में गुरुदेव रहते हैं । उसके जो बारह दल है वे निम्नलिखित हैं—स, ह, ख, फ्रें, ह, स, क्ष, म, ल, व, र, यूं (अर्थात् इनमें से एक-एक वर्ण प्रत्येक कमल-दल पर अंकित है ।) 'गुरुगीता' में कहा गया है कि जिस कमल में गुरु का ध्यान किया जाय यह भी भावना की जाय कि उस कमल के चारों ओर 'हं' एवं 'सः' वर्ण उस कमल के दल के रूप में उसे घेरे हुए हैं अर्थात् हं एवं सः वर्ण छ बार पुनरावृत्ति करते हुए उस कमल के बारह दलों के रूप में प्रस्तुत होते हैं ।

'कङ्कालमालिनी' तंत्र में ब्रह्मरंध्र एवं गुरु का स्थान इस प्रकार बताया गया है—१. सहस्रार की कर्णिका (Pericarp) में 'अन्तरात्मा' स्थित है । २. अन्तरात्मा के ऊपर गुरु स्थित है । ३. गुरु के ऊपर 'सूर्यमण्डल', 'चन्द्रमण्डल' एवं 'महावायु' स्थित हैं । इसके ऊपर ब्रह्मरंध्र है । किन्तु सारांश यह है कि गुरुधाम द्वादशदल पद्म है ।

एक हजार दलों वाले, वर्णमाला के प्रत्येक वर्ण से सुशोभित एवं संपूजित, अधोमुखी, उदयकालीन सूर्य के समान रक्ताभ मञ्जरियों वाले सहस्रदल कमल के भीतर उसकी कर्णिका में जो 'द्वादशदलकमल' स्थित है वही गुरु का वास्तविक धाम है । यह द्वादशदलपद्म 'चित्रिणी नाड़ी' (कुण्डलिनी के सहस्रार में जाने के मार्ग) के अन्तिम भाग पर स्थित है ।

'अ-क-थ'—'पादुकापंचक' में कहा गया है—

"तस्य कन्दलितकर्णिकापुटे, क्लृप्तरेखमकथादिरेखया ।
कोणलक्षित ह ल क्ष मण्डली, भावलक्ष्यम् बलालयं भजे ॥[१]

'अ' = अ से प्रारंभ होने वाले १६ स्वरों से—'वामा' = (अ से अः) ॥

'क' = क से प्रारंभ होने वाले १६ अक्षरों से—'ज्येष्ठा' = (क से त) ॥

'थ' = थ से प्रारंभ होने वाले १६ अक्षरों से—'रौद्री' = (थ से स) ॥

शक्ति का स्थान इन्हीं तीन रेखाओं से निर्मित (अ-क-थ रेखाओं से निर्मित) त्रिकोण है । 'कामकला' त्रिकोणात्मक है । तीन शक्तियाँ—वामा, ज्येष्ठा एवं रौद्री—ही त्रिकोण की तीन रेखायें हैं । ये तीनों रेखायें बिन्दुत्रय से उद्भूत होती हैं । 'कामकला' शक्ति की निवास भूमि है—निलय है । यामल में कहा गया है कि—'कामकला' बिन्दुत्रय है, शक्तित्रय है, त्रिमुख अभिव्यक्ति है । 'कामकला' त्रिशक्तिरूपा (तीन शक्तियों से गठित) है ।[२] ये तीन (अ, क, थ) वर्ण तीन रेखायें हैं जो कि त्रिकोण के तीनों कोणों का निर्माण करती हैं । ('त्रिबिन्दुः सा त्रिमूर्तिः सा त्रिशक्तिः सा सनातनी ।')

"ह लक्षान्तरं"—इस त्रिकोण (अ-क-थ रेखाओं से निर्मित त्रिकोण) के भीतर ही 'ह' 'ल' 'क्ष' वर्ण स्थित हैं । 'सात्वत तंत्र' में कहा गया है—"अ-क-थ रेखायें 'ह' 'ल' एवं 'क्ष' वर्णों को चारों ओर से घेरे हुए हैं" यह त्रिकोण 'बिन्दु' (जिससे समस्त विश्व की उत्पत्ति होती है) से उद्भूत होता है ।

'अ-क-थ' के विषय में काली ऊर्ध्वाम्नाय में कहा गया है कि—१. अ से विसर्ग तक के वर्ण ब्रह्मा की रेखा (जो प्रजापति की रेखा है) का निर्माण करते हैं । २. क से त तक के समस्त वर्ण विष्णु की परात्पर रेखा का निर्माण करते हैं । ३. थ से स तक के समस्त वर्ण शिव की रेखा का निर्माण करते हैं । ये तीनों रेखायें तीन बिन्दुओं से उद्भूत होती हैं ।

'जयन्ति गुरु चरणाः'—गुरुचरणों की जय हो । गुरु का इतना महत्व क्यों? परमात्मा ही मूल गुरु है—पतञ्जलि ने योगसूत्रों में कहा है—"पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"[३] अर्थात् परमात्मा सबके पूर्वजों का भी गुरु है क्योंकि उसका काल से अवच्छेद नहीं है । योगवार्तिककार कहते हैं—'पूर्वेषां पूर्वपूर्वसर्गाद्युत्पन्नानां ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादीनामपि गुरुः पिताऽन्तर्यामी विद्यया ज्ञानचक्षुः'[४] आचार्य हयग्रीव का कथन है कि "गुरु विष्णु, शङ्कर, ब्रह्मा, सूर्य एवं शक्ति युक्त है"—"हरिहर ब्रह्मसूर्यशक्त्यात्मको गुरुः ॥"[५] आचार्य अगस्त्य का कथन है कि—"गुरु ही समस्त देवताओं की आत्मा हैं । गुरुशासन वेदशासन है । गुरुचरण तीर्थ एवं पवित्र गङ्गा

१. पादुका पंचक
२. यामल
३. योगसूत्र (समाधिपाद १।२६)
४. विज्ञानभिक्षु—'योगवार्तिक'
५. शाक्तदर्शनम् (५।३)

है । गुरुपाद की धूल ही भस्म है । गुरु की पूजा ही समस्त देवताओं की पूजा है। गुरु का स्मरण ही समस्त देवताओं का स्मरण है । गुरु समस्त आत्मोपहित जीवों के मूल शिक्षक (उपदेशक) हैं । गुरु का दर्शन ही समस्त देवताओं का दर्शन है । वे तारक एवं संसारोद्धारक हैं । यदि गुरु को संतुष्ट कर लिया जाय तो सारे देवता संतुष्ट हो जाते हैं क्योंकि गुरु की तुष्टि सर्वदेवतुष्टि है । अपना सिर गुरु के चरणों में, अपने कान गुरु के वाक्यों में, अपने नेत्र गुरु के दर्शन में एवं अपनी वाणी पंचदशी मंत्र में, चित्त बीज में, हाथ तर्पण में एवं शरीर श्रीपादुका के अर्चन में लगा रहना चाहिए ।।''[१]

एक स्थल पर कहा गया है कि गुरु सर्वकारणभूता शक्ति है—

"ॐ श्रीगुरुः सर्वकारणभूता शक्तिः ।।"

'योगिनीतंत्र' में कहा गया है कि जिसे आदिनाथ एवं महाकाल कहा गया है वही, शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य, ऐन्दव, महाशैव एवं सौर—आदि समस्त सम्प्रदायों में एवं समस्त मंत्रों या मंत्रशास्त्रों में, गुरु कहा गया है ।

आदिनाथो महादेवि! महाकालो हि यः स्मृतः ।
गुरुः स एव देवेशि! सर्वमंत्रेऽधुना परः ।
शैवे शाक्ते वैष्णवे चं गाणपत्ये तथैन्दवे ।
महाशैवे च सौरे च स स गुरुर्नात्र संशयः ।।''[२]

'गुरुगीता' में गुरु के कुछ विशिष्ट लक्षण बताये गए हैं जो निम्न हैं—

१. गुरु केवल एक है ('एक एव गुरुर्देवि')
२. वे ही अनेक रूपों में विद्यमान हैं ('सर्वत्र परिगीयते') ।।
३. समस्त जगत् गुरु-मय है (सर्वं गुरुमयं जगत् ।)[३]
४. गुरु मात्र एक हैं और वे हैं भगवान् शिव ('गुरुरेकः शिवः प्रोक्तः')[४]
५. भगवती पार्वती (शक्ति) एवं मंत्र भी गुरु हैं ('गुरुस्त्वमसि देवेशि मन्त्रोऽपि गुरुरुच्यते' ।)[५]
६. मंत्र, गुरु एवं देवता—इन तीनों में कोई भेद (पृथकता) नहीं है—(अतो मंत्रे गुरौ देवे न भेदश्च प्रजायते ।)[६]
७. गुरु का ध्यान सदैव सहस्रारपद्म में ही करना चाहिए ('कदाचित्तु सहस्रार-पद्मे ध्येयो गुरुः सदा ।।' 'शिरस्याधः सहस्रारे पद्मे निज गुरुं समरेत्' ।।)[७]
८. कभी-कभी गुरु का ध्यान हृदय में एवं कभी-कभी (गुरु के सन्मुख होने पर) सामने दृष्टिमार्ग में भी कर लेना चाहिए (कदाचिद् हृदयांभोजे

---

१. अगस्त्य—'शक्तिसूत्र' २. योगिनी तन्त्र
३-७. गुरुगीता

कदाचित् दृष्टि गोचरे ।)[१]

९. गुरु के शरीर में ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, पार्वती, इन्द्रादिक देवता, कुबेरादिक यक्षगण, सिद्धगण, गन्धर्वगण गंगादिक नदियाँ, नागगण एवं समस्त स्थावरजंगम आदि सभी निवास करते हैं ।

१०. गुरु ही पिता, माता, देवता, महेश्वर हैं (गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो महेश्वरः ।)[२]

११. यदि कोई गुरु को मनुष्य मान ले तो करोड़ों कल्पों में भी उसे साधना में सफलता नहीं मिल सकती । ('गुरौ मनुष्यता बुद्धिः शिष्याणां यदि जायते । न हि तस्य भवेत् सिद्धिःकल्पकोटिशतैरपि' ।)[३]

१२. मंत्र एवं गुरुदेव में कभी पृथकता नहीं माननी चाहिए (मंत्रे वा गुरुदेवे वा न भेदं यस्तु कल्पयेत् ।)[४]

१३. न तो गुरु से बढ़कर कोई शास्त्र है न तो तप । न तो गुरु से बढ़कर कोई मंत्र है और न तो कोई फल । न तो गुरु से बढ़कर कोई देवी है और न तो शिव । न तो गुरु से बढ़कर कोई मुक्ति है औन न तो जप—

"न गुरोरधिकं शास्त्रं, न गुरोरधिकं तपः ।
न गुरोरधिकं मंत्रं, न गुरोरधिकं फलम् ।
न गुरोरधिका देवी, न गुरोरधिकः शिवः ।
न गुरोरधिका मुक्तिर्न गुरोरधिको जपः ॥"[५]

इसीलिए 'गुरुगीता' में कहा गया है कि साधक का मूल कर्तव्य है— गुरु-सेवा, गुरु-ध्यान, गुरु-स्तोत्र का पाठ, गुरु का जप, गुरु-पूजा, गुरु की तुष्टि एवं गुरु की भक्ति—

"गुरुसेवा गुरुध्यानं गुरुस्तोत्रं गुरोर्जपः ।
गुरोः पूजा गुरोस्तृप्तिः गुरोर्भक्तिर्नृणां यदि ॥"

क्योंकि—

"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुः देवो महेश्वरः ।
गुरुस्तस्माद् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥"

गुरु के प्रकार—कूर्मपुराण में दस प्रकार के गुरुओं का वर्णन किया है जो निम्न है—"उपाध्यायः पिता माता ज्येष्ठो भ्राता महीपतिः । मातुलः श्वशुरश्चैव मातामहपितामहौ । वर्णज्येष्ठः पितृव्यश्च सर्वे ते गुरवः स्मृताः ॥"[६] कुलगुरु तीन प्रकर के हैं—१. दिव्यौघ २. सिद्धौघ ३. मानवौघ ॥

१-५. गुरुगीता   ६. कौर्म० उत्तर (१२।२६)

'दिव्यौघ' यथा प्रह्लादानन्दनाथ, सकलानन्दनाथ आदि ॥ 'सिद्धौघ' = भगवान् शिव ॥ 'मानवौघ' = दीक्षागुरु ॥

गुरुओं के अन्य भेद—गुरुओं के अन्य भेद निम्नानुसार है—१. सांसिद्धिक (अकल्पित) २. कल्पित ३. कल्पिताकल्पित ४. अकल्पितकल्पक ॥

१. **'सांसिद्धिक गुरु'**—इन गुरुओं में 'सत्तर्क' ('शुद्धविद्या') ज्येष्ठा नाम्नी भगवादिच्छा की प्रेरणा से शिष्य के चित्त में सद्गुरु प्राप्ति की शुभेच्छा । शुद्ध विद्या का विकास स्वयमेव उत्पन्न हो जाता है । इन्हें बाह्य दीक्षा एवं बाह्य अभिषेक की आवश्यकता नहीं होती । ये संवित्ति देवताओं द्वारा ही दीक्षित एवं अभिषिक्त होते हैं । इन्हें बाह्य गुरु अपेक्षित नहीं है । शुद्ध विद्या की ज्योति के प्रभाव के कारण ऐसा कोई तत्त्व या सत्य हो ही नहीं सकता जो कि इन्हें समझ में न आ सके । यही प्रातिभ महाज्ञान इन्हें प्राप्त रहता है । इनका ज्ञान—स्वभावज ज्ञान, स्वभावसिद्ध ज्ञान या 'भित्तिहीन' स्वयंभू ज्ञान कहलाता है । इनके समस्त बंधन शिथिल हो जाते हैं । इनमें पूर्णशिवभाव का आविर्भाव होता है । इनका प्रयोजन मात्र दूसरों पर अनुग्रह करना होता है । योगभाष्यकार का 'ईश्वर' के प्रति कथित यह वाक्य—"तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रह एव प्रयोजनम् ॥"[१] चूँकि ये किसी अन्य गुरु से दीक्षित होकर सिद्धि नहीं पाते प्रत्युत् स्वतः पा लेते हैं अतः 'अकल्पित' कहलाते हैं । 'प्रातिभ ज्ञान' एवं 'अकल्पित गुरु' दोनों अकृत्रिम हैं । बौद्ध संप्रदाय में श्रावक एवं 'अनाचार्यक' में यही भेद है कि 'अनाचार्यक' को ज्ञान पाने के लिए किसी अन्य गुरु की अपेक्षा नहीं होती उसे अपने भीतर से स्वयं ज्ञान प्राप्त हो जाता है । 'अकल्पित गुरु' अनाचार्यक से श्रेष्ठ होता है ।

२. **'अकल्पित कल्यक गुरु'**—सांसिद्धिक गुरु होने पर भी जिनके स्वयंभू ज्ञान में पूर्णता नहीं होती और स्वयं की प्रतिभा से शास्त्र ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं उन्हें अकल्पित कल्पक गुरु कहते हैं ।

३. **'कल्पिताकल्पित गुरु'**—जो 'कल्पित' होने पर भी गुरु की अपेक्षा न रखते हुए अपनी प्रतिभा के बल पर लोकोत्तर शास्त्रीय तत्त्व का रहस्यावगाहन कर लेते हैं वे 'कल्पिताकल्पित' कहलाते हैं इनमें कल्पितांश की अपेक्षा अकल्पितांश ही प्रधान होता है ।

४. **'कल्पित गुरु'**—किसी अकल्पित या अन्य गुरु से दीक्षा लेकर शास्त्रार्थ-ज्ञान प्राप्त करने वाले और बाद में अभिषेक प्राप्त होने पर परानुग्रह आदि का अधिकार पाने वाले एवं पाशोच्छेदन में समर्थ ये ही गुरु 'कल्पित' गुरु कहलाते हैं । कल्पित एवं अकल्पित दोनों गुरु शिष्य का पाशोच्छेदन कर सकते हैं तथापि 'अकल्पित गुरु' के समक्ष गुरु निष्क्रिय हो जाते हैं अतः 'अकल्पित गुरु' ही श्रेष्ठतम् गुरु होता है ।

ऐसे भी गुरु होते है जो ज्ञान देकर शिष्य को माया से पार तो कर सकते हैं

१. योगसूत्र पर 'व्यासभाष्य' ।

किन्तु वे भोग या विज्ञान नहीं दे सकते, ये अधिकार नहीं दे सकते । ये मुक्त तो हो सकते हैं किन्तु दूसरों को मुक्त नहीं कर सकते । ऐसा गुरु 'ज्ञानी गुरु' कहलाते हैं । ये योगी नहीं होते । ये सद्गुरु नहीं है । 'सद्गुरु' वे ही गुरु हैं जो ज्ञानी एवं योगी दोनों हैं । ये शिष्य को भोग-मोक्ष, पूर्णत्व, एवं विज्ञान सभी प्रदान कर सकते हैं ।

जैनानुशासन में जो मंत्र प्रसिद्ध हैं उसमें गुरुओं के ५ प्रकार बताए गए हैं जो निम्न हैं—"णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणां, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणां"[१]

सद्गुरु एवं असद्गुरु—'मालिनीविजय' में कहा गया है—"...सयियासुः शिवेच्छया । भुक्ति-मुक्ति प्रसिध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति ॥"[२] सारांश यह कि सद्गुरु का आश्रय ग्रहण किये बिना प्राणी भोग-मोक्ष दोनों की अभिन्नभाव से प्राप्ति नहीं कर सकता । और पूर्णत्व (मुक्ति) प्राप्त नहीं कर सकता । भाव यह है कि—

सद्गुरु एवं भोग-मोक्ष का दान—'गुरु' भोग-मोक्ष प्रदायक होता है । भोक्ता जब भोग्य के साथ एकीभूत हो जाता है तब उस एकीभाव को 'भोग' कहते हैं एवं उसी को 'मोक्ष' कहते हैं । भोग एवं मोक्ष की साम्यावस्था ही 'जीवन्मुक्ति' एवं 'परमपद' है—

'तस्या भोक्त्र्याः स्वतन्त्राया भोग्यैकीकार एव यः ।
स एव भोगः सा मुक्तिः स एव परमं पदम् ॥[३]

भोग एवं मोक्ष की अनुभूति का सामरस्य ही 'जीवन्मुक्ति' है । यही त्रिक दर्शन की विशेषता है ।[४] 'श्रीरत्नदेव' में भी कहा गया है—"भुक्तिर्वाप्यथ मुक्तिश्च नान्यत्रैकपदार्थतः । भुक्तिमुक्ती उभेदेवि! विशेषे परिकीर्तिते ॥" यह वह अवस्था है जिसे विश्वात्मकता कहते हैं । विश्वात्मकता आत्मा का स्वभाव है तथा—'सर्वो ममायं विभवः' की आत्मानुभूति है । इस भोग एवं मोक्ष की एकता बौद्ध भी स्वीकार करते थे । सहजिया कहते थे कि वायु के आवागमन-मार्ग तथा चन्द्र-सूर्य के पथ को अवरुद्ध करने पर उस घोर तिमिर में बोधिचित्त (मन) को दीपक बनाया जा सके तो 'महासुख' की प्राप्ति होती है । तब अवधूती जिन रत्न नामक अधऊर्ध्व पद्म का स्पर्श करती है जिससे भव-निर्वाण दोनों की एक साथ सिद्धि होती है । (भवभोग = पञ्च प्रकारक काम गुण ॥ निर्वाण = महामुद्रासाक्षात्कारं ।)

सद्गुरु और पूर्णत्व—जो गुरु परमेश्वर के साक्षात्कार से समुत्पन्न ज्ञान के साथ तादात्म्यभाव प्राप्त नहीं कर सका है—उसके साथ एकीभूत नहीं हो सका

---

१. जैनागम में 'पञ्चपरमेष्ठी' प्रसिद्ध है—१. अरिहन्त, २. सिद्ध, ३. आइरियाणं (आर्य), ४. उवज्झायाणं (उपाध्याय), ५. सव्वसाहूणं (सर्वसाधु)

२. मालिनीविजय तन्त्र

३. प्रबोधपञ्चदशिका

४. महेश्वरानन्द— महार्थ मंजरी (पृ० १७१)

है—वह 'गुरु' नहीं है । मुक्ति के दो पक्ष हैं—१. पशुत्व की निवृत्ति २. शिवत्व की प्राप्ति ।। उपर्युक्त गुरु 'सद्गुरु' इसलिए नहीं हैं क्योंकि उनमें शिष्य की पशुत्व-निवृत्ति की क्षमता नहीं होती किन्तु फिर भी शिष्य भगवान् की 'वामा' नामक शक्ति की प्रेरणा से उस गुरु के प्रति प्रगाढ़ भक्ति में लीन रहता है । स्वस्वरूप प्राप्त करने के लिए व्याकुल साधक, भगवदिच्छा होने पर शक्तिपात के कारण पवित्रीभूत होकर, भगवान् की 'ज्येष्ठा' नामक शक्ति की प्रेरणा से सद्गुरु-प्राप्त्येच्छा से विह्वल होकर (इस सदिच्छा = 'शुद्धविद्या' के विकास या 'सत्तर्क'—की शक्ति से अनुप्राणित होकर) पूर्णत्वरूप मुक्ति प्राप्त करता है ।

आगम सम्मत यह 'पूर्णत्व' न तो सांख्य का कैवल्य है और न तो वेदान्त की मुक्ति । वेदान्त की मुक्ति 'विज्ञान कैवल्य' के बराबर भी नहीं है ।[१] वेदान्त की मुक्ति सवेद्य प्रलयाकल की अवस्था के समतुल्य है क्योंकि वेदान्त की मुक्ति में आणवमल विद्यमान रहता है । विज्ञान कैवल्य में आणवमल ध्वंसोन्मुख रहता है । न्याय आदि दर्शनों का 'अपवर्ग' आत्मा का सर्वविशेषोच्छेद होने के कारण अपवेद्य प्रलयाकल के समान है तथा वैष्णवादि का मोक्ष आगम की दृष्टि में प्रलयाकल की दशा के समान है । विज्ञान कैवल्य में केवली की कर्ममुक्ति होने के कारण पुनरावृत्ति नहीं होती किन्तु वेदान्त के मोक्ष में पुनरावर्तन निवृत्त नहीं होता ।[२] 'सत्तर्क' मोक्ष का विधायक है । 'सत्तर्क' का प्राकट्य—१. गुरु द्वारा या २. शास्त्र द्वारा या ३. स्वतः, होता है । स्वपरामर्श ही प्रधान है ।[३]

'अकथासनं'—अ क थ ही गुरु का आसन है । 'सहस्रार कमल' की कर्णिका के मध्य स्थित त्रिकोण रेखा है ये आदि कादि थादि षोडशार्णत्रय रूप हैं। उसके मध्य कोणों में हकारादित्रय स्थित हैं । यहीं गुरु का ध्यान करने का स्थान है । यही है गुरु का आसन ।[४]

अ, क, थ—सहस्रदल कमल के दलों पर पञ्चाशत वर्ण अंकित हैं । उस अक्षरकर्णिका में गोलाकार चन्द्रमण्डल है । उस चन्द्रमण्डल के ऊपर एक ऊर्ध्वमुखी द्वादशदल कमल है । उसकी कर्णिका में अ-क-थ आसन स्थित है । यह त्रिकोण यंत्र है । इस यंत्र के चारों ओर सुधासागर होने से यह मणिद्वीप सदृश है। इस द्वीप के मध्य में 'मणिद्वीप' है । इसमें नाद-बिन्दु के ऊपर 'हंसपीठ' है । 'हंसपीठ' के ऊपर 'गुरुपादुका' है । यह स्थान ही गुरुदेव परमशिव का आसन है।

गुरु का महत्त्व—लोकत्रय में सर्वोच्च देवता ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश हैं । गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः । गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ।।

---

१. जयरथ—तन्त्रालोक टीका (४।३१)

२. द्वैत एवं अद्वैत दोनों आगम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं ।

३. शिष्य में गुरु वाक्य से जो बोध उत्पन्न होता है उसमें शिष्य की प्रज्ञा ही मूल कारण है—'शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः' (योगवाशिष्ठ १।१२८-१६३)

४. भास्कराचार्य—'प्रकाश' (श्लोक १६६)

कहकर गुरु को ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के समतुल्य कहा गया है किन्तु आगे इन तीनों देवों से भी बड़ी सत्ता ब्रह्म को गुरु का पयार्य घोषित किया गया है। गुरु तीनों लोकों में सर्वोपरि है—"न गुरोरधिकः कश्चित्त्रिषु लोकेषुविद्यते ॥" अर्थात् "तीनों लोकों में गुरु से बढ़कर कोई अन्य व्यक्ति नहीं है ॥"

गुरु एवं शिव में अभेद—शिवपुराण के 'कैलाससंहिता' में कहा गया है—

'यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः ।
पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः ॥"

'यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः ।
तस्माद्धि श्रीगुरोर्भक्तिर्भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी ॥'

'गुरुचरणाः'—गुरुश्री के श्रीचरण ॥ 'गुरु' = गृ शब्दे, क्र्यादि, एवं 'गृ निगरणे' तुदादिगण की धातु को कृग्रोरुच्च (१।२५) इस उणादि सूत्र से 'कु' प्रत्यय और उकारान्ता देश होने पर 'उरण रपरः' (१।१।५१) इससे उंरादेशान्तर 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (१।२।४६) इससे प्रातिपदिक संज्ञा के पश्चात् 'सु' विभक्ति आने पर 'गुरुः' शब्द निष्पन्न होता है। गुरु की निरुक्ति निम्नानुसार है—१. गृणति, उपदिशति धर्ममिति गुरुः । गिरत्यज्ञानमिति गुरुः । "यद्वा गीर्यतेस्तूयते देवगंधर्वादिभिरितिगुरुः ॥" आचार्य शङ्कर कहते हैं—

"अविद्याहृदयग्रंथिबंधमोक्षो यतो भवेत् ।
तमेव गुरुरित्याहुर्गुरुशब्देन योगिनः ॥"[1] (२५७)

भगवान् मनु कहते हैं—

'निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥'[2] (२।१४२)

गुरुचरणैकसहायो भास्कररायो जनन्मातुः ।
वरिवस्यातिरहस्यं वीरनमस्यं प्रजग्रन्थ ॥ १६७ ॥

(प्रस्तुत ग्रंथ-प्रणयन के पीछे गुरु-कृपा का प्रतिपादन)

एक मात्र गुरु-चरणों की सहायता लेकर भास्करराय ने जगन्माता का, वीरों द्वारा भी पूज्य, (पूजा-विधान के अत्यन्त रहस्यात्मक पक्ष पर प्रकाश डालने वाला) रहस्य-ग्रंथ वरिवस्यातिरहस्य प्रणीत किया ॥ १६७ ॥

*** प्रकाश ***

वीरैः, अहमि रणाङ्गण इदमो वैरिणो नाशं कुर्वाणैः परापञ्चाशिकादौ प्रसिद्धैः । इति सर्वमनवद्यम् ॥ १६७ ॥

---

१. शंकराचार्य—'सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार संग्रह' २. मनुस्मृति

वस्तु प्रस्तुतमस्तु निस्तुलमहःस्तोमास्तिवास्तु नो
हस्तन्यस्तसमस्तपुस्तकभरध्वस्तासदेनस्तति ।
शस्तस्वस्तिकृदस्तदुस्तरतमः स्वस्तोकसौवस्तिकं
गीस्तोयस्तनयित्नुसुस्तनयुगं वास्तोष्पतिप्रस्तुतम् ॥

॥ इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीनृसिंहानन्दनाथ-चरणारविन्दमिलिन्देन श्रीमद्गम्भीररायभारतीदीक्षितात्मजेन भास्कररायापरनाम्ना भासुरानन्दनाथेन प्रणीतं सव्याख्यानं वरिवस्यारहस्यं संपूर्णम् ॥

---

* सरोजिनी *

गुरु शुश्रूषा से ही विद्या-प्राप्ति संभव है—गुरुसहायो गुरुशुश्रूषया विद्या' (याज्ञ. शि. ३०) इसीलिए ग्रन्थकार ने गुरुचरणैकसहायो'—एक मात्र गुरुश्री के श्री चरणों की सहायता लेकर । आचार्य भास्करराय ने गुरु को अत्यधिक महत्व प्रदर्शित करने के उद्देश्य से ही ग्रंथांत में गुरु के श्रीचरणों की भक्ति प्रदर्शित की है । ठीक भी है क्योंकि—'सर्वं गुरुमयं जगत्' (सारा संसार ही गुरुमय है ।) गुरु मनुष्य नहीं हैं प्रत्युत् शिव ही गुरु हैं—

"गुरुरेकः शिवः प्रोक्तः सोऽहं देवि न संशयः ॥"[१]

गुरु से अधिक कोई नहीं है—

'न गुरोरधिकं शास्त्रं न गुरोरधिकं तपः ।
न गुरोरधिकं मंत्र न गुरोरधिकं फलम् ॥

न गुरोरधिका देवी न गुरोरधिकः शिवः ।
न गुरोरधिका मुक्तिर्न गुरोरधिका. जपः ॥

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो महेश्वरः ।
देव रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥[२]

गुरु को मनुष्य समझने से करोड़ों कल्पों में भी शिष्य को सिद्धि प्राप्त नहीं हो पाती अतः गुरु को मानव न समझकर उन्हें शिवस्वरूप समझना चाहिए—

"गुरौ मनुष्यता बुद्धिः शिष्याणां यदि जायते ।
न हि तस्य भवेत् सिद्धिः कल्पकोटिशतैरपि ॥"
तस्माद्देवेशि नियतं श्रीगुरुं शिवरूपिणम् ॥ (गु० गी०)[३]

गुरु को ही ब्रह्मा (विश्व का स्रष्टा) विष्णु (विश्व का पालक एवं विश्व का

१-३. गुरुगीता ४. कुलार्णवतन्त्र

संहारक (महेश)) तीनों कहा गया है । इससे भी बढ़कर उन्हें साक्षात् परब्रह्म भी कहा गया है—

"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥"

मोक्ष का मूल 'ज्ञान' है, उसका मूल महेश्वर हैं, उनका मूल पंचाक्षर मंत्र है और इस पंचाक्षर का भी मूल गुरु की वाणी है—'मोक्षस्य मूलं यज्ज्ञानं तस्य मूलं महेश्वरः । तस्य पंचाक्षरो मंत्रो मूलमंत्र गुरोर्वचः ॥"[४]

ग्रन्थकार गुरुचरणों मात्र की सहायता लेने कृतकृत्य होने की बात इस लिए कहते हैं क्योंकि कोई भी विद्या बिना गुरु के सिद्ध नहीं होती । करोड़ों ग्रंथों का अध्ययन करने पर भी बिना गुरु-कृपा के कोई सिद्धि संभव नहीं—

१. "गुरुवक्त्रेण लभ्येत् नाधीतागम कोटिभिः ॥"[१]

२. मुक्तिदा गुरुवागेका विद्याः सर्वा विडम्बकाः ॥[२]

३. देहस्थाः सर्वविद्याश्च देहस्थाः सर्वदेवताः ।
देहस्थाः सर्वतीर्थानि गुरुवाक्येन लभ्यते ॥[३]

॥ इस प्रकार वरिवस्यारहस्य के द्वितीयोंऽश की डॉ० श्यामाकान्त द्विवेदी कृत 'सरोजिनी' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥

१-२. कुलार्णवतन्त्र ३. ज्ञानसंकलिनी तन्त्र

श्लोकार्धानुक्रमणिका

—*—